आर्थिक अवधारणाएँ व विधियाँ
(ECONOMIC CONCEPTS AND METHODS)

आर्थिक अवधारणाएँ व विधियाँ
(ECONOMIC CONCEPTS AND METHODS)

राजस्थान व मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर के पाठ्यक्रम में स्वीकृत पाठ्यपुस्तक

[राजस्थान जयपुर, एम.डी.एस., अजमेर व एम एल.एस., उदयपुर विश्वविद्यालयों के प्रथम वर्ष (अर्थशास्त्र) के वर्ष 1998 के नवीनतम् पाठ्यक्रमानुसार]

लेखक

लक्ष्मीनारायण नाथूरामका
पूर्व रीडर, अर्थशास्त्र विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

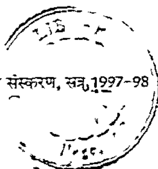


[सातवाँ संशोधित संस्करण]



कॉलेज बुक हाउस
चौड़ा रास्ता, जयपुर–3

प्रकाशक :
हर्षवर्धन जैन
कॉलेज बुक हाउस
चौड़ा रास्ता, जयपुर-3
फोन : कार्यालय 568763, 561963
निवास - 604005



सातवाँ संशोधित संस्करण, सन् 1997-98

मूल्य : 80.00 रुपये

लेजर टाइपसेटिंग :
रेशमा कम्प्यूटर्स
नींदड़ राव का रास्ता, इन्दिरा बाजार के पास, जयपुर, फोन 318107

मुद्रक : माणिक आफसैट प्रिन्टर्स
जयपुर, फोन 568700

सातवें संस्करण की भूमिका

पुस्तक के इस सातवें संस्करण में राजस्थान अजमेर व उदयपुर विश्वविद्यालयो में प्रथम वर्ष कला (अर्थशास्त्र) की वर्ष 1998 की परीक्षा के लिए निर्धारित नवीनतम पाठ्यक्रम के सभी विषयो का समावेश किया गया है। इसके अध्याय 30 में एम डी एस विश्वविद्यालय, अजमेर के नए पाठ्यक्रम की चतुर्थ इकाई के अनुसार 'प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा' पर एक विस्तृत व समीक्षात्मक लेख प्रस्तुत किया गया है। अध्याय 31 व 32 (प्रमाप विचलन व सूचकाको पर) एम एल एस विश्वविद्यालय उदयपुर के पाठ्यक्रमानुसार हैं।

पुस्तक के मूल स्वरूप को पूर्ववत् रखा गया है लेकिन मुद्रा की पूर्ति मुद्रास्फीति विनिमय दर साख नियत्रण के उपायो चीन व भारत की आर्थिक प्रगति आदि विषयो पर नवीनतम सामग्री Economic Survey 1996 97 Report on Currency & Finance 1995 96 तथा World Development Report 1996 से जोडी गई है। रेखाचित्रो व ग्राफ के अध्याय में प्रति व्यक्ति आय व मुद्रास्फीति की वार्षिक दर से जुडे पूर्व चित्रों को नवीनतम आकडो के आधार पर परिवर्तित कर दिया गया है।

पुस्तक के अत में वस्तुनिष्ठ व लघु उत्तरात्मक प्रश्नो की सख्या 120 से बढाकर 200 कर दी गई है। इसमें आर ए एस की परीक्षा (दिसम्बर 1995 व अक्टूबर 1996) से चुने हुए अर्थशास्त्र के प्रश्न शामिल किए गए हैं, तथा 'प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा व पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा' से सम्बद्ध नए प्रश्न जोड़े गए हैं। राजस्थान व अजमेर विश्वविद्यालयो के साख्यिकी खण्ड से जुडे माध्य माध्यिका व बहुलक सम्बन्धी प्रश्नो के उत्तर यथास्थान दिए गए हैं। विभिन्न अध्यायो के अंत में राज. व अजमेर विश्वविद्यालयो की 1996 व 1997 की परीक्षाओ के प्रश्न भी जोड़े गए हैं।

पुस्तक में 25 जून, 1997 को घोषित बैंक दर को 11% से घटा कर 10% करने तक के सभी नवीनतम तथ्य देने का प्रयास किया गया है। रचना के प्रस्तुतीकरण में प्रत्येक स्थल पर पूरी सावधानी बरती गई है फिर भी सभी से निवेदन है कि विवेचन की कमियों व त्रुटियों को बतलाने का कष्ट करें, जिन्हें यथाशीघ्र दूर करने का प्रयास किया जाएगा।

मैं अपने प्रकाशक श्री हर्षवर्धन जैन व श्री मनीष जैन का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने इस संस्करण को नवीनतम रूप प्रदान करने का भरसक प्रयास किया है। आशा है यह संस्करण वर्तमान स्वरूप में पाठको के लिए अधिक लाभकारी व उपयोगी सिद्ध होगा।

लक्ष्मीनारायण नाथूरामका,
बी-17-ए चौमू हाउस कॉलोनी
'सी' स्कीम जयपुर।
फोन 381361

University of Rajasthan

B.A. Part-I Examination, 1998

Paper-I : Economic Concepts and Methods

Section A

Basic economic problems, Assumptions in Economic analysis, Rationality in consumer's behaviour (including ceteris paribus) Stock and flow variables Positive and normative analysis Equilibrium-Partial and general Properties of different markets . perfect competition, monopoly, oligopoly and mono polistic competition

Concept of national income, Circular flow of income, component and measurement of national income Relationship between per-capita national income and economic welfare

Section B

Money-Functions of money, currency and credit, velocity of circulation of money Introduction to the concept of demand for and supply of money Money supply and prices Internal and external value of money Exchange rate and foreign exchange market

Functions and methods of credit control of Central Bank Role and functions of Commercial Banks

Characteristics of capitalism, Socialism, Communism and mixed economy

Section C

Functional relationship in economics and use of graphs The concept and interpretation of slope of curves (*i e* Total revenue and total cost curves consumption and production functions) Simple derivatives, concepts of total, average and marginal values *Introductory* analysis with examples from cost, revenue and production

M.D.S. University, Ajmer

B.A. Part-I Examination, 1998

Paper-I : Economic Concepts and Methods

ECONOMICS

Note : Each paper will contain ten questions having two questions from each unit The candidates are required to attempt Five questions in all, selecting at least one question from each unit

Unit I : Economy and various forms of economic systems Basic economic problems Nature of economic Laws Distinction between Micro and Macro Economics Static and Dynamic Analysis (only elementary approach), Stock and flow variables

Unit II : The concept of National Income Components and measurement of National Income National Income and Welfare Measure of Economic Welfare, Circular flow of income An elementary view of the price mechanism-Demand Supply Analysis, Law of Demand

Unit III : The concept of currency and credit Concept of money supply-M_1, M_2, M_3 and M_4 High powered money and money-multiplier Functions of commercial banks Balance sheet and credit creation by commercial banks *Functions of Central* Bank, Methods of credit control Internal and external value of *money Exchange rate and its determination (only demand and* supply theory)

***Unit IV :** Prominent ancient Indian economic thinkers and* major source books Definition & scope of economics according *to ancient Indian thinkers* Basic assumptions-integral man integrated rationality Dharmas-based economic structure Four Purusarthas, Human wants nature origin and kinds The concept of restrained consumption & co-consumption Meaning and

importance of wealth & code of conduct for earning Main features of ancient Indian economic thinking and its comparison with western economic thinking

Unit V : Definition, nature, importance and limitations of statistics The concept of Averages Mean, Mode, Median, functional relationship in economic and the use of Graphs The concept and interpretation of slopes and curves, *e g* , Total revenue and total cost curves, consumption and production functions Simple derivatives Concept of total, average and Marginal Values

Note : Only elementary treatment of various concepts is required Books recommended

1	P A Samuelson & W Nordhaus	Economics (latest edn)
2	Mehta & Madnani	Elementary mathematics for use in Economics
3	Gupta B L	Value and Distribution System in Ancient India, Gian Publishing House, New Delhi
4	D G Luckett	Money and Banking
5	एन सी वैश्य	मुद्रा, बैंकिंग, व्यापार एव राजस्व
6	उदयवीर शास्त्री	कौटिल्य का अर्थशास्त्र
7	शुक्रनीतिसार	

M.L.S. University, Udaipur

B A. Part - I Examination 1998

ECONOMICS (scheme)

Two Papers	Min Pass Marks 72	Max Marks 200
Paper I	3 Hrs Duration	100 Marks
Paper II	3 Hrs Duration	100 Marks

Paper-I

ECONOMIC CONCEPT AND METHODS

3 hours duration

NOTE In this question paper ten questions will be set Two from each unit Candidates have to answer five questions in all taking as least one question from each unit

UNIT I Economics Nature, subject matter and scope of economics Basic Economic problems Assumptions in Economic Analysis Nature of Economic Laws Distinction between Micro and Macro Economics, Positive and Normative Analysis, Static and Dynamic Analysis (Only elementary approach)

UNIT II The concept of National Income Components and measurements of National Income, National Income and Economic welfare Net economic welfare, Characteristics of Capitalism Socialism and Mixed economies

UNIT III Money Nature functions and importance of money, Inflation and Deflation Quantity Theory of money, Fisher and Cambridge version Concept of money supply Stock and Flow variables Equilibrium partial and general

UNIT IV Credit creation by commercial banks, Recent trends in Indian Banking Functions of Central Bank Methods of Credit control Definition, Nature importance and limitations of Statistics, Collection of data Primary and Secondary Data, Census and Sample methods

UNIT V The concept of Average Mean, Mode and Median Standard deviation and its importance The concept of Index Numbers (Ordinary Weighted and Family Budget Method) Functional relationship in economics and the use of Graphs The concept and interpretation of Slopes of Curves Concepts of Total Average and Marginal values

NOTE Only one numerical question shall be asked from unit V

Books Recommended

1 P.A Samuelson & W Nordhaus Economics (Latest Edition)
2 Suraj B Gupta Monetary Economics
3 लक्ष्मीनारायण नाथूरामका आर्थिक अवधारणाएं एवं विधियां कॉलेज बुक हाउस जयपुर।

विषय–सूची

इकाई I (Unit I)

इकाई II (Unit II)

इकाई III (Unit III)

इकाई IV (Unit IV)

इकाई V (Unit V)

परिशिष्ट

इकाई I
(Unit I)

1

अर्थशास्त्र : परिभाषा, विषय-सामग्री, प्रकृति व क्षेत्र (Economics : Definition, Subject Matter, Nature and Scope)

I

अर्थशास्त्र की परिभाषा

अर्थशास्त्र की परिभाषा काफी विवाद का विषय रहा है, हालांकि आजकल अधिकांश अर्थशास्त्री रोबिन्स की दुर्लभता पर आधारित परिभाषा को स्वीकार करते हैं। इस मत के अनुसार दुर्लभता आर्थिक समस्या का केन्द्र बिन्दु होती है। हमारी आवश्यकताएँ असीमित होती है और उनकी पूर्ति के साधन सीमित होते हैं। ऐसी स्थिति में हमें चुनाव करना होता है ताकि सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। यह चुनाव ही आर्थिक समस्या कहलाती है।

अर्थशास्त्र की विभिन्न परिभाषाओं को तीन समूहों में विभाजित किया जा सकता है–

(क) धन-प्रधान परिभाषाएँ

(ख) भौतिक कल्याण-प्रधान परिभाषाएँ

(ग) दुर्लभता-प्रधान परिभाषाएँ

इनका संक्षेप में क्रमश वर्णन किया जाता है।

(क) धन-प्रधान परिभाषाएँ

इस समूह में एडम स्मिथ, जे. बी से, मिल, एन सीनियर, एफ ए वाकर आदि के विचारों का उल्लेख किया जाता है। अर्थशास्त्र के जनक एडम स्मिथ ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक का नाम 'An Enquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations' रखा था, जिससे स्पष्ट होता है कि उसने अर्थशास्त्र में 'राष्ट्रों के धन की प्रकृति व कारणों की जाँच' को प्रधानता दी थी। एडम स्मिथ ने अपने ग्रन्थ में कहीं पर यह नहीं लिखा कि 'अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है', लेकिन उसने अपने ग्रन्थ में जो कुछ लिखा उससे यही प्रकट होता है कि उसने धन पर काफी जोर दिया था। जे बी से ने अर्थशास्त्र को 'ऐसे नियमों का अध्ययन बतलाया था जो धन से सम्बन्ध रखते हैं।' एन सीनियर ने राजनीतिक अर्थव्यवस्था

के क्षेत्र की चर्चा करते हुए कहा था कि 'राजनीतिक अर्थशास्त्रियों का विषय सुख नहीं अपितु धन होता है।'

अर्थशास्त्र की जिस समय धन प्रधान परिभाषाएँ दी गयी थीं, उस समय इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ था। उद्योगपति श्रमिकों का आर्थिक शोषण करते थे और धन-सचय में लगे हुए थे। उस समय के समाज सुधारकों व धार्मिक नेताओं जैसे कार्लाइल, रस्किन व विलियम मोरिस आदि ने, अर्थशास्त्र व अर्थशास्त्रियों की काफी निन्दा की और इसे एक घृणित विज्ञान (a dismal science) बतलाया। धन प्रधान परिभाषाओं में निम्न दोष थे।

दोष–(1) धन का सीमित अर्थ–प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने धन का अर्थ भौतिक पदार्थों तक ही सीमित रखा जो अनुचित था। उन्होंने इसमें वकील, डॉक्टर, अध्यापक, अभिनेता, गायक आदि की सेवाओं को उचित स्थान नहीं दिया, जिससे लोगों के दिलों में अर्थशास्त्र के प्रति अनुचित कटुता उत्पन्न हो गयी और अर्थशास्त्र का क्षेत्र भी सीमित हो गया।

(2) धन पर आवश्यकता से अधिक बल–पुरानी परिभाषाओं के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि धन ही मानवीय क्रियाओं का लक्ष्य (end) है। लेकिन यह सही नहीं है। धन तो केवल एक साधन मात्र है। भारत में तो मानव जीवन का लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण प्राप्त करना माना गया है। अत धन को अनुचित स्थान नहीं देना चाहिए। जीवन में उत्तम आचरण, त्याग, परस्पर स्नेह आदि गुणों का भी महत्त्व होता है।

(3) 'आर्थिक पुरुष' की अवधारणा (Concept of Economic Man)–एडम स्मिथ ने एक ऐसे मानव की कल्पना की थी जो बहुत स्वार्थी होता है। वह केवल धन को ही महत्त्व देता है और दया, सहानुभूति, परोपकार आदि को महत्त्व नहीं देता। इससे भी अर्थशास्त्र को एक घटिया किस्म का विज्ञान समझा जाने लगा।

प्रोफेसर मार्शल व अन्य अर्थशास्त्रियों ने धन के स्थान पर मानवीय कल्याण पर अधिक बल दिया और अर्थशास्त्र के प्रति जनसाधारण के दिल में जमी हुई विरोधी भावना को बदलने का प्रयास किया।

(ख) भौतिक कल्याण-प्रधान परिभाषाएँ

इस समूह में मार्शल, पीगू, आदि की परिभाषाएँ आती हैं। इनके अनुसार अर्थशास्त्र में भौतिक कल्याण का अध्ययन किया जाता है।

मार्शल की परिभाषा—मार्शल के अनुसार, 'राजनीतिक अर्थव्यवस्था या अर्थशास्त्र जीवन के साधारण व्यवसाय में मानवता का अध्ययन है, यह व्यक्तिगत व सामाजिक कार्य में उस अंश की जाँच करता है जिसका कल्याण के भौतिक साधनों की प्राप्ति व उपयोग से गहरा सम्बन्ध होता है। इस प्रकार एक तरफ वह धन का अध्ययन होता है, और दूसरी तरफ, इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण, मनुष्य के अध्ययन का एक भाग होता है।'

मार्शल की परिभाषा का स्पष्टीकरण

(1) जीवन का साधारण व्यवसाय–मार्शल ने 'जीवन के साधारण व्यवसाय' में उन कार्यों को शामिल किया है जिनका सम्बन्ध धन को उत्पन्न करने व उसे खर्च करने से होता है। मनुष्य का अधिकांश समय इनमें लगता है और इन कार्यों का उसके जीवन पर काफी प्रभाव पड़ता है। मार्शल ने मनुष्य के जीवन पर धार्मिक प्रभावों को भी स्वीकार किया है, लेकिन उसका मत है कि आर्थिक प्रभाव इनसे अधिक प्रबल होते हैं।

(2) व्यक्तिगत व सामाजिक कार्य-मार्शल के मतानुसार अर्थशास्त्र में व्यक्तिगत व सामाजिक दोनों प्रकार के कार्य शामिल होते हैं। अर्थशास्त्र एक व्यक्तिगत उपभोक्ता या व्यक्तिगत उत्पादक के व्यवहार का अध्ययन करता है और साथ में अनेक उपभोक्ताओं व अनेक उत्पादकों के व्यवहार का भी अध्ययन करता है। इस प्रकार दोनों प्रकार के व्यवहारों का अध्ययन अर्थशास्त्र में शामिल किया जाता है। लेकिन मार्शल ने अर्थशास्त्र को एक सामाजिक विज्ञान माना है। वस्तुस्थिति यह है कि एक व्यक्ति के कार्यों का समाज पर प्रभाव पडता है और समाज के कार्यों का व्यक्ति पर प्रभाव पडता है।

(3) मनुष्य पर धन से ज्यादा बल-मार्शल ने अपनी परिभाषा में स्पष्ट शब्दों में धन से *ज्यादा महत्व मनुष्य को दिया है। उसके अनुसार धन आवश्यकताओं की पूर्ति का एक* साधन मात्र है। यह स्वय में कोई साधन नही है। इस प्रकार मार्शल ने अर्थशास्त्र को घृणा के दलदल से निकाला क्योंकि उसने धन की अपेक्षा मनुष्य को ऊँचा स्थान दिया।

(4) कल्याण के भौतिक साधनों की प्राप्ति व उपयोग-मार्शल ने मानवीय कल्याण को ध्यान में रखा है और इसके लिए भौतिक साधनों को जुटाने पर बल दिया है। मार्शल का विचार था कि गरीबी मनुष्य को पतन की तरफ ले जाती है। गरीब लोग जीवन के सुख से वचित रहते हैं। गरीबों की शारीरिक, मानसिक व नैतिक गिरावट के कई कारण हो सकते हैं, लेकिन इनमें गरीबी एक प्रमुख कारण होता है। अत मार्शल ने कल्याण के लिए भौतिक साधनों को जुटाने व इनको प्रयुक्त करने पर बल दिया, जो उचित था।

प्रोफेसर पीगू की परिभाषा-प्रोफेसर पीगू ने मार्शल के विचारों को आगे बढाया। पीगू के अनुसार, अर्थशास्त्र में आर्थिक कल्याण का अध्ययन होता है। आर्थिक कल्याण को इस तरह परिभाषित किया गया है **'यह कल्याण का वह अंश होता है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे मुद्रा के मापदण्ड से जोड़ा जा सकता है।'**[1] यह परिभाषा ज्यादा स्पष्ट है क्योंकि इसमें उस क्रिया को शामिल किया जाता है जिसका माप मुद्रा के माध्यम से किया जा सकता है।

भौतिक कल्याण पर आधारित परिभाषाओ की आलोचना-भौतिक कल्याण पर आधारित परिभाषाओं की रोबिन्स ने कडी आलोचना की है और उसमें निम्न दोष बतलाये हैं

(1) साधनो की भौतिकता पर आपत्ति-प्रोफेसर रोबिन्स ने कहा है कि साधनों की भौतिकता (materiality) पर ध्यान केन्द्रित करके मार्शल व अन्य व्यक्तियों ने अर्थशास्त्र का क्षेत्र अनावश्यक रूप से सीमित कर दिया है। साधन अभौतिक भी हो सकते हैं। सेवाएँ अभौतिक होती हैं। बहुत से लोग अभौतिक सेवाओं को प्रदान करके धनोपार्जन करते हैं, जैसे गायक गाना गाकर तथा अध्यापक पढाकर अपनी आय प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार साधन अभौतिक सेवाओं पर भी खर्च किये जाते हैं, जैसे कोई व्यक्ति चलचित्र देखने के लिए रुपया व्यय कर सकता है। इस प्रकार प्रो रोबिन्स साधनों को भौतिक व अभौतिक भागों में बाँटना उचित नहीं मानते।

(2) कल्याण पर आपत्ति-रोबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान *(positive science)* है। इसमें *'क्या है'* का विश्लेषण किया जाता है। कल्याण से इसका

1 'Economics, according to Prof Pigou, is the study of economic welfare economic welfare being defined as that part of welfare which can be brought directly or indirectly into relation with the measuring rod of money' — Economics of Welfare, p 1

कोई सरोकार नहीं होता। कुछ वस्तुओं के उपभोग से कल्याण में वृद्धि नहीं होती, जैसे शराब, आदि से। लेकिन हम उनको अर्थशास्त्र के बाहर नहीं रखते क्योंकि उनका मूल्य होता है और उनका विनिमय किया जाता है। कल्याण का प्रश्न आदर्श विज्ञान (normative science) का विषय होता है। इसमें नीतिशास्त्र का समावेश होता है। कल्याण को मापने में भी कठिनाई होती है। अत अर्थशास्त्र की वास्तविक विज्ञान के रूप में प्रगति करने के लिए रोबिन्स ने इसे कल्याण के विवाद से मुक्त रखने पर बल दिया है। उसके मतानुसार, 'अर्थशास्त्र साध्यों के प्रति तटस्थ होता है' (Economics is neutral between ends)। अर्थशास्त्री के लिए साध्य दिये हुए होते हैं। वह दिये हुए साध्यों को प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय तलाश करता है, और उस सम्बन्ध में कम से कम व्यय के तरीकों का उपयोग करता है।

(3) विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण का अभाव–मार्शल का दृष्टिकोण क्रियाओं के वर्गीकरण को स्वीकार करता है। उसने क्रियाओं को आर्थिक और अनार्थिक दो भागों में विभाजित किया है। रोबिन्स का दृष्टिकोण विश्लेषणात्मक (analytical) है, क्योंकि उसके अनुसार प्रत्येक क्रिया का चुनाव का पहलू ही उसका आर्थिक पहलू होता है। सीमित साधनों व असीमित लक्ष्यों की स्थिति में हमें चुनाव के लिए बाध्य होना पड़ता है। अत रोबिन्स के अनुसार कोई क्रिया सम्पूर्ण रूप से आर्थिक या अनार्थिक नहीं होती, बल्कि प्रत्येक क्रिया का चुनाव का पहलू ही उसका आर्थिक पहलू होता है।

(4) अर्थशास्त्र एक मानवीय विज्ञान है–उपर्युक्त विचारधारा में अर्थशास्त्र को एक मानवीय एव सामाजिक विज्ञान माना गया है। रोबिन्स का मत है कि एक एकान्तवासी व्यक्ति को भी अपने सीमित समय का अनेक कार्यों में विभाजन करना होता है। अत उसे भी आर्थिक समस्या का सामना करना पड़ता है। रोबिन्सन क्रूसो के लिए भी चुनाव की समस्या होती है। इसी प्रकार एक साम्यवादी अर्थव्यवस्था में भी चुनाव किया जाता है, हालाँकि वहाँ यह कार्य योजनाधिकारी (planners) करते हैं। अधिकाश चुनाव की समस्याएँ एक स्वतन्त्र उद्यम वाली अर्थव्यवस्था में उत्पन्न होती हैं जहाँ अनेक उत्पादक व अनेक उपभोक्ता स्वतत्र रूप से चुनाव की प्रक्रिया में भाग लेते हैं और बहुत से निर्णय करते हैं। लेकिन चुनाव की समस्या अन्य परिस्थितियों में भी पायी जा सकती है। इस प्रकार रोबिन्स ने अर्थशास्त्र का कार्यक्षेत्र काफी विस्तृत बना दिया है।

इन्हीं दोषों को दूर करने के लिए प्रो रोबिन्स ने अर्थशास्त्र की एक आधुनिक परिभाषा दी है जो तार्किक दृष्टि से ज्यादा सही व युक्तिसगत मानी गयी है।

(ग) दुर्लभता-प्रधान परिभाषा

प्रोफेसर रोबिन्स ने 1932 में अर्थशास्त्र की परिभाषा व विषय सामग्री आदि पर अपने नये विचार प्रस्तुत किये थे। अर्थशास्त्र की आधुनिक पाठ्य पुस्तकों में परिभाषा के सम्बन्ध में प्राय रोबिन्स का दृष्टिकोण ही देखने को मिलता है जिससे इस क्षेत्र में उसके योगदान का पता लगता है। स्टिगलर, सेमुअल्सन व नोरडाउस, रिचर्ड जी लिप्से, हैंडरसन व क्वान्ट तथा मिल्टन फ्रीडमैन आदि आधुनिक अर्थशास्त्रियों के विचार भी बहुत-कुछ रोबिन्स के विचारों से मिलते-जुलते ही हैं। हम यथास्थान सक्षेप में उनकी भी चर्चा करेंगे।

रोबिन्स की परिभाषा–रोबिन्स के अनुसार 'अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो उस मानवीय व्यवहार का अध्ययन करता है जिसका सम्बन्ध लक्ष्यों व वैकल्पिक उपयोगों वाले सीमित

साधनों से होता है।'[1] इस परिभाषा में अर्थशास्त्र को मानवीय विज्ञान माना गया है और अनेक साध्यों और सीमित साधनों के परस्पर सम्बन्ध में चर्चा की गयी है।

परिभाषा की व्याख्या–स्वय रोबिन्स ने अपनी परिभाषा का विस्तृत रूप से स्पष्टीकरण दिया है जिसके अनुसार मनुष्य के समक्ष चार प्रकार की दशाएँ विद्यमान होती हैं (i) साध्य या लक्ष्य (*ends*) अनेक होते हैं, जैसे मनुष्य की आवश्यकताएँ असीमित होती हैं। (ii) लेकिन इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए समय व साधन सीमित होते हैं और उनके वैकल्पिक उपयोग होते हैं, अर्थात् साधनों को एक उपयोग में न लगाकर दूसरे उपयोग में लगाया जा सकता है। (iii) साध्यों का महत्त्व भी भिन्न भिन्न होता है। अत उन्हें प्राथमिकता के क्रम में जंचाना पडता है। सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण साध्य को सबसे ऊपर रखा जाता है और उससे नीचे उससे कम महत्त्वपूर्ण साध्य को रखा जाता है। (iv) ऐसी स्थिति में मनुष्य को चुनाव करना पडता है। यही समस्या का आर्थिक पहलू कहलाता है।

हमें यह स्मरण रखना होगा कि उपर्युक्त पैरा की प्रथम तीन बातों के एक साथ पाये जाने पर ही चुनाव की समस्या उत्पन्न होती है, अन्यथा नहीं। केवल साध्यों की अनेकता में किसी अर्थशास्त्री को रुचि नहीं होती। यदि मुझे दो काम करने हैं और मेरे पास दोनों के लायक पर्याप्त समय व पर्याप्त साधन हैं, तो मेरा व्यवहार चुनाव का स्वरूप 'धारण नहीं करेगा। मेरे दोनों काम हो जायेंगे और मेरे सामने कोई समस्या उत्पन्न नहीं होगी। इसी प्रकार केवल साधनों की सीमितता ही आर्थिक चुनाव को जन्म नहीं देती। यदि साधनों के वैकल्पिक उपयोग नहीं होते तो वे चाहें सीमित हों, फिर भी उनके मितव्ययितापूर्वक उपयोग का प्रश्न नहीं उठता। चूंकि अधिकाश साधनों के एक से अधिक उपयोग होते हैं, इसलिए रोबिन्स की मान्यता सही प्रतीत होती है। इसी परिस्थिति में चुनाव की समस्या उत्पन्न होती है।

ठीक इसी तरह सीमित साधनों के वैकल्पिक उपयोग से ही किसी भी क्रिया का आर्थिक पहलू उत्पन्न नहीं हो जाता। मान लीजिए, दो लक्ष्य हैं और उनकी पूर्ति का एक ही साधन है और दोनों लक्ष्य समान महत्त्व रखते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति की स्थिति उस पशु की तरह होगी जो घास के दो समान आकर्षक ढेरों के बीच खडा है, और व्यवहार में कुछ भी नहीं कर पाता है।

अत लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए समय व साधनों के सीमित होने और उनके वैकल्पिक उपयोगों के लायक होने एवं लक्ष्यों को महत्त्व के क्रम में जंचाने के लायक होने पर ही मनुष्य का व्यवहार चुनाव का रूप धारण करता है। यदि मुझे रोटी व कपडा चाहिए और दिये हुए समय में दोनों पर्याप्त मात्रा में नहीं मिल सकते तो मेरी रोटी व कपडे की आवश्यकता कुछ अशों में पूरी नहीं हो पायेगी।

प्राय लोग यह कहते हुए पाये गये हैं कि अमुक लखपति या करोडपति व्यक्ति के पास तो किसी भी साधन की कमी नहीं है। उसकी तो सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो रही है। ऐसे व्यक्तियों का विचार सही नहीं होता, क्योंकि सभी के पास उपभोग के लिए समय सीमित होता

1 '*Economics is the science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternative uses.*' L. Robbins ***An Essay on the Nature and Significance of Economic Science***, 2nd ed p 16

है। अत धनी व्यक्तियों पर भी समय का बन्धन तो लगता ही है। 'हमें स्वर्ग से निकाल दिया गया है। न तो हमें शाश्वत व स्थायी जीवन मिला है और न सन्तुष्टि के लिए असीमित साधन ही। जिधर मुडते हैं उधर एक वस्तु लेते हैं तो दूसरी वस्तु छोडनी पडती है।'

रोबिन्स की परिभाषा के प्रमुख तत्व–रोबिन्स की परिभाषा में अग्र बातें उल्लेखनीय हैं–

(1) **यह विश्लेषणात्मक (analytical) है**–इसमें प्रत्येक क्रिया के चुनाव पक्ष का अध्ययन किया जाता है। ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि सीमित साधन, उनके वैकल्पिक उपयोग एव विभिन्न महत्त्व वाले अनेक लक्ष्यों की स्थिति में चुनाव अवश्य करना होता है। अत रोबिन्स की परिभाषा विश्लेषणात्मक किस्म की मानी गयी है। इसमें क्रियाओं को आर्थिक व अनार्थिक दो श्रेणियों में नहीं बाटा गया है।

(2) **रोबिन्स साध्यो को दिया हुआ मानता है**–उसके मत में साध्यों (जिन्हें एक व्यक्ति प्राप्त करना चाहता है) का निर्धारण राजनीतिज्ञ अथवा नीतिशास्त्री अथवा व्यक्ति स्वय करते हैं। अर्थशास्त्री का काम (अर्थशास्त्री के रूप में) साध्यों के अच्छे-बुरे की जाँच करना नहीं होता है, बल्कि उनको दिया हुआ मानकर केवल उनको प्राप्त करने के उपाय सुझाना होता है।

(3) **अर्थशास्त्र एक मानवीय विज्ञान है**–इसमें समाज में रहने वाले और न रहने वाले दोनों प्रकार के व्यक्तियों के व्यवहार का अध्ययन किया जा सकता है।

(4) **परिभाषा मे साधनों की 'भौतिकता' के स्थान पर 'सीमितता' पर बल दिया है**–रोबिन्स के अनुसार साधनों की 'भौतिकता' आर्थिक समस्या को जन्म नहीं देती है, बल्कि उनकी 'सीमितता' ही आर्थिक चुनाव के लिए प्रेरित करती है। साधन भौतिक या अभौतिक हो सकते हैं। लेकिन जब माँग की तुलना में उनकी पूर्ति कम होती है, अर्थात् जब वे सीमित होते हैं, तभी आर्थिक चुनाव की समस्या पैदा होती है।

हम पहले बतला चुके हैं कि अधिकाश आधुनिक अर्थशास्त्री आर्थिक समस्या को 'सीमितता' से जोडते हैं और इसे 'चुनाव की समस्या' मानते हैं। सेमुअल्सन व नोरढाउस, लिप्से, मिल्टन फ्रीडमैन व जी एल बच आदि ने रोबिन्स के दृष्टिकोण का समर्थन किया है।

जी एल बच (G.L. Bach) व उसके सहयोगी लेखकों ने अर्थशास्त्र को **'आर्थिक विश्लेषण' व 'आर्थिक नीति' (economic analysis and economic policy) दोनों रूपों** में देखा है। आर्थिक विश्लेषण के रूप में, **'अर्थशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि हम जिन वस्तुओं व सेवाओं को चाहते हैं, उनका उत्पादन कैसे किया जाता है, और उनका हमारे बीच में वितरण कैसे किया जाता है।'** इस तरह आर्थिक विश्लेषण वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन व वितरण से सम्बन्ध रखता है। लेकिन आर्थिक नीति के रूप में **'अर्थशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि उत्पादन व वितरण की प्रणाली किस प्रकार बेहतर ढग से काम कर सकती है।'** अत आर्थिक नीति के रूप में यह उत्पादन व वितरण की प्रणाली में सुधार के उपाय सुझाता है ताकि इनको पहले की तुलना में ज्यादा कार्यकुशल बनाया जा सके।[1]

1 'Economics is the study of how the goods and services we want get produced and distributed among us This part we call economic analysis.

Economics is also the study of how we can make the system of production and distribution work better This part we call economic policy.' —G L. Bach and other co-authors, ECONOMICS 11th ed, 1987, pp 1 2, other co-authors are R. Flanagan, J. Howell, F Levy & A. Lima

इस विवरण के बाद जी.एस. मथ ने इस बात पर भी बल दिया है कि कुछ अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र की एक भिन्न किस्म की परिभाषा का भी समर्थन करते हैं जो इस प्रकार होती है '*अर्थशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए* सीमित उपलब्ध साधनों का प्रयोग कैसे किया जाता है। इस परिभाषा में दो केन्द्र बिन्दु हैं प्रथम उत्पादन के साधन—भूमि पूँजी श्रम, आदि सीमित होते हैं। इसलिए हम सभी व्यक्तियों के लिए सभी प्रकार की वस्तुएँ उत्पन्न नहीं कर पाते। द्वितीय मानवीय आवश्यकताएँ इतनी अधिक होती हैं कि हमारे उत्पादन के साधन उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर पाते। इसलिए हमें इन उत्पादन के साधनों का मितव्ययिता या किफायत से उपयोग करना होगा (economise) *ताकि हम अपनी ज्यादा से ज्यादा आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।*

अतः अर्थशास्त्र में साधनों के मितव्ययितापूर्वक उपयोग की समस्या प्रधान होती है। इस अर्थ में यह रोबिन्स की परिभाषा के अनुकूल हो जाती है।

रोबिन्स की परिभाषा की आलोचना-ऊपर बताया जा चुका है कि रोबिन्स की परिभाषा अधिक वैज्ञानिक तर्कसंगत व सही मानी गयी है। लेकिन विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने इसमें भी कुछ दोष बतलाये हैं जो *निम्नांकित हैं*–

(1) कुछ मानवीय क्रियाओं के आर्थिक पहलू नहीं होते। रोबिन्स के अनुसार प्रत्येक मानवीय क्रिया का चुनाव का पहलू उसका आर्थिक पहलू होता है। ऐसा इसलिए होता है कि दिये हुए लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सीमित साधन प्रयुक्त किये जाते हैं। लेकिन डॉ. वी.के. आर.वी. राव का कहना है कि *मनुष्य की बहुत सी क्रियायें स्वयं में साध्य या अन्त (end in itself)* होती हैं। उदाहरण के लिए मनुष्य का पारिवारिक जीवन लीजिए। जब लोग शादी करते हैं या अपने बच्चों के साथ अपना समय बिताते हैं तो वे किफायत की बात नहीं करते हैं। *जब व्यक्ति मित्रता करते हैं या संगीत सुनते हैं या किसी की प्रशंसा करते हैं तो यह कहना* सही नहीं होगा कि वे साधन की मितव्ययिता के दृष्टिकोण से प्रभावित होते हैं।

लेकिन जहाँ पर कोई क्रिया दिये हुए लक्ष्य के लिए साधन के रूप में होती है वहाँ भी मितव्ययिता का दृष्टिकोण सदैव महत्वपूर्ण नहीं होता। मान लीजिए दिया हुआ लक्ष्य परीक्षा में प्रथम श्रेणी प्राप्त करना है और न्यूनतम शक्ति और समय को खर्च करके यह लक्ष्य बाजारू नोट्स के सहारे प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन कोई भी जिम्मेदार व अध्ययनशील प्रोफेसर इस मार्ग का समर्थन नहीं करेगा क्योंकि शैक्षणिक आधार पर यह एक अनुचित मार्ग माना जाता है। अतः यह कहने से क्या लाभ कि सभी क्रियाओं का आर्थिक पहलू होता है। कोई भी सन्त महात्मा ईश्वर को पाने के लिए साधनों की मितव्ययिता का मार्ग नहीं अपनायेगा। उसे ईश्वर प्राप्ति के लिए कठोर तपस्या करनी होगी। इसी प्रकार पारिवारिक जीवन शिक्षा व *धार्मिक जगत में साधनों की मितव्ययिता को सदैव महत्व नहीं दिया जाता। अतः यह* आवश्यक नहीं कि सभी मानवीय क्रियाओं का आर्थिक पहलू हो।

(2) रोबिन्स की दुर्लभता की धारणा के पीछे पूर्ण रोजगार (full employment) की मान्यता निहित है। आजकल विभिन्न देशों में बेरोजगारी की स्थिति पायी जाती है जिससे *मितव्ययिता के नियम के विपरीत परिणाम निकल सकते हैं। यदि मितव्ययिता के सिद्धान्त* का परिणाम रोजगार घटाने वाला हो तो यह किस काम का। जनाधिक्य वाले देशों में श्रम की किफायत कराने वाली पद्धतियाँ हानिप्रद सिद्ध होती हैं। *इस प्रकार साधनों की सीमितता में निहित अवधारणा के परिणाम विपरीत भी निकल सकते हैं।* हमारे देश में महात्मा गाँधी ने

मशीनों का उपयोग करके श्रम का उपयोग घटाने तथा लागत कम करने के मार्ग को गलत माना था।

(3) असीमित आवश्यकताओं की अवधारणा भी सही नहीं है। कुछ धनी व्यक्तियों के लिए आवश्यकताओं की अनेकता की बात कही जा सकती है, लेकिन विशाल जन-समुदाय के लिए, विशेषतया भारत जैसे देश में, यह सही नहीं जान पड़ती।

(4) डॉ वी के आर. वी राव का मत है कि रोबिन्स ने मानवीय क्रिया के सामान्य उद्देश्य पर ध्यान नहीं दिया। रोबिन्स ने आर्थिक क्रिया का कोई एक लक्ष्य स्वीकार नहीं किया। उसने लक्ष्यों के बीच चुनाव की बात कही है। इस प्रकार मानवीय क्रिया का सामान्य लक्ष्य उसकी आँखों से ओझल हो गया है। डॉ. राव ने यह लक्ष्य मानव के व्यक्तित्व का विकास माना है, जिसके लिए रोबिन्स की विचारधारा में कोई स्थान नहीं है। उसने तो 'मितव्ययिता के सिद्धान्त' को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया था जो डॉ राव जैसे अर्थशास्त्रियों को स्वीकार्य नहीं है।

(5) रोबिन्स की परिभाषा स्थैतिक (static) है क्योंकि इसमें दिये हुए साध्यों का दिये हुए साधनों से मेल बैठाया गया है। लेकिन साधन बदलते भी रहते हैं। अत यह गत्यात्मक अर्थशास्त्र की परिभाषा नहीं कहला सकती।

(6) इस परिभाषा में बहुतायत या अधिकता से उत्पन्न होने वाली समस्याओं के लिए कोई स्थान नही हैं। कभी-कभी उत्पादन की अधिकता से भी समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऊँचे भौतिक स्तर से भी मानसिक शान्ति नहीं मिलने पर कई बार लोग आध्यात्मिक जीवन में शान्ति की तलाश करने लग जाते हैं। अत मितव्ययिता के सिद्धान्त, आवश्यकताओं की वृद्धि, अधिकतम सन्तुष्टि, आदि ने कई नई समस्याओं को जन्म दिया है।

(7) रोबिन्स के मतानुसार, अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है, न कि एक आदर्श विज्ञान। इस बात को लेकर भी काफी विवाद पाया गया है जिसका विवेचन आगे किया गया है।

प्रो. जे. के. मेहता द्वारा दी गई अर्थशास्त्र की परिभाषा-इलाहाबाद विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री व दार्शनिक विचारक स्व प्रोफेसर जे के मेहता ने अर्थशास्त्र की अपनी नयी परिभाषा दी थी, जो रोबिन्स के विचारों से भिन्न मानी गयी है। उनकी परिभाषा में आवश्यकताओं को न्यूनतम करने पर बल दिया गया है, जो प्राचीन भारतीय संस्कृति व हमारी आध्यात्मिक परम्परा के काफी अनुरूप है। प्रोफेसर जे के मेहता के अनुसार, 'अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो उस मानवीय आचरण का अध्ययन करता है जो आवश्यकता-रहित स्थिति के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए किया जाता है।'[1] एक दूसरे स्थान पर उन्होंने इसी से मिलती-जुलती अर्थशास्त्र की निम्न परिभाषा दी है : अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो उस मानवीय आचरण का अध्ययन करता है जो दीर्घकाल में दुख को न्यूनतम करने के प्रयास के रूप में किया जाता है, अथवा, दूसरे शब्दों में, आवश्यकताओं से मुक्ति पाने और सुख की स्थिति तक पहुँचने के प्रयास के रूप में किया जाता है।[2]

1 'Economics is a science that studies human behaviour as a means to the end of wantlessness.' –J.K. Mehta, Advanced Economic Theory, 1957, p.10

2 'Economics is, therefore, the science that studies human behaviour as the effort to minimise pain in the long run or, in other words, as an endeavour to gain freedom from wants and reach the state of happiness.' –J.K. Mehta. Lectures on Modern Economic Theory, 1967 Ch. I.

परिभाषा का स्पष्टीकरण–प्रोफेसर मेहता का विचार था कि जब तक आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती तब तक हमें कष्ट का अनुभव होता है और उसकी पूर्ति हो जाने पर हमें आनन्द मिलता है। इस प्रकार किसी आवश्यकता की पूर्ति से केवल वह दुख दूर होता है जिसे हम पहले अनुभव कर चुके हैं। यदि आवश्यकताओं को कम कर दिया जाय तो दुख भी कम हो जायेगा। अतः आवश्यकताओं को निरन्तर कम करते हुए हम वास्तविक सुख की स्थिति में पहुँच सकते हैं। सुख की स्थिति आनन्द या सन्तोष की स्थिति से भिन्न होती है, क्योंकि आनन्द का अर्थ तो दुख या कष्ट का दूर होना है, लेकिन सुख का आशय उस स्थिति से है जहाँ कोई दुख ही नहीं होता।

प्रोफेसर मेहता का विचार था कि एक आवश्यकता की पूर्ति के बाद दूसरी आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। एक आवश्यकता भी एक बार पूरी हो जाने के बाद पुन: पैदा हो जाती है। इस प्रकार आवश्यकताओं को बढ़ाने से दुख बढ़ता है। अतः इनको कम करना बहुत आवश्यक है। अत: मानव को आवश्यकताओं को कम करने पर ध्यान देना चाहिए। घटिया या निम्न स्तर की आवश्यकताओं के स्थान पर उच्च स्तर की आवश्यकताओं को अपना लेने से घटिया अथवा निम्न स्तर की आवश्यकताएँ अपने आप समाप्त हो जाती हैं। प्रोफेसर मेहता ने इस सम्बन्ध में एक उदाहरण भी दिया है कि एक व्यक्ति को कोई घटिया सिनेमा देखने की बजाय उत्तम साहित्य पढ़ना चाहिए। स्मरण रहे कि एक उच्च श्रेणी की आवश्यकता कई घटिया श्रेणी की आवश्यकताओं को समाप्त कर सकती है।[1]

आवश्यकता-रहित स्थिति में मनुष्य पूर्णतया निष्क्रिय नहीं हो जाता बल्कि वह सन्तुलन की अवस्था प्राप्त कर लेता है जहाँ कष्ट व आनन्द दोनों समाप्त हो जाते हैं और उसे केवल सुख ही मिलता है। अधिकांश ऋषि-महर्षि व साधु-सन्त ऐसा ही आचरण करते आये हैं।

आवश्यकताओं को बढ़ाकर मनुष्य स्वयं दुखी हो जाता है और दूसरों को भी दुखी कर डालता है। वह नितान्त स्वार्थी हो जाता है और दूसरों के अधिकारों को आघात पहुँचाने की चेष्टा करने लगता है। इससे समाज में कई प्रकार के तनाव उत्पन्न हो जाते हैं।

प्रोफेसर मेहता की परिभाषा की आलोचना–प्रोफेसर मेहता के परिभाषा सम्बन्धी विचार दार्शनिक व नीति-सम्बन्धी दृष्टिकोण पर आधारित हैं। उनका विचार था कि ये बातें व्यवहार में प्रयोग करके ही समझी जा सकती हैं, कोरे तर्क-वितर्क से इस सम्बन्ध में विशेष लाभ नहीं हो सकता।

आधुनिक पाश्चात्य अर्थशास्त्री व अन्य भौतिकवादी अर्थशास्त्री प्रोफेसर मेहता की परिभाषा को स्वीकार नहीं करते। इसके निम्न कारण हैं–

(1) आवश्यकताओं को कम करने से सभ्यता का विकास ही रुक जायगा। अधिक आवश्यकताओं की तृप्ति आधुनिक भौतिकवादी युग में आवश्यक मानी गयी है।

(2) मेहता की परिभाषा के अनुसार, एक निर्धन व्यक्ति धनी व्यक्ति से ज्यादा सुखी होता है, क्योंकि उसे कम आवश्यकताएँ सताती हैं, जबकि एक धनी व्यक्ति अनेक आवश्यकताओं से घिरा रहने से दुखी रह सकता है। लेकिन यह बात आम आदमी के आसानी से समझ में नहीं आती।

(3) प्रो. मेहता के अनुसार, अर्थशास्त्र एक आदर्श विज्ञान (normative science) भी है, जिसे प्रो. रोबिन्स व उनके समर्थक स्वीकार नहीं करते।

1. "One noble want can be relied upon to kill several baser wants." –J.K. Mehta, The Infra-structure of Economics, 1972, p. 66.

हमारा यह मत है कि प्रोफेसर मेहता के दृष्टिकोण को सही रूप से समझने पर उनके विचारों में काफी सार्थकता व सत्यता प्रतीत होगी। उनके विचार राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के आर्थिक विचारों से काफी मेल खाते हैं। इस विचारधारा के पीछे मूलमन्त्र है—सादा जीवन—उच्च विचार, जो भारतीय संस्कृति का आधार माना गया है।

अर्थशास्त्र की आधुनिक परिभाषा

अर्थशास्त्र एक विकास के विज्ञान के रूप में-रोबिन्स की परिभाषा की आलोचना में यह बतलाया गया था कि यह दिये हुए साध्यों का सम्बन्ध दिये हुए साधनों से स्थापित करने के कारण स्थैतिक (static) किस्म की मानी गयी है। पिछले लगभग पचास वर्षों में कुछ ऐसे परिवर्तन हुए हैं जिनके कारण अर्थशास्त्र की परिभाषा में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया है। मिण्ट व हैरड जैसे विद्वान् अर्थशास्त्री रोबिन्स की परिभाषा को व्यापक नहीं मानते। पिछले वर्षों में रोजगार, राष्ट्रीय आय, आर्थिक विकास व आर्थिक नियोजन जैसे विषयों पर काफी नया साहित्य सामने आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि रोबिन्स की परिभाषा जो दुर्लभता-केन्द्रित (scarcity-centred) है, वह विकास-केन्द्रित (growth-centred) साहित्य को अपने में समा सकने में असमर्थ रही है। सच पूछा जाये तो रोबिन्स ने सीमित साधनों के आवटन पर ही विचार किया था। उसकी परिभाषा में साधनों में होने वाली निरन्तर वृद्धि पर विचार नहीं किया गया।

हेनरी स्मिथ के अनुसार, '**अर्थशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि एक सभ्य समाज में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के द्वारा उत्पादित माल में अपना हिस्सा कैसे प्राप्त करता है तथा समाज की कुल उत्पत्ति कैसे परिवर्तित होती है एवं कैसे निर्धारित होती है।**' इस परिभाषा में तीन बातों पर बल दिया गया है · (1) समाज में कुल उत्पत्ति अथवा राष्ट्रीय आय कैसे निर्धारित होती है ? (2) इसमें कैसे परिवर्तन होते हैं ? (3) एक व्यक्ति का इसमें हिस्सा कैसे निर्धारित होता है ? वस्तुत इसे समष्टि अर्थशास्त्र की परिभाषा कहें तो गलत न होगा। इसमें राष्ट्रीय आय व आर्थिक विकास जैसे विषयों पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित किया गया है।

यह परिभाषा अधिक व्यापक है क्योंकि इसमें साधनों के विकास का भी उचित समावेश किया गया है।

रिचर्ड जी. लिप्से द्वारा अर्थशास्त्र की परिभाषा

रिचर्ड जी लिप्से (Richard G. Lipsey) ने उत्पादन-सम्भावना वक्र के विवेचन को ध्यान में रखते हुए अर्थशास्त्र की एक नयी परिभाषा प्रस्तुत की है *जिसमें समस्त आर्थिक* समस्याओं का समावेश हो जाता है। यह परिभाषा इस प्रकार है—

विस्तृत रूप में परिभाषित किये जाने पर आधुनिक अर्थशास्त्र का सम्बन्ध निम्नलिखित से किया जा सकता है

(1) समय के किसी बिन्दु पर समाज के साधनों का वैकल्पिक उपयोगों में आवटन तथा समाज की उत्पत्ति का व्यक्तियों व समूहों के बीच वितरण,

(2) वे तरीके जिनके द्वारा उत्पादन व वितरण किसी अवधि में परिवर्तित हो जाते हैं, तथा

(3) आर्थिक प्रणालियों की कार्यकुशलताएँ तथा अकार्यकुशलताएँ।* इसके अन्तर्गत उन बातों का उल्लेख किया जाता है जो किसी अर्थव्यवस्था को ज्यादा कार्यकुशल अथवा कम कार्यकुशल बनाती हैं।

इस परिभाषा में साधनों के वैकल्पिक उपयोग, उत्पत्ति के वितरण, उत्पादन व वितरण के परिवर्तनों तथा अर्थव्यवस्थाओं की कार्यकुशलताओं एव अकार्यकुशलताओं का समावेश किया गया है। अत यह काफी आधुनिक व व्यापक परिभाषा मानी जा सकती है। इसमें साधन आवटन के साथ साथ साधनों के विकास को भी शामिल किया गया है। इसमें आर्थिक प्रणाली की कार्यकुशलताओं व अकार्यकुशलताओं को शामिल करना भी एक विशेष बात मानी जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि परिभाषा पर रोबिन्स के विचार अधिक वैज्ञानिक व तर्कसगत हैं, हालाँकि उसके विचारों में अब सशोधन की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। फिर भी मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि अर्थशास्त्र में विभिन्न महत्त्व वाले साध्यों एव सीमित व वैकल्पिक उपयोग वाले साधनों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मानवीय व्यवहार का अध्ययन किया जाता है।

आर्थिक जगत में साधनों की सीमितता के कारण कई प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। आधुनिक अर्थशास्त्री अनेक प्रश्नों का अध्ययन करते हैं, जैसे बजट का घाटा, व्यापार का घाटा, मुद्रास्फीति, बेरोजगारी, आर्थिक असमानताएँ, पर्यावरण को खतरा, युद्ध, आन्तरिक अशान्ति, आदि। हमें सदैव यह स्मरण रखना होगा कि बाजार अर्थव्यवस्था हो, अथवा नियोजित अर्थव्यवस्था हो, सभी साधनों में सीमितता अवश्य देखने को मिलती है। इसलिए अर्थशास्त्री को किफायत से काम करने की विधि (economizing) का प्रयोग करके अधिक से अधिक सतुष्टि प्राप्त करने का उपाय बतलाना होता है। लेकिन आर्थिक निर्णयों को लागू करने में राजनीतिक प्रक्रिया भी अपना काफी महत्त्व रखती है।

अब हम अर्थशास्त्र के क्षेत्र पर प्रकाश डालेंगे जिसके अन्तर्गत अर्थशास्त्र की प्रकृति व विषय सामग्री का वर्णन भी आ जाता है।

अर्थशास्त्र का क्षेत्र (Scope of Economics)

अर्थशास्त्र की प्रकृति व क्षेत्र के विवेचन में विभिन्न लेखक प्राय अलग अलग विषयों की चर्चा करते हैं। कुछ लेखक इसके अन्तर्गत आर्थिक समस्या के स्वरूप, उत्पादन सम्भावना वक्र, सन्तुलन व असन्तुलन, व्यष्टि अर्थशास्त्र व समष्टि अर्थशास्त्र, वास्तविक तथा आदर्शमूलक अर्थशास्त्र एव अर्थशास्त्र की विधियों (आगमन व निगमन) तक का समावेश करते हैं। अन्य लेखक इनमें से थोड़े विषय ही शामिल करते हैं। अत अर्थशास्त्र की प्रकृति व क्षेत्र का विवेचन पूर्णतया सुनिश्चित नहीं माना गया है।

---

* Broadly defined, modern economics concerns

(1) The allocation of society's resources among alternative uses and the distribution of the society's output among individuals and groups at a point in time,

(2) the ways in which allocation and distribution and total output change over time ; and

(3) the efficiencies and inefficiencies of economic systems.' –Richard G Lipsey, and K. Alec Chrystal, An Introduction to Positive Economics, Eighth edition, *1995*, p 9

जे एन केन्स (J N. Keynes) के मतानुसार अर्थशास्त्र के क्षेत्र में निम्न तीन बातों का समावेश किया जाना चाहिए–

(1) अर्थशास्त्र की विषय सामग्री (subject matter of economics)

(2) अर्थशास्त्र की प्रकृति (nature of economics), अर्थात्-अर्थशास्त्र विज्ञान है या कला, अथवा दोनों,

(3) अर्थशास्त्र का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध।

आजकल तीसरे बिन्दु के स्थान पर अर्थशास्त्र की सीमाओं का विवेचन शामिल किया जाने लगा है। इन पर क्रमश नीचे प्रकाश डाला जाता है।

1 अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री

(Subject matter of Economics)

अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री इसकी परिभाषा पर निर्भर करती है। एडम स्मिथ व उसके समर्थकों के अनुसार अर्थशास्त्र की विषय सामग्री धन मानी जाती है। अत इसमें धन के उत्पादन, उपभोग, विनिमय व वितरण आदि का समावेश किया जाता है। मार्शल व पीगू आदि ने अर्थशास्त्र में भौतिक कल्याण पर अधिक जोर दिया है। पीगू ने मुद्रा के मापदण्ड पर बल दिया था। आगे चलकर रोबिन्स ने अर्थशास्त्र का सम्बन्ध चुनाव व निर्णय की प्रक्रिया से किया। इसके अनुसार चुनाव का पहलू ही अर्थशास्त्र का विषय माना जाता है।

अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री में उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण व राजस्व का संक्षिप्त परिचय देने की परम्परा रही है। उपभोग में आवश्यकताओं, माँग, उपभोक्ता के व्यवहार आदि का वर्णन किया जाता है। उत्पादन में उत्पादन के साधनों, उत्पादन के नियमों व उत्पादन के संगठन आदि का वर्णन आता है। विनिमय में वस्तुओं व सेवाओं के क्रय विक्रय, बाजार, मुद्रा, बैंकिंग आदि का अध्ययन किया जाता है। वितरण में उत्पादन के साधनों में राष्ट्रीय आय के वितरण की चर्चा होती है और लगान, मजदूरी, ब्याज व लाभ के सिद्धान्त आते हैं। आजकल सरकार के द्वारा आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप के कारण इसका योगदान काफी बढ गया है जिससे अर्थशास्त्र का एक पाँचवाँ भाग—सार्वजनिक वित्त भी उभर कर सामने आया है, जिसमें सरकारी राजस्व, व्यय व ऋण सम्बन्धी क्रियाओं का विवेचन किया जाता है। नियोजन के कारण सार्वजनिक वित्त का महत्त्व काफी बढ गया है क्योंकि सार्वजनिक विनियोग व सार्वजनिक व्यय के माध्यम से आर्थिक विकास पर अधिक बल दिया जाने लगा है।

जैसा की पहले बतलाया जा चुका है आधुनिक अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री को एक नये ढग से प्रस्तुत करने लगे हैं। वे इसके अन्तर्गत इसके दो भागों (i) व्यष्टि अर्थशास्त्र (Micro-economics) व (ii) समष्टि अर्थशास्त्र (Macro-economics) का वर्णन करते हैं। इनका परिचय नीचे दिया जाता है

(i) व्यष्टि अर्थशास्त्र को कीमत-सिद्धान्त (price theory) भी कहा जाता है। इसमें उपभोक्ता फर्म व व्यक्तिगत उद्योगों (जैसे चीनी उद्योग, इस्पात उद्योग आदि) के आर्थिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। ये इकाइयाँ छोटी आर्थिक इकाइयाँ मानी जाती हैं। व्यष्टि अर्थशास्त्र में वस्तुओं की कीमतों के निर्धारण व साधनों की कीमतों के निर्धारण पर

प्रकाश डाला जाता है। इसमें दिये हुए आर्थिक साधनों के आवंटन का अध्ययन किया जाता है।

(ii) समष्टि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से होता है जैसे, राष्ट्रीय आय रोजगार, मुद्रास्फीति बचत, विनियोग, आदि से होता है। इसके अन्तर्गत आर्थिक विकास व आर्थिक उतार चढाव जैसे विषय भी आते हैं। नियोजन के युग में उपरोक्त समष्टिगत चल राशियों (macro-variables) का महत्व काफी बढ़ गया है।

अत अर्थशास्त्र की विषय सामग्री में पहले उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण व राजस्व का वर्णन किया जाता था, लेकिन आधुनिक अर्थशास्त्री व्यष्टि अर्थशास्त्र व समष्टि अर्थशास्त्र के विवेचन पर विशेष जोर देते हैं।

2. अर्थशास्त्र की प्रकृति
(Nature of Economics)

अर्थशास्त्र की प्रकृति में हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि (1) अर्थशास्त्र विज्ञान है अथवा कला, (2) यह वास्तविक विज्ञान (positive science) है अथवा आदर्शात्मक विज्ञान (normative science)। इनका विवेचन नीचे किया जाता है

अर्थशास्त्र विज्ञान है अथवा कला

1. क्या अर्थशास्त्र एक विज्ञान है?

विज्ञान का अर्थ है क्रमबद्ध या व्यवस्थित ज्ञान। इसमें कारण तथा परिणाम का अध्ययन करके विभिन्न तत्त्वों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं। उन्हें नियम या सिद्धान्त कहते हैं। विज्ञान में प्रयोग भी किये जाते हैं।

अर्थशास्त्र एक विज्ञान है क्योंकि इसमें विभिन्न प्रकार के नियम पाये जाते हैं जैसे माँग का नियम उत्पत्ति के नियम, मूल्य सिद्धान्त आदि। माँग के नियम में, अन्य बातों के समान रहने पर, वस्तु की कीमत व माँग की मात्रा में परस्पर सम्बन्ध बतलाया जाता है। अर्थशास्त्र में नियमों की रचना के लिए वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञानों में विभिन्न विधियों का उपयोग किया जाता है उसी प्रकार अर्थशास्त्र में भी इनका उपयोग किया जाता है। *प्राकृतिक विज्ञानों में नियन्त्रित प्रयोग करना सुगम होता है* लेकिन अर्थशास्त्र में बाजारों के माध्यम से कुछ सीमा तक प्रयोग किये जा सकते हैं। आर्थिक जगत में नियन्त्रित प्रयोग करना कठिन होता है। फिर भी सांख्यिकीय पद्धति (statistical method) का उपयोग करके आर्थिक ज्ञान में काफ़ी वृद्धि की जा सकती है।

अर्थशास्त्र को विज्ञान न मानने वालों के तर्क–कुछ व्यक्ति अर्थशास्त्र के विज्ञान होने में सन्देह प्रकट करते हैं। वे इस सम्बन्ध में निम्न तर्क देते हैं जो सही नहीं माने जा सकते

(1) अर्थशास्त्र में नियमों की अनिश्चितता–अर्थशास्त्र के नियम प्राकृतिक नियमों की भांति सुनिश्चित नहीं होते। अर्थशास्त्र की वैज्ञानिकता में सन्देह करने वालों का कहना है कि *अर्थशास्त्र के नियम उतने सही नहीं होते हैं जितने कि अन्य प्राकृतिक विज्ञानों के होते हैं।* स्वयं मार्शल ने अर्थशास्त्र के नियमों की तुलना गुरुत्वाकर्षण के नियम (law of gravitation) से न करके ज्वार भाटे के नियमों (laws of tides) से की है जो कम निश्चित होते हैं *क्योंकि समुद्र में तूफान वर्षा आदि से ज्वार भाटे के समय व इनकी तीव्रता* में अन्तर हो सकता है।

अर्थशास्त्र के नियमों में कम निश्चितता का कारण यह बतलाया गया है कि इनका सम्बन्ध मानवीय व्यवहार से होता है जो बहुत अनिश्चित व परिवर्तनशील होता है। इसमें नियन्त्रित प्रयोग नहीं हो सकते। इसमें मुद्रा का मापदण्ड प्रयुक्त होता है जो स्वयं अस्थिर होता है क्योंकि मुद्रा का मूल्य प्राय बदलता रहता है।

अर्थशास्त्र के नियम वैज्ञानिक विधियों का उपयोग करके बनाये जाते हैं। इसलिए उनकी वैज्ञानिकता में सन्देह नहीं किया जाना चाहिए। ये प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों से चाहे कम निश्चित हों, लेकिन अन्य सामाजिक विज्ञानों के नियमों से ये अधिक सही व सुनिश्चित होते हैं।

जहाँ तक नियमों के पीछे 'अन्य बातों के यथास्थिर' मानने का प्रश्न है, ऐसा तो सभी विज्ञानों में किया जाता है। इसलिए यह कोई दोष नहीं है। प्रोफेसर रोबिन्स तो अर्थशास्त्र के नियमों के पीछे पायी जाने वाली मान्यताओं को इतना सही मानते हैं कि उन्हें अर्थशास्त्र के कुछ नियमों, जैसे सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम, उत्पत्ति ह्रास नियम, आदि की सत्यता में सन्देह करने का कोई कारण ही प्रतीत नहीं होता।

(2) **अर्थशास्त्रियों में परस्पर मतभेद**–अर्थशास्त्रियों में आपस में काफी मतभेद को देखकर भी अर्थशास्त्र को विज्ञान कहने में संकोच किया गया है। बर्नार्ड शॉ ने एक बार कहा था कि यदि दुनिया के अर्थशास्त्रियों को एक साथ बैठा दिया जाय तो वे कभी किसी एक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकेंगे। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि आर्थिक नीति-सम्बन्धी विषयों में विभिन्न अर्थशास्त्रियों के आदर्शात्मक दृष्टिकोण (normative approach) में अन्तर होने से उनमें मतभेदों का पाया जाना स्वाभाविक है। यदि किसी आर्थिक विषय पर विशुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो सम्भवत मतभेद का क्षेत्र काफी कम हो जायगा। 'क्या है' (वास्तविक अर्थशास्त्र) के विवेचन में इतना मतभेद नहीं पाया जाता, जितना 'क्या होना चाहिए' (आदर्शात्मक अर्थशास्त्र) के सम्बन्ध में पाया जाता है।

(3) **भावी अनुमान लगाने में कठिनाई**–प्राय यह कहा जाता है कि अर्थशास्त्र में भावी घटनाओं के बारे में अनुमान नहीं लगाये जा सकते और यदि लगाये भी जाते हैं तो वे सही नहीं निकलते। इसलिए अर्थशास्त्र को विज्ञान का दर्जा नहीं मिल सकता। लेकिन यह तर्क भी मिथ्या है। पिछले वर्षों में संख्यात्मक अर्थशास्त्र (quantitative economics) का काफी तेजी से विकास हुआ है और आर्थिक मॉडलों का उपयोग बढ़ने लगा है। इससे अर्थशास्त्री की अनुमान लगाने की क्षमता बढ़ी है। आशा है इसमें आगे और वृद्धि होगी।

हेनरी सी. वालिस का मत है कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान तो है, लेकिन यह कम निश्चित किस्म का विज्ञान (less exact science) है। अर्थशास्त्रियों को कई प्रकार की बाधाओं का सामना करना पड़ता है जिनसे प्राय भौतिक विज्ञान मुक्त होता है। इन बाधाओं के कारण ही हमारे ज्ञान में बहुधा अनिश्चितता आ जाती है और हमारी भविष्यवाणी भी अविश्वसनीय बन जाती है। आर्थिक जीवन की वास्तविकता बड़ी जटिल होती है और उस पर काबू पाना भी कठिन होता है। 'पहले अपने तथ्य (facts) लाओ' कहने वाला व्यक्ति कोई मामूली आदेश नहीं देता। दुनिया में असंख्य व्यक्तियों, अनेक वस्तुओं व उनकी कीमतों, असीमित मात्रा में क्रय-विक्रय आदि का सामना करना कोई आसान बात नहीं है। अर्थशास्त्री नियन्त्रित किस्म के प्रयोग भी नहीं कर सकते। अर्थशास्त्र में कुछ भी निश्चित नहीं होता है, कुछ भी

सम्भव हो सकता है और प्रत्येक चीज दूसरी चीज पर आश्रित होती है। अर्थशास्त्री को प्राय यह समझने में कठिनाई होती है कि अर्थशास्त्र में क्या हो रहा है। इन बाधाओं के बावजूद अर्थशास्त्री प्रगति कर रहे हैं। केन्स व उसके बाद के कई अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक मन्दी को दूर करने के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है एव अन्य क्षेत्रों में भी काफी प्रगति की गयी है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सार निकलता है कि हमें अर्थशास्त्र को विज्ञान स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। गणित व सांख्यिकी के प्रयोग से अर्थशास्त्र की वैज्ञानिकता में निरन्तर निखार आता जा रहा है। फिर भी अर्थशास्त्र के सामाजिक विज्ञान होने के कारण कुछ कठिनाइयाँ तो रहेंगी ही। आजकल गणित के बढते हुए प्रयोग से असतुष्ट होने के कारण कुछ लोगों को ऐसा लगने लगा है कि अर्थशास्त्र जहाँ विज्ञान सरीखा लगता है वहाँ वह अर्थशास्त्र नहीं है, और जहाँ यह अर्थशास्त्र है वहाँ यह विज्ञान सरीखा नहीं है। लेकिन सच यह है कि वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करके आर्थिक जीवन में कई बिन्दुओं पर कारण तथा परिणामों के बीच सम्बन्धों की स्थापना से अर्थशास्त्र का अपना विज्ञान तैयार हो गया है और गणित के बढते हुए प्रयोग से यह विज्ञान दिनोंदिन अधिक प्रगति करता जा रहा है।

अर्थशास्त्र एक वास्तविक और आदर्शात्मक विज्ञान के रूप में

वास्तविक विज्ञान में 'क्या है' (what is) का अध्ययन किया जाता है और आदर्शात्मक विज्ञान में 'क्या होना चाहिए' (what ought to be) का अध्ययन किया जाता है। वास्तविक विज्ञान का सम्बन्ध वास्तविक स्थिति से होता है, जबकि आदर्शात्मक विज्ञान का सम्बन्ध आदर्श से होता है। वास्तविक विज्ञान के रूप में अर्थशास्त्र में कारण तथा परिणाम में परस्पर सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं। *'वास्तविक विज्ञान' के लिए 'यथार्थवादी विज्ञान'* शब्द भी प्रयुक्त किया जाता है। अर्थशास्त्री तर्क-विधि व तथ्य-विधि का उपयोग करके जिस आर्थिक ज्ञान का निर्माण करता है, वह इसका वास्तविक विज्ञान होता है। रिचर्ड जी लिप्से के अनुसार, 'वास्तविक कथनों का सम्बन्ध क्या है, क्या था अथवा क्या होगा' से होता है (positive statements are concerned with what is, was or will be)। **इसका अर्थ यह है कि वास्तविक कथनों का सम्बन्ध वर्तमान, भूत व भविष्य सभी प्रकार की अवधियों से हो सकता है। ज्यादातर पुस्तकों में वास्तविक कथनों के वर्तमान पक्ष को ही लिया जाता है, लेकिन इन्हें भूत व भविष्य के सन्दर्भ में भी कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करते समय लिया जा सकता है। जैसे यह कथन भी एक वास्तविक कथन ही है कि** भूतकाल में भारत में मृत्यु-दर अधिक होने के कारण जनसख्या की वार्षिक वृद्धि-दर नीची रही थी। इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि यदि भविष्य में मृत्यु-दर की गिरावट जारी रही और जन्म दर यथास्थिर बनी रही तो जनसख्या की वार्षिक वृद्धि दर ऊँची बनी रह सकती है। यह भी वास्तविक कथन का ही रूप है, हालाँकि इसका सम्बन्ध भविष्य से किया गया है। वास्तविक कथन सरल और जटिल दोनों किस्म के हो सकते हैं। अत ये विश्लेषणात्मक (*analytical*) होते हैं। जैसे भारत में बेरोजगारी की समस्या को लीजिए। इसके कारणों की जाँच करना 'वास्तविक विज्ञान' में आता है। अर्थशास्त्री विभिन्न तथ्यों (जनसंख्या की वार्षिक वृद्धि, श्रम शक्ति की वार्षिक वृद्धि, जनसख्या का आयु के *अनुसार वितरण, आर्थिक विकास* की दशा, जनसख्या का व्यावसायिक वितरण, शिक्षा का प्रसार, आदि) एव कई प्रकार के तर्कों

बिना ही उसके हल के सम्बन्ध में अपनी तरफ से किसी विशेष मत या दृष्टिकोण का समर्थन करने लग जाते हैं अर्थात् वे वास्तविक विज्ञान की सीढी पर चढे बिना ही आदर्शात्मक विज्ञान के मन्दिर में प्रवेश कर जाते हैं। ऐसा वे अपनी कुछ कठोर मान्यताओं (दार्शनिक सामाजिक सास्कृतिक राजनीतिक धार्मिक आदि क्षेत्रों से सम्बन्धित) के कारण करते हैं। लेकिन उचित तो यह होगा कि पहले पर्याप्त मात्रा में सैद्धान्तिक पहलू पर विस्तार से विचार कर लिया जाय ताकि 'क्या होना चाहिए' के सम्बन्ध में सम्भवत अधिक सही दृष्टिकोण अपनाया जा सके। नीति सम्बन्धी निर्णयों पर पहुँचने से पूर्व उन्हें विभिन्न मान्यताओं से निकलने वाले विभिन्न परिणामों का अध्ययन अवश्य कर लेना चाहिए। इससे मतभेद का दायरा स्वत काफी कम हो जायगा।

अर्थशास्त्र को एकमात्र वास्तविक विज्ञान बनाने के पक्ष में तर्क

क्लासिकल अर्थशास्त्री और रोबिन्स अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान मानते हैं। रोबिन्स का दृढ मत है कि अर्थशास्त्र साध्यों के बीच तटस्थ रहता है (economics is neutral between ends)। अर्थशास्त्र मूल्य सम्बन्धी अन्तिम निर्णयों की सत्यता का फैसला नहीं कर सकता। अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में भेद करते हुए रोबिन्स ने एक स्थान पर कहा है कि 'दुर्भाग्यवश इन दोनों अध्ययनों को पास पास रखने के अतिरिक्त इनमें और कोई तार्किक सम्बन्ध या ताल-मेल बैठाना सम्भव प्रतीत नही होता। अर्थशास्त्र निश्चित तथ्यो से सम्बन्ध रखता है, जबकि नीतिशास्त्र मूल्याकनों व दायित्वो से। जाँच के दोनों क्षेत्र वार्तालाप क एक धरातल पर नही हैं।'

अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान के रूप में रखने के पक्ष में निम्न तर्क दिये गये हैं–

(1) अर्थशास्त्र का विज्ञान के रूप में विकास करने के लिए वास्तविक विज्ञान में कारण परिणाम सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। यह बहुत कुछ तर्क पर आधारित होता है। अत विज्ञान के रूप में अर्थशास्त्र का तेजी से विकास करने के लिए इसे वास्तविक विज्ञान तक सीमित रखना ही उचित बतलाया गया है।

(2) श्रम विभाजन का तर्क–यह कहा गया है कि अर्थशास्त्री को वास्तविक विज्ञान तक ही अपने आपको सीमित रखना चाहिए और भले बुरे का निर्णय राजनीतिज्ञ नीतिशास्त्री या स्वय व्यक्तियों पर ही छोड देना चाहिए। ऐसे श्रम विभाजन से दोनों कार्यों में अधिक दक्षता आ सकेगी।

(3) आदर्शों के निर्धारण में जटिलता–रोबिन्स का मत है कि आदर्शों का निर्धारण बहुत कठिन होता है। इनके सम्बन्ध में काफी मतभेद पाया जाता है। भले बुरे के सम्बन्ध में लोगों की धारणाएँ भिन्न भिन्न होती हैं। मान लीजिए, विश्व के चार पाँच महान् व्यक्तियों की एक समिति बना दी जाये और उसे पूँजीवाद पर अपना मत प्रकट करने के लिए कहा जाय तो सम्भवत उनके द्वारा एक मत से कोई निर्णय नहीं हो सकेगा। अत रोबिन्स का मत है कि अर्थशास्त्री भले बुरे के निर्णय में पडकर अपने मुख्य काम को भी ठीक स नही कर पायेगा।

(4) भ्रम उत्पन्न होने की सम्भावना–यदि एक ही अर्थशास्त्री सैद्धान्तिक विवचन करता है और वही भले बुरे का निर्णय करता है तो उसकी बातों से जनसाधारण में भ्रम फैलने की आशका बढ जायेगी। लोग उसके सैद्धान्तिक निष्कर्षों को उसके आदर्शात्मक निर्णय मान लेंगे। स्वय उस अर्थशास्त्री के लिए भी अपना प्रथम कार्य सफलतापूर्वक करना कठिन हो

जायेगा। यह भी सम्भव है कि वह अर्थशास्त्री अपनी पसन्द व नापसन्द के अनुसार ही सैद्धान्तिक विवेचन को मोड़ देने लग जाय। इससे वास्तविक विज्ञान को सत्यता को ठेस पहुँचेगी। इसलिए अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान ही बनाया जाना चाहिए।

अर्थशास्त्र को आदर्शात्मक विज्ञान भी होना चाहिए: पक्ष में तर्क

हॉब्सन व हॉट्रे अर्थशास्त्र को आदर्शात्मक विज्ञान बनाने के पक्ष में रहे हैं। प्रोफेसर जे. के. मेहता के अनुसार भी अर्थशास्त्र एक आदर्शात्मक विज्ञान है, क्योंकि उन्होंने अर्थशास्त्र की अपनी परिभाषा में आवश्यकता-रहित स्थिति (a state of wantlessness) का एकमात्र लक्ष्य स्वीकार किया है। रोबिन्स ने तो कई लक्ष्यों की बात कही है। फ्रेजर का मत है कि 'आर्थिक कथनों को समस्त आदर्शात्मक निष्कर्षों से पूर्णतया दूर नहीं रखा जा सकता।' फ्रेजर ने ही एक दूसरे कथन में पुनः निम्न शब्दों में अर्थशास्त्री को नीति-सम्बन्धी निर्णयों में भाग लेने की सलाह दी है: **'एक अर्थशास्त्री जो केवल अर्थशास्त्री ही है, वह एक सुन्दर, लेकिन एक दीन मक्खी के समान है।'** इस सम्बन्ध में प्रोफेसर पीगू की स्थिति इतनी निश्चित नहीं है। उनका मत है कि अर्थशास्त्र 'क्या है' का वास्तविक विज्ञान है और 'क्या होना चाहिए' का आदर्शात्मक विज्ञान बनने का प्रयास कर रहा है। फिर भी पीगू ने इस बात पर बल दिया है कि अर्थशास्त्र का उपयोग मानवीय समस्याओं के हल में अवश्य किया जाना चाहिए। उनका निम्न कथन विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है, **'हमारी दृष्टि दार्शनिक जैसी नहीं है, जो ज्ञान के लिए ज्ञान पर जोर देता है, बल्कि चिकित्सक जैसी है जो ज्ञान पर इसलिए जोर देता है कि उससे इलाज में सहायता मिलती है।'** इस कथन में पीगू ने आर्थिक ज्ञान का उपयोग समस्याओं को हल करने की दृष्टि से आवश्यक माना है।

जो लोग आदर्शात्मक विज्ञान के रूप में अर्थशास्त्र को देखना चाहते हैं, उनके तर्क इस प्रकार हैं–

(1) वास्तविक विज्ञान कभी भी मूल्य-तटस्थ नहीं रहा है–सैद्धान्तिक विश्लेषण में कुछ लक्ष्यों के अधिकतमकरण की बात सदैव की जाती रही है, जैसे उपभोक्ता के व्यवहार का सिद्धान्त उसके उपयोगिता-अधिकतमकरण के लक्ष्य से निकलता है। इसी प्रकार उत्पादक के व्यवहार का सिद्धान्त उसके लाभ-अधिकतमकरण के लक्ष्य से निकलता है। बिना लक्ष्य को परिभाषित किये कोई सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता। लक्ष्यों को परिभाषित करने की क्रिया वास्तव में मूल्य-आधारित (value-based) होती है। स्वर्गीय डॉ. राजकृष्ण का भी मत था कि आर्थिक सिद्धान्त 'मूल्य-तटस्थ' (value-neutral) न कभी थे, न हैं, और न कभी होंगे। अतः अर्थशास्त्री मूल्यों के सम्बन्ध में अपनी-अपनी मान्यताएँ सदैव रखते हैं, चाहे वे इन्हें स्पष्ट रूप में प्रकट न करें। यहाँ 'मूल्यों' का अर्थ है अपनी सामाजिक, राजनीतिक अथवा दार्शनिक विचारधारा के आधार पर भले-बुरे के बारे में निर्णय करना। इस प्रकार वास्तविक विज्ञान के पक्ष को आदर्शात्मक पक्ष से पूर्णतया पृथक् नहीं किया जा सकता।

(2) श्रम-विभाजन का प्रभावक तर्क–यह कहना कि एक अर्थशास्त्री कारण-परिणाम सम्बन्ध स्थापित करे और दूसरा कोई व्यक्ति उचित-अनुचित का निर्णय दे, यह उचित नहीं प्रतीत होता। यह कार्यकुशल श्रम-विभाजन नहीं माना जा सकता। वास्तव में जो व्यक्ति सैद्धान्तिक विश्लेषण करता है और विविध प्रकार के तर्कों व तथ्यों में से गुजरता है, वही उचित-अनुचित का भी सही निर्णय दे सकता है और उसे ही ऐसा करने का अवसर दिया

जाना चाहिए। इस कार्य को दो भागों में बाँटना अकार्यकुशल व अनुचित होगा। यदि एक पृथक् व्यक्ति भले बुरे का फैसला देगा तो उसे सर्वप्रथम सम्पूर्ण सैद्धान्तिक विवेचन से परिचित होना पड़ेगा जिसमें काफी समय लग जायेगा। अत: स्वयं वास्तविक अर्थशास्त्री को ही आदर्शात्मक पहलू पर भी अपना निर्णय देना चाहिए।

(3) तर्क व भावना का संयोग आवश्यक–मानवीय विषयों का केवल तार्किक विवेचन ही नहीं होता। मनुष्य के भावना प्रधान होने के कारण उसकी क्रियाओं के अध्ययन में *उचित-अनुचित का भी पूरा समावेश होना चाहिए। अत* आदर्शात्मक पहलू को सैद्धान्तिक पहलू से पृथक नहीं किया जा सकता।

(4) आदर्शात्मक पहलू को अपनाने से ही अर्थशास्त्री का सामाजिक कल्याण में अधिक योगदान होगा–आज प्रत्येक देश के समक्ष कई प्रकार की आर्थिक समस्याएँ विद्यमान हैं *जिनके सामाजिक व राजनीतिक परिणाम भी निकलते हैं। अर्थशास्त्री का भी यह दायित्व हो* जाता है कि वह उन प्रश्नों के सम्बन्ध में अपना निश्चित मत बनाये। जैसे एक देश में आय के वितरण को लीजिए। आर्थिक जगत् की विभिन्न गतिविधियों को देखते हुए एव सामाजिक परिवर्तन की दिशा को ध्यान में रखते हुए आजकल आय की समानता के आदर्श का समर्थन करना उचित प्रतीत होता है। इस प्रकार नीति निर्णयों में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेकर अर्थशास्त्री समाज की आर्थिक समस्याओं के हल करने में सक्रिय रूप से भाग ले सकता है। **प्रो. पीगू के कथनानुसार अर्थशास्त्र को प्रकाशदायक (light-bearing) होने के साथ-साथ फलदायक (fruit-bearing) भी होना चाहिए।** एक निर्धन व्यक्ति को केवल इस बात से पूरा सन्तोष नहीं होगा कि अर्थशास्त्री उनकी गरीबी के कारणों की छानबीन कर रहा है, बल्कि वह तो यह चाहेगा कि अर्थशास्त्री उसकी गरीबी को दूर करने के लिए आवश्यक व शीघ्र उपाय बतलाये, एव साथ में वह उसकी गरीबी को दूर करने के संघर्ष में *भी शामिल हो।*

(5) सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र की वस्तुनिष्ठता (objectivity) में संदेह–प्राय यह दावा *किया जाता है कि सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र केवल तथ्यों व विश्लेषण पर ही टिका हुआ है।* लेकिन कुछ अर्थशास्त्रियों ने वास्तविक अर्थशास्त्र की वस्तुनिष्ठता पर सन्देह व्यक्त किया है। उनका कहना है कि अर्थशास्त्री की विचारधारा पर उसके सामाजिक वर्ग, संस्कृति व देश के आर्थिक विकास की अवस्था, आदि का निरन्तर प्रभाव पड़ता रहता है।

सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र में वस्तुनिष्ठता को दो प्रकार से दबाया जाता है। सर्वप्रथम, गुन्नार मिर्डल के अनुसार, तथ्यों व आँकड़ों के चुनाव में पक्षपात किया जाता है। आय के वितरण के अध्ययन में पूँजीवादी अर्थशास्त्री राष्ट्रीय आय में श्रम के भाग का विवेचन करते हैं, जबकि साम्यवादी अर्थशास्त्री अतिरिक्त मूल्य (surplus value) व शोषण पर अधिक ध्यान केन्द्रित करते हैं। इस प्रकार सैद्धान्तिक विश्लेषण में पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण शुरू से ही निहित होता है। ऊपर से दिखाने के लिए तो कुछ अर्थशास्त्री विशुद्ध रूप से सैद्धान्तिक बने रहते हैं, *लेकिन उनके मन में पक्षपात समाया रहता है।*

सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र में वस्तुनिष्ठता कम होने का दूसरा *कारण यह है कि इसमें प्रयुक्त* होने वाले अनेक शब्द ऐसे होते हैं जो मूल्य भारित या मूल्यों से लदे हुए (value loaded) *होते हैं, और विशेषज्ञ भी इनसे मुक्त नहीं होते हैं।* 'कल्याण', 'कार्यकुशलता', 'उपयोगिता', 'उत्पादकता', आदि शब्द पूँजीवादी पक्ष की ओर से प्रयुक्त किये जाते हैं और 'न्याय',

'समानता', 'नियोजित', 'संस्थागत', आदि शब्द समाजवादी पक्ष की ओर से प्रयुक्त किये जाते हैं। इस प्रकार सैद्धान्तिक विश्लेषण में मूल्य-तटस्थता की बात नितान्त भ्रामक, कल्पित व दोषी प्रतीत होती है।

भारत की वर्तमान आर्थिक समस्याओं के विश्लेषण में भी पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों व समाजवादी अर्थशास्त्रियों में स्पष्ट मतभेद पाये गये हैं। प्रथम समूह आर्थिक नियंत्रणों व लाइसेंस व्यवस्था को समाप्त करने की सलाह देता है, तो दूसरा समूह नियोजन में नियंत्रणों को बनाये रखने का समर्थन करता है। दोनों विशुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को अपनाने का दावा तो करते हैं, लेकिन उनके अन्तरमन में अपनी-अपनी विचारधारा जड़ जमाये रहती है जिससे मुक्त होना उनके लिए आसान नहीं होता है। एक समूह हर हालत में 'निजीकरण' का समर्थन करेगा तो दूसरा समूह हर हालत में इसका विरोध करेगा। इसलिए मूल्यों के बीच तटस्थ भाव रखना काफी कठिन जान पड़ता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह परिणाम निकलता है कि अर्थशास्त्र एक तरफ वास्तविक विज्ञान है तो दूसरी तरफ आदर्शात्मक विज्ञान भी है।

मिल्टन फ्रीडमैन का मत

सैद्धान्तिक रूप से वास्तविक अर्थशास्त्र किसी भी नैतिक या आदर्शात्मक निर्णय से स्वतंत्र होता है। उसका कार्य ऐसे नियम बनाना होता है जिनका उपयोग परिस्थितियों में परिवर्तनों के परिणामों के बारे में सही निष्कर्ष (predictions) निकालने में किया जा सके। इसकी सफलता की कसौटी यह होती है कि इसके निष्कर्ष व्यावहारिक अनुभवों से कहाँ तक मेल खाते हैं। संक्षेप में, वास्तविक अर्थशास्त्र एक 'वस्तुनिष्ठ विज्ञान' होता है, अथवा हो सकता है, ठीक उसी अर्थ में जिसमें कि अन्य भौतिक विज्ञान होते हैं। फ्रीडमैन ने अर्थशास्त्र की वस्तुनिष्ठता के मार्ग में आने वाली कुछ कठिनाइयाँ भी स्वीकार की हैं।

दूसरी तरफ फ्रीडमैन का यह भी मानना है कि आदर्शात्मक अर्थशास्त्र और अर्थशास्त्र की कला वास्तविक अर्थशास्त्र से मुक्त या अलग नहीं हो सकते। कोई भी नीति-सम्बन्धी-निर्णय एक ही जगह दूसरी चीज के परिणामों के बारे में निकाले गये निष्कर्षों पर आश्रित होता है। ये निष्कर्ष व्यक्त या अव्यक्त रूप में वास्तविक अर्थशास्त्र पर ही आधारित होते हैं।

2. क्या अर्थशास्त्र एक कला है?

कला का आशय काम करने की विधि से लगाया जाता है। दूसरे शब्दों में, यह वास्तविक विज्ञान को आदर्शात्मक विज्ञान से मिलाने वाली आवश्यक कड़ी होती है। 'क्या है' को 'क्या होना चाहिए' से जोड़ने के लिए 'कैसे होना चाहिए' का ज्ञान आवश्यक होता है। अतः आर्थिक नीतियों के रूप में हमारे समक्ष अर्थशास्त्र की कला प्रस्तुत होती है। आधुनिक युग में अर्थशास्त्र के कला पक्ष का महत्त्व विकसित व विकासशील सभी देशों में काफी बढ़ गया है। अर्थशास्त्रियों से यह आशा की जाती है कि वे विभिन्न आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करके उचित आर्थिक नीतियाँ सुझाकर आधुनिक सरकारों की मदद करें। यही कारण है कि आजकल अर्थशास्त्र व अर्थशास्त्रियों का सम्मान सर्वत्र बहुत बढ़ गया है। यह बात अलग है कि वे लोगों की आशाओं के अनुकूल काम कर पाते हैं, अथवा नहीं। अतः अर्थशास्त्र का कला-पक्ष भी है और वह विज्ञान पक्ष से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सच पूछा जाय तो दोनों पक्ष परस्पर आश्रित हैं।

यह निश्चित हो जाने के बाद कि वास्तविक अर्थशास्त्र, आदर्शात्मक अर्थशास्त्र और अर्थशास्त्र की कला तीनों ही पक्ष अपने अपने ढंग से सही हैं, अब हम आर्थिक विश्लेषण व आर्थिक नीति (वास्तविक अर्थशास्त्र व अर्थशास्त्र की कला) के सम्बन्ध को नीचे कुछ उदाहरणों सहित स्पष्ट करते हैं। इससे यह समझ में आ जायेगा कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान व कला दोनों है।

आर्थिक विश्लेषण व आर्थिक नीति

अर्थशास्त्र का विज्ञान-पक्ष उसके कला-पक्ष के समीप

हम पहले बतला चुके हैं कि कुछ अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को दो रूपों में परिभाषित करते हैं—एक तो 'आर्थिक विश्लेषण' के रूप में और दूसरे 'आर्थिक नीति' के रूप में। अत इनमें परस्पर कडी पायी जाती है।

प्रोफेसर जी एल बच के अनुसार, **'आर्थिक विश्लेषण सुदृढ़ आर्थिक नीति का आवश्यक आधार होता है।'**[1]

आर्थिक विश्लेषण की सहायता से हम आर्थिक व्यवहार को समझने का प्रयास करते हैं ताकि हम उसको आवश्यकतानुसार बदल सकें। प्रत्येक देश में अनेक आर्थिक नीति सम्बन्धी निर्णय लिये जाते हैं। अर्थशास्त्री का यह कार्य होता है कि वह विभिन्न आर्थिक नीतियों के परिणामों की जाँच करके यह बतलाये कि (i) क्या प्रस्तावित आर्थिक नीति प्रस्तावित 'उद्देश्य/उद्देश्यों को प्राप्त कर सकेगी ?' (ii) आर्थिक नीति के अन्य परिणाम क्या होंगे ? (iii) क्या प्रस्तावित उद्देश्य अन्य वैकल्पिक आर्थिक नीतियों के उपयोग से प्राप्त नहीं किये जा सकते थे ? (iv) वर्तमान आर्थिक नीति की लागत अन्य आर्थिक नीतियों से अधिक होगी या कम ? इन प्रश्नों का वैज्ञानिक विश्लेषण करना आवश्यक होता है।

भारतीय परिस्थिति से दो उदाहरण

(1) बेरोजगारी दूर करने के लिए खादी, हथकरघा व शक्ति-करघा उद्योग को प्रोत्साहन देने की नीति–कुछ गाँधीवादियों का यह मत रहा है कि यदि देशवासी खादी, हथकरघे व शक्ति करघे के वस्त्रों का ही उपयोग करें तथा सूती वस्त्र मिलों में बने सम्पूर्ण वस्त्र का निर्यात कर दिया जाय, तो निकट भविष्य में ही देश में बेकारी की समस्या काफी सीमा तक हल हो जायेगी, क्योंकि एक मिल मजदूर वस्तुत 13 जुलाहों को बेकार कर देता है। देश की सूती वस्त्र मिलों में 8 9 लाख मजदूर रोजगार पाये हुए हैं। इसलिए खादी, हथकरघे, शक्ति करघे को प्रोत्साहन देने से दो तीन वर्षों में एक करोड व्यक्तियों को काम दिया जा सकता है।

अर्थशास्त्रियों को इस प्रश्न पर विस्तार से विचार करना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह देखा जाना चाहिए कि (i) क्या समस्त देशवासी अपना वस्त्र धारण का वर्तमान स्वरूप त्याग कर खादी, हथकरघा व शक्ति-करघा से बने वस्त्र धारण कर लेंगे ? इसकी व्यावहारिकता पर ध्यान दिया जाना चाहिए। (ii) सूती वस्त्र मिलों के वस्त्र का निर्यात कहाँ तक सम्भव हो सकेगा ? इस सम्बन्ध में विभिन्न देशों के बाजारों में भारतीय सूती वस्त्रों की माँग की भावी

---

1 Economic analysis is the necessary foundation for sound economic policy '
–G L. Bach and four co-authors, ECONOMICS, 11th ed, 1987, p.2.

सम्भावनाएँ क्या हैं ? (iii) खादी व अन्य विकेन्द्रित क्षेत्रों में उत्पन्न वस्त्र की भी निर्यात-माँग होती है, उसकी भावी सम्भावनाएँ क्या हैं ? इसका पता लगाया जाना चाहिए (iv) रोजगार बढाने के अन्य विकल्प क्या हैं ? उनकी लागत उपर्युक्त सुझाव की लागत से कम होगी या ज्यादा ? इस प्रकार आर्थिक नीति विस्तृत आर्थिक विश्लेषण पर टिकी होनी चाहिए, तभी वह कारगर हो सकती है, अन्यथा नहीं। हमें समस्या के विभिन्न समाधानों का विश्लेषण करके कोई अन्तिम राय कायम करनी चाहिए।

(2) देश के लिए स्थायी खाद्य-नीति का निर्धारण-भारत में अभी तक खाद्य-नीति काफी ढिल मिल व अस्थायी किस्म की रही है। इसमें विभिन्न वर्षों में परिवर्तन होते रहे हैं। अर्थशास्त्रियों को एक अधिक स्थायी खाद्य-नीति के निर्धारण में सरकार को योगदान देना चाहिए। इसके लिए निम्नांकित प्रश्नों का विवेचन करना आवश्यक होगा–

(i) क्या खाद्यान्नों के अभाव तथा खाद्यान्नों के आधिक्य दोनों प्रकार के वर्षों के लिए एक ही खाद्य-नीति उपयुक्त रह सकती है ? (ii) क्या सरकार को खाद्यान्नों में सार्वजनिक वितरण प्रणाली का विस्तार करना चाहिए। (iii) खाद्यान्नों के वसूली मूल्यों, न्यूनतम समर्थन-मूल्यों व राशन की दुकानों पर खुदरा बिक्री मूल्यों में परस्पर सम्बन्ध क्या होना चाहिए। (iv) खाद्यान्नों पर दी जाने वाली आर्थिक सहायता या सब्सिडी का भार कैसे कम किया जाना चाहिए ? (v) यदि खाद्यान्नों का वितरण पूर्णतया निजी व्यापारियों पर छोड दिया जाय तो उत्पादकों व उपभोक्ताओं पर क्या प्रभाव पड़ेंगे ? (vi) खाद्यान्नों की वसूली, आयात व देश में वितरण की सही नीति क्या होनी चाहिए?

अत स्पष्ट है कि सही व उपयोगी आर्थिक नीतियों के निर्धारण में विस्तृत आर्थिक विश्लेषण की आवश्यकता पड़ती है। हमें समस्या के प्रत्येक पहलू पर बारीकी से अध्ययन करके किसी परिणाम पर पहुँचना चाहिए, तभी लाभप्रद व व्यावहारिक नीति का निर्माण सम्भव हो सकता है।

आधुनिक युग में अर्थशास्त्री के लिए जाँच का काम काफी बढ गया है। कभी-कभी दो या अधिक उद्देश्य एक साथ प्रस्तुत कर दिये जाते हैं जिनमें परस्पर विरोध भी हो सकता है, जैसे भारत में एक ओर आर्थिक विकास की दर को तेज करना और दूसरी ओर रोजगार को बढाना। यदि हम आर्थिक विकास की गति को बढाने के लिए पूँजी गहन विधियों का उपयोग करने लगते हैं तो उससे अधिकतम रोजगार के लक्ष्य पर विपरीत प्रभाव पडता है, और यदि अधिकतम रोजगार प्राप्त करने के लिए श्रम गहन विधियों का प्रयोग करने लगते हैं तो आर्थिक विकास की गति के धीमा पडने का भय उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार विभिन्न आर्थिक उद्देश्यों के परिणामों की परस्पर तुलना करना भी आवश्यक होता है। लेकिन यदि कभी आर्थिक विकास की तेज गति व अधिकतम रोजगार के उद्देश्यों में से चुनाव करना पड़े, तो सम्भवत अर्थशास्त्र के बाहर से मूल्य-सम्बन्धी निर्णयों की सहायता लेनी पड़ेगी, और सम्भवत अधिकतम रोजगार का लक्ष्य (मानवीय कारणों के आधार पर) ऊँचा माना जायेगा और उसी पर अधिक ध्यान दिया जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थशास्त्री आर्थिक विश्लेषण के उपकरणों का उपयोग आर्थिक नीति के परिणामों की जाँच करने में करते हैं। उन्हें अपने उपकरणों व विधियों में निरन्तर सुधार करते रहना चाहिए। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री डॉ के एन राज का मत है कि बौद्धिक ईमानदारी का तकाजा है कि अर्थशास्त्रियों को उन मान्यताओं को

स्पष्ट रूप से व्यक्त करना चाहिए जिनके आधार पर उनके नीति सम्बन्धी निर्णय व कार्यक्रम टिके हुए होते हैं। उन्हें यह भी बतलाना चाहिए कि उन्होंने वे मान्यताएँ क्यों स्वीकार की हैं और वे मान्यताएँ अन्य मान्यताओं से किन अर्थों में बेहतर हैं ? उनको सुनिश्चित रूप से यह भी बतलाना चाहिए कि ऐसी नीतियों व कार्यक्रमों को लागू करने के लिए उनके पास कौन से उपाय हैं, क्योंकि इससे भी काफी मदद मिलेगी।[1]

इस प्रकार आर्थिक विश्लेषण व आर्थिक नीति दोनों में परस्पर गहरा सम्बन्ध पाया *जाता है, अथवा, दूसरे शब्दों में, अर्थशास्त्र के विज्ञान-पक्ष व इसके कला-पक्ष में गहरा सम्बन्ध* पाया जाता है। दोनों का अपनी-अपनी जगह काफी महत्त्व होता है।

3. अर्थशास्त्र की सीमाएँ
(Limitations of Economics)

अर्थशास्त्र की विषय सामग्री व इसकी प्रकृति का विवेचन करने के बाद हम इसकी सीमाओं का उल्लेख करते हैं।

परम्परागत विवेचन में अर्थशास्त्र की परिभाषा का इसकी सीमाओं के निर्धारण पर प्रभाव देखा जाता है। प्रो मार्शल व पीगू ने अर्थशास्त्र के अध्ययन में मानव के भौतिक *कल्याण को बढ़ाने पर बल दिया था। लेकिन प्रो रोबिन्स ने अर्थशास्त्र में मानवीय क्रिया के* चुनाव करने के पहलू को शामिल किया है। अत रोबिन्स की परिभाषा को स्वीकार करने पर अर्थशास्त्र में सामाजिक व एकान्तवासी सभी प्रकार के व्यक्तियों की क्रियाओं का वह पक्ष शामिल किया जाता है जिसका सम्बन्ध असीमित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सीमित व वैकल्पिक प्रयोग वाले साधनों के उपयोग से होता है। इसके लिए चुनाव की प्रक्रिया का सहारा लिया जाता है। यही इसकी सीमा कहलाती है।

आधुनिक विश्लेषण में अर्थशास्त्र की सीमाओं पर दूसरे ढग से भी विचार किया गया है। इसके अन्तर्गत एक तरफ व्यष्टि अर्थशास्त्र की सीमाएँ देखी जाती हैं, तो दूसरी तरफ समष्टि अर्थशास्त्र की सीमाएँ। इनका अधिक स्पष्टीकरण आगे चलकर सम्बन्धित अध्याय को पढ़ने के बाद हो जायेगा, लेकिन इसकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं .

(अ) व्यष्टि अर्थशास्त्र की सीमाएँ

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है व्यष्टि अर्थशास्त्र में परिवार, फर्म व व्यक्तिगत उद्योगों के आर्थिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। इसे कीमत सिद्धान्त भी कहते हैं। इसकी निम्न सीमाएँ होती हैं :

(1) इसमें दिये हुए साधनों के आवटन का अध्ययन किया जाता है। व्यष्टि अर्थशास्त्र में *साधनों की कुल मात्रा दी हुई मानी जाती है और केवल यह देखा जाता है कि इनका आवटन* विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में किस प्रकार से किया जायेगा।

(2) व्यष्टि अर्थशास्त्र में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोण से विचार नहीं किया जाता। इसमें अपेक्षाकृत छोटी आर्थिक इकाइयों की क्रियाओं का विवेचन किया जाता है, जैसे उपभोक्ता, फर्मे व उद्योग किस प्रकार कार्य करते हैं। अत इसमें सापेक्ष कीमतों (relative

1 K.N Raj, Presidential Address to Indian Economic Association, printed in IEJ, January March 1973, p 362.

prices) की चर्चा तो होती है, लेकिन सामान्य कीमत-स्तर (general price level) की नहीं। सापेक्ष कीमतों में अनाज व वस्त्र आदि की कीमतें ली जा सकती हैं।

(आ) समष्टि अर्थशास्त्र की सीमाएँ

इसमें सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का अध्ययन किया जाता है, इसलिए राष्ट्रीय आय, बचत, विनियोग, रोजगार, सामान्य कीमत स्तर, आदि इसके क्षेत्र में आते हैं। इसकी भी कुछ सीमाएँ होती हैं जो नीचे दी जाती हैं -

(1) इसमें गलत परिणाम निकाले जाने का भय अधिक रहता है, जैसे कृषिगत कीमतें गिर सकती हैं तथा औद्योगिक कीमतें बढ़ सकती हैं एवं सामान्य कीमत-स्तर अपरिवर्तित बना रह सकता है। ऐसी स्थिति में सामान्य कीमत-स्तर को स्थिर मानकर चलने से कठिनाई उत्पन्न हो सकती है।

(2) हम आगे चलकर बतलायेंगे कि समष्टि अर्थशास्त्र में कई प्रकार के विरोधाभास पाये जाते हैं जिनसे काफी सावधान रहने की आवश्यकता होती है, एवं इन पर ध्यान न देने से काफी कठिनाई उत्पन्न हो सकती है। जो बात एक व्यक्ति के लिए सही हो सकती है, वह व्यक्तियों के समूह के लिए गलत भी हो सकती है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति को बचत करने से लाभ होता है, लेकिन यदि समस्त समाज बचत करने लगे तो राष्ट्रीय आय घट सकती है, क्योंकि उपभोग के कम होने से उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार जो बात समस्त समाज के लिए सही होती है, वह व्यक्तिगत फर्मों के लिए गलत सिद्ध हो सकती है। जैसे बाजार में कट्टर प्रतियोगिता की दशा के पाये जाने से कार्यकुशलता बढ़ती है जिससे कम कीमत पर उत्तम किस्म का माल उत्पन्न किया जाता है। लेकिन इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप कुछ फर्मों को उद्योग छोड़ना भी पड़ सकता है, क्योंकि वे प्रतियोगिता में नहीं टिक पातीं।

निष्कर्ष-इस प्रकार व्यष्टि अर्थशास्त्र व समष्टि अर्थशास्त्र की अपनी अपनी सीमाएँ होती हैं। लेकिन इससे आर्थिक सिद्धान्त का महत्त्व कम नहीं हो जाता। अर्थशास्त्र के सिद्धान्त वैज्ञानिक विधियों के आधार पर बनाये जाते हैं, इसलिए वे आर्थिक नीतियों के निर्धारण में काफी मदद देते हैं। स्मरण रहे कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर हम सही निष्कर्ष निकालने की क्षमता प्राप्त करते हैं, इसलिए इनको एक 'विधि' के रूप में ही देखा जाना चाहिए।

जे एम कीन्स के शब्दों में, 'अर्थशास्त्र का सिद्धान्त ऐसे कोई निश्चित निष्कर्ष प्रस्तुत नहीं करता जिन्हें शीघ्र ही नीति के क्षेत्र में लागू किया जा सके। यह सिद्धान्त की अपेक्षा एक विधि होती है, मस्तिष्क का एक उपकरण व विचार करने की एक पद्धति होती है जो प्रयोगकर्ता को सही परिणाम निकालने में मदद देती है।' अतः आर्थिक विश्लेषण का दीर्घकालीन दृष्टि से आर्थिक नीति के निर्धारण में विशेष योगदान माना गया है।

प्रश्न

1 'वास्तविक अर्थशास्त्र' एव 'आदर्शात्मक अर्थशास्त्र' के गुण दोषों की तुलना कीजिए। (Raj Iyr., 1993)

2 प्रो रोबिन्स द्वारा दी गई अर्थशास्त्र की परिभाषा को समझाइये। यह मार्शल के अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से किस प्रकार भिन्न है ? (Ajmer Iyr., 1993)

3 अर्थशास्त्र की एक 'आधुनिक' परिभाषा दीजिए। इसमें साधनों के मितव्ययितापूर्ण उपयोग पर क्यों बल दिया गया है ?

4 निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए
   (i) अर्थशास्त्र की प्रकृति,
   (ii) अर्थशास्त्र की विषय सामग्री,
   (iii) अर्थशास्त्र, एक वास्तविक विज्ञान के रूप में,
   (iv) अर्थशास्त्र, एक आदर्शात्मक विज्ञान के रूप में,
   (v) अर्थशास्त्र, कला के रूप में,
   (vi) अर्थशास्त्र की सीमाएँ

5 क्या आप निम्नाकित कथनों से सहमत हैं
   (अ) "अर्थशास्त्र जीवन के साधारण व्यवसाय में मानव जीवन का अध्ययन है।"
   (ब) अर्थशास्त्र वास्तविक एव आदर्शात्मक विज्ञान दोनों है। (Ajmer Iyr., 1992)

6 अर्थशास्त्र की प्रकृति, विषय सामग्री तथा क्षेत्र की व्याख्या कीजिए। (Ajmer Iyr, 1995)

7 वास्तविक एवं आदर्शात्मक विश्लेषण में भेद बताइये। (Raj Iyr., 1996, non collegiate)



2

मूलभूत आर्थिक समस्याएँ
(Basic Economic Problems)

प्रत्येक अर्थव्यवस्था को चाहे वह विकसित हो या विकासशील हो, पूँजीवादी हो, समाजवादी हो अथवा मिश्रित हो, उसे कुछ मूलभूत या आधारभूत आर्थिक समस्याओं को हल करना होता है। हम जानते हैं कि मानवीय आवश्यकताएँ असीमित होती हैं, जबकि उनकी सन्तुष्टि के साधन सीमित व वैकल्पिक उपयोग वाले होते हैं। प्राय देखा गया है कि एक साधन के एक से अधिक उपयोग होते हैं, जैसे बिजली का उपयोग बिजली के पखे, कूलर, फ्रिज, रेडियो, टेलीविजन एव रोशनी आदि में किया जा सकता है। यदि बिजली का एक उपयोग होता तो चुनाव की कोई समस्या नहीं होती। लेकिन सीमित साधनों के कई प्रकार के उपयोग होने से चुनाव की समस्या उत्पन्न होती है। यही आर्थिक समस्या का मुख्य रूप माना जाता है। यदि साधन असीमित होते तो सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर ली जाती और इस स्थिति में भी चुनाव की समस्या उत्पन्न नहीं होती और फलस्वरूप कोई आर्थिक समस्या नहीं होती। इसी प्रकार यदि साधनों के कुछ विशिष्ट उपयोग ही होते तो भी आर्थिक समस्या उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि एक साधन को उसके विशिष्ट उपयोग में लगा दिया जाता और चुनाव का प्रश्न सामने नहीं आता। ऐसी स्थिति में एक साधन किसी अन्य उपयोग में निरर्थक सिद्ध होता। अत चुनाव की समस्या तभी उत्पन्न होती है जब सीमित एव वैकल्पिक उपयोगों वाले साधनों का उपयोग असीमित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि आजकल इस परिभाषा में थोडा सशोधन किया गया है ताकि साधनों की वृद्धि को भी आर्थिक समस्या के विवेचन में शामिल किया जा सके।

चुनाव का एक सरल उदाहरण–मूलभूत आर्थिक समस्याओं की चर्चा करने से पूर्व पाठकों के समक्ष चुनाव का एक सरल उदाहरण प्रस्तुत करना उपयोगी होगा। मान लीजिए एक बालक एक रुपया लेकर पडोस की दूकान पर जाता है और वह बिस्कुट व टॉफी खरीदना चाहता है। कल्पना करें कि दूकानदार 20 पैसे का एक बिस्कुट व 40 पैसे की एक टॉफी बेचता है। बालक यदि 6 बिस्कुट मागता है तो दूकानदार देने से इन्कार कर देगा, क्योंकि इसके लिए एक रुपया 20 पैसे चाहिए। इसी प्रकार उसे 3 टॉफी भी नहीं मिलेंगी क्योंकि उनके लिए भी 1 रुपया 20 पैसे चाहिए। कुल एक रुपया व्यय करने की स्थिति में वह 3 बिस्कुट + 1 टॉफी खरीद सकता है, अथवा केवल 5 बिस्कुट खरीद सकता है। कहने का आशय यह है कि एक वस्तु अधिक लेने पर उसे दूसरी वस्तु कम मात्रा में लेनी होगी। इस प्रकार उसे अपने सीमित साधनों का उपयोग करने में चुनाव करना पडेगा। यही स्थिति समाज में सभी ग्राहकों की होती है। एक

वस्तु की अधिक मात्रा लेने के लिए उन्हें दूसरी वस्तु की कम मात्रा लेनी पडती है। साधनों की सीमितता के कारण उन्हें ऐसा करना पडता है।

समस्त समाज अथवा राष्ट्र को भी इसी तरह के आर्थिक चुनावों का सामना करना पडता है। राष्ट्र के पास आर्थिक साधन—भूमि, पूँजी, दक्ष श्रम, उद्यम, तकनीकी ज्ञान, आदि सीमित मात्रा में पाये जाते हैं। उनके उपयोग से सभी प्रकार की वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न नहीं की जा सकतीं। मान लीजिए, साधनों के उपयोग से उपभोग की वस्तुएँ व सुरक्षा की वस्तुएँ बनाई जा सकती हैं। यदि हम साधनों का पूर्ण उपयोग करके अधिक मात्रा में सुरक्षा का सामान बनाना चाहते हैं, तो हमें कम मात्रा में उपभोग की वस्तुओं से सन्तुष्ट होना पडेगा, और *यदि हम अधिक मात्रा में उपभोग का माल बनाना चाहते हैं तो तो हमें सुरक्षा की कम सामग्री* से सन्तुष्ट होना पडेगा।

यहाँ पर किसी जटिल विवेचन या विवाद में पडे बिना यह बात भारत व पाकिस्तान जैसे कम विकसित देशों के सन्दर्भ में आसानी से समझ में आ सकती है। इन देशों की निर्धन जनता के जीवन स्तर को ऊँचा करने अथवा गिरते हुए जीवन स्तर को रोकने के लिए अधिक मात्रा में उपभोग्य वस्तुओं की आवश्यकता स्वीकार की गयी है। लेकिन राजनीतिक कारणों से *उन्हें युद्ध के साज सामान व सुरक्षा पर भी अपने सीमित साधनों का काफी बड़ा* भाग व्यय करना पडता है। इससे इनकी अर्थव्यवस्थाओं पर भारी आर्थिक बोझ पडता है, जिसे ये उठा सकने की स्थिति में नहीं हैं। कहने का आशय यह है कि सीमित आर्थिक साधनों के कारण युद्ध का साज सामान व उपकरण बनाने के लिए इन्हें कुछ सीमा तक उपभोग्य वस्तुओं का त्याग करना पडता है। अमेरिका के आर्थिक साधन अधिक होने से वह उपभोग का सामान व युद्ध का सामान दोनों निर्धन देशों की अपेक्षा तो ज्यादा बना सकता है, लेकिन उसे भी उपभोग-सामग्री व युद्ध की सामग्री के बीच चुनाव करना होगा। दूसरे शब्दों में, एक किस्म का माल अधिक मात्रा में बना सकने के लिए दूसरी किस्म के माल की कम मात्रा से सन्तुष्ट होना पडता है। इस प्रकार विकसित व अर्द्ध विकसित, पूँजीवादी, समाजवादी व मिश्रित अर्थव्यवस्था वाले सभी प्रकार के देशों को उत्पादन के क्षेत्र में 'चुनाव की समस्या' का सामना करना पडता है। अत सभी देशों के समक्ष किसी न किसी रूप में आर्थिक चुनाव की समस्या अवश्य पाई जाती है।

उत्पादन-सम्भावना-वक्र की अवधारणा (The Concept of Production Possibility Curve or p-p frontier)–यहाँ पर उत्पादन सम्भावना वक्र या परिधि की अवधारणा को प्रस्तुत करना उचित होगा जिससे आर्थिक समस्या के स्वरूप को ठीक से समझने में काफी मदद मिलेगी। आगे चलकर मूलभूत आर्थिक समस्याओं के विवेचन में इसका अधिक उपयोग किया जायेगा।

उत्पादन-सम्भावना-वक्र की परिभाषा

माइकल पी. टोडारो के अनुसार, "दी हुई टेक्नोलोजी तथा भौतिक व मानवीय साधनों की दी हुई मात्रा की दशा मे एक उत्पादन-सम्भावना वक्र दो वस्तुओं, जैसे चावल व रेडियो, के उन अधिकतम प्राप्य उत्पत्ति-संयोगो को दर्शाता है, जो समस्त साधनों के पूर्ण व कार्यकुशल उपयोग (fully and efficiently employed) की स्थिति में ही प्राप्त होते है।

उक्त परिभाषा में इस बात पर बल दिया गया है कि एक उत्पादन सम्भावना वक्र दो

वस्तुओं के उन विभिन्न संयोगों को बतलाता है जो उत्पादन के साधनों का प्रचलित टेक्नोलोजी की दशा में पूर्ण व कार्यकुशल उपयोग करने पर प्राप्त हो सकते हैं। इसका स्पष्टीकरण नीचे दिया जाता है।

उत्पादन-सम्भावना-वक्र की मान्यताएँ

(Assumptions of Production Possibility Curve)

1. पूर्ण रोजगार की स्थिति—हम मान लेते हैं कि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार पाया जाता है तथा वह पूर्ण उत्पादन की दशा में काम कर रही है। दूसरे शब्दों में उसमें बेरोजगारी व अल्परोजगार की स्थिति नहीं पायी जाती है। साधनों के अपूर्ण या कम उपयोग की स्थिति में उत्पादन-सम्भावना-वक्र नहीं बनाया जा सकता।*

2. साधनों की पूर्ति स्थिर मानी जाती है—हम यह भी मान लेते हैं कि उत्पादन के साधनों की पूर्ति स्थिर होती है, लेकिन वे विभिन्न व वैकल्पिक उपयोगों के बीच परिवर्तित हो सकते हैं। जैसे एक अदक्ष श्रमिक खेतिहर मजदूर के रूप में कार्य कर सकता है, अथवा वह भवन-निर्माण या सड़क-निर्माण के कार्य में भाग ले सकता है। लेकिन अदक्ष श्रमिकों की कुल संख्या दी हुई होती है।

3. उत्पादन की टेक्नोलोजी स्थिर रहती है—विश्लेषण के दौरान उत्पादन की टेक्नोलोजी नहीं बदलती। यदि कृषि पुराने या परम्परागत ढंग से हल-बैल की सहायता से की जाती है तो यह विधि जारी रखी जाती है। इसके स्थान पर ट्रैक्टर से खेती चालू नहीं की जाती। इसी प्रकार उद्योगों में भी उत्पादन की पद्धति नहीं बदली जाती। उत्पादन की टेक्नोलोजी को स्थिर रखने का कारण यह है कि इसको बदलने से स्वयं उत्पादन-सम्भावना-वक्र ही बदल जाता है। उन्नत व नयी टेक्नोलोजी के आने पर उत्पादन-सम्भावना-वक्र ऊपर की ओर खिसक जाता है एवं घटिया टेक्नोलोजी का उपयोग करने पर उत्पादन-सम्भावना-वक्र नीचे की ओर खिसक जाता है।

द्वितीय व तृतीय मान्यताओं का अर्थ यह है कि हम अति अल्पकाल अथवा समय के एक विशिष्ट बिन्दु (a point of time) पर ही विचार कर रहे हैं। दीर्घकाल में तो उत्पादन के साधनों की मात्रा व टेक्नोलोजी दोनों बदल सकते हैं।

4. साधनों का उपयोग पूर्ण कार्यकुशलता से हो रहा है—उत्पादन-सम्भावना-वक्र के पीछे एक मान्यता यह भी होती है कि उत्पादन के सभी साधनों का उपयोग पूर्ण कार्यकुशलता से किया जाता है। अतः यह वक्र एक पूर्ण कार्यकुशल अर्थव्यवस्था की मान्यता पर आधारित होता है। इसमें साधनों की किसी भी प्रकार की बर्बादी नहीं होती और उन्हें व्यर्थ नष्ट नहीं होने दिया जाता। इस प्रकार उत्पादन-सम्भावना-वक्र साधनों के पूर्ण उपयोग व इनके पूर्ण

* स्मरण रहे कि 'अपूर्ण रोजगार की स्थिति में उत्पादन-सम्भावना-वक्र' को दर्शाना गलत होगा। साधनों के अपूर्ण उपयोग की स्थिति में उत्पादन का केवल एक बिन्दु होता है, जो पूर्ण रोजगार की दशा में पाये जाने वाले उत्पादन-सम्भावना-वक्र के बाँयी ओर नीचे की तरफ दिखाया जाता है। अतः उत्पादन-सम्भावना-वक्र की परिभाषा में यह मान लिया गया है कि अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधनों का पूर्ण उपयोग हो रहा है। साधनों के अपूर्ण उपयोग की दशा में उत्पादन-सम्भावना-वक्र बनाना सैद्धान्तिक रूप से गलत माना जायेगा। पाठक इस सम्बन्ध में आवश्यक सावधानी बरतें ताकि वे प्रारम्भिक अध्ययन में ही इसका सही अर्थ समझ सकें।

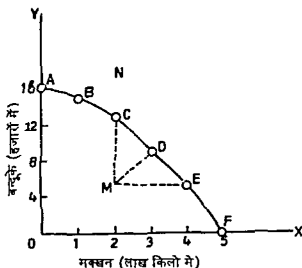
कार्यकुशल उपयोग दोनों पर समान रूप से बल देता है।

सेमुअल्सन व नोरढाउस ने मक्खन व बन्दूक के उत्पादन का एक सरल व सुन्दर उदाहरण लेकर उत्पादन सम्भावना वक्र की अवधारणा को स्पष्ट किया है। हम यहाँ पर इसी *उदाहरण का उपयोग करेंगे। जैसा कि ऊपर बतलाया गया है कि किसी भी अर्थव्यवस्था में* श्रम पूँजी तकनीकी ज्ञान व प्राकृतिक साधनों का एक दिये हुए समय में एक निश्चित भण्डार होता है। सरलता के लिए हम कल्पना कर लेते हैं कि उनका पूर्ण उपयोग करके केवल दो पदार्थ—मक्खन व बन्दूक ही बनाये जा सकते हैं। मान लीजिए सभी साधनों का उपयोग करने पर उत्पादन की अग्रलिखित सम्भावनाएँ पाई जाती हैं।

तालिका 1

उत्पादन की सम्भावनाएँ (Production Possibilities)	मक्खन (लाख किलो में)	बन्दूकें
A	0	16
B	1	15
C	2	13
D	3	10
E	4	6
F	5	0

उपर्युक्त तालिका को नीचे चित्र की सहायता से स्पष्ट किया गया है—



चित्र 1 उत्पादन सम्भावना-वक्र (Production Possibility Curve)

स्पष्टीकरण

अर्थव्यवस्था के समस्त साधनों का पूर्ण उपयोग करने पर मक्खन व बन्दूक के उत्पादन की सम्भावनाएँ क्रम A, B, C, D, E व F के रूप में उत्पादन-सम्भावना-वक्र पर अंकित की गई हैं। OX-अक्ष पर मक्खन का उत्पादन व OY-अक्ष पर बन्दूकों का उत्पादन दर्शाया गया है। वक्र पर सभी बिन्दु उत्पादन की विभिन्न सम्भावनाओं को सूचित करते हैं। पाठक चाहें तो A व B के बीच अथवा B व C के बीच कोई अन्य बिन्दु लेकर चित्र की सहायता से मक्खन व बन्दूक के उत्पादन का कोई अन्य संयोग भी दिखा सकते हैं। चित्र से स्पष्ट होता है कि यदि देश के समस्त साधन बन्दूकें बनाने में लगा दिये जाते तो A बिन्दु पर 16 हजार बन्दूकें बन सकती थीं और यदि ये समस्त साधन केवल मक्खन बनाने में लगा दिये जाते तो F बिन्दु पर 5 लाख किलो मक्खन उत्पन्न किया जा सकता था। यदि दोनों वस्तुएँ बनानी हैं तो A से F के बीच में कोई भी बिन्दु चुना जा सकता है। युद्धकाल में सम्भवतः B या C जैसा कोई बिन्दु पसन्द किया जायेगा, ताकि अधिक मात्रा में बन्दूकें बनाई जा सकें, जबकि शान्तिकाल में D या E जैसा कोई बिन्दु पसन्द किया जायेगा ताकि अधिक मात्रा में मक्खन उत्पन्न किया जा सके। अतः एक देश अपनी परिस्थिति व आवश्यकता के अनुसार किसी भी बिन्दु का चुनाव करेगा। इस सम्बन्ध में अकेला अर्थशास्त्री कोई सर्वोत्तम या अन्तिम निर्णय नहीं दे सकता। उत्पादन-सम्भावना-वक्र को उत्पत्ति-रूपान्तरण-वक्र (Product Transformation-Curve) भी कहते हैं क्योंकि इसमें एक वस्तु की कम मात्राओं का उत्पादन करके दूसरी वस्तु की अधिक मात्राओं का उत्पादन किया जाता है। दूसरे शब्दों में एक वस्तु को दूसरी वस्तु से बदला जाता है।

पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि **उत्पादन-सम्भावना-वक्र उत्पादन की सर्वोत्तम या अधिकतम स्थिति (optimum situation) को व्यक्त करता है।** यह वस्तुओं के उन अधिकतम संयोगों को बतलाता है जो साधनों के उपयोग से प्राप्त किये जा सकते हैं। स्मरण रहे कि उत्पादन की दी हुई तकनीक की स्थिति में सीमित साधनों का पूर्ण उपयोग व पूर्ण कार्यकुशल उपयोग करके ही उत्पादन सम्भावना-वक्र के विभिन्न बिन्दुओं पर दर्शाया गया उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है। अतः यह 'अधिकतम उत्पादन' की दशा को सूचित करता है।

दूसरे शब्दों में, चित्र 1 में मक्खन व बन्दूक के उत्पादन का N-संयोग प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि उसको प्राप्त करने के लिए देश में आर्थिक साधन पर्याप्त नहीं हैं। अर्थव्यवस्था अपने साधन बढ़ाकर, अथवा उत्पादन की तकनीक में सुधार करके ही N-संयोग प्राप्त कर सकती है। सच पूछा जाये तो वक्र के किसी भी बिन्दु जैसे B अथवा C से N बिन्दु तक जाने की समस्या 'विकास की समस्या' (Growth Problem) मानी जाती है।

इसी प्रकार यदि अर्थव्यवस्था मक्खन व बन्दूक का उत्पादन वक्र से नीचे किसी बिन्दु जैसे M-संयोग पर करती है तो इस सम्बन्ध में दो बातें हो सकती हैं–

(i) साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं हो रहा है, अर्थात् कुछ साधन बेकार या अर्द्ध-बेकार अवस्था में पड़े हैं।

अथवा

(ii) साधनों का पूर्ण कार्यकुशलता से उपयोग नहीं हो रहा है।

अत एक उत्पादन सम्भावना-वक्र के विभिन्न बिन्दु उत्पादन की उन विभिन्न सम्भावनाओं को व्यक्त करते हैं जिन पर साधनों का पूर्ण उपयोग व पूर्ण कार्यकुशल उपयोग हो पाता है। कुछ व्यक्ति कहते हैं कि यदि किसी देश में समस्त साधनों का एक भाग (जैसे एक-तिहाई) बेकार पडा है, और इसे बेकार पडे रहने दिया जाता है, तो शेष साधनों (यहाँ दो तिहाई) का उपयोग करते हुए एक उत्पादक सम्भावना वक्र पहले के ABCDEF उत्पादन सम्भावना वक्र के नीचे की ओर बनाया जा सकता है। लेकिन हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि उत्पादन-सम्भावना वक्र के विवेचन में इस प्रकार की स्थिति को स्वीकार नही किया जाता। पहले बतलाया जा चुका है कि साधनो का अपूर्ण उपयोग होने पर दो वस्तुओं के उत्पादन का सयोग या बिन्दु उस वक्र से नीचे बायी ओर दिखाया जाता है। हमने चित्र 1 में *M बिन्दु से ऐसी ही स्थिति बतलाई है*, जहाँ कुछ साधन बेकार पडे हैं, अथवा उनका अकार्यकुशल ढग से उपयोग हो रहा है। इसलिए उत्पादन के साधनों का पूर्ण उपयोग तथा पूर्णतया कार्यकुशल उपयोग करने पर ही ABCDEF जैसे उत्पादन सम्भावना वक्र पर आना सम्भव हो सकता है।

महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष-*भारत जैसे निर्धन देशों के लिए पहली आर्थिक समस्या तो यह है* कि वे M-सयोग से C-सयोग (अथवा B, D या E) पर जाएँ, अर्थात् वे अपने साधनों का पूर्ण उपयोग करें व उनका पूरे कार्यकुशल ढग से उपयोग करें। इसका आशय यह है कि उत्पादन में कोई भी साधन फालतू न पडे रहें, अर्थात् श्रम, भूमि, पूँजी व उद्यम आदि साधनों का पूर्ण उपयोग किया जाये। साथ ही यह भी आवश्यक है कि उनका उपयोग पूर्ण कार्यकुशल विधियाँ अपना कर किया जाये। चित्र 1 को ध्यान से देखने पर स्पष्ट होगा कि M से C पर जाने में अधिक बन्दूकें प्राप्त होंगी। (राष्ट्र की सुरक्षा की दृष्टि से शक्ति बढेगी), लेकिन मक्खन की मात्रा उतनी ही रहेगी। M से D पर जाने पर मक्खन व बन्दूकें दोनों पहले से ज्यादा प्राप्त होंगे। M से E पर जाने से मक्खन ज्यादा प्राप्त होगा (जिससे लोगों के जीवन स्तर में सुधार आयेगा) तथा बन्दूकें पहले जितनी ही प्राप्त होंगी।

दूसरी समस्या यह है कि वे अपने साधनों में वृद्धि करें ताकि उत्पादन का N सयोग अथवा इससे भी ऊँचे सयोगों को प्राप्त कर सकें। इस प्रकार उत्पादन सम्भावना वक्र के द्वारा आर्थिक समस्या का सही रूप प्रकट किया जा सकता है।

मूलभूत सात आर्थिक प्रश्न[1]–प्रत्येक अर्थव्यवस्था को निम्न सात आर्थिक प्रश्नों का समाधान या हल निकालना होता है। इनमें से प्रथम तीन प्रश्न अधिक महत्त्व रखते हैं, जिन पर प्रोफेसर सेमुअल्सन व नोरढाउस ने भी बहुत बल दिया है। लेकिन रिचर्ड जी लिप्से के अनुसार शेष चार प्रश्नों का हल निकालना भी बहुत आवश्यक है। मूलभूत आर्थिक प्रश्नों को किसी भी अर्थव्यवस्था के मूलभूत आर्थिक कार्य भी कह सकते हैं। इसका कारण यह है कि प्रत्येक अर्थव्यवस्था को इन विभिन्न कार्यों को सम्पन्न करना होता है।*

1 Richard G Lipsey and K. Alec Chrystal An Introduction to Positive *Economics, Eighth edition, 1995, pp. 6-7* प्रोफेसर लिप्से व क्रिस्टल ने मुद्रा की क्रय-शक्ति के घटने की समस्या, अर्थात् मुद्रास्फीति, को भी मूलभूत आर्थिक प्रश्नों में शामिल किया है।

* अत: अर्थव्यवस्था के प्रमुख कार्यों के बारे में पूछे जाने पर इसकी मूलभूत आर्थिक समस्याओं को ही स्पष्ट करना चाहिए।

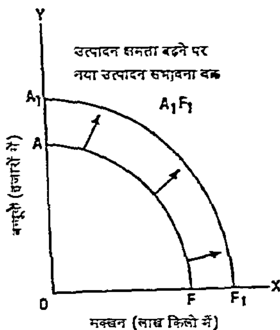
कानून सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रम व आय कर आदि का उपयोग करके आय के वितरण को बदलने अथवा प्रभावित करने की कोशिश करती है। यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि समाज में वस्तु वितरण (Product distribution) व आय वितरण (Income distribution) एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। कीमती पदार्थ ऊँची आय वालों को ही मिलते हैं और उन्हीं की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनाये जाते हैं। अर्थशास्त्र में 'वितरण सिद्धान्त' के अन्तर्गत इस समस्या का विवेचन किया जाता है।

4 साधनों का उपयोग उत्पादन व वितरण में कितनी कार्यकुशलता से होता है?—साधनों के कार्यकुशल उपयोग का अर्थ है कि उत्पादन कार्यकुशल ढंग से हो एवं इसका वितरण भी कार्यकुशल ढंग से हो। यदि केवल उत्पादन के साधनों का पुनर्वितरण अथवा पुनराबटन (Re allocation) करके कम से कम एक वस्तु का उत्पादन बढ़ाया जा सके और साथ ही किसी अन्य वस्तु का उत्पादन घटे, तो ऐसी दशा में पुनराबंटन से पहले का उत्पादन अकार्यकुशल तथा पुनराबंटन के बाद का उत्पादन अधिक कार्यकुशल माना जायगा। इसलिए साधनों के उपयोग में आवश्यक फेरबदल करके उत्पादन की कार्यकुशलता बढ़ाना उचित होगा।

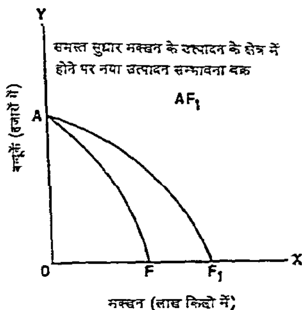
इसी प्रकार वस्तुओं का वह आवंटन या वितरण कार्यकुशल माना जाता है जिसमें इनको विभिन्न व्यक्तियों में पुनर्वितरित करके कम से कम एक व्यक्ति को अवश्य लाभ मिल सके, जबकि साथ में किसी भी अन्य व्यक्ति को हानि न पहुँचे। ऐसी स्थिति में वस्तुओं के पुनर्वितरण से पहले की स्थिति अकार्यकुशल तथा पुनर्वितरण के बाद की स्थिति अधिक कार्यकुशल या उत्तम मानी जाएगी। इसलिए वस्तुओं का पुनर्वितरण करके कार्यकुशलता बढ़ाने में समाज का हित माना जाता है। सभी अर्थव्यवस्थाओं में ऐसी उत्पादन व वितरण की अकार्यकुशलताएँ थोड़ी बहुत मात्रा में अवश्य पाई जाती हैं। इनको दूर करके कार्यकुशलता को बढ़ाया जा सकता है और समाज में लोगों को अधिक लाभ पहुँचाया जा सकता है। साधनों के उपयोग की कार्यकुशलता का प्रश्न बहुत पेचीदा होता है। इसका सम्बन्ध 'कल्याण अर्थशास्त्र' से होता है। चित्र 1 के अनुसार M संयोग 'अकार्यकुशल' माना जाएगा। अत चौथी आर्थिक समस्या साधनों के कार्यकुशल उपयोग की मानी जाती है।

उपर्युक्त चारों आर्थिक समस्याएँ व्यष्टि अर्थशास्त्र (Micro economics) के क्षेत्र में आती हैं, जबकि आगामी तीन समस्याएँ समष्टि अर्थशास्त्र (Macro-economics) के क्षेत्र में शामिल होती हैं।

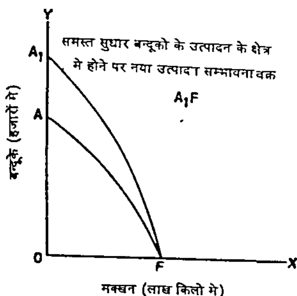
5 क्या साधनों का पूर्ण उपयोग हो रहा है, अथवा कुछ साधन बेकार या अर्द्ध-बेकार पड़े हैं? हम पहले बतला चुके हैं कि एक अर्थव्यवस्था में साधनों के बेकार पड़े रहने की समस्या भी पाई जा सकती है। वैसे यह बात सुनने में थोड़ी अटपटी सी लगती है कि एक तरफ तो साधन सीमित कहे जाते हैं और दूसरी तरफ वे बेकार या अर्द्ध बेकार भी पड़े रह सकते हैं। प्रश्न उठता है कि सीमित साधनों को बेकार कैसे पड़ा रहने दिया जाता है? लेकिन वस्तु स्थिति यह है कि विकसित व कम विकसित देशों में कुछ सीमा तक साधनों के फालतू पड़े रहने की दशा पाई जा सकती है और बहुधा पाई भी जाती है। उदाहरण के लिए, विकसित राष्ट्रों में माल की माँग कम हो जाने से कारखाने बन्द हो जाते हैं और कुछ समय के लिए श्रमिक बेकार हो जाते हैं। गम्भीर किस्म की आर्थिक मन्दी के समय में तो श्रम शक्ति का एक बड़ा भाग भी बेकार रह सकता है। कम विकसित या विकासशील देशों


Y
उत्पादन क्षमता बढ़ने पर
नया उत्पादन सम्भावना वक्र
A_1F_1
A_1
A
बन्दूकें (हजारों में)
O
F
F_1
X
मक्खन (लाख किलो में)

चित्र 2 (अ)


Y
समस्त सुधार मक्खन के उत्पादन के क्षेत्र में
होने पर नया उत्पादन सम्भावना वक्र
AF_1
A
बन्दूकें (हजारों में)
O
F
F_1
X
मक्खन (लाख किलो में)

चित्र 2 (आ)



चित्र 2 (इ)

में सहायक साधनों जैसे आवश्यक मात्रा में पूँजी या भूमि के अभाव में काफी मजदूर बेकार रहते हैं। भारत जैसे देशों में ऐसी ही बेरोजगारी तथा अल्परोजगार की स्थिति पाई जाती है। इस तरह विभिन्न देशों में अलग-अलग प्रकार के आर्थिक साधन फालतू या बेकार पड़े रह सकते हैं।

पुन चित्र 1 के अनुसार साधनों के फालतू पड़े रहने पर उत्पादन का सयोग उत्पादन-सम्भावना वक्र के नीचे M जैसे किसी एक सयोग पर पाया जा सकता है। हम देख चुके हैं कि साधनों के अकार्यकुशल उपयोग की दशा में भी ऐसा ही होता है। इस प्रकार M-सयोग साधनों के फालतू पड़े रहने एव साधनों के अकार्यकुशल उपयोग—इन दोनों प्रकार की दशाओं को दर्शाता है। लेकिन इन समस्याओं का समाधान भिन्न भिन्न प्रकार का होगा। विकसित राष्ट्रों में मदी के समय श्रम की बेरोजगारी का आर्थिक विश्लेषण लॉर्ड केन्स ने 1936 में प्रकाशित अपनी पुस्तक "The General Theory of Employment, Interest and Money" में प्रस्तुत किया था, जिसने अर्थशास्त्र के क्षेत्र को काफी विस्तृत व व्यापक बना दिया था।

साधनों की बेकारी का अध्ययन राष्ट्रीय आय सिद्धान्त व व्यापार चक्र-सिद्धात का विषय है, जिसका महत्त्व आजकल बहुत बढ़ गया है।

6. क्या मुद्रा व बचतों की क्रय-शक्ति स्थिर है, अथवा उनमें मुद्रास्फीति के कारण गिरावट आ रही है?—1970 के दशक में विश्व के अधिकाश देशों में मुद्रास्फीति के कारण मुद्रा की क्रय शक्ति घटी थी। मानव ने मुद्रा का आविष्कार अपने लाभ के लिए किया है।

वही उसको नियन्त्रित भी कर सकता है। अर्थशास्त्री मुद्रा की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों के कारणों व परिणामों के सम्बन्ध में अध्ययन करते हैं, तथा उनके द्वारा कीमत स्तर पर पड़ने वाले प्रभावों की जाँच पड़ताल करते हैं। वे मुद्रास्फीति के अन्य कारणों के बारे में भी जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार प्रोफेसर रिचर्ड जी लिप्से ने अर्थव्यवस्था के मूलभूत प्रश्नों में मुद्रा की क्रय शक्ति का प्रश्न भी शामिल किया है। पिछले वर्षों में विकसित व विकासशील देश विभिन्न कारणों से मुद्रास्फीति के शिकार रहे हैं जिससे उनमें मुद्रा की क्रय शक्ति घटी है।

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रास्फीति की समस्या को हल करने के लिए करों का उपयोग किया जाता है, मुद्रा की पूर्ति को नियन्त्रित किया जाता है, तथा राशनिंग व मूल्य नियन्त्रणों का सहारा लिया जाता है। समाजवादी देशों में प्राय, मुद्रास्फीति की समस्या इतनी गम्भीर नहीं होती, क्योंकि वहाँ आर्थिक नियोजन के फलस्वरूप उत्पादन, उपभोग, बचत, विनियोग आदि पर सरकार का व्यापक व कड़ा नियन्त्रण होता है।

7. क्या अर्थव्यवस्था की वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन की क्षमता बढ़ रही है, अथवा वह यथास्थिर है?—किसी भी अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि समय के साथ साथ उसकी माल उत्पन्न करने की क्षमता बढ़ रही है, अथवा स्थिर बनी हुई है। यदि उसकी उत्पादन क्षमता तेजी से बढ़ती है तो वहाँ के निवासियों को ऊँचा जीवन स्तर भोगने का अवसर मिलता है। यदि उत्पादन क्षमता बहुधा धीमी गति से बढ़ती है तो जीवन स्तर बहुत धीमी गति से बढ़ता है और यदि उत्पादन क्षमता स्थिर बनी रहती है और जनसंख्या बढ़ती जाती है तो जीवन स्तर घटने लगता है।

विश्व में पिछली शताब्दी में कुछ राष्ट्रों की उत्पादन-क्षमता बहुत तेजी से बढ़ी है और कुछ की अपेक्षाकृत धीमी गति से बढ़ी है। इससे विभिन्न देशों के बीच आर्थिक विकास व जीवन स्तर की खाई अधिक चौड़ी होती गई है।

चित्र 1 के अनुसार उत्पादन क्षमता के बढ़ने पर ही दोनों वस्तुओं के उत्पादन का N संयोग प्राप्त किया जा सकता है। उत्पादन के साधनों में वृद्धि होने पर स्वयं उत्पादन सम्भावना वक्र ऊपर दायीं ओर खिसक जाता है, जिससे सभी वस्तुएँ अधिक मात्रा में प्राप्त होने लगती हैं। यह चित्र 2 (अ) से स्पष्ट हो जाता है। यही चित्र टेक्नॉलोजी में परिवर्तन का प्रभाव भी दर्शाता है।

उत्पादन-क्षमता के बढ़ने पर उत्पादन-सम्भावना-वक्र ऊपर की ओर खिसक जाता है। चित्र 2 (अ) से स्पष्ट होता है कि उत्पादन के साधनों में वृद्धि होने पर उत्पादन सम्भावना वक्र AF से बढ़कर A_1F_1 पर आ जाता है, जिससे प्रत्येक बिन्दु पर पहले से अधिक मक्खन व अधिक बन्दूकें बनने लगती हैं। सच पूछा जाय तो अमेरिका ने अपनी उत्पादन क्षमता बढ़ा कर युद्ध सामग्री व उपभोग सामग्री दोनों का अत्यधिक मात्रा में विस्तार कर लिया है, जिससे वह दोनों प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा सका है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अमेरिका के समक्ष युद्ध सामग्री व उपभोग सामग्री के बीच चुनाव की समस्या नहीं है। यह समस्या तो उसके समक्ष भी है, क्योंकि वह उत्पादन के साधन सुरक्षा की सामग्री से कम करके उपभोग-सामग्री में बढ़ा सकता है, जिससे वह अपने देशवासियों को, अथवा विदेशियों को,

अथवा दोनों को, अधिक उपभोक्ता-माल देकर उनके जीवन स्तर में सुधार ला सकता है। लेकिन यह बात अलग है कि राजनीतिक कारणों से वह ऐसा न कर पाए या ऐसा न करना चाहे। यह भी ध्यान देने योग्य है कि अत्यधिक मात्रा में विदेशों में सैनिक सहायता देने से स्वय अमेरिका की अर्थव्यवस्था पर भी बुरा प्रभाव पडा है। ईराक युद्ध में भारी मात्रा में सैनिक व्यय करने से अमेरिका के भुगतान-सतुलन पर विपरीत प्रभाव पडा था। इसके अलावा निर्धन मुल्कों को भारी मात्रा में सैनिक सहायता देने से उनके पडौसी देशों में राजनीतिक अस्थिरता व अशाति का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। पिछले वर्षों में अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित करने से भारत के आर्थिक विकास पर कुप्रभाव पडा है, क्योंकि हमें सुरक्षा पर अपने बूते से अधिक धनराशि [illegible] करनी पड रही है।

ऊपर चित्र-2 (आ) में उत्पादन-सम्भावना-वक्र AF से खिसक कर AF_1 पर आ गया है, इसमें यह मान लिया गया है कि उत्पादन की विधि के समस्त सुधार केवल मक्खन के उत्पादन तक सीमित रह गये हैं। इसलिए बन्दूकों के लिए A बिन्दु है, जबकि मक्खन का F बिन्दु खिसक कर F_1पर आ गया है।

इसी प्रकार चित्र 2 (इ) में उत्पादन-सम्भावना-वक्र AF से खिसक कर A_1F पर आ गया है। इसमें उत्पादन की विधि के समस्त सुधार केवल बन्दूकों के उत्पादन पर सीमित हो गए हैं। इसलिए मक्खन के लिए F बिन्दु यथास्थिर है, जबकि बन्दूकों का A बिन्दु खिसक कर A_1पर आ गया है।

अतः चित्र-2 (अ) में टेक्नोलोजी के परिवर्तन दोनों पदार्थों के उत्पादन को प्रभावित करते है, चित्र-2 (आ) में केवल मक्खन के उत्पादन को तथा चित्र-2 (इ) में केवल बन्दूकों के उत्पादन को प्रभावित करते हैं।

उत्पादन क्षमता के विकास की समस्या का अध्ययन आर्थिक विकास के अन्तर्गत किया जाता है।

इस प्रकार उपरोक्त सात प्रश्नों में अर्थशास्त्र की सभी मूलभूत समस्याएँ समा जाती हैं। आर्थिक समस्या केवल एक उत्पादन-सम्भावना-वक्र के एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक जाने मात्र की ही नहीं है, बल्कि इस वक्र के नीचे के बिन्दु (साधनों के अकार्यकुशल उपयोग, या बेकार रहने के सूचक बिन्दु) से ऊपर की ओर जाने एव उत्पादन क्षमता का विस्तार करके स्वय उत्पादन सम्भावना वक्र को ऊपर की ओर ले जाने या खिसकाने की भी होती है। इससे आर्थिक समस्या का विस्तृत व व्यापक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।*

---

* **एक अर्थव्यवस्था की मूलभूत आर्थिक समस्याओं के वर्णन में पाठकों को उपरोक्त सातों समस्याओं पर प्रकाश डालना चाहिये। क्या, कैसे, किसके लिए, क्या साधनों का पूर्ण कार्यकुशलता से उपयोग हो रहा है क्या उनका पूर्ण उपयोग हो रहा है, क्या मुद्रा की क्रय-शक्ति स्थिर है, अथवा वह महगाई के कारण घट रही है, एव क्या अर्थव्यवस्था की उत्पादन-क्षमता का विस्तार हो रहा है—ये सात मूलभूत आर्थिक समस्याएँ हैं, जिनका हल प्रत्येक अर्थव्यवस्था को निकालना होता है, चाहे वह पूँजीवादी हो, समाजवादी हो या मिश्रित अर्थव्यवस्था हो।**

Contd. . . .

उत्पादन-सम्भावना-वक्र की धारणा के विभिन्न उपयोग (**Applications of the Concept of Production Possibility Curve**)[1] — हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं कि उत्पादन-सम्भावना-वक्र साधनों की सीमितता की एक निश्चित परिभाषा देता है। इससे आर्थिक जीवन की तीन मूलभूत समस्याएँ—क्या, कैसे और किसके लिए—आसानी से समझ में आ सकती हैं। उत्पादन-सम्भावना-वक्र पर हम जो बिन्दु चुनते हैं उससे यह तय होता है कि कौनसी वस्तुएँ उत्पन्न की जायेंगी और परिणामस्वरूप उन्हीं का समाज में उपभोग किया जा सकेगा।

वस्तुएँ कैसे उत्पन्न की जायेंगी—इसमें साधनों के कार्यकुशल ढग से उपयोग करने की बात आती है। यदि साधनों का कार्यकुशल ढग से उपयोग नहीं होगा तो हम उत्पादन सम्भावना-वक्र के नीचे ही रह जाते हैं। इससे आर्थिक अकार्यकुशलता प्रकट होती है।

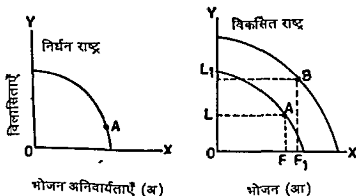
वस्तुएँ किसके लिए उत्पादित होती हैं—इसकी जानकारी केवल उत्पादन-सम्भावना-वक्र से नहीं हो जाती, हालाँकि इस सम्बन्ध में इनका कुछ अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है। यदि एक समाज उत्पादन-सम्भावना-वक्र के ऐसे बिन्दु पर उत्पादन करता है जहाँ साइकिलें अधिक एव कारें कम बनती हैं तो यह अन्दाज लगाया जा सकता है कि उस समाज में आय व धन के वितरण में काफी समानता पायी जाती है। कारण यह है कि इस प्रकार के समाज में निर्धन व मध्यम वर्ग के लिए अधिक मात्रा में साइकिलों का उत्पादन किया जाता है और धनिक-वर्ग के लिए थोड़ी मात्रा में कारों का उत्पादन किया जाता है। आय व धन के वितरण की समानता पाए जाने पर एक तरह की वस्तु अधिक मात्रा में उत्पन्न की जायेगी, जैसे चीन में साइकिलों के उत्पादन की प्राय भरमार पायी जाती है।

जारी.

यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि ईकर्ट व लेफ्टविच (Eckert and Leftwich) की पुस्तक The Price System and Resource Allocation (दसवें सस्करण, 1988) में **एक आर्थिक प्रणाली के कार्यों का उल्लेख करते हुए 'अति अल्पकाल में राशनिंग' (Rationing in the very short run) पर भी प्रकाश डाला गया है।** इसका अर्थ यह है कि अति अल्पकाल में वस्तु की पूर्ति स्थिर रहती है। जैसे किसी वर्ष गेहूँ की फसल कटने के बाद इसकी पूर्ति अगली फसल तक लगभग स्थिर बनी रहती है। अर्थव्यवस्था का यह काम होता है कि वह इस सीमित पूर्ति का वितरण उपभोक्ताओं में एक निश्चित अवधि (एक वर्ष) तक भलीभाँति करे। हम जानते हैं कि फसल कटने के बाद भाव नीचे होते हैं। सट्टेबाज ऐसी स्थिति में गेहूँ खरीदने लगते हैं जिससे इसके भाव बढ़ते हैं और गेहूँ का उपभोग कम होने लगता है। वे बाद में गेहूँ बेचते हैं जिससे भाव थोड़े कम हो जाते हैं। इस प्रकार सट्टेबाज अपनी क्रय-विक्रय की क्रियाओं से एक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में वस्तु की सीमित पूर्ति का उचित वितरण कराने में मदद करते हैं।

"अति अल्पकाल में राशनिंग" स्वतत्र उद्यम वाली अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण कार्य होता है। हमने सात मूलभूत आर्थिक समस्याओं में इसे प्रत्यक्ष रूप में शामिल नहीं किया है। पाठक मूलभूत आर्थिक समस्याओं के वर्णन में इसका आवश्यकतानुसार उल्लेख कर सकते हैं जिससे कुल आर्थिक समस्याएँ आठ हो जाती हैं।

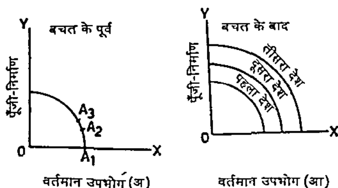
1 Paul A. Samuelson and William, D Nordhaus, Economics, 15th edition, 1995, pp 10-13 (assisted by Michael J Mandel)



चित्र — 3

उत्पादन सम्भावना वक्र अन्य आर्थिक दशाओं को भी स्पष्ट कर सकता है। इनमें से कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

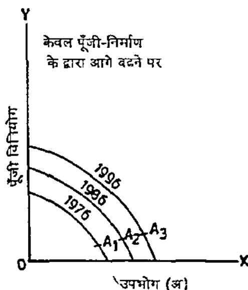
1 **निर्धन व सम्पन्न राष्ट्रो के उपभोग मे अन्तर**—ऊपर चित्र 3 (अ) में निर्धन राष्ट्र अपने साधनों का अधिकाश भाग भोजन पर लगाता है और वह बहुत कम मात्रा में विलासिता का उपभोग कर पाता है। विकास के बाद चित्र 3 (आ) में यह A से B पर चला जाता है जिससे प्रकट होता है कि भोजन का उपभोग कम बढा (FF_1) और विलासिताओं का अपेक्षाकृत अधिक बढा (LL_1)। इस प्रकार आर्थिक विकास का उपभोग पर प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। आर्थिक विकास से विलासिताओं व आरामदायक पदार्थों का उपभोग भोजन व अन्य अनिवार्यताओं के उपभोग की तुलना में ज्यादा तेज गति से बढता है। यह स्थिति चित्र 3 (आ) से स्पष्ट हो जाती है।



चित्र—4

2. वर्तमान उपभोग और पूँजीगत वस्तुओं के बीच चुनाव–चित्र 4 (अ) के तीन राष्ट्र आर्थिक विकास के पथ पर आगे बढ़ते हैं। A_1 पर जो राष्ट्र है वह कुछ भी नहीं बचा पाता (केवल काम में ली गई मशीनों को ही बदल पाता है), A_2 पर जो राष्ट्र है वह कुछ मात्रा में वर्तमान उपभोग का त्याग करता है और A_3 पर जो राष्ट्र है वह नई मशीनों में काफी विनियोग करता है और इसके लिए उसे वर्तमान उपभोग का काफी मात्रा में त्याग करना होता है।

आगे चलकर तीसरा देश दूसरे देश से काफी आगे निकल जाता है और पहला देश पूर्ववत् दशा में ही पड़ा रह जाता है। तीसरे देश के पास अधिक मशीनें होने से वह दूसरे देश की तुलना में दोनों प्रकार की वस्तुएँ अधिक मात्रा में उत्पन्न कर पाता है। इस प्रकार बचत व पूँजी निर्माण का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। जो देश पूँजीगत माल पर अपने साधन लगाता है उसे वर्तमान उपभोग में तो कमी करनी पड़ेगी, लेकिन आगे चलकर वह दोनों प्रकार की वस्तुएँ अधिक मात्रा में उत्पन्न कर सकेगा।

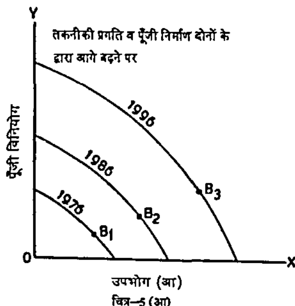


चित्र–5 (अ)

ऊँचे विनियोग वाला राष्ट्र (जिसमें केवल पूँजी-निर्माण होता है)

3 **ऊँचे विनियोग तथा ऊँचे आविष्कारों के प्रभावों की तुलना**–उत्पादन-सम्भावना-वक्रों की सहायता से ऊँचे विनियोगों तथा ऊँचे आविष्कारों के प्रभावों की तुलना की जा सकती है।

चित्र 5 (अ) में राष्ट्र A केवल पूँजी निर्माण करता हुआ आगे बढ़ता है और कल्पना करें कि 1976, 1986 व 1996 में चित्र में प्रदर्शित तीन स्थितियाँ प्राप्त कर सकता है। चित्र 5 (आ) में राष्ट्र B पूँजी निर्माण के साथ-साथ तकनीकी प्रगति या वैज्ञानिक आविष्कारों पर भी व्यय



चित्र—5 (आ)
ऊँचे आविष्कार वाला राष्ट्र जिसमें पूँजी निर्माण भी होता है

करता जाता है। परिणामस्वरूप वह 1976 की तुलना में 1986 व 1996 में अधिक द्रुतगति से प्रगति करता है, जो अपेक्षाकृत ऊँचे उत्पादन सम्भावना वक्रों से सूचित होती है। सम्भवतया आधुनिक युग में जापान व दक्षिण कोरिया की आर्थिक प्रगति का यही रहस्य रहा हो।

उत्पादन सम्भावना वक्रों के उपर्युक्त विवेचन के बाद हम निम्न प्रश्नों का उत्तर सरलतापूर्वक दे सकते हैं।

प्रश्न–निम्न दशाओं में उत्पादक सम्भावना वक्र का क्या होगा?

(अ) जब सभी उत्पादन के साधनों की मात्राएँ बढ़ा दी जाएँ?

(ब) वैज्ञानिक आविष्कार दिये हुए साधनों के उत्पादन में वृद्धि कर दें?

(स) सभी सुधार मक्खन के उत्पादन के क्षेत्र में ही हों?

(द) राष्ट्र के सभी साधन बिना प्रयोग के रह जाएँ?

उत्तर–(अ) सभी उत्पादन के साधनों में वृद्धि होने से उत्पादन-सम्भावना वक्र ऊपर की ओर खिसक जायेगा जिससे दोनों वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि हो सकेगी। देखिए चित्र 2 (अ)

(ब) वैज्ञानिक आविष्कार से दिए हुए साधनों के उत्पादन में वृद्धि होने से भी उत्पादन सम्भावना वक्र ऊपर की ओर खिसक जायेगा। देखिए चित्र 2 (अ)

(स) सभी सुधार मक्खन के उत्पादन के क्षेत्र में होने पर मक्खन के लिए उत्पादन सम्भावना वक्र का अंश दायीं तरफ बढ़ जायेगा और बन्दूकों या अन्य वस्तुओं का पहले जैसा ही बना रहेगा। देखिए चित्र 2 (आ)

(ट) राष्ट्र के सभी साधन बिना प्रयोग के रह जायें तो उत्पादन शून्य होगा। उस स्थिति में चित्र के मूल बिन्दु O पर अर्थव्यवस्था टिकी रहेगी, और कोई उत्पादन सम्भावना-वक्र नहीं बनेगा। लेकिन यह स्थिति काल्पनिक व अव्यावहारिक मानी जाती है।

एक स्वतन्त्र बाजार अर्थव्यवस्था अथवा कीमत-प्रणाली प्रमुख आर्थिक समस्याओं को कैसे हल करती है?

एक स्वतंत्र बाजार अर्थव्यवस्था अपने कार्य का सचालन कीमत प्रणाली के माध्यम से करती है। अत इसके अन्तर्गत विभिन्न आर्थिक समस्याएँ कीमत प्रणाली के माध्यम से ही हल की जाती हैं। इनका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है–

(i) **कीमत-प्रणाली व 'क्या उत्पन्न करने' की समस्या**–जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है उपभोक्ता की माँग यह निश्चित करती है कि किस वस्तु का उत्पादन किया जायेगा और कितनी मात्रा में किया जायगा। इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता एक राजा होता है। अर्थव्यवस्था उसी के इशारे पर चलती है। उपभोक्ता जिन वस्तुओं के लिए ऊँची कीमतें देने को तैयार होते हैं उनका उत्पादन अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में किया जाता है। उत्पादन बढने से कीमत कम करनी पड़ती है और सन्तुलन की स्थिति में वस्तु की कुल माँग उसकी कुल पूर्ति के बराबर हो जाती है। इस प्रकार साधनों का आवटन उपभोक्ता-वर्ग की माँग के अनुसार होता है।

यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि उपभोक्ता की माँग उपभोक्ता के पास होने वाली क्रय शक्ति अथवा मुद्रा से निर्धारित होती है। क्रय शक्ति पर साधनों की आय का प्रभाव पडता है। हम आगे चलकर चित्र में देखेंगे कि उपभोक्ता जो मुद्रा उत्पादकों व व्यापारियों से मजदूरी, लगान, ब्याज व लाभांश के रूप में प्राप्त करते हैं वह वस्तुओं को खरीदने पर उत्पादकों व व्यापारियों को वापस लौटा दी जाती है। इस प्रकार लेन-देन का एक चक्र पूरा हो जाता है।

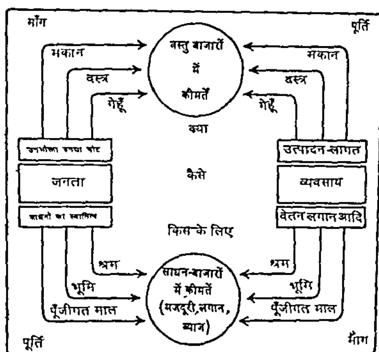
(ii) **कीमत-प्रणाली एव उत्पादन 'कैसे किया जाय' की समस्या**–उत्पादकों में प्रतिस्पर्द्धा के फलस्वरूप यह निश्चित होता है कि वस्तुएँ कैसे उत्पादित होंगी। प्रत्येक उत्पादक उत्पादन की ऐसी विधि अपनाता है जो लागत को न्यूनतम कर सके। इसके लिए सबसे अधिक कार्यकुशल विधियों को अपनाया जाता है। यदि कोयले से उत्पन्न विद्युत की अपेक्षा जल विद्युत अधिक सस्ती पडती है तो जल विद्युत का उपयोग किया जायेगा, और यदि इससे अधिक सस्ती आणविक विद्युत होती है तो उसका उपयोग किया जायेगा। प्राय श्रम गहन और पूँजी गहन विधियों के बीच चुनाव की समस्या पायी जाती है। कृषि की अधिक उपज सीमित भूमि पर श्रम, खाद, बीज, औजार व सिंचाई आदि की मात्रा बढ़ाकर प्राप्त की जा सकती है, अथवा नई भूमि पर खेती करके प्राप्त की जा सकती है। प्रथम स्थिति में गहन खेती होगी और द्वितीय में विस्तृत खेती।

प्राय उत्पादकों के समक्ष श्रम व पूँजी के बीच चुनाव की समस्या पाई जाती है। पूँजी का निर्माण बचत से अथवा वर्तमान उपभोग के त्याग से होता है। पूँजी का उपयोग करने पर ब्याज देना होता है। लेकिन पूँजी से उत्पादन अधिक होता है। उत्पादक पूँजी के उपयोग से प्राप्त अधिक उत्पत्ति के मूल्य और उसके लिए दिये जाने वाले ब्याज की तुलना करके पूँजी के उपयोग की मात्रा निर्धारित करते हैं। कहने का आशय यह है कि उत्पादन कैसे किया

आय—इसका निर्णय साधनो की कीमतों एव उत्पादन के नियम के आधार पर किया जाता है। लेकिन इस सम्बन्ध में उत्पादक का लक्ष्य लाभ अधिकतमकरण (अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना) होता है, और वह उत्पादन की उस विधि को काम में लेता है जिससे लागत न्यूनतम की जा सके। उत्पादन के कई बिन्दुओं या स्थानों पर लागत कम करने की दशाएँ पायी जा सकती हैं जिनका उपयोग उत्पादक किया करते हैं। एक प्रतिस्पर्धात्मक अर्थव्यवस्था में ऐसा करना बहुत आवश्यक होता है, तभी अधिकतम लाभ का लक्ष्य प्राप्त हो सकता है।

(iii) कीमत-प्रणाली व 'किसके लिए उत्पादन' की समस्या—उत्पादन किसके लिए किया जाता है यह बाजारों में उत्पादन के साधनों की माँग व पूर्ति से निर्धारित होता है, अर्थात् यह मजदूरी, लगान, ब्याज व मुनाफे की दरों से निर्धारित होता है जिससे प्रति व्यक्ति आय

कीमत-प्रणाली के सचालन को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक चित्र



चित्र 1. एक स्वतंत्र बाजार अर्थव्यवस्था में कीमत प्रणाली तथा तीन आर्थिक प्रश्न

निर्धारित होती है। लेकिन एक श्रमिक की आमदनी दूसरे से कम या अधिक हो सकती है। भारत में भूमिहीन मजदूरों की आमदनी एक फैक्ट्री के श्रमिक से प्राय कम होती है। एक इंजीनियर की आमदनी एक स्कूल के अध्यापक से अधिक होती है। आमदनी का अन्तर केवल मजदूरी के अन्तर पर ही निर्भर नहीं करता। हो सकता है कि किसी व्यक्ति ने

भूतकाल में अपनी आय का कुछ भाग बचाकर पूँजी के रूप में ब्याज पर उधार दे दिया हो जिससे उसकी वर्तमान आय में ब्याज से प्राप्त आय भी जुड जायेगी। यह भी सम्भव है कि किसी को उत्तराधिकार या विरासत में अपने पूर्वजों की कुछ सम्पत्ति मिल गई हो, जिससे उसकी वर्तमान आय बढ जाती है। सम्पत्ति के प्रारम्भिक वितरण, प्राप्त की गई व पैतृक रूप में मिली योग्यताओं, शिक्षा के अवसर व जाति एव लिंग-भेदों पर आय के अन्तर निर्भर करते हैं। इस प्रकार कई कारणों से विभिन्न व्यक्तियों की खर्च के योग्य या प्रयोज्य आय में अन्तर पाये जाते हैं। जिनकी आय किसी भी कारण से अधिक होती है वे अधिक वस्तुएँ व सेवाएँ खरीद सकते हैं। **इस प्रकार समाज मे वस्तु-वितरण (product-distribution) आय-वितरण (income-distribution)** से प्रभावित होता है। उत्पादन उन्हीं वस्तुओं का होता है जिनकी माँग होती है और माँग पर आमदनी का सबसे अधिक प्रभाव पडता है। **इस प्रकार समाज में आय के वितरण को 'किसके लिए उत्पादन' पर गहरा प्रभाव पड़ता है।**

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि मूलभूत आर्थिक प्रश्नों का हल कीमत-प्रणाली की सहायता से निकाला जाता है। सेमुअल्सन व नोरढाउस के अनुसार, **"जिस प्रकार एक गधे का स्वामी उसे हाँकने के लिए उसको गाजर खिलाता है और पीटता भी है, उसी प्रकार कीमत-प्रणाली क्या, कैसे व किसके लिए का निर्णय कराने के लिए लाभ-हानि के माध्यम का उपयोग करती है।"**

हम चित्र एक के द्वारा भी यह स्पष्ट कर सकते हैं कि कीमत-प्रणाली क्या, कैसे और किसके लिए प्रश्नों को हल करने में कैसे मदद पहुँचाती है। चित्र में जनता और व्यवसायी (अथवा व्यावसायिक फर्मों) दो बार परस्पर एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं—एक ओर तो वस्तु का क्रय विक्रय करने के समय जब उपभोक्ता उनसे विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ खरीदते हैं और व्यवसायी उन्हें वस्तुएँ बेचते हैं। दूसरी बार लोग उत्पादन के साधन बेचते हैं और व्यवसायी उन साधनों को खरीदते हैं।

पहले सम्पर्क में वस्तु-बाजारों में भाव तय होते हैं और दूसरे सम्पर्क में साधन-बाजारों में मजदूरी, लगान व ब्याज, आदि निर्धारित होते हैं।

एक प्रतिस्पर्धात्मक कीमत-प्रणाली माँग व पूर्ति का उपयोग करके तीन मूलभूत आर्थिक समस्याएँ हल करती है-

चित्र 1 का स्पष्टीकरण

चित्र के ऊपरी भाग में उपभोक्ता अपने रुपये देकर गेहूँ, वस्त्र व मकान की माँग करते हैं, जिसका व्यवसायियों या फर्मों की उत्पादन लागत व पूर्ति के निर्णयों से मेल होता है। इससे 'क्या उत्पादित किया जाए' की समस्या हल होती है। चित्र के निचले भाग में व्यवसायियों या फर्मों के द्वारा श्रम, भूमि व पूँजी की माँग का इन साधनों की जनता द्वारा की जाने वाली पूर्ति से मेल होता है जिससे साधनों की कीमतें, अर्थात् मजदूरी, लगान व ब्याज निर्धारित होते हैं, अर्थात् पूर्व वर्णन के अनुसार, वस्तुएँ किसके लिए उत्पादित हुई हैं, की समस्या हल होती है। साधनों की खरीद में व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा एव वस्तुओं को सबसे सस्ता बेचने के प्रयास में यह तय होता है कि वस्तुएं कैसे उत्पादित होती हैं। इस प्रकार वस्तुओं का 'उत्पादन कैसे हो' की समस्या का हल निकाला जाता है।

स्मरण रहे की उपरोक्त चित्र के दोनों अग—ऊपरी व निचला—एक साथ अपनी प्रतिक्रिया बतलाते हैं। ऊपरी भाग का 'क्या' निचले भाग के 'किसके लिए' पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में जहाँ बढई की मजदूरी मकानों की माँग पर निर्भर करती है वहाँ गेहूँ की माँग बढई की मजदूरी पर निर्भर करती है, अर्थात् एक तरफ नीचे का भाग ऊपर के भाग पर निर्भर करता है तो दूसरी तरफ ऊपर का भाग नीचे के भाग पर निर्भर करता है। इस प्रकार वस्तु बाजार व साधन बाजार की परस्पर निर्भरता स्पष्ट हो जाती है। चित्र के ऊपरी भाग में कीमत प्रणाली वस्तुओं के भाव निर्धारित करती है और निचले भाग में यह साधनों के भाव निर्धारित करती है। इस प्रकार कीमत प्रणाली विभिन्न बाजारों में परस्पर समन्वय व ताल मेल स्थापित करती है।

प्रश्न

1 एक अर्थव्यवस्था की मूलभूत समस्याएँ क्या हैं ? इन्हें एक स्वतंत्र बाजार वाली अर्थव्यवस्था में किस प्रकार हल किया जाता है ? (Raj Iyr , 1997)

2 एक अर्थव्यवस्था की मूलभूत आर्थिक समस्याओं की व्याख्या कीजिए। एक प्रतियोगी अर्थव्यवस्था में उनको किस प्रकार हल किया जा सकता है ? (Raj Iyr., 1994)

3 एक अर्थव्यवस्था की आधारभूत समस्याए कौन सी हैं ? एक स्वतन्त्र उद्यमवाली अर्थव्यवस्था उनको किस प्रकार हल करती है ? (Raj Iyr., 1996 non collegiate)

4 एक अर्थव्यवस्था की आधारभूत समस्याए कैसे हल की जाती हैं ? (Ajmer Iyr., 1996)

5 निम्नांकित पर लगभग 100 शब्दों में सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये–

(i) एक आर्थिक समस्या क्यों उत्पन्न होती है ? (Ajmer Iyr., 1993)

(ii) मूलभूत आर्थिक समस्याएँ (सक्षिप्त टिप्पणी) (Raj Iyr., 1993)

6 एक अर्थव्यवस्था की आधारभूत समस्याएं कौन सी हैं ? एक स्वतन्त्र उद्यमवाली अर्थव्यवस्था उनको किस प्रकार हल करती है ? (Ajmer Iyr 1995)

7 अर्थव्यवस्था किसे कहते हैं ? एक अर्थव्यवस्था को किन मूलभूत समस्याओं का सामना करना पडता है ? (Raj Iyr., 1996)



(एक दिन, एक सप्ताह, एक महीना, आदि जो भी हो) व बाजार के स्थान को बतलाना भी आवश्यक होता है। इसी प्रकार अन्य चलराशियों जैसे मुद्रा की पूर्ति, विनियोग, बचत उपभोग, राष्ट्रीय आय, पूँजी, रोजगार, आदि की भी स्पष्ट परिभाषा करनी होगी ताकि सिद्धान्त के निर्माण का कार्य भली भांति आगे बढ सके। चलराशियों की परिभाषा पूर्णतया सुनिश्चित होनी चाहिए ताकि आगे चलकर किसी भी प्रकार का भ्रम न रहे।

चलराशियों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है, जैसे

(i) स्वतंत्र चलराशियाँ व आश्रित चलराशियाँ (independent variables and dependent variables)

(ii) स्टॉक व प्रवाह (stocks and flows)

(iii) प्रत्याशित व वास्तविक चलराशियाँ (ex ante and ex post variables)

(iv) बाह्यजात तथा आन्तरजात चलराशियाँ (exogenous and endogenous variables)

नीचे इन पर क्रमश प्रकाश डाला जाता है।

(i) स्वतंत्र चल राशियाँ व आश्रित चलराशियाँ (Independent variables and dependent variables)

प्रत्येक आर्थिक सिद्धान्त में कुछ चलराशियाँ स्वतंत्र होती हैं और कुछ आश्रित होती हैं, जैसे माँग के नियम में सम्बद्ध वस्तु की कीमत एक स्वतंत्र चलराशि होती है और उस वस्तु की माँग की मात्रा एक आश्रित चलराशि होती है, क्योंकि वह उस वस्तु की कीमत पर निर्भर करती है। इसी प्रकार उत्पत्ति की मात्रा रोजगार की मात्रा पर निर्भर करती है। यहाँ उत्पत्ति की मात्रा एक आश्रित चलराशि है और रोजगार की मात्रा एक स्वतंत्र चलराशि है। उत्पत्ति की मात्रा रोजगार की मात्रा पर निर्भर होने के कारण एक आश्रित चलराशि मानी जाती है। स्मरण रहे कि कोई भी चलराशि सदैव के लिए स्वतंत्र या आश्रित चलराशि नहीं होती। यह परिस्थिति के अनुसार निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए, हमने ऊपर रोजगार की मात्रा को एक स्वतंत्र चलराशि माना है। लेकिन स्वयं रोजगार की मात्रा वास्तविक मजदूरी की दर (real wage rate) व अन्य तत्वों पर निर्भर करती है। प्राय वास्तविक मजदूरी की दर के बढने से रोजगार की मात्रा घट सकती है। अत यहाँ रोजगार की मात्रा एक स्वतंत्र चलराशि न होकर एक आश्रित चलराशि बन गई है, क्योंकि यह वास्तविक मजदूरी की दर से प्रभावित हो रही है, जो यहाँ एक स्वतंत्र चलराशि मानी गयी है। इस प्रकार परिस्थिति विशेष का इस बात पर प्रभाव पडता है कि अमुक चलराशि स्वतंत्र किस्म की है अथवा आश्रित किस्म की है।

(ii) स्टॉक व प्रवाह (Stocks and flows)

अर्थशास्त्र में स्टॉक व प्रवाह की अवधारणाओं का काफी प्रयोग होता है जिसको समझना आवश्यक होता है। इनको गलत ढग से समझने पर, अथवा गलत ढग से इस्तेमाल करने पर आर्थिक विश्लेषण में काफी कठिनाई हो सकती है। स्टॉक व प्रवाह दोनों चलराशियाँ (Variables) होती हैं और ये घट बढ सकती हैं।

एडवर्ड शेपीरो के अनुसार, 'इन दोनों में अन्तर यह है कि स्टॉक वह मात्रा होती है जो समय के एक विशिष्ट बिन्दु (specified point in time) पर मापी जाती है, जबकि प्रवाह

वह मात्रा होती है जो एक विशिष्ट समयावधि (a specified period of time) के रूप में ही मापी जाती है।'[1]

समष्टि अर्थशास्त्र में स्टॉक व प्रवाह सम्बन्धी अवधारणाओं की काफी भरमार पायी जाती है। स्टॉक से जुड़ी कुछ मुख्य अवधारणाएँ इस प्रकार हैं, जैसे देश की कुल जनसंख्या, कुल श्रम शक्ति, कुल रोजगार प्राप्त व्यक्तियों की संख्या, मुद्रा की मात्रा (जैसे संकीर्ण अर्थ में M_1 की मात्रा, व विस्तृत अर्थ में M_3 की मात्रा), विदेशी मुद्राकोषों (Foreign Currency Reserves) की मात्रा, पूँजी का भण्डार, आदि, जिनकी मात्राएँ समय के किसी विशिष्ट बिन्दु पर बतलायी जाती हैं। उदाहरण के लिए, भारत में विस्तृत अर्थ में मुद्रा की पूर्ति, अर्थात् M_3 की मात्रा 28 अप्रैल, 1995 को 529386 करोड़ रु थी। 12 मई, 1995 को भारत के विदेशी विनिमय कोष (स्वर्ण को छोड़कर) 20.23 अरब डालर अथवा 64567 करोड़ रु थे। 1 मार्च, 1991 को भारत की जनसंख्या 84.63 करोड़ व्यक्ति थी।

इसी प्रकार प्रवाह सम्बन्धी कुछ अति प्रचलित अवधारणाएँ इस प्रकार होती हैं, जैसे राष्ट्रीय आय, राष्ट्रीय बचत, राष्ट्रीय विनियोग, निर्यात व आयात की मात्राएँ, व्यापार के घाटे की राशि, श्रम शक्ति में वार्षिक वृद्धि, रोजगार में वार्षिक वृद्धि, बेरोजगारी में वृद्धि, बजट के वार्षिक घाटे की राशियाँ, आदि जिन्हें एक निश्चित समयावधि के आधार पर सूचित किया जाता है; जैसे *1993-94 में भारत की साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति (NNP at* Factor Cost), 1980-81 के भावों पर 2027 अरब रुपये रही। इसी वर्ष प्रति व्यक्ति वास्तविक आय (per capita real net national product) लगभग 2282 रु रही। 1993-94 में भारत के कुल निर्यातों की राशि 69751 करोड़ रु व आयातों की राशि 73101 करोड़ रु तथा व्यापार का घाटा 3350 करोड़ रु रहा।

ध्यान देने की बात है कि बचतें (Savings) स्टॉक होती हैं और बचत (Saving) एक प्रवाह होती है। वर्ष के अन्त में पायी जाने वाली सरकारी कर्ज की बकाया राशि एक स्टॉक होती है, और वर्ष के दौरान कर्ज में होने वाली वृद्धि एक प्रवाह होती है। पूँजी एक स्टॉक होती है, और वर्ष में होने वाला पूँजी निर्माण अथवा विनियोग एक प्रवाह होता है (Capital is a stock, while investment is a flow)। स्टॉक का प्रवाह पर असर पड़ सकता है, जैसे पूँजी की मात्रा या स्टॉक के ज्यादा रहने पर नई पूँजी का निर्माण या विनियोग भी अधिक हो सकता है, और पूँजी के स्टॉक के कम रहने पर नया पूँजी-निर्माण अर्थात् विनियोग भी प्राय थोड़ा ही हो पाता है।

अर्थशास्त्र में, विशेषतया समष्टि अर्थशास्त्र में, हम कई प्रकार के अनुपातों (Ratios) का प्रयोग करते हैं। *ये स्टॉकों के सम्बन्धों को व्यक्त कर सकते हैं, अथवा प्रवाहों के सम्बन्धों* को व्यक्त कर सकते हैं, अथवा स्टॉक व प्रवाहों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों को व्यक्त कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, किसी समय के बिन्दु पर, स्थिर परिसम्पत्तियों (Fixed assets) का कुल परिसम्पत्तियों (Total assets) से अनुपात स्टॉकों का परस्पर सम्बन्ध बतलाता है। इसी प्रकार तरल परिसम्पत्तियों (Liquid assets) का कुल परिसम्पत्तियों

1 'The distinction between them is that a stock is a quantity measurable at a specified point in time, whereas a flow is a quantity that can be measured only in terms of a specified period of time

—Edward Shapiro, **Macroeconomic** Analysis, Fifth edition, 1982, p 53

(Total assets) से अनुपात देखकर व्यक्ति या फर्म की 'तरलता'(Liquidity) का अनुमान लगाया जा सकता है। प्रवाह के आपसी अनुपात में हम बचत व आय का अनुपात ले सकते हैं जिसे बचत की दर कहते हैं। इसी प्रकार पूँजी-निर्माण या विनियोग का आय से अनुपात विनियोग की दर कहलाता है। यह भी दो प्रवाहों के परस्पर अनुपात को दर्शाता है।

स्टॉक व प्रवाह के बीच भी अनुपात पाये जा सकते हैं, जैसे मुद्रा के औसत आय प्रचलन वेग (Average Income Velocity of Money) को जानने के लिए हम राष्ट्रीय आय में मुद्रा की औसत पूर्ति (जो वर्ष में रिपोर्टिंग शुक्रवारों के औसत के रूप में ज्ञात की जाती है), का भाग देते हैं, जो भारत में 1993-94 के लिए M_1 के सदर्भ में 5 899 तथा M_3 के सदर्भ में 2 004 थी। अत मुद्रा के औसत आय प्रचलन-वेग को जानने के लिए राष्ट्रीय आय के प्रवाह की अवधारणा में मुद्रा के स्टॉक M_1 अथवा M_3 का भाग दिया जाता है।

अत हमें कदम-कदम पर यह सुनिश्चित करना होता है कि अमुक चलराशि (variable) स्टॉक है या प्रवाह, और अमुक अनुपात स्टॉकों के बीच का अनुपात है अथवा प्रवाहों के बीच का अनुपात है, अथवा स्टॉक व प्रवाह के बीच का अनुपात है। इससे कई प्रकार के भ्रमों से बचने में मदद मिलती है।

गार्डनर एक्ले का कहना है कि कीमत (Price) न तो स्टॉक है और न प्रवाह। यह दो प्रवाहों का अनुपात (Ratio between flows) मात्र है। यह नकद-प्रवाह व वस्तु-प्रवाह का अनुपात होता है। इस अनुपात में ऊपर व नीचे समय की इकाई के परस्पर कट जाने से यह मात्र 'अनुपात' (Only Ratio) रह जाता है। अत यह केवल अनुपात की अवधारणा में शामिल किया जाता है।[1]

अत स्टॉक की अवधारणा एक झील में किसी समय के बिन्दु (at a specific point of time) पर पानी की कुल मात्रा को सूचित करती है जबकि प्रवाह की अवधारणा उसमें किसी भी समयावधि में (in a specific time period) शामिल होने वाले नये पानी की मात्रा को सूचित करती है। दोनों का अपना अपना महत्त्व होता है, लेकिन दोनों पृथक्-पृथक् अवधारणाएँ होती हैं।

स्टॉक व प्रवाह चलराशियों के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्थिक विश्लेषण में इनका अपना-अपना स्थान होता है। इसलिए हमें चलराशियों के इस अतर पर पर्याप्त ध्यान देना होगा। इस अतर का मुख्य आधार यही होता है कि यदि हम समय के किसी विशिष्ट बिन्दु पर किसी चलराशि पर विचार करते हैं तो वह स्टॉक होती है, और यदि विशिष्ट समयावधि में किसी चलराशि पर विचार करते हैं तो वह प्रवाह बन जाती है।

स्टॉक व प्रवाह के अतर को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण और दिये जा सकते हैं।

---

1 Is price a stock or a flow variable ? Price does not need a time dimension, but it obviously is not a stock magnitude Actualy it can be thought of as a ratio between two (actual or potential) flows, a flow of cash and a flow of goods. In the ratio, the time unit appears both in numerator and denominator and hence cancels out'

—Garder Ackley, **Macroeconomics : Theory and Policy**, 1978 edition, p 8

मार्च 1994 के अत मे भारत पर विदेशी कर्ज की बकाया राशि 90 72 अरब डालर थी। यह स्टॉक की अवधारणा है। लेकिन वर्ष 1993-94 में विदेशी कर्ज में 0 74 अरब डालर (अथवा 74 करोड़ डालर) की वृद्धि हुई जो प्रवाह को सूचित करती है। मार्च 1994 के अत में विदेशी कर्ज की बकाया राशि 1993-94 में कुल निर्यात राशि का लगभग 400% थी। इसमे स्टॉक का प्रवाह से अनुपात दर्शाया गया है। 1993-94 में ऋण सेवा (ब्याज व मूलधन की किस्त को चुकाने की राशि) का चालू प्राप्तियों (वस्तुओं व सेवाओं के निर्यात से प्राप्त राशि) से अनुपात 24.8% रहा। यह दो प्रवाहों के बीच का अनुपात है। इस प्रकार आर्थिक विश्लेषण में कई प्रकार के अनुपातों (स्टॉक-स्टॉक के बीच, प्रवाह प्रवाह के बीच तथा स्टॉक-प्रवाह अथवा प्रवाह स्टॉक के बीच के अनुपातों) का उपयोग देखने को मिलता है।

(iii) प्रत्याशित व वास्तविक चलराशि* (Ex ante and Ex-post Variables)

प्रत्याशित (ex ante) चलराशि किसी भी चलराशि की वह मात्रा होती है जो कार्य से पहले (Before an action) अनुमानित की जाती है। इसे नियोजित (planned) या वाछित (desired) राशि भी कहा जाता है। उदाहरण के लिए, प्रत्याशित विनियोग (ex ante investment) विनियोग की उस राशि को कहते हैं जिसके लगने की आशा की जाती है। इसी प्रकार प्रत्याशित बचत (Ex ante savings) की चर्चा की जा सकती है। यह बचत की वह राशि होती है जिसके प्राप्त होने की आशा होती है।

समष्टि आर्थिक विश्लेषण में वास्तविक चलराशि (ex post variable) उस चलराशि को कहते हैं जो कार्य के अन्त में (after the action) निकलती है, जैसे वास्तविक विनियोग, वास्तविक बचत, आदि। ये वे राशियाँ होती हैं जो वस्तुत अत में पायी जाती हैं। अत इन्हें अंग्रेजी में actual या realised चलराशि भी कहा जाता है।

'प्रत्याशित' व 'वास्तविक' (ex ante and ex post) शब्दों का उपयोग असतुलन से सतुलन की तरफ जाने की स्थिति में किया जाता है। केन्स के राष्ट्रीय आय के निर्धारण के मॉडल में प्रत्याशित विनियोग के प्रत्याशित बचत से अधिक होने पर अर्थव्यवस्था में असतुलन उत्पन्न हो जाता है। इससे विनियोग के आधिक्य के कारण अर्थव्यवस्था में गुणक प्रभाव के जरिये अतिरिक्त आमदनी प्राप्त होती है जिससे आय व बचत बढते हैं और अत में वास्तविक विनियोग की राशि वास्तविक बचत की राशि के समान हो जाती है। अत केन्स के मॉडल में विनियोग व बचत वास्तविक अर्थ में (in the ex post sense) परस्पर बराबर होते हैं।

इसी प्रकार रुपया उधार लेने वाले व उधार देने वाले असली ब्याज की दर (real interest rate) के बारे में प्रत्याशित व वास्तविक राशियों के बारे में सोच सकते हैं। असली ब्याज की दर मौद्रिक ब्याज की दर में से मुद्रास्फीति की दर को निकालने के बराबर होती है। मान लीजिए, बाजार में ब्याज की मौद्रिक दर 15% है और मुद्रास्फीति की दर 10% है तो ब्याज की असली दर (15–10)=5% मानी जायेगी। कल्पना कीजिये कि रुपया उधार देने वाले रुपया उधार लेने वाले शुरू में (उधार लेते-देते समय) यह सोचते हैं कि असली ब्याज की दर 5% रहेगी, और अत में वह शून्य निकलती है (मुद्रास्फीति की दर

* इसका व आगे के विवेचन का उपयोग पाठ्यक्रम की आवश्यकतानुसार किया जा सकता है।

के 15% रहने पर) तो इस दृष्टान्त में प्रत्याशित (ex ante) असली ब्याज की दर 5% व वास्तविक (ex-post) असली ब्याज की दर शून्य मानी जायेगी। व्यवहार में इस अंतर का बड़ा महत्त्व होता है।

मुद्रास्फीति के अध्ययन में इसका विशेष उपयोग देखा जाता है।

इसलिए आर्थिक विश्लेषण में इस बात पर पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए कि जिस चलराशि को हम ले रहे हैं वह नियोजित अर्थ में ली जा रही है अथवा वास्तविक रूप में ली जा रही है। ex-ante अर्थ में हम इसे प्रत्याशित रूप में या नियोजित रूप में लेते हैं और ex/post अर्थ में इसे वास्तविक रूप में लिया जाता है। प्राय बचत व विनियोग के सम्बन्ध में इन शब्दों का ज्यादातर प्रयोग देखने को मिलता है।

बाह्यजात चलराशियाँ (Exogenous Variables) तथा आन्तरजात चलराशियाँ (Endogenous Variables) तथा मॉडल[1]

आर्थिक मॉडलों में दो प्रकार की चलराशियों का प्रयोग होता है-एक तो बाह्यजात चलराशियाँ जो मॉडल के बाहर से आती हैं (ये मॉडल में इन्पुटों का काम करती हैं) और दूसरी आन्तरजात चलराशियाँ जो मॉडल के अन्दर से आती हैं (ये मॉडल की आउटपुट होती हैं)। दूसरे शब्दों में, बाह्यजात चलराशियाँ मॉडल में प्रवेश करते समय निर्धारित कर दी जाती हैं और आन्तरजात चलराशियाँ स्वय मॉडल के अन्दर से निर्धारित होती हैं। बाह्यजात चलराशियाँ आन्तरजात चलराशियों को प्रभावित करती हैं जो निम्न सकेतों से स्पष्ट होता है-

बाह्यजात चलराशियाँ → मॉडल → आन्तरजात चलराशियाँ

व्यष्टि-अर्थशास्त्र से उदाहरण

व्यष्टि अर्थशास्त्र में बाजार माँग व बाजार पूर्ति के अध्ययन में यह देखा जाता है कि एक वस्तु, जैसे डबल रोटी की माँग की मात्रा उसकी कीमत व उपभोक्ता की आमदनी पर निर्भर करती है (यह अन्य वस्तुओं की कीमत, उपभोक्ता वर्ग की पसन्द व नापसद, आदि पर भी निर्भर करती है, जिन्हें हम विवेचन की सरलता के लिए फिलहाल छोड देते हैं)। इस सम्बन्ध को $Q_d = D(P_b, Y)$ से सूचित कर सकते हैं, जहाँ Q_d डबल रोटी की माँग की मात्रा को, P_b इसकी कीमत को तथा Y उपभोक्ताओं की आमदनी को सूचित करते हैं। D फलन (function) का चिह्न है, अर्थात् यह बतलाता है कि माँग की मात्रा उस वस्तु की कीमत व आमदनी पर निर्भर करती है।

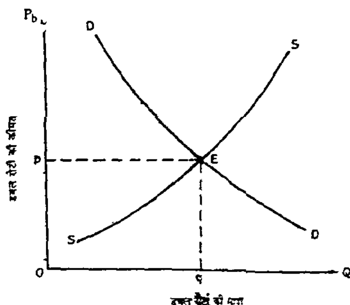
इसी प्रकार वस्तु की पूर्ति, यहाँ डबल रोटी की पूर्ति, इसकी कीमत व आटे की कीमत पर निर्भर मानी जा सकती है, हालाकि इस पर भी उत्पादन की विधि, लागत के नियमों, आदि का प्रभाव पडता है। समीकरण के रूप में $Q_s = S(P_b, P_f)$ ले सकते हैं, जहाँ Q_s पूर्ति की मात्रा, P_b डबल रोटी की मात्रा तथा P_f आटे की कीमत के सूचक हैं। यहाँ S फलन का सूचक है। आटे की कीमत डबल रोटी की कीमत को व फलस्वरूप उसकी पूर्ति को प्रभावित करती है, क्योंकि आटे का भाव बढ़ने से डबल रोटी भी महगी हो जायेगी और आटा सस्ता होने से डबल रोटी भी सस्ती हो जायेगी तथा उसकी पूर्ति भी प्रभावित होगी।

---

1 इस खण्ड का विवेचन N Gregory Mankiw, Macroeconomics, 1992 के पृ 6-9 पर आधारित है। यह स्नातक स्तर की एक अत्यन्त उपयोगी रचना है।

उपर्युक्त समीकरणों के अलावा अर्थशास्त्री यह भी मान लेते हैं कि डबल रोटी की कीमत उस बिन्दु पर निर्धारित होती है जहाँ उसकी माँग व पूर्ति की मात्राएँ बराबर होती हैं, अर्थात $Q_s = Q_d$

इस प्रकार उपर्युक्त तीन समीकरण डबल रोटी के बाजार का मॉडल प्रस्तुत करते हैं। अर्थशास्त्री इस मॉडल को निम्न चित्र की सहायता से दर्शाते हैं



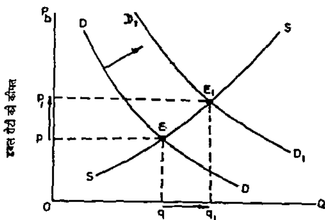
चित्र—1

स्पष्टीकरण-उपर्युक्त चित्र में *DD* माँग-वक्र डबल रोटी की कीमत व इसकी माँग की मात्रा के विलोम सम्बन्ध को दर्शाता है, जबकि आमदनी (Y) स्थिर रहती है। इसी प्रकार SS पूर्ति-वक्र डबल रोटी की कीमत व उसकी पूर्ति की मात्रा में सीधे सम्बन्ध को दर्शाता है, जबकि आटे की कीमत स्थिर रहती है। बाजार में डबल रोटी की कीमत सतुलन में उस बिन्दु (P) पर निर्धारित होती है जहाँ माँग व पूर्ति वक्र एक-दूसरे को काटते हैं (E बिन्दु पर) जिससे वस्तु की Oq मात्रा निर्धारित होती है।

इस मॉडल में दो बाह्यजात चलराशियाँ (exogenous variables) हैं—उपभोक्ताओं की आमदनी तथा आटे की कीमत। मॉडल इनको समझाने का प्रयास नहीं करता और इनको पर्व निर्धारित मान लेता है। मॉडल में दो आन्तरजात चलराशियाँ (endogenous variables) हैं-डबल रोटी की कीमत और इसकी (सतुलन में) विनिमय की गई मात्राएँ, जो मॉडल के अदर से निर्धारित होती हैं, और जिन्हें मॉडल समझाने का प्रयास करता है।

स्मरण रहे कि बाह्यजात चलराशियों के परिवर्तन से आन्तरजात चलराशियों पर प्रभाव पड़ेगा जैसे-

(अ) उपभोक्ताओं की आमदनी के बढ़ने से संतुलन-कीमत व संतुलन मात्राएँ बढ़ जायेंगी, जैसा कि निम्न चित्र से स्पष्ट होता है



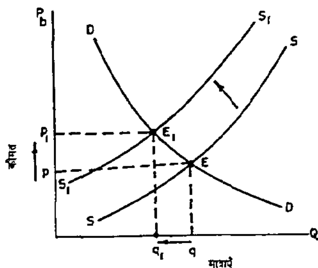
चित्र—2

यहाँ आमदनी के बढ़ने से रोटी का माँग वक्र DD से ऊपर की ओर खिसक कर D_1D_1 पर आ गया है, जिससे पूर्व SS वक्र पर कीमत P से बढ़ कर P_1 व संतुलन मात्रा q से बढ़ कर q_1 हो जाती है। इस प्रकार एक बाह्यजात चलराशि के परिवर्तन से दोनों आन्तरजात चलराशियों में परिवर्तन हो जाता है।

(आ) आटे की कीमत बढ़ने से संतुलन-कीमत व संतुलन मात्राएँ दोनों बदल जायेंगी। *यहाँ डबल रोटी की कीमत पर बढ़ने का प्रभाव उत्पन्न होगा, और इसकी मात्रा में घटने का प्रभाव आयेगा जो अग्र चित्र 3 से स्पष्ट हो जाता है—*

स्पष्टीकरण—यहाँ आटे की कीमत के बढ़ने से डबल रोटी का पूर्ति वक्र बाँयीं ओर खिसक जाता है अर्थात् विभिन्न पूर्व कीमतों पर पूर्ति की मात्राएँ घट जाती हैं। इससे नई सतुलन कीमत p_1 हो जाती है। (p से बढ़कर p_1) तथा नई सतुलन मात्रा q_1 हो जाती है (q से घट कर q_1)। इस प्रकार यहाँ बाह्यजात चलराशि (आटे की कीमत) के बढ़ने से डबल रोटी की संतुलन कीमत बढ़ जाती है और इसकी सतुलन मात्राएँ घट जाती हैं।

इस प्रकार हमने डबल रोटी के बाजार में बाह्यजात चलराशियों (आमदनी व आटे की कीमत) के परिवर्तनों को प्रभाव आन्तरजात चलराशियों *(डबल रोटी की सतुलन-कीमत व सतुलन मात्राओं) पर देखा।* यह मॉडल सरल मान्यताओं पर आधारित है, जैसे हमने इसमें बेकरी के स्थान को कोई महत्व नहीं दिया है। हो सकता है कि ग्राहक अपने नजदीक की बेकरी से डबल रोटी खरीदना ज्यादा पसंद करें और इसके लिए थोड़ी ऊँची कीमत भी देने को तैयार हो जाएँ। लेकिन हमने डबल रोटी के लिए एक ही कीमत की मान्यता स्वीकार की



चित्र—3

है। अत यह मॉडल सरल किस्म का है। इस प्रकार चलराशियों के कई रूप होते हैं। कुछ चलराशियाँ स्वतंत्र होती हैं और कुछ आश्रित होती हैं। कुछ स्टॉक की श्रेणी में आती हैं तो कुछ प्रवाह की श्रेणी में। कुछ दशाओं में हम प्रत्याशित चलराशि पर विचार करते हैं तो कुछ में वास्तविक चलराशि पर। चलराशियाँ बाह्यजात व आन्तरजात किस्म की भी हो सकती हैं। अत आर्थिक विश्लेषण में चलराशियों की किस्मों व स्वरूप पर पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए।

प्रश्न

1. निम्न पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
   (अ) स्टॉक व प्रवाह का अतर
   (आ) प्रत्याशित व वास्तविक बचत का अतर
2. निम्न चलराशियों में स्टॉक व प्रवाह छाटिए—
   (i) वास्तविक सकल घरेलू उत्पाद (GDP)
   (ii) मुद्रा की पूर्ति
   (iii) विदेशी मुद्रा का भण्डार
   (iv) बचत
   (v) बचतें
   (vi) कीमत

(vii) वार्षिक निर्यात की राशि

(viii) श्रम शक्ति

(ix) बेरोजगारों में वृद्धि

(x) वर्ष के अंत में देश पर विदेशी कर्ज की बकाया राशि।

[उत्तर-(i) प्रवाह (ii) स्टॉक (iii) स्टॉक (iv) प्रवाह (v) स्टॉक (vi) अनुपात न स्टॉक न प्रवाह (vii) प्रवाह (viii) स्टॉक (ix) प्रवाह तथा (x) स्टॉक।

3 उत्तर दीजिए—

(i) मुद्रा के औसत आय प्रचलन वेग (average velocity) में किस स्टॉक की अवधारणा व किस प्रवाह की अवधारणा का प्रयोग होता है और वह किस रूप में होता है?

(ii) देश पर बकाया कर्ज की राशि का सकल घरेलू उत्पाद के अनुपात के रूप में-इसमें स्टॉक व प्रवाह किस रूप में प्रयुक्त हुए हैं?

(iii) कर्ज सेवा राशि चालू प्राप्तियों के अनुपात के रूप में-इसमें दोनों चलराशियों का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

[उत्तर

(i) मुद्रा का औसत आय—प्रचलन वेग
(average income—velocity of money)

$$= \frac{\text{प्रचलित भावों पर राष्ट्रीय आय (प्रवाह)}}{\text{मुद्रा की मात्रा (स्टॉक)}}$$ (इसमें ऊपर प्रवाह व नीचे स्टॉक है)

(ii) $$\frac{\text{बकाया कर्ज की राशि}}{\text{सकल घरेलू उत्पाद}} = \frac{\text{स्टॉक}}{\text{प्रवाह}}$$

(iii) कर्ज सेवा राशि चालू प्राप्तियों के अनुपात के रूप में
(Debt service as a ratio of current receipts)

$$= \frac{\text{मूलधन की किस्त व ब्याज की चुकायी जाने वाली राशि (प्रवाह)}}{\text{चालू प्राप्तियों की राशि (वस्तुओं व सेवाओं के निर्यात से) (प्रवाह)}} = \frac{\text{प्रवाह}}{\text{प्रवाह}}$$]

4 निम्नांकित की व्याख्या कीजिए—

(i) स्कन्ध और प्रवाह विचरण (Stock and flow variables) (Raj Iyr., 1997)

(ii) मुद्रा का औसत आय प्रचलन वेग

(iii) स्वतंत्र व आश्रित चलराशियाँ

(iv) प्रत्याशित व वास्तविक चलराशियाँ

(v) प्रत्याशित व वास्तविक विनियोग का अंतर

(vi) बाह्यजात चलराशि व आन्तरगत चलराशि का अंतर।



4

आर्थिक विश्लेषण की मान्यताएँ
(Assumptions of Economic Analysis)

आर्थिक विश्लेषण में दो प्रकार की मान्यताए होती हैं, पहली मूलभूत मान्यताएँ (basic assumptions) होती हैं, और दूसरी विशिष्ट समस्याओं के सन्दर्भ में अतिरिक्त मान्यताएँ (additional assumptions) होती हैं। मूलभूत मान्यताएँ सम्पूर्ण व्यष्टि मूलक आर्थिक विश्लेषण में जारी रहती हैं जैसे बाजार अर्थतंत्र अथवा पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का पाया जाना जिसमें निर्णय की प्रक्रिया पर माँग व पूर्ति की शक्तियों का प्रभाव पड़ता है। इसके अलावा अर्थव्यवस्था में साधनों की मात्रा तथा टेक्नोलोजी भी दी हुई मानी जाती है, अर्थात् स्थैतिक अर्थव्यवस्था (static economy) की मान्यता स्वीकार की जाती है। मूलभूत मान्यताओं में ही उपभोक्ता व उत्पादक का व्यवहार विवेकपूर्ण माना जाता है। उपभोक्ता अपनी सीमित आमदनी के व्यय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने का प्रयास करता है, और उत्पादक अपने सीमित साधनों से अधिकतम उत्पत्ति प्राप्त करने का प्रयास करता है (अथवा दी हुई उत्पत्ति की मात्रा न्यूनतम लागत पर प्राप्त करने का प्रयास करता है)।

विशिष्ट समस्याओं के लिए 'अतिरिक्त मान्यताएँ' भिन्न भिन्न होती हैं। इनका समस्या के स्वरूप से सम्बन्ध होता है। हम यहाँ पर मूलभूत या आधारभूत मान्यताओं पर विस्तार से प्रकाश डालते हैं।

सिद्धान्तों के निर्माण में 'मान्यताओं' का बहुत महत्त्व होता है। मान्यताओं का अर्थ है कि हमें कुछ बातों को मानकर या दिया हुआ समझकर चलना पड़ता है।

उन्हीं के आधार पर हम तार्किक विधि का प्रयोग करके आगे बढ़ते हैं और अत में किसी न किसी सिद्धान्त का निर्माण करते हैं। मान्यताएँ कई प्रकार की हो सकती हैं, और अलग अलग सिद्धान्तों की मान्यताएँ प्राय अलग अलग होती हैं। लेकिन अर्थशास्त्र में कुछ मूलभूत मान्यताएँ (basic assumptions) निम्न किस्म की होती हैं—(i) हम किस प्रकार के बाजार को मानकर चल रहे हैं, जैसे पूर्ण प्रतिस्पर्धा, एकाधिकार, आदि। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की मान्यता का आशय है कि बाजार में अनेक क्रेता व अनेक विक्रेता हैं, वस्तु समरूप या एक-सी है, फर्में उद्योग में आ जा सकती हैं, क्रेताओं व विक्रेताओं को कीमतों का पूरा ज्ञान होता है, उत्पादन के साधन विभिन्न उद्योगों के बीच पूर्णतया गतिशील होते हैं तथा समस्त उत्पादक काफी समीप रहकर काम करते हैं जिससे परिवहन-लागत नहीं लगती। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की इन दशाओं को मानकर चलने से हमें कीमत व उत्पत्ति निर्धारण की विशेष दशाएँ प्राप्त होती हैं। उनसे पूर्ण प्रतिस्पर्धा में कीमत सिद्धान्त का निर्माण होता है। इसी प्रकार बाजार के अन्य रूपों में कीमत सिद्धान्त भिन्न रूप लेता है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति पूँजीवादी या स्वतंत्र उद्यमवाली अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषता होती है। इसमें सामाजिक व कानूनी संस्थाएँ भी निजी सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करने वाली होती हैं और निजी मुनाफे को अधिकतम करने पर बल दिया जाता है। अधिकाश व्यष्टिमूलक आर्थिक विश्लेषण में पूर्ण प्रतिस्पर्धा व पूँजीवादी बाजार अर्थव्यवस्था की मान्यता ही स्वीकार की जाती है।

(ii) दूसरी मूलभूत मान्यता उपभोक्ता व उत्पादक की विवेकशीलता (rationality) के बारे में हुआ करती है। हम उपभोक्ता के सिद्धान्त की रचना में यह मान लेते हैं कि प्रत्येक उपभोक्ता उपयोगिता-अधिकतमकरण (utility-maximisation) करना चाहता है, अर्थात् वह अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने का प्रयास करता है। प्रत्येक विवेकशील उपभोक्ता ऐसा ही करता है और उसका व्यवहार इसी से निर्धारित होता है। यदि हम उपभोक्ता के व्यवहार के सम्बन्ध में अधिकतम सन्तुष्टि की मान्यता लेकर नहीं चलते हैं तो उपभोक्ता सिद्धान्त की रचना में कठिनाई उत्पन्न हो जायगी।

उपभोग के क्षेत्र में साधन आवटन की प्रक्रिया में एक उपभोक्ता अपनी सीमित आमदनी को विभिन्न वस्तुओं पर इस प्रकार से व्यय करता है कि प्रत्येक वस्तु पर व्यय किये गये अन्तिम रुपये से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता बराबर या लगभग बराबर हो जाय। इसे सम सीमान्त उपयोगिता का नियम (law of equi marginal utility) कहा जाता है। सम सीमान्त उपयोगिता दृष्टिकोण के अनुसार चलने पर एक उपभोक्ता के लिए अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने की निम्न दो शर्तें होती हैं—

(i) $\frac{MUx}{Px} = \frac{MUy}{Py} = \frac{MUz}{Pz}$

(ii) $(x \times Px) + (y \times Py) = I$

यहाँ MUx = x–वस्तु की सीमान्त उपयोगिता

Px = x–वस्तु की कीमत तथा x = x-वस्तु की मात्रा है, एव इसी प्रकार y–वस्तु व z-वस्तु के लिए विचार किया गया है। अत में I = आमदनी की वह राशि है जो विभिन्न वस्तुओं पर व्यय की जानी है। हम उपभोक्ता के सतुलन को तटस्थता-वक्र रेखाओं के द्वारा भी समझा सकते हैं। यहाँ मुख्य बात यह है कि उपभोक्ता के व्यवहार का सम्पूर्ण सिद्धान्त इस मान्यता पर टिका हुआ है कि एक उपभोक्ता विवेकपूर्ण ढंग का व्यवहार या आचरण करता है, अर्थात् वह अधिकतम सन्तुष्टि के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है। यदि वह अपना लक्ष्य अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना न रखे तो उसका व्यवहार विवेकशील (rational) नहीं माना जायगा और उपभोक्ता से सम्बन्धित सिद्धान्त बनाने में दुविधा उत्पन्न हो जायगी।

इसी प्रकार एक उत्पादक के विषय में भी यह मान लिया जाता है कि वह अपना लाभ अधिकतम करना चाहता है। उत्पादक या फर्म के लिए 'लाभ अधिकतमकरण' (profit maximisation) की मान्यता के आधार पर उनके व्यवहार के बारे में निष्कर्ष निकाला जा सकता है। हम उत्पादक द्वारा अपनाये गये विभिन्न उपायों का उसके मुनाफे पर प्रभाव देखते हैं, और अत में वे उपाय निकाल लेते हैं जिससे उसका मुनाफा अधिकतम होता है।

एक उत्पादक द्वारा साधन आवटन के विवेचन में यह बतलाया जाता है कि एक उत्पादक को अपने सीमित व्यय का वितरण उत्पादन के विभिन्न साधनों पर इस प्रकार करना

चाहिए कि प्रत्येक साधन पर व्यय किये गये अन्तिम रुपये से प्राप्त सीमान्त भौतिक उत्पत्ति समान या लगभग समान हो जाय। x और y दो साधन लेने पर उसे अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए निम्न शर्त का पालन करना होगा—

$\frac{MPP_x}{P_x} = \frac{MPP_y}{P_y}$ यहाँ, MPPx, x-साधन की सीमान्त भौतिक उत्पत्ति, तथा Px, x-साधन की कीमत,को सूचित करते हैं। इसी प्रकार y-साधन को लिया जा सकता है। एक उत्पादक या फर्म का सतुलन समोत्पत्ति वक्र-समलागत की विधि से भी समझाया जा सकता है। यहाँ पर भी मुख्य बात यह है कि हम एक विवेकशील उत्पादक के सम्बन्ध में यह मान्यता स्वीकार कर लेते हैं कि वह लाभ-अधिकतम करना चाहता है। इस मान्यता के आधार पर एक फर्म के सिद्धान्त की रचना की जा सकती है।

कई बार यह कहा जाता है कि उत्पादक राजनीतिक व समाज सेवा के उद्देश्यों से भी प्रेरित होते हैं,इसलिए लाभ-अधिकतमकरण की मान्यता अवास्तविक होती है। यहाँ हमें यह याद रखना होगा कि हम उत्पादक का एक मात्र उद्देश्य लाभ-अधिकतमकरण करना नहीं मानते हैं, लेकिन इसे एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य अवश्य मानते हैं ताकि इसके आधार पर हम उसके व्यवहार के बारे में कोई निश्चित निष्कर्ष प्रस्तुत कर सकें। इसलिए एक विवेकशील उपभोक्ता के सम्बन्ध में 'उपयोगिता-अधिकतमकरण' की मान्यता तथा एक विवेकशील उत्पादक के सम्बन्ध में 'लाभ-अधिकतमकरण' की मान्यता के आधार पर हम उनके व्यवहार के सम्बन्ध में उचित निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

स्मरण रहे कि उपभोक्ता व उत्पादक की विवेकशीलता (rationality) उनकी 'व्यक्तिगत विवेकशीलता' होती है। वह 'सामाजिक विवेकशीलता' नहीं होती, जैसे एक उत्पादक अपना उत्पादन अधिकतम करना चाहता है और फैक्ट्री के धुएँ से लोगों के स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है। लेकिन यह प्रभाव उसके अपने अनुमानों में शामिल नहीं होता।

विवेकशील व्यवहार का यह अर्थ भी नहीं है कि उपभोक्ता या उत्पादक नितान्त स्वार्थी होते हैं। इसके पीछे उपयोगिता या उत्पत्ति को अधिकतम करने का आर्थिक प्रयोजन ही प्रमुख होता है।

(iii) तृतीय श्रेणी की मूलभूत मान्यता 'एक स्थिर अर्थव्यवस्था' (A Static economy) के बारे में होती है जिसमें अर्थव्यवस्था में साधन व टेक्नोलोजी (resources and technology) को दिया हुआ माना जाता है। एक गत्यात्मक या प्रावैगिक अर्थव्यवस्था में साधन व टेक्नोलोजी परिवर्तनशील माने जाते हैं। अधिकांश आर्थिक सिद्धान्तों की रचना 'एक स्थिर अर्थव्यवस्था' की मान्यता पर ही आधारित होती है। स्थिर अर्थव्यवस्था के विश्लेषण की सहायता से साधनों व टेक्नोलोजी के परिवर्तनों के परिणामों का विश्लेषण करने में आसानी हो जाती है।

इस प्रकार बाजार के रूप,उपभोक्ता व उत्पादक की विवेकशीलता (rationality) तथा 'स्थिर अर्थव्यवस्था' अर्थशास्त्र की आधारभूत मान्यताएँ मानी जाती हैं।

श्रीमती जोन रोबिन्सन का भी कहना है, "आर्थिक विश्लेषण की यह एक आधारभूत मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति उचित ढंग का आचरण करता है, और इसीलिए, वह सीमान्त

लागत को सीमान्त लाभ से सतुलित करता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब एक खरीददार एक वस्तु की खरीद मे कोई दी हुई सीमान्त लागत लगाता है तो उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता इसकी सीमान्त लागत के बराबर होती है।"[1]

अत उपभोक्ता व उत्पादक की विवेकशीलता की मान्यता एक आधारभूत मान्यता मानी जाती है।

'अन्य बातों के समान रहने' की मान्यता

('Ceteris paribus' or the assumption of 'other things remaining the same')

हम पहले बतला चुके हैं कि अर्थशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों या नियमों के पीछे 'अन्य बातों के समान रहने' की मान्यता पायी जाती है। ये अतिरिक्त मान्यताओं के अन्तर्गत आती हैं और विभिन्न समस्याओं के लिए ये भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं। जैसे माँग का नियम (law of demand) बतलाता है कि, अन्य बातों के समान या अपरिवर्तित रहने पर, एक वस्तु की कीमत के घटने पर उसकी माँग की मात्रा बढ़ेगी, अथवा कीमत के बढ़ने पर माँग की मात्रा घटेगी।

हम जानते हैं कि एक वस्तु की माँग पर निम्न तत्त्वों का प्रभाव पड़ता है—

(i) स्वय उस वस्तु की कीमत,
(ii) उपभोक्ताओं की आमदनी,
(iii) उपभोक्ता-वर्ग की रुचि-अरुचि अथवा पसद-नापसद
(iv) अन्य वस्तुओं की कीमतें—इनमें कुछ वस्तुएँ विचाराधीन वस्तु की पूरक (complementary) हो सकती हैं, अथवा इसकी स्थानापन्न (substitutes) हो सकती हैं।
(v) भावी कीमतों के सम्बन्ध में प्रत्याशाएँ, आदि।

अत माँग के नियम में हम अन्य बातों को स्थिर रखकर जैसे उपभोक्ताओं की आमदनी, उनकी रुचि-अरुचि, अन्य वस्तुओं की कीमतों, भावी कीमतों की प्रत्याशाओं, आदि को स्थिर रखकर केवल एक वस्तु की कीमत के परिवर्तन का प्रभाव उसकी माँग की मात्रा पर देखते हैं। नियम की क्रियाशीलता के लिए 'अन्य बातों को समान' रखना जरूरी होता है। मान लीजिए, कीमत के बढ़ने पर उपभोक्ता-वर्ग की आमदनी भी बढ़ जाती है तो एक वस्तु की माँग सम्भवतया न घटे, अर्थात् माँग का नियम लागू न हो। इसी प्रकार मान लीजिए कीमत के बढ़ने पर लोगों की रुचि किसी वजह से उस वस्तु के पक्ष में अधिक तीव्र हो जाती है तो भी माँग घटने की बजाय बढ़ सकती है। अत माँग के नियम में अन्य बातों के समान रहने की मान्यता का बड़ा महत्त्व होता है।

1. 'The fundamental assumption of economic analysis is that every individual acts in a sensible manner, and it is sensible for the individual to balance marginal cost against Marginal gain It follows that when a given marginal cost is being incurred by a buyer in purchasing a commodity the marginal utility of the commodity to him is equal to its marginal cost'

—Joan Robinson, The Economics of Imperfect Competition, 1961 (reprinted) pp 211 212

पूर्ति का नियम—

इसी प्रकार एक वस्तु के पूर्ति के नियम में अन्य बातों के समान रहने की मान्यता स्वीकार की जाती है। एक वस्तु की पूर्ति पर कई तत्वों का प्रभाव पडता है जैसे

(i) स्वय उस वस्तु की कीमत
(ii) अन्य वस्तुओं की कीमतों
(iii) उत्पादन के साधनों की कीमतों,
(iv) लागत की दशाओं
(v) उत्पादन की तकनीक तथा
(vi) सरकारी नीति मौसम आदि।

पूर्ति के नियम में हम अन्य तत्वों को स्थिर मानकर, एक वस्तु की कीमत के परिवर्तन का प्रभाव उसकी पूर्ति की मात्रा पर देखते हैं।

साधारणतया कीमत के बढ़ने पर वस्तु की पूर्ति बढती है, और कीमत के घटने पर उसकी पूर्ति घटती है। लेकिन ऐसा कहते समय हम पूर्ति को प्रभावित करने वाले अन्य सभी तत्त्व स्थिर मान लेते है। यदि अन्य तत्वों को स्थिर नहीं माना गया तो पूर्ति का नियम सम्भवत लागू नही होगा। जैसे एक वस्तु की कीमत के बढ़ने पर उसकी पूर्ति बढ़ती, लेकिन मान लीजिए, वह एक कृषिगत पदार्थ है जिसकी पूर्ति अकाल व सूखे के कारण काफी घट जाती है। इसलिए प्राकृतिक बाधाओं के कारण कीमत के बढने पर भी सम्भवत कृषिगत वस्तु की सप्लाई नही बढ पाती है।

इस प्रकार हमने ऊपर एक तरफ मूलभूत मान्यताओं (बाजार की प्रकृति, अर्थव्यवस्था का पूँजीवादी स्वरूप उपभोक्ता व उत्पादक की विवेकशीलता व स्थैतिक अर्थव्यवस्था) का उल्लेख किया और बाद में 'अन्य बातों के समान रहने' की मान्यता का विवेचन किया जिसका उल्लेख विशिष्ट समस्याओं व नियमों के सम्बन्ध में किया जाता है। ये 'अतिरिक्त मान्यताएँ' समस्याओं के स्वरूप से निर्धारित होती हैं, और अलग-अलग समस्याओं के लिए अलग अलग होती हैं।

आर्थिक सिद्धान्तों का निर्माण मान्यताओं के आधार पर किया जाता है। यदि सिद्धान्त का वास्तविक तथ्यों से मेल खाता है तो उसे स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा इसमें सशोधन किया जा सकता है, अथवा इसे अस्वीकार किया जा सकता है। मिल्टन फ्रीडमैन ने इस बात पर बहुत बल दिया है कि मान्यताओं की वास्तविकता की जाँच करने की आवश्यकता नहीं है। हमें तो उनके आधार पर निकाले गये निष्कर्षों की जाँच तथ्यों के आधार पर करनी चाहिए। यदि निष्कर्षों का तथ्यों से मेल हो जाये तो सिद्धान्त को स्वीकार किया जा सकता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि आर्थिक विश्लेषण में मूलभूत मान्यताओं का बडा महत्त्व होता है। इनके आधार पर ही आधुनिक व्यष्टिमूलक अर्थशास्त्र का काफी विस्तार किया गया है।

प्रश्न

1 आर्थिक विश्लेषण की मूलभूत मान्यताओं (basic assumptions) को समझाइए।
2. आर्थिक नियमों में 'अन्य बातों के यथावत रहने' से क्या तात्पर्य होता है? विवेचन कीजिए।
3 उपभोक्ता व उत्पादक की विवेकशीलता को मूलभूत मान्यता क्यों माना जाता है? समझाकर लिखिए।
4 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
   (i) *'स्थैतिक अर्थव्यवस्था' की मान्यता,*
   (ii) अर्थव्यवस्था के पूँजीवादी स्वरूप की मान्यता,
   (iii) 'अन्य बातें समान' की मान्यता (Raj I yr, 1992)
5 निम्नांकित पर लगभग 100 शब्दों में संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये-
   (i) अर्थशास्त्र में 'सेटेरस पेरीबस' (अन्य बातें समान रहना) की अवधारणा से आप क्या समझते हैं? (Ajmer I yr., 1993)
6 'विवेकपूर्ण व्यवहार' से क्या आशय है? उपभोक्ता एवं उत्पादक के सन्दर्भ में व्याख्या कीजिए। *(Ajmer Iyr., 1994 & Raj Iyr, 1996 Non Coll)*
7 आर्थिक विश्लेषण की मान्यताओं का विवेचन कीजिए। उपभोक्ता एवं उत्पादक के विवेकशील व्यवहार को प्रभावित करने वाले घटक कौन से हैं? (Raj Iyr, 1995)



5

आर्थिक नियमों की प्रकृति
(Nature of Economic Laws)



आर्थिक नियमो का अर्थ

आर्थिक नियम आर्थिक जगत की दो चीजों के सम्बन्ध का कथन होता है। यह बतलाता है कि कुछ बातों के दिए हुए होने पर अमुक बातें हो सकती हैं। अत नियम यह बतलाता है कि यदि 'अ' है तो 'ब' होगा। ऐसा कथन आर्थिक क्षेत्र के बारे में हो सकता है, अथवा टेक्नोलोजिकल सम्बन्ध को सूचित कर सकता है। उदाहरण के लिए, माँग का नियम यह बतलाता है कि अन्य बातों के समान रहने पर (जैसे उपभोक्ता वर्ग की आमदनी, रुचि अरुचि, अन्य वस्तुओं की कीमतों के स्थिर रहने पर) एक वस्तु की कीमत के घटने पर उसकी माँग की मात्रा बढेगी, और कीमत के बढने पर उसकी माँग की मात्रा घटेगी। यह माँग का नियम कहलाता है।

इसी प्रकार उत्पादन का नियम बतलाता है कि उत्पादन के अन्य साधन स्थिर रख कर एक साधन की मात्रा के बढाने पर, एक बिन्दु के बाद, कुल उत्पत्ति की मात्रा अनुपात से कम बढेगी। इसे ह्रासमान प्रतिफल का नियम कहा जाता है। अत आर्थिक नियम केवल दो चलराशियों के सम्बन्ध को व्यक्त करता है। लेकिन यह उस सम्बन्ध का कारण नहीं समझा पाता। नियम का तार्किक आधार प्रस्तुत करने का काम आर्थिक सिद्धान्त (economic theory) का माना गया है। उदाहरण के लिए, माँग के सिद्धान्तों में तार्किक शैली का उपयोग करके उन दशाओं को बतलाया जाता है जिनमें माग का नियम सही निकलता है। कुछ नियम तार्किक विधि (deductive method) से निकाले जाते हैं और कुछ तथ्यों के आधार (inductive method) पर निकाले जाते हैं, जैसे एंजिल का पारिवारिक बजटों का नियम तथ्यों के आधार पर निकाला गया है, जो बतलाता है कि परिवार की आमदनी के बढने पर कुल व्यय में भोजन पर किये गये व्यय का अनुपात क्रमश घटता जाता है। अत आर्थिक नियम दो चलराशियों के सम्बन्ध के स्वरूप को व्यक्त करते हैं, जबकि सम्बन्ध के कारणों का विश्लेषण आर्थिक सिद्धान्त के अन्तर्गत आता है।[1] सिद्धान्त (theory) के निर्माण में चलराशियों, मान्यताओं, परिकल्पनाओं व प्राप्त निष्कर्षों (variables, assumptions, hypotheses and predictions) का उपयोग किया जाता है।

1 N C. Ray An Introduction to Microeconomics, Second ed. 1980 p 16

आर्थिक नियमो की प्रकृति

(Nature of Economic Laws)

अन्य विज्ञानों की भाँति अर्थशास्त्र के भी अपने नियम होते हैं। इनमें दो चलराशियों के बीच सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं। अन्य विज्ञानों में (भौतिक विज्ञानों सहित) भी अध्ययन की विभिन्न विधियों का उपयोग करके नियम बनाये जाते हैं। अत जहाँ तक नियमों को बनाने की विधि का प्रश्न है, अर्थशास्त्र भी वैज्ञानिक विधियों का ही प्रयोग करता है। यह *बात अलग है कि अपनी विषय सामग्री की भिन्नता के कारण अर्थशास्त्र के नियम* उतने सुनिश्चित नहीं होते जितने कि प्राकृतिक विज्ञानों के नियम होते हैं। अर्थशास्त्र मानव के *व्यवहार का अध्ययन करता है, जिस पर अनेक तत्त्वों का प्रभाव एक साथ पडता रहता है* और उस पर नियंत्रित प्रयोग भी नहीं हो पाते हैं। प्राकृतिक विज्ञानों में प्रयोगशालाओं में *नियन्त्रित प्रयोग सुगम होते हैं।* इसलिए प्राकृतिक विज्ञानों को विशेष किस्म की सुविधा मिलने से उनके नियम अधिक सुनिश्चित हों तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

आर्थिक नियमों के पीछे *'अन्य बातें समान रहने' की शर्त लगी रहती है*, जैसा कि पहले बतलाया गया है, माँग का नियम बतलाता है कि अन्य बातों के यथास्थिर रहने पर (जैसे उपभोक्ता की रुचि अरुचि, जनसख्या, आमदनी, अन्य सम्बद्ध वस्तुओं के मूल्य, आदि), एक वस्तु की कीमत के घटने पर उसकी माँग की मात्रा बढेगी एव उसकी कीमत के बढने पर उसकी माग की मात्रा घटेगी। इस प्रकार माँग का नियम केवल एक वस्तु की कीमत के परिवर्तन का प्रभाव उसकी माँग की मात्रा पर बतलाता है। इस सम्बन्ध में (i) माँग पर प्रभाव डालने वाले अन्य तत्त्वों की क्रियाशीलता बन्द कर दी जाती है, (ii) यह वस्तु की कीमत के परिवर्तन का प्रभाव माँग के परिवर्तन की 'दिशा' (direction) पर ही बतलाता है। इस प्रकार आर्थिक नियमों के पीछे कई प्रकार की मान्यताएँ होती हैं। फिर भी अर्थशास्त्री वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करके आर्थिक नियमों के निर्माण में निरन्तर सँलग्न रहते हैं। यदि कहीं कोई कमी है तो उनकी विषय वस्तु में है, अध्ययन करने की विधियों में नहीं है। आजकल अर्थशास्त्र में गणित व साख्यिकी के बढते हुए प्रयोग ने इस विषय को अधिक सुनिश्चितता प्रदान की है। किसी भी कार्य के परिणामों को मापने की दिशा में पहले से अधिक प्रगति हुई है और आर्थिक नियम अधिक वैज्ञानिक होने का दावा कर सकते हैं।

आर्थिक नियमो के सम्बन्ध मे प्रोफेसर मार्शल के विचार

मार्शल ने आर्थिक नियमों को आर्थिक प्रवृत्तियों का सूचक मात्र माना है। उसके शब्दों में, 'इस प्रकार सामाजिक विज्ञान का नियम अथवा एक सामाजिक नियम सामाजिक प्रवृत्तियों का कथन होता है, अर्थात् यह इस बात का सूचक होता है कि कुछ दशाओं में समाज में एक समूह के सदस्यों से एक विशेष प्रकार के कार्य की आशा की जा सकती है।

आर्थिक नियम, अथवा आर्थिक प्रवृत्तियों के कथन वे सामाजिक नियम होते हैं जिनका व्यवहार की उन शाखाओं से सम्बन्ध होता है जिनमें मुख्य प्रयोजनों की शक्ति का माप मौद्रिक कीमत में किया जा सकता है।'[1] मार्शल ने आगे चलकर कहा है कि *'दी हुई दशाओं* में एक औद्योगिक समूह के सदस्यों के द्वारा जिस प्रकार के कार्य की आशा की जा सकती है, वह उस समूह के सदस्यों का उन परिस्थितियों में *सामान्य कार्य माना जाता है।*

1 Marshall Principles of Economics, 1920 p 27

आर्थिक नियम कल्पनामूलक (Hypothetical)–मार्शल के अनुसार, 'अर्थशास्त्र के नियम कल्पनामूलक उसी अर्थ में होते हैं जिसमें कि भौतिक विज्ञानों के नियम होते हैं, क्योंकि उन नियमों में भी कुछ शर्तें दी हुई होती हैं। लेकिन भौतिकशास्त्र की अपेक्षा अर्थशास्त्र में उन शर्तों को स्पष्ट करना अधिक कठिन होता है और स्पष्ट न करने से हानि का खतरा भी अधिक होता है। मानवीय क्रिया के नियम उतने सरल, उतने सुनिश्चित अथवा उतने स्पष्ट नहीं होते जितना कि गुरुत्वाकर्षण का नियम होता है, लेकिन इनमें से कई नियम उन प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों के साथ रखे जा सकते हैं, जिनकी विषय सामग्री पेचीदा होती है।'

उपर्युक्त कथन में मार्शल ने आर्थिक नियमों के सम्बन्ध में निम्न बातों पर ध्यान आकर्षित किया है–

(1) आर्थिक नियमों की शर्तों को स्पष्ट करना अधिक कठिन होता है।

(2) स्पष्ट न करने से खतरा भी अधिक होता है, क्योंकि नियम का दुरुपयोग हो सकता है। नासमझ व्यक्ति नियम का गलत अर्थ भी निकाल सकते हैं।

(3) आर्थिक नियम उतने सरल व सुनिश्चित नहीं होते जितना कि गुरुत्वाकर्षण का नियम होता है।

(4) अर्थशास्त्र में कुछ नियम प्राकृतिक नियमों की भाँति ही सुनिश्चित हो सकते हैं।

आर्थिक नियमों के सम्बन्ध में मार्शल ने एक अन्य स्थान पर अपने विचार ज्यादा प्रभावपूर्ण व स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किये हैं। ये इस प्रकार हैं '**अर्थशास्त्र के नियमों की तुलना गुरुत्वाकर्षण के सरल व सुनिश्चित नियम से करने के बजाय ज्वार-भाटे के नियमों से की जा सकती है।** इसका कारण यह है कि मानव के कार्यकलाप इतने विविध व अनिश्चित होते हैं कि मानवीय आचरण के विज्ञान में हम प्रवृत्तियों के बारे में जो सर्वश्रेष्ठ कथन प्रस्तुत कर सकते हैं, वे अनिवार्यतः कम निश्चित व दोषपूर्ण होते हैं।'

उपर्युक्त कथन में मार्शल ने अर्थशास्त्र के नियमों को ज्वार भाटे के नियमों के समकक्ष रखा है जो इतने निश्चित नहीं होते जितना कि गुरुत्वाकर्षण का नियम होता है। समुद्र में ज्वार की तीव्रता कई कारणों से घट-बढ सकती है। हो सकता है कि ज्वार थोडा समय के पूर्व या समय के पश्चात् आ जाये, और कुछ जल्दी या देर से चला जाये। इसी तरह की थोडी अनिश्चितता अर्थशास्त्र के नियमों में भी पायी जा सकती है। लेकिन गुरुत्वाकर्षण का नियम अधिक निश्चित व अधिक ठोस किस्म का होता है। किसी भी भारी वस्तु को ऊपर की ओर फेंके जाने पर वह नीचे ही गिरेगी। अर्थशास्त्र के नियम इतने सुनिश्चित नहीं होते हैं। आखिर इसकी विषय सामग्री मानवीय व्यवहार होता है जो काफी अस्थिर, चंचल व परिवर्तनशील होता है। मनुष्य एक संवेदनशील व भावुक प्राणी होता है। इसलिए उसके व्यवहार को पूर्णतया नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। फिर भी मार्शल का मत है कि जिस प्रकार रसायनशास्त्री की सही व सुन्दर तुला (fine balance) ने रसायनशास्त्र को अधिकांश भौतिक विज्ञानों में अधिक सुनिश्चित बनाया है उसी प्रकार अर्थशास्त्री की तुला (मुद्रा) ने अर्थशास्त्र को सामाजिक विज्ञान की किसी भी अन्य शाखा की तुलना में अधिक सुनिश्चित बनाया है, चाहे यह तुला स्वयं कितनी भी अपूर्ण व अपर्याप्त किस्म की क्यों न हो।

आर्थिक नियमों के सम्बन्ध में रोबिन्स के विचार[1]

(1) मूल्य-सिद्धान्त का आधार सही–रोबिन्स ने मूल्य के सामान्य सिद्धान्त के आधार को सही बतलाया है। मूल्य-सिद्धान्त इस मान्यता पर टिका हुआ है कि एक व्यक्ति के लिए विभिन्न वस्तुएँ एक-सा महत्त्व नहीं रखती हैं और वे इसी वजह से एक निश्चित क्रम में जचाई जा सकती हैं। इस साधारण अनुभव के आधार पर ही हम विभिन्न वस्तुओं की स्थानापन्नता का विचार, एक वस्तु की माँग अन्य वस्तुओं के माध्यम से, विभिन्न उपयोगों में वस्तुओं का संतुलित वितरण, विनिमय सन्तुलन व मूल्यों का निर्माण आदि के विचार भी निकाल सकते हैं।

मूल्य सिद्धान्त के पीछे ह्रासमान प्रतिफल का नियम (Law of Diminishing Returns) पाया जाता है।

यह नियम भी इस तथ्य पर टिका हुआ है कि उत्पादन के विभिन्न साधन एक-दूसरे के अपूर्ण स्थानापन्न (imperfect substitutes) होते हैं। श्रम का काम पूँजी व पूँजी का काम भूमि पूर्णतया नहीं कर सकते। यदि ये ऐसा कर सकते तो उत्पादन के क्षेत्र में ह्रासमान प्रतिफल का नियम लागू नहीं होता। वास्तविक जगत में विभिन्न उत्पादन के साधन एक दूसरे के अपूर्ण प्रतिस्थापन होते हैं। यदि भूमि का काम अन्य साधन कर लेते तो दुनिया में सारा अनाज एक एकड भूमि पर ही पैदा कर लिया जाता।

इस प्रकार रोबिन्स के अनुसार, आर्थिक सिद्धान्त ऐसी मान्यताओं व परिकल्पनाओं पर आधारित है जो ठोस अनुभव पर आधारित हैं।

(2) आर्थिक नियम परिस्थिति से जुड़े नहीं होते–इसके अतिरिक्त रोबिन्स ने आर्थिक नियमों को परिस्थितियों पर आश्रित नहीं माना है। उनका मत है कि अर्थशास्त्र की प्रमुख मान्यताए इतिहास पर आधारित नहीं होती हैं, अर्थात् वे परिस्थिति-विशेष पर आश्रित नहीं होती हैं। अत अर्थशास्त्र के नियम विभिन्न समयों, विभिन्न स्थानों व विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों में लागू होते हैं। अर्थशास्त्र के नियम जिन प्रमुख मान्यताओं पर आधारित हैं वे काफी सच्ची होती हैं, लेकिन साथ में आवश्यकतानुसार कुछ सहायक मान्यताओं को भी लिया जा सकता है। इस प्रकार रोबिन्स ने उन मान्यताओं को सबल, सुदृढ व अनुभवाश्रित बतलाया है जिन पर आर्थिक नियम टिके हुए होते हैं।

आर्थिक नियमों की सामान्य विशेषताएं या लक्षण

आर्थिक नियमों के सम्बन्ध में मार्शल व रोबिन्स के विचार प्रस्तुत करने के बाद अब हम इनकी प्रकृति या विशेषताओं का उल्लेख करते हैं–

(1) अर्थशास्त्र के नियम काल्पनिक होते हैं (Economic laws are hypothetical)–इसका अर्थ यह है कि अर्थशास्त्र के नियम कई प्रकार की मान्यताओं पर आधारित होते हैं। इनमें कई शर्तों को लेकर चला जाता है। जैसे उत्पत्ति ह्रास नियम में हम 'टेक्नोलोजी' को स्थिर मान लेते हैं, अर्थात् उत्पादन की विधि में परिवर्तन नहीं करते। यदि हल-बैल की सहायता से परम्परागत किस्म की खेती की जाती है तो वही प्रणाली जारी रखी जाती है। उसके स्थान पर ट्रैक्टर की खेती लागू नहीं की जाती, अन्यथा वह टेक्नोलोजी का

1 L.Robbins, An Essay on the Nature and Significance of Economic Science, Chapters IV and V

परिवर्तन माना जायगा। फिर एक उत्पादन का साधन (जैसे भूमि) स्थिर रखकर अन्य साधनों की इकाइयाँ क्रमश बढायी जाती हैं, जिससे एक सीमा के बाद, उत्पत्ति ह्रास नियम लागू हो जाता है।

'अन्य बातों को स्थिर मानकर' आर्थिक नियम बनाने से वे अवैज्ञानिक या निरर्थक नहीं हो जाते। सच पूछा जाय तो भौतिक विज्ञानों के नियम भी कुछ मान्यताओं पर टिके होते हैं, जैसे रसायनशास्त्र के इस नियम को लीजिये जिसके अनुसार दो भाग हाइड्रोजन व एक भाग आक्सीजन मिलाने से जल बन जाता है। यह नियम भी तापक्रम व दबाव की कुछ दशाओं को मानकर चलता है। इसी प्रकार गुरुत्वाकर्षण का नियम (Law of gravitation) यह बतलाता है कि कोई भी वस्तु ऊपर की ओर फेंके जाने पर नीचे आकर गिरती है, क्योंकि पृथ्वी में अपनी ओर खींचने की शक्ति होती है। लेकिन यहाँ भी यह मान लिया गया है कि कोई विपरीत शक्ति वस्तु के पृथ्वी पर गिरने में बाधा न डाले, अन्यथा यह नियम भी लागू नहीं होगा। हवाई जहाज, पक्षी, गुब्बारा आदि आसमान में उडते रहते हैं और जमीन पर नहीं गिरते, क्योंकि कुछ विपरीत शक्तियाँ काम करती रहती हैं, जो इन्हें भूमि पर नहीं गिरने देतीं।

अत मान्यताओं पर आधारित होना आर्थिक नियमों की कमजोरी नहीं है, यह तो वैज्ञानिक विधि का एक अग है।

(2) आर्थिक नियम सापेक्ष प्रकृति के होते हैं (Economic laws are relative in nature)–हम ऊपर बतला चुके हैं कि रोबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र के कुछ नियम सभी देशों, सभी समयों व सभी परिस्थितियों में लागू होते हैं, जैसे माँग का नियम, उपयोगिता ह्रास नियम, उत्पत्ति ह्रास नियम, आदि। लेकिन कुछ नियम विशेष प्रकार की सामाजिक व संस्थागत दशाओं में ही लागू होते हैं। कुछ नियम पूँजीवादी देशों में लागू होते हैं तो कुछ साम्यवादी देशों में। कुछ विकसित देशों में लागू होते हैं तो कुछ विकासशील देशों में। उदाहरण के लिए, केन्स ने बतलाया था कि विकसित देशों में (पूँजीवादी या निजी उद्यम की अर्थव्यवस्था पर आधारित) बेरोजगारी की स्थिति 'माँग की कमी' से उत्पन्न होती है, लेकिन भारत जैसे विकासशील देशों में यह प्रमुखतया 'पूँजी की कमी' से उत्पन्न होती है, क्योंकि श्रमिकों को काम देने के लिए पर्याप्त मात्रा में मशीनें व कारखाने नहीं पाये जाते हैं।

इसी प्रकार पिछडे देशों में श्रम का माँग-वक्र पीछे की ओर मुडने वाला (backward bending) होता है, अर्थात् एक सीमा के बाद, वास्तविक मजदूरी के बढने पर श्रम की पूर्ति घट जाती है, क्योंकि कम आवश्यकताओं के कारण लोग विश्राम पसन्द करने लगते हैं। लेकिन विकसित देशों में प्राय श्रम का पूर्ति-वक्र ऊपर की ओर उठता हुआ (sloping upward) होता है। इस प्रकार विकसित देशों के सारे आर्थिक नियम विकासशील देशों पर लागू नहीं होते। इसीलिए आजकल यह कहना एक प्रकार का फैशन हो गया है कि अमुक-सिद्धान्त तो पाश्चात्य देशों की विशेष परिस्थितियों में बना था, अत यह पिछडे देशों में लागू नहीं होता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि एक सिद्धान्त का लागू होना उस देश की सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियों पर भी निर्भर करता है।

(3) आर्थिक नियम कम निश्चित होते हैं (Economic laws are less exact) आर्थिक नियम भौतिक विज्ञानों के नियमों से कम निश्चित, लेकिन अन्य सामाजिक विज्ञानों के नियमों से अधिक निश्चित माने गये हैं। इसका कारण यह है कि अर्थशास्त्र का मानवीय व्यवहार से सम्बन्ध होता है जो काफी चचल, अनिश्चित व जटिल किस्म का होता

है। उस पर नियन्त्रित किस्म के प्रयोग नहीं हो सकते। लेकिन अर्थशास्त्र के पास मुद्रा का माप दण्ड होने से आर्थिक नियम अन्य सामाजिक विज्ञानों के नियमो से अधिक निश्चित हो सके है।

मार्शल का यह कथन काफी सारगर्भित प्रतीत होता है कि आर्थिक नियमों की तुलना गुरुत्वाकर्षण के नियम से न की जाकर ज्वार भाटे के नियमों से की जानी चाहिए। इसका कारण यह है कि ज्वार भाटे की गति व आने जाने पर हवा मौसम, वर्षा, तूफान आदि का प्रभाव पडने से इनमें कम निश्चितता पायी जाती है। अर्थशास्त्र के नियम भी बहुत कुछ ज्वार-भाटे के नियमो की भाँति ही होते है। लेकिन इसके लिए बहुत कुछ यह विषय ही जिम्मेदार है। आजकल गणित व सांख्यिकी के बढते हुए प्रयोग से अर्थशास्त्र का स्तर भी काफी ऊँचा हो गया है। आशा है भविष्य में आर्थिक नियम अधिक सम्मानजनक स्थिति में पहुँच जायेंगे।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है डॉ के एन राज के अनुसार अर्थशास्त्रियों में नीति सम्बन्धी मतभेद ज्यादातर उनकी मान्यताओं के अन्तर से पैदा होते हैं। इसलिए उन्हें अपनी मान्यताओं को स्पष्ट करना चाहिए तथा यह बतलाना चाहिए कि उनकी मान्यतायें अन्य लोगों की मान्यताओं से अधिक श्रेष्ठ कैसे हैं?

प्रश्न

1 निम्नलिखित की व्याख्या करें—
   (i) अर्थशास्त्र के नियमों की प्रवृत्ति (Ajmer Iyr, 1996)
   (ii) आर्थिक नियमों व आर्थिक सिद्धान्तों में अंतर।
2 'अर्थशास्त्र के नियमों की तुलना ज्वार भाटे के नियमों के साथ की जा सकती है न कि सरल और निश्चित गुरुत्वाकर्षण के नियम के साथ। (मार्शल) इस कथन को भली प्रकार समझाइये।
3 अर्थशास्त्र के नियमों में कौन सी कमियाँ हैं और उन्हें कैसे दूर किया जा सकता है?



6

आर्थिक विश्लेषण के रूप
(Forms of Economic Analysis)

इस अध्याय में हम व्यष्टि व समष्टि अर्थशास्त्र,* स्थैतिक व प्रावैगिक विश्लेषण एवं आंशिक व सामान्य सन्तुलन का विवेचन प्रस्तुत करेंगे। वास्तविक व आदर्शात्मक (positive and normative) अर्थशास्त्र का विवेचन प्रथम अध्याय में 'अर्थशास्त्र की प्रकृति' शीर्षक के अन्तर्गत दिया जा चुका है। वहाँ हम बतला चुके हैं कि वास्तविक अर्थशास्त्र 'में क्या है' (What is) का अध्ययन किया जाता है, और आदर्शात्मक अर्थशास्त्र में 'क्या होना चाहिए' (What ought to be) का अध्ययन होने से यह मूल्य निर्णय-आधारित (Value-judgement-based) होता है। इसका कल्याण अर्थशास्त्र से गहरा सम्बन्ध होता है। वास्तविक अर्थशास्त्र वर्णन करता है, जबकि आदर्शात्मक अर्थशास्त्र निर्देश या आदेश देता है (positive economics describes, while normative economics prescribes)।

व्यष्टि-अर्थशास्त्र का अर्थ

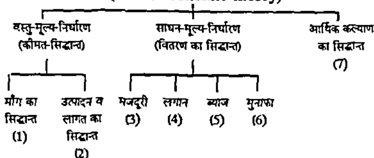
आर्थिक विश्लेषण की दो प्रमुख शाखायें हैं–एक तो व्यष्टि-अर्थशास्त्र और दूसरी समष्टि-अर्थशास्त्र। सर्वप्रथम रेग्नर फ्रिश (Ragnar Frisch) ने 1933 में व्यष्टि-अर्थशास्त्र व समष्टि-अर्थशास्त्र शब्दों का प्रयोग किया था। व्यष्टि-अर्थशास्त्र में एक व्यक्तिगत आर्थिक इकाई, जैसे परिवार, उपभोक्ता, फर्म, उद्योग आदि के आर्थिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। व्यष्टि-अर्थशास्त्र को प्रायः कीमत-सिद्धान्त भी कहकर पुकारते हैं। 'micro' शब्द ग्रीक-शब्द 'mikros' से बना है, जिसका अर्थ है छोटा। इसमें इन प्रश्नों का अध्ययन किया जाता है, जैसे एक उपभोक्ता वस्तुओं की दी हुई कीमतों एवं दी हुई आमदनी से किस प्रकार अधिकतम सन्तोष प्राप्त करता है? एक फर्म वस्तु की दी हुई कीमत पर कितना उत्पादन करेगी, एक उद्योग में वस्तु की कीमत कैसे निर्धारित होगी, वस्तु की सापेक्ष कीमतें (*relative prices*) कैसे निर्धारित होंगी, उत्पादन के साधनों का प्रतिफल (आय का वितरण) कैसे निर्धारित होगा, विभिन्न उपयोगों में उत्पादन के साधनों का आवंटन कैसे होगा? इस प्रकार व्यष्टि-अर्थशास्त्र में कुल उत्पादन की बनावट और आवंटन को स्पष्ट किया जाता है। दूसरे शब्दों में, इसमें यह बतलाया जाता है कि कुल उत्पत्ति का विभिन्न उद्योगों, फर्मों व वस्तुओं में कैसे विभाजन होता है, और साधनों का आवंटन विभिन्न उपयोगों में किस प्रकार होता है।

यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि व्यष्टि-अर्थशास्त्र में भी कुछ सीमा तक

* व्यष्टि अर्थशास्त्र के लिए व्यष्टिगत अर्थशास्त्र, सूक्ष्म अर्थशास्त्र या इकाई अर्थशास्त्र और समष्टि अर्थशास्त्र के लिए समष्टिगत अर्थशास्त्र, व्यापक अर्थशास्त्र या समग्र अर्थशास्त्र शब्द भी प्रयुक्त किये जाते हैं।

समष्टि या समग्र का विचार आता है, जैसे बाजार माँग वक्र व्यक्तिगत माँग वक्रों का योग ही होता है। एक उद्योग भी उसमें पायी जाने वाली विभिन्न फर्मों का समूह होता है। इस प्रकार व्यष्टि-अर्थशास्त्र में जिस लघु इकाई की चर्चा की जाती है वह भी कुछ इकाइयों का योग या समूह हो सकती है। लेकिन ध्यान रहे कि वह समूह अपने दायरे में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को शामिल नहीं करता, अन्यथा वह समष्टि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता।

व्यष्टि-अर्थशास्त्र में दिये हुए साधनों का विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में आवटन दर्शाया जाता है। इसमें विभिन्न वस्तुओं के मूल्य निर्धारण व उत्पादन के विभिन्न साधनों के मूल्य निर्धारण की चर्चा की जाती है। व्यष्टि अर्थशास्त्र में निम्न विषय शामिल होते हैं–



स्मरण रहे कि *व्यष्टि अर्थशास्त्र में प्रमुखतया व्यक्तिगत इकाइयों-उपभोक्ता, फर्म,* उत्पादन के साधन, आदि का अध्ययन किया जाता है। हम आगे चलकर स्पष्ट करेंगे कि इसमें आंशिक सतुलन व सामान्य सतुलन दोनों का विवेचन किया जाता है। इसमें सापेक्ष कीमतों (relative prices) का अध्ययन किया जाता है, न कि सामान्य कीमत स्तर का। सापेक्ष कीमतों में एक वस्तु की कीमत दूसरी वस्तु की कीमत की तुलना में देखी जाती है, जबकि सामान्य कीमत स्तर मुद्रास्फीति को मापने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। इसमें राष्ट्रीय आय का वितरण मजदूरी, लगान, ब्याज व लाभ के निर्धारण के रूप में देखा जाता है, एव आर्थिक कल्याण का भी अध्ययन किया जाता है।

समष्टि-अर्थशास्त्र का अर्थ

समष्टि अर्थशास्त्र में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित कुल राशियों जैसे राष्ट्रीय आय, राष्ट्रीय बचत, राष्ट्रीय विनियोग, कुल रोजगार, कुल उत्पत्ति, मुद्रास्फीति, आर्थिक विकास आर्थिक विकास में उतार चढाव, आदि का अध्ययन किया जाता है। इसमें बैंकों, वित्तीय सस्थाओं तथा सरकारी संस्थाओं के आर्थिक कार्य कलापों व आर्थिक नियोजन का अध्ययन भी शामिल होता है।

गार्डनर ऐक्ले के शब्दों में 'समष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक विषयों पर 'व्यापक रूप' से विचार करता है। इसका सम्बन्ध आर्थिक जीवन के सम्पूर्ण विस्तार या सम्पूर्ण आयाम (overall dimension) से होता है। यह व्यक्तिगत अगों के कार्य सचालन या पहचान या

विस्तार की अपेक्षा आर्थिक अनुभव के विशाल रूप या 'हाथी' के कुल आकार व शक्ल और सचालन का अध्ययन करता है। रूपक को बदलने पर हम कह सकते हैं कि यह वन की प्रकृति का अध्ययन करता है, न कि उन पेड़ों का जो इसका निर्माण करते हैं।'[1]

ऐक्ले ने अपनी दूसरी स्वतंत्र रचना– Macroeconomics Theory and Policy (1978) में इसे ज्यादा स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'हम समष्टि आर्थिक विश्लेषण को उन शक्तियों या तत्वों के अध्ययन के रूप में परिभाषित कर सकते है जो अर्थव्यवस्था में समग्र उत्पादन, रोजगार व कीमतों को तथा एक समयावधि में उनमें परिवर्तन की दरों को निर्धारित करते है। इस प्रकार समष्टि अर्थशास्त्र का निम्न समग्र आर्थिक समस्याओं से सम्बन्ध होता है, जैसे मदी (Recession), तेजी, अवसाद (Depression), बेरोजगारी, मुद्रास्फीति, अस्थिरता, गतिहीनता। इसकी चलराशियाँ (Variables) ऐसी समग्र राशियाँ होती है, जैसे राष्ट्रीय आय, सकल राष्ट्रीय उत्पाद, राष्ट्रीय धन, समग्र रोजगार व बेरोजगारी, मजदूरी की दरों, कीमतों व ब्याज की दरों का "सामान्य-स्तर", तथा पूर्व चलराशियों में प्रगति या परिवर्तन की दरें'।[2] इसे समग्र अर्थशास्त्र (Aggregative economics) भी कहते हैं।

थोमस एफ डर्नबर्ग के अनुसार 'समष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक घटनाओं के व्यवहार का समग्र रूप से अध्ययन करता है। समष्टि-अर्थशास्त्री का ज्यादातर वास्ता जिन राशियों या मात्राओं से पड़ता है वे है. बेरोजगारी की समग्र या 'कुल' दर, उत्पादन का स्तर व इसके परिवर्तन की दर तथा समग्र कीमतों के स्तर व उसमें परिवर्तन की दर। इस प्रकार समष्टि अर्थशास्त्र रोजगार, उत्पत्ति व मुद्रास्फीति के व्यवहार का अध्ययन होता है।[3]

डोर्नबुश व फिशर ने उपर्युक्त बातों के अलावा इस बात पर भी बल दिया है कि 'समष्टि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध दीर्घकालीन आर्थिक प्रगति व अल्पकालीन उतार-चढ़ावों जिनसे व्यापार-चक्र बनते हैं—इन दोनों से होता है।'[4]

लॉर्ड जे.एम केन्स ने समष्टि अर्थशास्त्र के विकास में काफी योगदान दिया था। माइकल केलेस्की व निकोलस केल्डॉर ने वितरण का समष्टिगत सिद्धान्त विकसित किया है। केलेस्की ने राष्ट्रीय आय में मजदूरी व लाभ के सापेक्ष अशों पर अर्थव्यवस्था में एकाधिकार का प्रभाव बतलाया है, जबकि केल्डॉर ने इन पर उपभोग की प्रवृत्ति व विनियोग की दर का प्रभाव बतलाया है।

समष्टि अर्थशास्त्र में शामिल होने वाले विषयों का अनुमान निम्न चार्ट से लगाया जा सकता है–

---

1 "Macroeconomics deals with economic affairs 'in the large' It concerns the overall dimensions of economic life It looks at the total size and shape and functioning of the 'elephant' of economic experience, rather than the working or articulation of dimensions of the individual parts To alter the metaphor, it studies the character of the forest, independently of the trees which compose it,"–Gardner Ackley, Macroeconomic Theory, 1961, p 4

2 Gardner Ackley, Macroeconomics Theory and Policy, 1978

3 Thomas F Dernburg, Micro Economics Concepts, Theories and Policies, 7th ed. 1985, p 3

4 Dornbusch and Fischer Macroeconomics, 6th ed., 1994 p.3

समष्टि-अर्थशास्त्र के सिद्धान्त
(Macro-economic theory)

आय व रोजगार का सिद्धान्त (1)	सामान्य-कीमत स्तर का सिद्धान्त (2)	आर्थिक विकास का सिद्धान्त (3)	वितरण का समष्टिगत सिद्धान्त (मजदूरी व लाभ के सापेक्ष अश) (4)

मुद्रा, राजस्व व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में भी समष्टि अर्थशास्त्र का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार नियोजन, आर्थिक विकास, आर्थिक अस्थिरता या उतार चढाव आदि क्षेत्र समष्टि-अर्थशास्त्र से सम्बन्धित माने गये हैं, क्योंकि इनका देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्ध होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यष्टि-अर्थशास्त्र व समष्टि अर्थशास्त्र दोनों आर्थिक विश्लेषण के दो मार्ग माने गये हैं। एक में वैयक्तिक इकाइयों का आर्थिक व्यवहार लिया जाता है तो दूसरे में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का। एक का सम्बन्ध 'लघु' से है तो दूसरे का *'विशाल' से। इन दोनों का अन्तर प्रमुखतया रीति के प्रश्न को लेकर होता है।* समष्टि-अर्थशास्त्र में आर्थिक मात्राओं में बडे समूह और औसत परिणाम शामिल होते हैं। व्यष्टि-अर्थशास्त्र व समष्टि-अर्थशास्त्र के भेद को अधिक स्पष्ट करते हुए हम कह सकते हैं कि पहले में व्यक्तिगत आय का अध्ययन होता है तो दूसरे में राष्ट्रीय आय का, पहले में उपभोक्ता के व्यवहार का अध्ययन होता है तो दूसरे में राष्ट्रीय उपभोग का, एक में एक वस्तु की कीमत के निर्धारण का अध्ययन होता है तो दूसरे में सामान्य कीमत-स्तर का, एक मे एक वस्तु की उत्पत्ति का अध्ययन होता है तो दूसरे में अर्थव्यवस्था की कुल उत्पत्ति का अध्ययन होता है। अब हम इनमें से प्रत्येक के उपयोगों व सीमाओं पर प्रकाश डालेंगे।

व्यष्टि-अर्थशास्त्र में वस्तुओं व साधनों की कीमत निर्धारण का अध्ययन किया जाता है और इसमें *आर्थिक कल्याण की भी चर्चा आती है। समष्टि अर्थशास्त्र में राष्ट्रीय आय,* रोजगार, सामान्य कीमत स्तर, आर्थिक विकास व वितरण का समष्टि सिद्धान्त (राष्ट्रीय आय में मजदूरी व मुनाफों के सापेक्ष अश) आदि आते हैं। इस प्रकार जब हम मजदूरी, लाभ, ब्याज व लगान का निर्धारण करते हैं तो वह व्यष्टि-अर्थशास्त्र का विषय बनता है, लेकिन राष्ट्रीय आय में इनका सापेक्ष अश जानने के लिए हमें समष्टि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में प्रवेश करना पडता है। इस प्रकार वितरण का क्षेत्र व्यष्टि व समष्टि दोनों से सम्बन्ध रखता है। यही कारण है कि ब्याज के सिद्धान्त की चर्चा व्यष्टि-अर्थशास्त्र व समष्टि-अर्थशास्त्र दोनों में शामिल की जाती है।

व्यष्टि-अर्थशास्त्र व समष्टि-अर्थशास्त्र में मूलभूत अन्तर क्या है?

अधिकाश अर्थशास्त्रियों का मत है कि *व्यष्टि-अर्थशास्त्र के अध्ययन की इकाइयाँ 'छोटी'* होती हैं, जैसे उपभोक्ता, परिवार, फर्म, उद्योग, आदि तथा समष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन की इकाइयाँ 'बडी' होती हैं, जैसे राष्ट्रीय उत्पत्ति, राष्ट्रीय बचत, राष्ट्रीय विनियोग, आदि। प्रोफेसर जी. तिमैया का कहना है कि प्रायः पाठ्य-पुस्तकों में इन दोनों के बीच पाये जाने वाले

मूलभूत अतर को स्पष्ट नही किया जाता है। उनका विचार है कि व्यष्टि-अर्थशास्त्र में किसी भी आर्थिक इकाई का व्यवहार 'कीमत' से निर्धारित होता है। जैसे एक उपभोक्ता व एक उत्पादक के आर्थिक व्यवहार पर 'कीमत' का प्रभाव पडता है। उनके उत्पत्ति, उपभोग, बचत व विनियोग के निर्णय 'कीमत' से प्रभावित होते हैं। कीमत बढने पर उपभोक्ता कम माल खरीदेंगे तथा उत्पादक अधिक माल का उत्पादन करेंगे। अत व्यष्टि-अर्थशास्त्र का सम्बन्ध दी हुई आमदनी पर, कीमत निर्धारण से होता है।

इसी प्रकार समष्टि-अर्थशास्त्र में मूलभूत निर्धारक तत्त्व उपभोक्ताओं व उत्पादकों की आमदनी होती है। आमदनी ही मुद्रा की माँग व श्रम की माँग आदि को प्रभावित करती है। अन. जी. तिमैया के अनुसार 'माइक्रो' का लक्ष्य 'कीमत' तथा 'मेक्रो' का लक्ष्य 'आय' होती है।[1]

इसके अलावा व्यष्टि-अर्थशास्त्र में सन्तुलन व समष्टि-अर्थशास्त्र में असन्तुलन की स्थिति प्रमुख मानी जाती है। इनका अधिक स्पष्टीकरण सतुलन के अध्ययन के बाद हो सकेगा।

व्यष्टि-अर्थशास्त्र का महत्त्व व उपयोग

हम ऊपर बतला चुके हैं कि व्यष्टि अर्थशास्त्र में विशिष्ट आर्थिक सगठनों, उनके व्यवहार और सापेक्ष कीमतों का अध्ययन किया जाता है। सापेक्ष कीमतों का अर्थ है विभिन्न वस्तुओं व सेवाओं की कीमतों में आपसी सम्बन्ध किस प्रकार का है। उदाहरण के लिए, यदि कभी टेरीकॉट कपडों की माँग बढ रही है और सूती कपडों की घट रही है तो टेरीकॉट कपडों की सापेक्ष कीमतें बढ जायेंगी। सापेक्ष कीमतों के परिवर्तन व्यष्टि-अर्थशास्त्र में आते हैं, लेकिन मुद्रास्फीति के समय सामान्य कीमत स्तर की वृद्धि समष्टि अर्थशास्त्र में आती है, न कि व्यष्टि-अर्थशास्त्र में। यहाँ पर हम व्यष्टि-अर्थशास्त्र के विभिन्न उपयोगों पर प्रकाश डालते हैं–

(1) व्यष्टि-अर्थशास्त्र या कीमत-सिद्धान्त की सहायता से निष्कर्ष निकालना (Predictions)—कीमत सिद्धान्त का उपयोग करके हम महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं। 'prediction' का अर्थ इस प्रकार होता है यदि अमुक कार्य होगा, तो उसके अमुक प्रकार के परिणाम निकलेंगे। कीमत सिद्धान्त में माँग व पूर्ति के मॉडल का उपयोग होता है। यह मॉडल हमें बतलाता है कि कीमत, माँग व पूर्ति की शक्तियों से निर्धारित होती है और सन्तुलन कीमत पर कुल माँग की मात्रा कुल पूर्ति की मात्रा के बराबर होती है। यदि कीमत इससे ऊपर हो जाती है तो बाजार में माँग की मात्रा पूर्ति की मात्रा से कम हो जाती है। इस प्रकार बाजार में माल की कुछ मात्रा बची रहेगी। अन्य मान्यताओं के आधार पर निष्कर्ष बदल जाते हैं।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है व्यष्टि-अर्थशास्त्र में उपभोक्ता, परिवार, फर्म व उद्योग के बारे में अध्ययन किया जाता है। मान लीजिए, हमें चीनी उद्योग का अध्ययन करना है। इसमें चीनी की कई मिलें या फर्में ली जायेंगी। सब उत्पादन की इकाइयाँ (यहाँ पर मिलें) चीनी का उत्पादन करती हैं। हम इस अध्ययन में विभिन्न मिलों की लागत की दशाओं को शामिल करेंगे। उनमें प्रतिस्पर्द्धा के अश का अध्ययन किया जायगा। इस बात का उल्लेख

1 G Thimmaiah, What is Macro-economics ? A critique of Text-book version, an article in the Indian Economic Journal, July-September, 1982, pp 87 107

किया जायगा कि वस्तु समरूप (एक सी) है या भिन्न किस्म की है। चीनी के उपभोक्ताओं को माँग का भी अध्ययन किया जायगा। इस प्रकार चीनी की कुल माँग व पूर्ति से इसके मूल्य का निर्धारण होगा। कीमत में सरकार के हस्तक्षेप का भी अध्ययन किया जा सकता है। साथ में चीनी की एक मिल के व्यवहार का भी अध्ययन होगा जैसे वह चीनी की दी हुई कीमत पर कितनी मात्रा में चीनी का उत्पादन करेगी। इसी प्रकार उपभोग पक्ष की ओर एक उपभोक्ता के लिए चीनी के माँग वक्र का एव सम्पूर्ण बाजार में चीनी के माँग वक्र का भी अध्ययन किया जायेगा। इस उदाहरण से व्यष्टि-अर्थशास्त्र के अन्तर्गत अध्ययन की प्रकृति स्पष्ट हो जाती है।

(2) **कीमत सिद्धान्त व आर्थिक नीति**–हम कीमत सिद्धान्त का उपयोग सरकार के कार्यों का विश्लेषण करने में भी कर सकते हैं। आधुनिक युग में सरकार का आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप काफी बढ गया है और निरन्तर बढता ही जा रहा है। वह वस्तुओं की कीमतें एव उत्पादन के साधनों की कीमतें जैसे लगान ब्याज व मजदूरी आदि का निर्धारण व नियमन कर सकती है और विशेष परिस्थितियों में करती भी है। भारत में चीनी पर आशिक नियत्रण की नीति चलती है जिसमें सरकार मिलों से कुछ चीनी लेवी के रूप में निश्चित भावों पर खरीद कर जनता में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से वितरित करती है और शेष चीनी खुले बाजार में बेची जा सकती है। हम व्यष्टि अर्थशास्त्र के द्वारा सरकार की इस नीति का प्रभाव चीनी के उत्पादन, उपभोग व खुले बाजार में चीनी की कीमत निर्धारण पर देख सकते हैं। कीमत सिद्धान्त हमें इनके सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकालने में मदद देता है जिनके पीछे कुछ मान्यताएँ होती हैं।

(3) **व्यष्टि-अर्थशास्त्र व आर्थिक कल्याण**–व्यष्टि अर्थशास्त्र का उपयोग आर्थिक कल्याण के अध्ययन में भी किया जाता है। इसकी सहायता से हम यह जान सकते हैं कि उपभोक्ताओं को वस्तुओं व सेवाओं के उपभोग से कितना सन्तोष प्राप्त हुआ है। यह आदर्शात्मक अर्थशास्त्र का पहलू माना जाता है और इसमें कल्याण अर्थशास्त्र का अध्ययन आता है जो यह बतलाता है कि निर्धारित आदर्श कैसे प्राप्त किया जा सकता है। व्यष्टि अर्थशास्त्र में उपभोक्ता के अधिकतम सन्तोष, उत्पादक के अधिकतम लाभ एव अन्य परिस्थितियों में अधिकतमकरण के लक्ष्य को प्राप्त करने के उपायों का अध्ययन किया जाता है।

(4) **व्यष्टि-अर्थशास्त्र व व्यावसायिक उपक्रमो का प्रबन्ध**–आजकल व्यष्टि अर्थशास्त्र की सहायता से व्यावसायिक उपक्रमों के प्रबन्धक महत्त्वपूर्ण निर्णय लेते हैं। माँग विश्लेषण, लागत विश्लेषण आदि का उपयोग करके अधिकतम लाभ प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है।

(5) **व्यष्टि-अर्थशास्त्र व वस्तुओं एव साधनो के प्रवाह**–उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यष्टि अर्थशास्त्र में एक ओर व्यवसायों से परिवारों की तरफ वस्तुओं व सेवाओं के प्रवाह का अध्ययन किया जाता है, तो दूसरी ओर परिवारों से व्यवसायों की तरफ उत्पादन के साधनों के प्रवाह का अध्ययन किया जाता है। पहले के अध्याय में वस्तु बाजारों व साधन-बाजारों की परस्पर निर्भरता स्पष्ट की जा चुकी है।

(6) **व्यष्टि-अर्थशास्त्र का सार्वजनिक वित्त व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अध्ययन में प्रयोग**–व्यष्टि अर्थशास्त्र में माँग व पूर्ति की लोचों का अध्ययन किया जाता है। सार्वजनिक वित्त के अन्तर्गत किसी वस्तु पर लगे कर का भार जानने के लिए माँग की लोच के विचार का सहारा

लिया जाता है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों का अध्ययन करने तथा मुद्रा के अवमूल्यन का प्रभाव जानने के लिए आयातों व निर्यातों के बारे में माँग व पूर्ति की लोचें देखी जाती हैं। एक देश की मुद्रा की विदेशी विनिमय दर निर्धारित करने में भी व्यष्टि-अर्थशास्त्र का उपयोग किया जाता है, क्योंकि विनिमय दर मुद्रा की माँग व पूर्ति पर निर्भर करती है। इस प्रकार व्यष्टि अर्थशास्त्र का सार्वजनिक वित्त व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्रों में काफी सीमा तक उपयोग किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि व्यष्टि-अर्थशास्त्र अध्ययन का एक ऐसा उपयोगी साधन है जिसकी सहायता से हम मुख्यतया दो काम कर सकते हैं (अ) यह निश्चित कर सकते हैं कि अर्थव्यवस्था में किन किन वस्तुओं का उत्पादन होता है, तथा (आ) समाज में विभिन्न उत्पादन के साधनों के बीच आय का वितरण कैसे होता है, और साधनों का विभिन्न उद्योगों या उपयोगों में आवटन किस प्रकार से होता है। अत व्यष्टिमूलक अर्थशास्त्र आर्थिक विश्लेषण की एक महत्त्वपूर्ण शाखा होती है। यह शाखा समष्टि-अर्थशास्त्र के सहायक के रूप में कार्य करती है।

व्यष्टि-अर्थशास्त्र की सीमाएँ

(Limitations of Micro-economics)

व्यष्टि-अर्थशास्त्र का आर्थिक सिद्धान्त में इतना महत्त्व होते हुए भी इसकी प्रमुखतया दो सीमाएं बतलायी गयी हैं–

(1) यह सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर विचार नहीं करता–यह सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की गतिविधि पर प्रकाश नहीं डालता। इसकी सहायता से हम कुल रोजगार, कुल आमदनी व देश में सामान्य कीमत स्तर आदि के बारे में ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। हम आगे चलकर देखेंगे कि आजकल ऐसी नीतियों का महत्त्व बढ गया है जो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को प्रभावित करती हैं, जैसे सरकार की कर-नीति, व्यय नीति तथा मौद्रिक नीति। इनका वर्णन व्यष्टि-अर्थशास्त्र में नहीं आता। जब देश में मुद्रास्फीति होती है तो ऐसे सामान्य उपाय अपनाने होते हैं जो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर सकें। ऐसी स्थिति में हमें समष्टि-अर्थशास्त्र की शरण में जाना पडता है।

(2) पूर्ण रोजगार की मान्यता पर आधारित–व्यष्टि अर्थशास्त्र प्राय पूर्ण रोजगार की दशा को मानकर चलता है जो व्यवहार में नहीं पायी जाती। इस मान्यता को स्वीकार करते हुए हम यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि एक उपभोक्ता व एक उत्पादक किस प्रकार सन्तुलन प्राप्त करते हैं, तथा समाज में साधन किस प्रकार आवटित किये जाते हैं। लॉर्ड केन्स ने इस मान्यता पर आपत्ति की है और कहा है कि इस मान्यता को स्वीकार कर लेने से कठिनाइयाँ समाप्त नहीं हो जाती हैं।

उपर्युक्त दो मर्यादाओं के होने पर भी व्यष्टि-अर्थशास्त्र का अपना महत्त्व है और आर्थिक ज्ञान के निर्माण में तथा इसको आगे बढाने में इसका अपना एक विशिष्ट व महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।[1]

---

1. कुछ पुस्तकों में व्यष्टि-अर्थशास्त्र के दोषों (defects) की भी चर्चा की जाती है जो हमारी राय में सही नहीं है, क्योंकि यह तो आर्थिक विश्लेषण की एक विधि है और इसका अपना एक निश्चित कार्यक्षेत्र होता है। प्रारम्भिक अध्ययन में विद्यार्थियों को इसके उपयोगों पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।

समष्टि-अर्थशास्त्र के उपयोग अथवा इसका महत्त्व

पीगू व मार्शल ने व्यष्टि-अर्थशास्त्र की समस्याओं पर ही अधिक जोर दिया था, लेकिन पिछले 60-65 वर्षों में समष्टि अर्थशास्त्र काफी लोकप्रिय हो गया है। 1930 से प्रारम्भ होने वाले दशक में विश्वव्यापी मन्दी के सकट ने समष्टि अर्थशास्त्र को काफी आगे बढाया है। केन्स की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'General Theory of Employment, Interest and Money' के 1936 में प्रकाशित हो जाने के बाद तो समष्टि अर्थशास्त्र ने दिन दुगुनी व रात चौगुनी प्रगति की है। कई विद्वानों ने उसके विचारों को अनुभव के आधार पर सशोधित किया है, और आजकल तो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित आर्थिक चलराशियों, जैसे कुल रोजगार, कुल उत्पादन, राष्ट्रीय विनियोग, राष्ट्रीय बचत, सामन्य मूल्य स्तर, आदि का महत्त्व इतना बढ गया है कि इनकी चर्चा एक आम बात हो गयी है। एक देश में बेरोजगारी, मुद्रास्फीति, निर्धनता व आय के वितरण की असमानता की समस्याएँ समष्टि अर्थशास्त्र के क्षेत्र से सम्बन्ध रखती हैं। समष्टि-अर्थशास्त्र के उपयोगों के सम्बन्ध में निम्न बातें उल्लेखनीय हैं–

(1) सरकार की आर्थिक नीति के निर्धारण में महत्त्व–आजकल सभी देशों में वहाँ की सरकारें आर्थिक नीतियाँ निर्धारित करती हैं ताकि देशवासियों को रोजगार प्राप्त हो सके, निर्धनता कम हो सके, राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो सके, सामान्य कीमतें स्थिर रह सकें और देश में बचत व विनियोग में वृद्धि हो सके। इसलिए इनसे सम्बन्धित आँकडे एकत्र किये जाते हैं और आवश्यक नीतियाँ लागू की जाती हैं। उदाहरण के लिए, भारत में श्रम-शक्ति तेजी से *बढ रही है और सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में अधिक रोजगार की स्थिति उत्पन्न करने के लिए* आवश्यक समष्टिगत निर्णय लिये जाने आवश्यक हो गये हैं। विकसित राष्ट्रों में प्रभावपूर्ण माँग में कमी के कारण बेकारी उत्पन्न हो जाती है जिसको दूर करने के लिए आवश्यक मौद्रिक व राजकोषीय नीतियाँ अपनायी जाती हैं।

(2) आर्थिक नियोजन व समष्टि-अर्थशास्त्र–आज के युग में विकासशील व विकसित देश आर्थिक नियोजन के द्वारा अपना आर्थिक विकास करने में सलग्न हैं। आर्थिक नियोजन में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। अत यह समष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आता है। बचत व विनियोग की दरें निर्धारित की जाती हैं और इनको बढाने के उपाय किये जाते हैं। स्वय आर्थिक विकास की वार्षिक दर को निर्धारित करके उसको प्राप्त करने के उपाय सुझाये जाते हैं। इस प्रकार आर्थिक नियोजन के द्वारा अनेक समग्र चलराशियों को प्रभावित करने की कोशिश की जाती है।

(3) व्यष्टि-अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए भी समष्टि-अर्थशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है–एक उद्योग में मजदूरी का निर्धारण अर्थव्यवस्था में मजदूरी की सामान्य स्थिति से प्रभावित होता है। एक वस्तु की कीमत भी बहुत कुछ देश में प्रचलित सामान्य कीमत स्तर से प्रभावित होती है। मुद्रास्फीति की परिस्थितियों में साधारणत वस्तुओं के भाव ऊँचे होते हैं और आर्थिक मन्दी के वर्षों में नीचे होते हैं। इस प्रकार स्वयं व्यष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए भी समष्टि अर्थशास्त्र का अध्ययन आवश्यक माना गया है।

(4) समग्र का ज्ञान पृथक् से आवश्यक–समग्र राशि व्यक्तिगत इकाइयों का जोड मात्र नहीं होती। इसके व्यवहार की अपनी स्वतंत्र विशेषताएँ भी होती हैं जिनसे परिचित होना

पड़ता है। एक वन केवल विभिन्न पेड़ों के योग से ही नहीं बनता, बल्कि उसमें कुछ अनुशासन भी होता है, जिसे पहचानने की आवश्यकता होती है। एक अर्थव्यवस्था भी विभिन्न स्वतन्त्र आर्थिक इकाइयों का समूह मात्र नहीं होती है। पुराने उद्योग नष्ट होते रहते हैं और नये स्थापित होते रहते हैं और अर्थव्यवस्था निरंतर चलती रहती है। अतः सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के ज्ञान का अपना पृथक् महत्त्व भी होता है। समग्र में जो समरूपता होती है उसके अध्ययन से विशेष लाभ प्राप्त होता है, जैसे उपभोग फलन में देश की आय व उपभोग के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करके सम्पूर्ण उपभोग को प्रभावित करने की नीतियाँ अपनायी जा सकती हैं।

वैसे भी समग्र राशि की अपनी विशेषता होती है, जैसे समस्त उत्पादन का अनुमान लगाते समय हमें विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन का मूल्य मुद्रा में आँकना पड़ता है और फिर उसका जोड़ लगाना होता है। हम उपभोग की वस्तुओं व पूँजीगत वस्तुओं के मूल्य को जोड़ लेते हैं। वैयक्तिक कीमतों में कुछ बढ़ती हैं, कुछ घटती हैं, कुछ यथास्थिर रहती हैं, लेकिन यह ज्ञान भी सार्थक व आवश्यक होता है कि औसत रूप से मूल्यों में कैसी प्रवृत्ति पायी जाती है। यह समष्टि-अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आता है। इसे सामान्य रूप से मूल्य-स्तर का अध्ययन कहा जाता है।

इस प्रकार सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को अपने क्षेत्र में शामिल करने वाली बड़ी इकाइयों के स्वतन्त्र अध्ययन एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों की जानकारी का सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से महत्त्व होता है।

समष्टि-अर्थशास्त्र की सीमाएँ

(Limitations of Macro-economics)

(1) समष्टि-अर्थशास्त्र में जोड़कर परिणाम निकालने की प्रक्रिया बड़ी जटिल होती है—उदाहरण के लिए, विभिन्न वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य आँक कर उनकी सहायता से राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाना काफी कठिन होता है। सामान्य मूल्य-स्तर का पता लगाने के लिए थोक मूल्य-सूचनांक बनाये जाते हैं जिनमें भार-निर्धारण, वस्तुओं के चुनाव व कीमत-संग्रह को लेकर अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कई बिन्दुओं व कई चरणों पर 'औसतें' निकाली जाती हैं। सूचनांकों का विवेचन आगे चलकर एक स्वतन्त्र अध्याय में किया गया है।

(2) भ्रामक परिणाम निकाले जाने का भय—सांख्यिकीय विधियों से पूर्णतया परिचित न होने से कभी-कभी कुछ व्यक्ति 'समग्र' को देखकर गलत परिणाम भी निकाल लेते हैं। मान लीजिए, कृषि-पदार्थों के भाव घट गये हैं और औद्योगिक पदार्थों के भाव बढ़ गये हैं। ऐसी स्थिति में सामान्य कीमत-स्तर को लगभग स्थिर देखकर इन दोनों आर्थिक क्षेत्रों की विभिन्न व विपरीत दशाओं का ज्ञान नहीं हो सकेगा। हो सकता है कि एक का प्रभाव दूसरे के प्रभाव को मिटा दे। अतः ऐसी स्थिति में निष्कर्षों का सही अर्थ लगाना होता है जिसके लिए विशेष दक्षता व विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है।

(3) विशाल इकाइयों को आवश्यकतानुसार परिवर्तित करने में कठिनाइयाँ—किसी भी अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित बड़ी इकाइयों जैसे राष्ट्रीय आय, राष्ट्रीय उपभोग, राष्ट्रीय बचत व राष्ट्रीय विनियोग, आर्थिक विकास की वार्षिक दर, सामान्य मूल्य-स्तर, आदि को लक्ष्यों के

अनुसार बदल सकना काफी कठिन होता है। भारत जैसे देश में तो कई प्रकार के प्राकृतिक व भौतिक तत्त्व भी पाये जाते हैं जो लक्ष्यों के अनुसार प्रगति नहीं होने देते। फिर भी प्रभावपूर्ण आर्थिक नीतियाँ अपनाकर इन आर्थिक चलराशियों को परिवर्तित करने का प्रयास किया जाता है। इस सम्बन्ध में समष्टि अर्थशास्त्र निश्चित रूप से प्रभावपूर्ण नीतियाँ सुझाता है।

समष्टिगत विरोधाभास

(Macro-economic Paradoxes)

प्राय ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जिनमें जो बात 'अंश' (Part) के लिए सही होती है वह *कुल' (Whole) के लिए सही नहीं निकलती। इन्हें समष्टिमूलक विरोधाभास के मामले* अथवा 'जोड सम्बन्धी भ्रम' कहकर पुकारते हैं। मान लीजिए, एक व्यक्ति बचत करता है तो वह उसके लिए लाभप्रद सिद्ध होगी, लेकिन यदि समस्त राष्ट्र अधिक मात्रा में बचत करता है और उपभोग घटा देता है, तो इसका अर्थव्यवस्था पर घातक प्रभाव पडेगा, क्योंकि इससे *वस्तुओं की माँग कम हो जायेगी।* इसे 'बचत का विरोधाभास' **(Paradox of thrift or Savings)** कहकर भी पुकारा जाता है। इस प्रकार जो बात व्यक्ति विशेष के लिए उचित होती है वह समस्त राष्ट्र के लिए अनुचित हो सकती है। एक व्यक्ति बैंक से अपनी जमा राशि निकालने के लिए जाय तो कोई बात नहीं, लेकिन यदि सभी जमाकर्ता एक साथ अपनी जमा राशि को निकालना चाहेंगे तो बैंक वित्तीय सकट में पड सकते हैं, क्योंकि वे सब को एक साथ नकद राशि देने की स्थिति में नहीं होते हैं। इसी प्रकार सभी व्यक्ति एक साथ चलचित्र नहीं देख सकते एव सभी एक साथ यात्रा नहीं कर सकते, क्योंकि सिनेमा घरों व रेलों में सीटें सीमित होती हैं।

प्रोफेसर सेमुअल्सन के अनुसार कुछ समष्टिगत विरोधाभास इस प्रकार होते हैं—

(1) यदि सभी कृषक कठिन परिश्रम करते हैं और प्राकृतिक कारणों से फसल अच्छी होती है तो कृषकों की कुल आमदनी घट सकती है, क्योंकि कुल उत्पत्ति अधिक होने से पैदावार की कीमत कम हो जायेगी जिससे कृषकों की आय पर विपरीत प्रभाव पडेगा। इस प्रकार अकेले किसान की पैदावार बढने से तो उसकी आमदनी बढेगी, लेकिन सबकी पैदावार बढने से सब कृषकों के साथ उसकी आमदनी भी घट सकती है।

(2) एक व्यक्ति तो नौकरी की तलाश में चतुराई दिखाकर अथवा कम मजदूरी पर काम करना स्वीकार करके अपनी बेरोजगारी की समस्या हल कर लेता है, लेकिन सभी बेरोजगार व्यक्ति अपनी समस्या इस तरह से हल नहीं कर सकते। मौद्रिक मजदूरी में कमी होने से अर्थव्यवस्था में समग्र माँग घट जाती है जिससे बेरोजगारी बढती है। इस प्रकार एक उद्योग में मजदूरी कम होने से उसमें मजदूरों की माँग बढ सकती है, लेकिन सभी उद्योगों के लिये यह बात सही नहीं निकलती।

(3) एक उद्योग में ऊँची कीमतों से उसकी फर्में लाभान्वित होती हैं, लेकिन प्रत्येक वस्तु की कीमत के समान अनुपात में बढ जाने से किसी को लाभ नहीं होता।

(4) अमरीका को आयात किये गये माल पर शुल्क घटाने से लाभ होगा, चाहे अन्य देश अपने आयात शुल्क कम न करें।

(5) एक फर्म को औसत लागत से कम कीमत पर भी कुछ व्यवसाय करने में लाभ हो सकता है क्योंकि उसका बाजार से सम्पर्क बना रहता है।

(6) मन्दी की अवधि में व्यक्तियों की तरफ से अधिक बचत करने के प्रयास से समाज की कुल बचत कम हो सकती है।

(7) एक व्यक्ति के लिए अपनी आमदनी से अधिक व्यय करना मूर्खता की बात हो सकती है, लेकिन मंदी के समय एक देश के लिए सार्वजनिक ऋण में वृद्धि करना बुद्धिमत्ता मानी जा सकती है।

(8) यदि एक व्यक्ति को अधिक मुद्रा प्राप्त होती है तो उसकी स्थिति अच्छी हो जाती है, लेकिन सभी व्यक्तियों को अधिक मुद्रा मिलने से किसी की भी स्थिति बेहतर नहीं हो पायेगी (मुद्रास्फीति के कारण)।

आजकल इनमें से बिन्दु 1, 4, 6 व 8 पर अधिक बल दिया जाने लगा है। अर्थशास्त्र में इस तरह के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें एक बात एक व्यक्ति के लिए तो सही होती है, लेकिन समस्त समाज के लिए वह गलत होती है। इन दृष्टान्तों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे लिए एक पृथक् समष्टि-अर्थशास्त्र की आवश्यकता है। व्यष्टि-अर्थशास्त्र के परिणाम समष्टि अर्थशास्त्र पर सदैव एवं पूर्ण रूप से लागू नहीं होते।

व्यष्टि-अर्थशास्त्र व समष्टि-अर्थशास्त्र का आपसी सम्बन्ध

ऊपर हमने व्यष्टि-अर्थशास्त्र के उपयोगों पर प्रकाश डाला है। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि ये एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् हैं और परस्पर प्रभाव नहीं डालते हैं। वास्तव में इन दोनों में आपसी सम्बन्ध भी पाया जाता है। हम देख चुके हैं कि व्यष्टि-अर्थशास्त्र में कीमतों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है और उसका लक्ष्य कीमत-निर्धारण का विश्लेषण करना व विशिष्ट साधनों का विशिष्ट उपयोगों में आवंटन करना होता है। दूसरी तरफ समष्टिगत आर्थिक सिद्धान्तों का लक्ष्य राष्ट्रीय आय के स्तर पर तथा साधनों के समग्र उपयोग को निर्धारित करना होता है।

हैंडरसन व क्वान्ट के अनुसार, हम यह नहीं कह सकते कि आय की अवधारणाएँ व्यष्टि-सिद्धान्तों में नहीं होतीं, अथवा कीमतें समष्टि-सिद्धान्तों में नहीं होतीं। लेकिन व्यष्टि-सिद्धान्तों में व्यक्तियों की आमदनी का निर्धारण सामान्य कीमत-निर्धारण की प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है। व्यक्ति उत्पादन के साधन प्रदान करके अपनी आय प्राप्त करते हैं। इन साधनों की कीमतें अन्य कीमतों की भाँति ही निर्धारित होती हैं। दूसरी तरफ, कीमतें समष्टि-सिद्धान्तों में भी अपना महत्त्व रखती हैं, लेकिन समष्टि-सिद्धान्त के समर्थक प्रायः व्यक्तिगत कीमतों के निर्धारण की उन समस्याओं से दूर होते हैं जो कीमत-सूचकांकों के माध्यम से जानी जाती हैं।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आय की चर्चा एक विशेष रूप में व्यष्टि-सिद्धान्त में भी होती है, हालांकि मुख्यतया यह विषय समष्टि-सिद्धान्त का माना गया है। इसी प्रकार कीमतों की चर्चा समष्टि-सिद्धान्त में भी होती है, हालांकि मुख्यतया यह विषय व्यष्टि-सिद्धान्त का माना गया है। इससे इन दोनों शाखाओं की परस्पर निर्भरता स्पष्ट हो जाती है। व्यष्टि-अर्थशास्त्र के कुछ विषयों, जैसे लाभ के सिद्धान्त अथवा ब्याज के सिद्धान्त को समझने के लिए समष्टि-अर्थशास्त्र का सहारा लेना पड़ता है।

गार्डनर ऐक्ले के अनुसार, समष्टि-अर्थशास्त्र व व्यष्टि-अर्थशास्त्र के बीच कोई सुनिश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती। अर्थव्यवस्था के एक सच्चे 'सामान्य' सिद्धान्त में स्पष्टतः दोनों

शामिल होते हैं। लेकिन सार्थक परिणामों पर पहुँचने के लिए समष्टिगत आर्थिक समस्याओं का हल समष्टिगत उपकरणों से, एवं व्यष्टिगत आर्थिक समस्याओं का हल व्यष्टिगत उपकरणों से ही निकाला जाना चाहिए।

सेमुअल्सन का मत है कि **'वास्तव में व्यष्टि-अर्थशास्त्र और समष्टि-अर्थशास्त्र में कोई विरोध नहीं है। दोनों अत्यन्त आवश्यक है। यदि आप एक को समझते है और दूसरे से अनभिज्ञ रहते है तो आप केवल अर्द्ध-शिक्षित है।'**

अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमें व्यष्टि-अर्थशास्त्र का अध्ययन तो वस्तुओं व साधनों की सापेक्ष कीमतें निर्धारित करने के लिए करना चाहिए और समष्टि-अर्थशास्त्र का अध्ययन सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के लिए करना चाहिए। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, लेकिन दोनों में जो मूलभूत अन्तर हैं उन्हें भी नहीं भुलाया जाना चाहिए। एक विशेष अध्ययन में हमारा ध्यान या तो व्यष्टि-समस्या पर केन्द्रित होगा अथवा समष्टि-समस्या पर। लेकिन इन दोनों क्षेत्रों को एक-दूसरे से पृथक् मानने की भूल कभी नहीं की जानी चाहिए।

स्थैतिक व प्रावैगिक विश्लेषण

(Static and Dynamic Analysis)

आर्थिक विश्लेषण के सम्बन्ध में प्राय तीन विधियों की चर्चा की जाती है—(1) स्थैतिक विश्लेषण (*static analysis*), (2) तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण (*comparative static analysis*), और (3) प्रावैगिक या गत्यात्मक विश्लेषण (dynamic analysis)। ये शब्द भौतिक विज्ञानों व गणित में भी प्रयुक्त होते हैं, लेकिन अर्थशास्त्र में इनको विशेष अर्थों में प्रयुक्त किया गया है। हम नीचे इनके अर्थ व अर्थशास्त्र में इनके प्रयोगों का अध्ययन करेंगे।

1. स्थैतिक विश्लेषण अथवा स्थैतिकी (Statics)

स्थैतिक विश्लेषण समयरहित होता है तथा कुछ तत्वों को दिया हुआ मानकर चलता है—स्थैतिक विश्लेषण में विभिन्न चलराशियों (variables) के मूल्यों में जो सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं वे एक ही समय बिन्दु (same point of time) या एक ही समयावधि (same period of time) से सम्बद्ध होते हैं। इसीलिए स्थैतिक विश्लेषण को समयरहित (timeless) विश्लेषण कहा गया है। हम जानते हैं कि बाजार माँग वक्र व बाजार पूर्ति-वक्र के परस्पर कटाव से एक वस्तु की सन्तुलन कीमत व सन्तुलन मात्रा निर्धारित होती है। यह व्यष्टि-अर्थशास्त्र में स्थैतिक विश्लेषण का सरलतम उदाहरण माना गया है। स्थैतिक विश्लेषण में सन्तुलन के नियमों का अध्ययन किया जाता है। इसमें हम कुछ तत्वों को दिया हुआ मानकर उनके परिणामों का अध्ययन करते हैं। कीमत सिद्धान्त में माँग व पूर्ति वक्रों के दिये जाने पर, एक वस्तु की कीमत उस स्थान पर निर्धारित होती है जहाँ माँग की कुल मात्रा पूर्ति की कुल मात्रा के बराबर होती है। यहाँ पर हम माँग व पूर्ति वक्रों को प्रभावित करने वाले तथ्यों को स्थिर मान लेते हैं। जैसे माँग को प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्व जनसंख्या का आकार, आय, रुचि, अन्य वस्तुओं की कीमतें, आदि स्थिर मान लिये जाते हैं। इसी प्रकार पूर्ति को प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्व जैसे प्राकृतिक साधन, जनसंख्या, पूँजी, तकनीकी ज्ञान, आदि भी स्थिर मान लिये जाते हैं। इन विभिन्न तत्वों को स्थिर मानकर

हम सन्तुलन-कीमत का अध्ययन करते हैं। स्मरण रहे कि यह सन्तुलन एक स्थिर किस्म का सन्तुलन (stable equilibrium) होता है। यदि इसमें कोई हलचल पैदा होती है तो इस प्रकार का सतुलन पुन अपने आप स्थापित होने का प्रयास करता है। जैसे बाजार में वस्तु की कीमत माँग व पूर्ति की शक्तियों से उस स्थान पर निर्धारित होती है जहाँ कुल माँग कुल पूर्ति के बराबर होती है। अब कल्पना कीजिए कि किसी कारण से वस्तु की कीमत बढ जाती है तो माँग की मात्रा व पूर्ति की मात्रा में अन्तर उत्पन्न हो जायेगा। बढी हुई कीमत पर माँग में कमी आयेगी तथा पूर्ति बढायी जायेगी। पूर्ति के बढने पर कीमत में गिरने की प्रवृत्ति लागू होगी तथा माँग में भी कुछ वृद्धि होगी। इस प्रकार आगे चलकर पुन नया सन्तुलन स्थापित हो जायगा। इसीलिए इसे स्थिर सन्तुलन कहा गया है।

स्टोनियर व हेग के अनुसार, 'स्थैतिक विश्लेषण के अन्तर्गत जिस प्रश्न का विवेचन किया जाता है, वह यह बतलाता है कि माँग व पूर्ति-वक्रों के दिये हुए और अपरिवर्तित रहने पर, बाजार मे सन्तुलन-कीमत कैसे निर्धारित होती है। इस प्रकार स्थैतिक विश्लेषण हमें यह दर्शाता है कि उपभोक्ता, फर्में, उद्योग व सम्पूर्ण अर्थव्यवस्थाएँ कीमत, उत्पत्ति, आय व रोजगार के कुछ स्तरों पर कैसे स्थिर, अथवा स्थैतिक सन्तुलन मे रह सकते हैं।'[1] इस प्रकार स्थैतिक अर्थशास्त्र में हम अर्थव्यवस्था के कुछ आधारभूत तत्वों को दिया हुआ व ज्ञात मान लेते हैं। उदाहरण के लिए, इसमें जनसख्या का आकार व योग्यता, प्राकृतिक साधनों की मात्रा, उपभोक्ता की रुचि आदि को ले सकते हैं। ये आधारभूत तथ्य विभिन्न वस्तुओं की उत्पत्ति, उनकी कीमतें व उत्पादन के साधनों की आय के स्तर को निर्धारित करते हैं।

स्थैतिक अर्थशास्त्र का स्थिर स्थिति की अवधारणा से गहरा सम्बन्ध होता है। बोल्डिंग के अनुसार स्थिर अवस्था में जनसख्या की मात्रा, आयु-रचना व दक्षता, पूँजीगत-पदार्थों का भण्डार व बनावट आदि उत्पादन के साधन स्थिर रहते हैं। उत्पादन उपभोग के बराबर होता है। कीमतें स्थिर होती हैं। समाज के ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती। वहाँ कोई विकास नहीं होता। समाज की सम्पूर्ण क्रियाएँ केवल क्षतिपूर्ति में ही लगी रहती हैं।[2] शुम्पीटर के अनुसार, स्थिर अवस्था में अर्थव्यवस्था केवल पुनरुत्पादन (reproduction) करती है। यह विकास का कार्य नहीं कर पाती। उदाहरण के लिए, जितनी मशीनों का मूल्य-ह्रास होता है, उतनी ही मशीनों का नया निर्माण हो पाता है, जिससे पूँजी-निर्माण की गति भी स्थिर बनी रहती है।

स्थैतिक अर्थशास्त्र में साधारणतया समय-तत्व नहीं होता, लेकिन कुछ विद्वानों का मत है कि फसलों के उत्पादन में जो समय समय पर उतार चढाव आते हैं वे स्थैतिक अर्थशास्त्र में आयेंगे, क्योंकि ये उतार चढाव उत्पादन की विधियों, पूँजी आदि के स्थिर रहते हुए, केवल मौसम के परिवर्तनों के कारण ही आते हैं। वहाँ उत्पादन को प्रभावित करने वाले आधारभूत

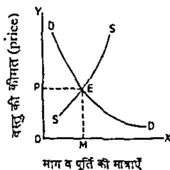
1 'Static analysis discusses the question of how, for example, an equilibrium price is arrived at in a market where the demand and supply curves are known and remain unchanged. Static analysis enables us to analyse a situation where consumers, firms, industries and whole economies are in stable, or static, equilibrium at certain levels of prices output, income and employment.' –Stonier and Hague, a Text Book of Economic Theory, 5th ed., 1980 p 605

2 K.E. Boulding Economic Analysis Vol. I p 79

तत्वों में कोई परिवर्तन नहीं होता। रोबर्ट डोर्फमैन ने ठीक ही कहा है कि 'स्थैतिकी का आर्थिक विश्लेषण के उन भागो से सम्बन्ध होता है जो बाजार के सन्तुलन-मूल्यों का निर्धारण करते है और उन परिवर्तनो पर विचार करते है जो बाजार के बाहर की बदलती हुई परिस्थितियो से उत्पन्न होते है।'[1] इस प्रकार स्थैतिकी में भी बाजार के बाहर की बदलती हुई परिस्थितियों, जैसे मौसम के परिवर्तन शामिल किये जाते हैं।

प्रोफेसर हिक्स ने अपनी पुस्तक 'Value and Capital' में कहा है कि *'मै आर्थिक स्थैतिकी (economic statics) आर्थिक सिद्धान्त के उन भागो को कहता हूँ जहाँ हमे तिथि सूचित करने (dating) की कोई परवाह नही होती, आर्थिक प्रावैगिकी (economic dynamics) उन भागों को कहता हूँ जहाँ प्रत्येक सख्या की तिथि सूचित करनी आवश्यक होती है।*[2] हम आगे चलकर देखेंगे कि आधुनिक अर्थशास्त्री हिक्स की प्रावैगिक अर्थशास्त्र की परिभाषा से पूर्णतया सहमत नही हैं, क्योंकि उनके अनुसार इसमें केवल तिथि को सूचित करना ही पर्याप्त नहीं होता है, बल्कि विभिन्न तिथियों या समयों के सन्दर्भ में विभिन्न चलराशियों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना प्रावैगिक अर्थशास्त्र की एक आवश्यक शर्त मानी जाती है।

स्थैतिक विश्लेषण का अर्थशास्त्र मे प्रयोग–अर्थशास्त्र में एक निश्चित समय पर माँग व पूर्ति की अनुसूचियों के दिये हुए होने पर कीमत निर्धारण का प्रश्न स्थैतिक विश्लेषण में आता है। इसके अतिरिक्त उपयोगिता-ह्रास-नियम, तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त व केन्स का राष्ट्रीय आय के निर्धारण का विश्लेषण भी इसी के अन्तर्गत आते हैं।



चित्र 1–स्थैतिक सन्तुलन (*Static equilibrium*)

प्रो. मार्शल का अधिकाश विश्लेषण स्थैतिक ही रहा है, हालाकि उसने कीमत सिद्धान्त में अल्पकाल व दीर्घकाल का समावेश करके प्रावैगिक सिद्धान्त की ओर जाने का प्रयास अवश्य किया था।

---

1 Robert Dorfman, Prices and Markets, Second edition 1972, p 11

2 I call *Economic Statics those part of economic theory where we do not trouble about dating Economic Dynamics those parts where every quantity must be dated* –J R. Hicks, Value and Capital, p 115

संलग्न चित्र की सहायता से व्यष्टि अर्थशास्त्र में स्थैतिक विश्लेषण का प्रयोग समझाया गया है।

पहले बताया जा चुका है कि कुछ बातों को स्थिर मानकर माँग व पूर्ति वक्र बनाये जाते हैं। उनके कटाव से E बिन्दु पर सन्तुलन-कीमत OP और माँग व पूर्ति की मात्रा OM निर्धारित होते हैं। यहाँ दिये हुए समय में OP कीमत पर माँग की मात्रा पूर्ति की मात्रा के बराबर होती है।

मर्यादाएँ-स्थैतिक विश्लेषण सरल होता है और यह अर्थव्यवस्था की कार्य-प्रणाली को समझने में सहायता पहुँचाता है। लेकिन इसकी निम्न मर्यादाएँ होती हैं–

(i) आर्थिक विकास को समझने में अनुपयुक्त–यह वास्तविकता से परे होता है। आजकल अर्थशास्त्र में आर्थिक विकास के अध्ययन का महत्त्व बढ़ गया है। इसमें प्रावैगिक विश्लेषण का उपयोग किया जाता है।

(ii) विभिन्न समयों के अध्ययन में अनुपयुक्त–प्रावैगिक अर्थशास्त्र में भूत, वर्तमान व भविष्य के बीच सम्बन्ध स्थापित किया जाता है और आर्थिक चलराशियों के भावी अनुमान लगाये जा सकते हैं। लेकिन स्थैतिक अर्थशास्त्र में यह कार्य नहीं हो सकता। अतः स्थैतिक आर्थिक विश्लेषण अध्ययन में सहायक तो होता है, लेकिन नीति-निर्धारण में आजकल प्रावैगिक अर्थशास्त्र का महत्व बहुत बढ़ गया है।

रोबर्ट डोर्फमैन ने स्थैतिकी के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि 'स्थैतिकी प्रावैगिकी से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। अंशतः तो इसका कारण यह है कि अधिकांश मानवीय विषयों में अन्तिम स्थिति का ही विशेष महत्त्व होता है। अंशतः इसका कारण यह भी है कि अन्तिम सन्तुलन ही उन समय-पथों या मार्गों (time-paths) को गहराई से प्रभावित करता है जो इस तक पहुँचने के लिए अपनाये जाते हैं, जबकि इसके विपरीत दिशा में प्रभाव काफी कमजोर पाया जाता है। स्थैतिकी (statics) प्रावैगिकी से काफी आसान भी होती है और यह काफी विकसित भी हो चुकी है।'[1]

इस प्रकार डोर्फमैन का मत है कि अन्तिम सन्तुलन का अधिक महत्त्व होने के कारण स्थैतिकी का महत्त्व बढ़ गया है। स्थैतिकी उन समय पथों को तो नहीं समझाती जो अन्तिम सन्तुलन पर ले जाते हैं, लेकिन स्वयं अन्तिम सन्तुलन का उन समय-पथों पर प्रबल रूप से प्रभाव पड़ता है। इससे स्थैतिक विश्लेषण की उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है।

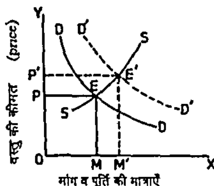
2. तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण (Comparative Static Analysis) अथवा तुलनात्मक स्थैतिकी (Comparative Statics)

इसमें हम एक सन्तुलन से दूसरे सन्तुलन पर जाते हैं और उनकी परस्पर तुलना करते हैं। यह स्थैतिक विश्लेषण व प्रावैगिक विश्लेषण के बीच की अवस्था होती है। इसमें एक तत्त्व के परिवर्तन के पथ पर कोई विचार नहीं किया जाता। यह स्थैतिक तो इसलिए है कि इसमें समय-तत्त्व की ओर ध्यान नहीं दिया जाता और तुलनात्मक इसलिए है कि इसमें दो सन्तुलन दशाओं की तुलना की जाती है।

रिचर्ड जी लिप्से के अनुसार–तुलनात्मक स्थैतिकी में हम सन्तुलन की एक स्थिति से आरम्भ करते हैं और उसमें वह परिवर्तन शामिल करते हैं जिसका अध्ययन किया जाना है।

1 Robert Dorfman, op cit., p 11

तब नई संतुलन की दशा निर्धारित होती है और इसकी प्रारम्भिक संतुलन से तुलना की जाती है। संतुलन की दोनों दशाओं के बीच जो अंतर उत्पन्न होते है वे उस परिवर्तन के कारण होते हैं जिसका समावेश किया गया था, क्योंकि बाकी सब चीजों को तो यथास्थिर रखा गया था।[1]



चित्र 2-तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण का उदाहरण

मार्शल ने कीमत सिद्धान्त में तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण का उपयोग किया था। स्थैतिक विश्लेषण में माँग व पूर्ति की दशाएँ दी हुई होती हैं, लेकिन तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण में इनमें परिवर्तन होने दिया जाता है और नये सन्तुलन की तुलना पुराने सन्तुलन से की जाती है। तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण का अर्थ उपर्युक्त चित्र से स्पष्ट हो जायेगा।

चित्र 2 में माँग वक्र के DD से बदलकर D^1 D^1 हो जाने से नया सन्तुलन E^1 पर स्थापित होता है जहाँ कीमत OP^1 व माँग व पूर्ति मात्राएँ OM^1 हो जाती हैं, जो E की तुलना में अधिक होती हैं।

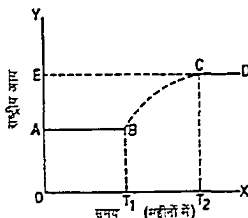
तुलनात्मक स्थैतिकी का समष्टि-अर्थशास्त्र में उपयोग-व्यष्टि अर्थशास्त्र के अलावा समष्टि-अर्थशास्त्र में इस विधि के प्रयोग का श्रेय लॉर्ड केन्स को दिया जा सकता है। उसने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'General Theory of Employment, Interest and Money' (1936) में तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण का उपयोग किया था। इसमें विनियोग की वृद्धि का प्रभाव आय पर दिखलाया गया है और इस सम्बन्ध में गुणक (*multiplier*) की अवधारणा का उपयोग किया गया है। गुणक का अर्थ है विनियोग में वृद्धि होने से आय अन्त में कितनी बढती है, जैसे 100 रुपये के विनियोग से यदि आय 300 रुपये बढती है, तो गुणक 3 हुआ।

तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण क्या करता है और क्या नहीं करता है यह सलग्न चित्र से समझा जा सकता है।[2]

चित्र में राष्ट्रीय आय OY-अक्ष पर और समय OX-अक्ष पर मापे गये हैं। हम मान

1 Richard G Lipsey and K. Alec Chrystal. An Introduction to Positive Economics, 8th ed. 1995 p 876

2 Stonier and Hague op cit., pp 586-87



चित्र 3—तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण का दूसरा उदाहरण
(समष्टि-अर्थशास्त्र के क्षेत्र से)

लेते हैं कि प्रारम्भ में राष्ट्रीय आय OA (अथवा BT_1) है जो O से T_1 तक स्थिर रहती है, अर्थात् इस अवधि में राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर शून्य रहती है। T_1 बिन्दु पर सरकार कुछ विनियोग बढ़ाती है और इसे लगातार बढ़ाती जाती है और T_2 समय में आय अपने नये स्थिर सन्तुलन OE (अथवा CT_2) पर पहुँच जाती है। T_2 पर पुनः आय की वृद्धि-दर शून्य हो जाती है। राष्ट्रीय आय T_1 से T_2 अवधि के बीच में AE मात्रा तक बढ़ी। यहाँ हमने आय की दो स्थिर मात्राओं-OA और OE की तुलना की है। तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण में आय के परिवर्तन के मार्ग BC का अध्ययन नहीं किया जाता। यह काम प्रावैगिक अर्थशास्त्र का होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण में दो सन्तुलन की दशाओं की तुलना की जाती है, लेकिन परिवर्तन के मार्ग पर कोई विचार नहीं किया जाता।

तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण की मर्यादाएँ-(1) आर्थिक परिवर्तनों के अध्ययन के लिए अनुपयुक्त-स्थैतिक विश्लेषण की भाँति तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण भी आर्थिक उतार-चढ़ावों व आर्थिक प्रगति के अध्ययन में सहायता नहीं कर सकता। अतः इसका भी सीमित प्रयोग ही हो पाता है।

(2) परिवर्तन के मार्ग पर विचार नहीं करता-जैसा कि ऊपर बतलाया गया है कि यह परिवर्तन के मार्ग का अध्ययन नहीं करता जो बहुत आवश्यक होता है। यह तो केवल एक सन्तुलन के स्तर की तुलना दूसरे सन्तुलन के स्तर से करता है।

(3) अकार्यकुशल विश्लेषण-विधि-तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण यह भी नहीं बतला सकता कि एक विशेष सन्तुलन की स्थिति कभी प्राप्त कर ली जायेगी अथवा नहीं।

3. प्रावैगिक विश्लेषण अथवा प्रावैगिकी (Dynamics)

प्रावैगिक अर्थशास्त्र अथवा आर्थिक प्रावैगिकी में आधारभूत तत्व जैसे जनसंख्या का आकार व योग्यता, प्राकृतिक साधनों की मात्रा, उपभोक्ता-वर्ग की रुचि, पूँजी, तकनीकी ज्ञान आदि बदले जा सकते हैं और इनके परिवर्तनों का प्रभाव उत्पत्ति के परिवर्तन की दर पर देखा

जाता है। केम्ब्रिज अर्थशास्त्री आर.एफ. हैरड (R F Harrod) के अनुसार, प्रावैगिक अर्थशास्त्र में परिवर्तन की दर के परिवर्तन (Change in the rate of change) का अध्ययन किया जाता है। जैसे राष्ट्रीय आय 2 प्रतिशत सालाना से बढती हुई 6 प्रतिशत सालाना तक जा सकती है, अथवा पहले 6 प्रतिशत बढ सकती है और आगे चलकर 2 प्रतिशत बढ सकती है, आदि। इस प्रकार हैरड के अनुसार, 'प्रावैगिकी उस *अर्थव्यवस्था का* अध्ययन करती है जिसमे उत्पत्ति की दरें परिवर्तित हो रही है।'[1] अत प्रावैगिक अर्थशास्त्र में परिवर्तन की दर के उतार चढावों का अध्ययन किया जाता है।

प्रोफेसर हिक्स के अनुसार, प्रावैगिक अर्थशास्त्र में समय तत्त्व या तिथिकरण (dating) होता है और परिवर्तन के मार्ग का भी अध्ययन किया जाता है।

रिचर्ड जी लिप्से के मतानुसार, 'प्रावैगिक विश्लेषण प्रणालियों के उस व्यवहार का अध्ययन करता है जो असन्तुलन की दशाओं से सम्बन्धित होता है।'[2]

प्रोफेसर रैग्नर फ्रिश ने प्रावैगिक विश्लेषण की मुख्य विशेषता यह बतलायी है कि इसमें चलराशियों का सम्बन्ध विभिन्न अवधियों के सन्दर्भ में देखा जाता है, जैसे इस वर्ष का उपभोग (Consumption) पिछले वर्ष की आमदनी पर निर्भर करे तो यह प्रावैगिक विश्लेषण का अंग माना जायेगा।

फ्रिश के अनुसार, 'एक प्रणाली उस स्थिति में प्रावैगिक हो जाती है जबकि एक समयावधि में इसका व्यवहार ऐसे कार्यात्मक समीकरणों (*Functional equations*) से निर्धारित हो जिनमें चलराशियाँ विभिन्न समयों के सन्दर्भ में शामिल होती हैं।'[3]

फ्रिश ने एक दूसरे लेख में भी प्रावैगिक मॉडल उसे बतलाया है जिसमें एक समयावधि में चलराशियों के मूल्य किसी दूसरी समयावधि की कुछ चलराशियों के मूल्यों अथवा कुछ प्राचलों (Parameters) के मूल्यों से सम्बद्ध होते हैं।[4]

इस प्रकार फ्रिश व सेमुअल्सन आदि ने प्रावैगिक अर्थशास्त्र में विभिन्न समयों में चलराशियों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक माना है। अत प्रावैगिक अर्थशास्त्र में (अ) चलराशियों के परिवर्तन की बदलती हुई दरों, तथा (आ) विभिन्न समयों के सन्दर्भ में चलराशियों के परस्पर सम्बन्धों पर ध्यान आकर्षित किया जाता है।

1 'Dynamics studies an economy in which rates of output are changing'–R F Harrod Towards a Dynamic Economics, p 4

2. 'Dynamic analysis is the study of the behaviour of systems in states of disequilibrium'–Richard G Lipsey, An Introduction to Positive Economics 7th ed 1989, p 120

3 'A system is dynamical if its behaviour over time is determined by *functional equations in which variables at different points of time are* involved in an essential way'–Ragnar Frisch, in Economic Essays in Honour of Gustav Cassel 1933

4 A Dynamic Model in one in which the values of the variables in one period are related to the values of some of the variables, or to the values of some of the parameters, in another period' Ragnar Frisch, 'On the Notion of Equilibrium and Disequilibrium.' Review of Economic Studies, 1936, Vol 3, pp 100-105

प्राचल (parameters) वे राशियाँ होती हैं जो पहले स्वयं निर्धारित की जाती हैं, जैसे कीमतें, आदि।

अर्थशास्त्र में प्रावैगिकी का उपयोग-प्रावैगिक विश्लेषण की सहायता से आर्थिक उतार-चढाव व आर्थिक प्रगति का अध्ययन किया जाता है। 1930 की दशाब्दी व 1940 की दशाब्दी के प्रारम्भ में इनके सम्बन्ध में कई सिद्धान्तों को विकसित किया गया था। फ्रिश, केलेस्की व सेमुअल्सन ने आर्थिक उतार-चढावों के सम्बन्ध में गणितीय विश्लेषण प्रस्तुत किये हैं। इनसे आर्थिक जगत की वास्तविकता का पूरी तरह से विवेचन तो नहीं हो सका है, लेकिन आर्थिक उतार-चढावों के कारणों को समझने में काफी सहायता मिली है।

दूसरी ओर इंग्लैण्ड में सर रॉय हैरड व अमरीका में डोमर ने आर्थिक विकास का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, जो प्रावैगिकी या प्रावैगिक अर्थशास्त्र पर आधारित है।

प्रावैगिक विश्लेषण में आय (उत्पत्ति) के अलावा जनसख्या, पूँजी-सग्रह, तकनीकी प्रगति, आदि तत्त्वों में होने वाले परिवर्तनों पर भी ध्यान दिया जाता है। अर्थशास्त्र में ब्याज के सिद्धान्त, लाभ के सिद्धान्त आदि में भी प्रावैगिक विश्लेषण प्रयुक्त किया जाता है। जैसा कि पहले कहा गया है इस विश्लेषण में आज की एक आर्थिक चलराशि का सम्बन्ध पिछली अवधि की किसी दूसरी आर्थिक चलराशि से स्थापित किया जा सकता है। जैसे वर्तमान अवधि में आमदनी पिछली अवधि में किये गये विनियोग की मात्रा पर निर्भर करती है। इसे निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है–

$$Y_t = f(I_{t-1})$$

जहाँ y आमदनी, I विनियोग, t वर्तमान समय, t-1 पिछली अवधि को सूचित करते हैं और f का अर्थ फलन (Function) है। यदि 1995 के वर्ष की राष्ट्रीय आय 1994 में किये गये विनियोग पर निर्भर करती है तो यह सम्बन्ध उपर्युक्त फलन की सहायता से प्रस्तुत किया जा सकता है।

इसी तरह उद्यमकर्ता विनियोग-सम्बन्धी निर्णय लेते समय भविष्य की माँग के अनुमानों से भी प्रभावित होते हैं। इस प्रकार प्रावैगिक अर्थशास्त्र में विभिन्न राशियों में भूत, वर्तमान व भविष्य के संदर्भ में अध्ययन किया जाता है। प्रावैगिक विश्लेषण अधिक व्यावहारिक व वास्तविक होता है। आजकल इसका महत्त्व दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। आर्थिक नियोजन के अपनाये जाने से समग्र अर्थशास्त्र और प्रावैगिक अर्थशास्त्र दोनों को काफी बढ़ावा मिला है।

यहाँ पूर्ववर्णित माँग व पूर्ति-वक्रों के सन्दर्भ में प्रावैगिक विश्लेषण को स्पष्ट किया जाता है। इस प्रकार के विश्लेषण में परिवर्तन के मार्गों को दिखाया जाता है। इस सम्बन्ध में चित्र 4 व 5 पर ध्यान दिया जाना चाहिए। इनमें वर्तमान अवधि की पूर्ति पिछली अवधि की कीमत पर निर्भर मानी गयी है, लेकिन वर्तमान अवधि की माँग वर्तमान कीमत पर निर्भर करती है।

तन्तुजाल (The Cobweb)[1]

तन्तुजाल एक प्रकार का मकड़ी का जाला होता है।

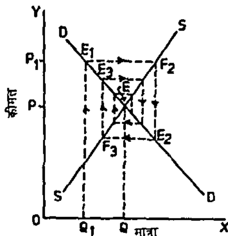
यहाँ हम दो प्रकार के तन्तुजालों का उल्लेख करेंगे। प्रथम को स्थिर तन्तुजाल (Stable cobweb) कहते हैं, जिसमें सन्तुलन एक बार भग होने पर पुन स्थापित हो जाता है। दूसरे

1. Richard G Lipsey, An Introduction to Positive Economics, 7th ed., 1989, pp. 121-122.

को अस्थिर तन्तुजाल (Unstable Cobweb) कहते हैं जिसमें एक बार सन्तुलन भंग होने पर पुन स्थापित नहीं हो पाता, तथा वास्तविक कीमत व वस्तु की मात्राएँ अपने सन्तुलन स्तर से उत्तरोत्तर अधिक दूर होती जाती हैं। ये दोनों प्रकार के तन्तुजाल प्रावैगिक विश्लेषण में शामिल होते हैं।

अब हम एक वस्तु की कीमत के निर्धारण में दोनों प्रकार के तन्तुजालों का वर्णन करेंगे

(1) स्थिर तन्तुजाल (Stable Cobweb)—चित्र 4 में प्रारम्भिक सन्तुलन E बिन्दु पर है जहाँ सन्तुलन मात्रा OQ है। मान लीजिए, किसी कारण से पूर्ति घटकर OQ_1 पर आ जाती है तो तुरन्त कीमत OP से बढकर OP_1 अथवा E से बढकर E_1 हो जायेगी। बढी हुई कीमत से प्रभावित होकर उत्पादक अगली अवधि में पूर्ति बढाकर F_2 कर देंगे जिससे कीमत

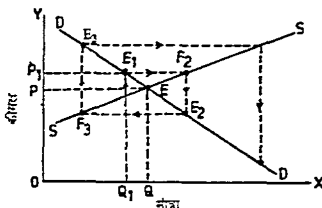


चित्र 4—प्रावैगिक विश्लेषण का उदाहरण · स्थिर तन्तुजाल (A stable cobweb)

घटकर E_2 हो जायेगी। इसके फलस्वरूप अगली अवधि में पूर्ति F_3 और कीमत E_3 का क्रम जारी रहेगा और अन्त में पुन E बिन्दु पर सन्तुलन स्थापित हो जायेगा। इस प्रकार इस विशेष स्थिति में E की ओर पुन सन्तुलन के स्थापित होने की प्रवृत्ति होगी। इसलिए इसे स्थिर तन्तुजाल (stable cobweb) कहा गया है।

स्मरण रहे कि यहाँ $S_t = f\ p_{t-1}$ की मान्यता स्वीकार की गई है, जिसका अर्थ यह है कि वर्तमान अवधि में पूर्ति की मात्रा पिछली अवधि की कीमत पर निर्भर करती है। लेकिन $D_t = f\ (p_t)$ मानी जाती है, जिसका अर्थ है कि वर्तमान अवधि में माँग की मात्रा वर्तमान अवधि की कीमत पर निर्भर करती है।

(2) अस्थिर तन्तुजाल (Unstable Cobweb)—चित्र 5 में अस्थिर तन्तुजाल का वर्णन किया गया है। यहाँ पूर्ति वक्र माँग वक्र से ज्यादा चपटा (Flatter) होता है। यहाँ भी प्रारम्भिक सन्तुलन E पर है जहा SS वक्र DD वक्र को काटता है। यहाँ पर वस्तु की सन्तुलन मात्रा OQ होती है। मान लीजिए, किसी कारण से पूर्ति घटकर OQ_1 पर आ जाती है तो तुरन्त कीमत OP से बढकर OP_1 अथवा E से बढकर E_1 हो जायेगी। बढी हुई



चित्र 5– प्रावैगिक विश्लेषण का उदाहरण : अस्थिर तन्तुजाल
(An unstable cobweb)

कीमत से प्रभावित होकर उत्पादक अगली अवधि में पूर्ति बढ़ाकर F_2 कर देंगे। इससे कीमत घटकर E_2 हो जायेगी। इसके फलस्वरूप अगली अवधि में पूर्ति घटकर F_3 हो जायेगी और कीमत बढ़कर E_3 हो जायेगी और यह क्रम आगे भी जारी रहेगा। इस प्रकार इस उदाहरण में एक बार असन्तुलन प्रारम्भ होने पर वह निरंतर आगे बढ़ता ही जाता है। इसलिए इसे अस्थिर तन्तुजाल का नाम दिया गया है। अर्थशास्त्र के उच्च अध्ययन में इन प्रश्नों की जाँच की जायेगी कि यह असन्तुलन कहाँ तक बढ़ता जायेगा और किस स्थान पर जाकर रुकेगा। फिलहाल हमारे लिए यही जानना पर्याप्त होगा कि यह तन्तुजाल पिछले तन्तुजाल से भिन्न है, क्योंकि इसमें एक बार हलचल प्रारम्भ होने पर वह निरन्तर बढ़ती ही जाती है। ऐसा माँग-वक्र व पूर्ति-वक्र की विशेष आकृतियों के कारण होता है।

प्रावैगिक विश्लेषण की कठिनाइयाँ–प्रावैगिक विश्लेषण व्यवहार में बहुत उपयोगी होता है, लेकिन यह काफी जटिल भी होता है। इसका उपयोग प्राय विशेषज्ञ ही कर पाते हैं। इसमें 'अन्य बातें समान रहने' नामक धारणा का प्रयोग नहीं किया जाता। इसमें समय-तत्त्व (time element) के प्रवेश से जटिलताएँ बढ़ जाती हैं। इसमें एक सीमा के बाद उच्चस्तरीय गणित का प्रयोग भी आवश्यक हो जाता है। विलियम जे बौमल ने प्रावैगिक आर्थिक विश्लेषण में विस्तृत रूप से अन्तर-समीकरणों (Difference Equations) की गणित का उपयोग किया है।[1] आधुनिक अर्थशास्त्री प्रावैगिक विश्लेषण का निरंतर विकास करते जा रहे हैं। इसमें गणित का प्रयोग उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है।

निष्कर्ष–

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थैतिक विश्लेषण में मूलभूत तत्त्व दिये हुए मानकर उनके परिणाम निकाले जाते हैं। इसमें एक विशेष समय में ही सन्तुलन का अध्ययन किया जाता है। तुलनात्मक स्थैतिकी में दो समयों के सन्तुलनों की परस्पर तुलना की जाती है, लेकिन प्रगति के पथ का विश्लेषण नहीं किया जाता। प्रावैगिक विश्लेषण में

1 William J Baumol, Economic Dynamics - An Introduction, 3rd edition, 1970

समय तत्व का प्रवेश हो जाता है और असन्तुलन की दशाओं का अध्ययन किया जाता है। इसमे परिवर्तन के पथ का भी विश्लेषण किया जाता है, जो चित्र 4 व 5 में तीरों की सहायता से दिखाया गया है।

आंशिक व सामान्य सतुलन

(Partial and General Equilibrium)

सतुलन का अर्थ–अर्थशास्त्र में अनेक जगह सतुलन की चर्चा आती है जैसे उपभोक्ता का सतुलन, उत्पादक या फर्म का सतुलन, उद्योग का सतुलन, सतुलन-कीमत, सतुलन विनिमय की दर, श्रम बाजार या पूँजी बाजार में संतुलन, मौद्रिक सतुलन, आदि, आदि। इसलिये सतुलन की अवधारणा से परिचित होना आवश्यक है।

संतुलन की अवधारणा हमें उस दिशा की ओर सकेत करती है, जिस तरफ आर्थिक प्रक्रियाएँ (economic processes) गतिमान होती है। सतुलन का महत्त्व इसलिए नहीं है कि वह वास्तव में प्राप्त हो जाता है, बल्कि इसलिए है कि उसकी तरफ जाने की प्रवृत्ति रहती है। *उदाहरण के लिए, वस्तु की माँग उस बिन्दु पर निर्धारित होती है जहाँ माँग की मात्रा पूर्ति* की मात्रा की माँग के बराबर हो जाती है उसे सतुलन-कीमत कहते हैं। मान लीजिए, किसी *कारण से वह सतुलन कीमत भग हो जाती है, और वह बढ जाती है। ऐसी स्थिति में ऊँची* कीमत पर पूर्ति की मात्रा माँग की मात्रा से अधिक हो जायेगी, जिससे कीमत में घटने की प्रवृत्ति लागू होगी, और पुन पहले वाली सतुलन-कीमत स्थापित हो जायेगी, जहाँ माँग की मात्रा पूर्ति की मात्रा के बराबर होगी। इसी प्रकार यदि किसी कारण से पूर्व संतुलन-कीमत भग होकर घट जाती है, तो माँग की मात्रा पूर्ति की मात्रा से अधिक हो जायेगी, जिससे कीमत में पुन वृद्धि की प्रवृत्ति लागू हो जायेगी, और पहले वाली सतुलन-कीमत स्थापित हो जायेगी। इसे स्थिर सतुलन (Stable Equilibrium) कहते हैं। इसमें आर्थिक इकाइयाँ असन्तुलन की स्थिति से सतुलन की स्थिति की ओर गतिमान होती रहती हैं, इसलिए इसे स्थिर सतुलन कहा जाता है।

जी एल बच (G L Bach) व सहयोगी लेखकों के अनुसार '**संतुलन उस स्थिति को कहते हैं जिसमें सम्बद्ध इकाइयाँ जो कुछ करती हैं उसी को करते रहने में संतोष महसूस करती है। संतुलन में कोई ऐसी शक्ति काम नहीं करती जो विचाराधीन आर्थिक व्यवहार को बदलने का प्रयास करे।**'[1]

इसके विपरीत यदि संतुलन की स्थिति के भंग होने पर आर्थिक इकाइयाँ उससे दूर चलती जाती हैं तो उसे अस्थिर संतुलन (Unstable equilibrium) कहा जाता है।

संतुलन की चर्चा में हम '*अन्य बातों को समान मान कर*' *चलते हैं। जैसा कि पहले* बतलाया जा चुका है कि उपभोक्ता सन्तुलन में उसकी आमदनी, रुचि अरुचि, अन्य वस्तुओं की कीमतों, आदि को अपरिवर्तित मान लिया जाता है। इसी प्रकार उत्पादक के सतुलन में साधनों की कीमतों, टेक्नोलोजी, आदि को स्थिर मान लिया जाता है।

---

1 By equilibrium, we mean a situation in which those involved are satisfied *to keep doing what they are doing. In equilibrium, there s nothing at work* to change the economic behaviour under consideration.' –G.L. Bach and co-authors, Economics 11th ed 1987 p 15

अर्थशास्त्र में आशिक व सामान्य सतुलन में भी अंतर करना होता है।

आंशिक या विशेष संतुलन

(Partial or Particular equilibrium)

अर्थ–ईकर्ट व लेफ्टविच के अनुसार आशिक सतुलन उस सतुलन को कहते हैं जो एक वैयक्तिक इकाई (an individual unit) और/अथवा अर्थव्यवस्था का एक उप भाग (a sub-section of the economy) बाहर से उसके लिये दी हुई दशाओं में प्राप्त करते हैं। इस प्रकार इसमें दो बातें ध्यान देने योग्य होती हैं. प्रथम, आशिक सतुलन का सम्बन्ध वैयक्तिक इकाई जैसे उपभोक्ता या फर्म से होता है अथवा अर्थव्यवस्था के एक उप भाग से होता है, जैसे एक उद्योग (लोहा व इस्पात उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग आदि) से होता है। द्वितीय, इन आर्थिक इकाइयों के लिए बाहर से कुछ दशाएं दी हुई होती हैं जिनके अनुसार इनको अपना समायोजन करना होता है। जैसे प्रत्येक उपभोक्ता अपनी दी हुई आमदनी अन्य वस्तुओं व सेवाओं की दी हुई कीमतों तथा अपनी दी हुई पसद व प्राथमिकताओं के आधार पर एक वस्तु की अपनी खरीद की मात्रा निर्धारित करता है। (ताकि अधिकतम सतुष्टि प्राप्त कर सके)। इसी प्रकार एक व्यावसायिक फर्म अपने सीमित उत्पादन के साधनों को दी हुई टेक्नोलोजी व साधनों की दी हुई कीमतों, आदि की दशाओं में इस प्रकार से काम में लेती है कि वह अधिकतम लाभ प्राप्त कर सके।

अर्थव्यवस्था के एक उप भाग के उदाहरण में एक उद्योग को लिया जा सकता है। दीर्घकाल में उद्योग में नई फर्में प्रवेश करती रहती हैं और पुरानी फर्में उद्योग छोड़कर बाहर जाती रहती हैं। अत एक उद्योग भी दी हुई परिस्थितियों के अनुसार अपना सतुलन निर्धारित करता रहता है।

स्मरण रहे कि उपभोक्ताओं, फर्मों व उद्योगों के समक्ष पायी जाने वाली दशाओं के बदल जाने से वे सतुलन की नई दिशाओं की ओर जाने का प्रयत्न करती हैं।

आंशिक संतुलन कब उपयुक्त रहता है?

आशिक सतुलन दो दशाओं में ज्यादा उपयोगी माना जाता है [1]

(i) जब आर्थिक हलचल एक फर्म या एक उद्योग तक सीमित होती है–जैसे, मान लीजिए, जयपुर स्थित किसी फैक्ट्री के श्रमिक हड़ताल कर देते हैं, अथवा, जयपुर में ही स्थित इन्जीनियरी उद्योग की कुछ फैक्ट्रियों के श्रमिक हड़ताल कर देते हैं, तो इस प्रकार की हड़ताल के प्रभाव कुछ फर्मों व श्रमिकों तक सीमित रहेंगे। इसलिए उनका अध्ययन आशिक सतुलन की सहायता से किया जा सकता है।

(ii) जब हमें किसी आर्थिक हलचल के प्रथम-क्रम के प्रभावों (First-order effects) का अध्ययन करना हो तो भी आशिक सतुलन की विधि उपयुक्त रहती है। जैसे मान लीजिए सरकार युद्ध की सामग्री का उत्पादन बढ़ाने का निर्णय घोषित करती है, तो इसका सबसे पहला प्रभाव लोहे व इस्पात उद्योग पर पड़ेगा। इस्पात की माँग बढ़ेगी। इसलिए इस्पात के उत्पादन, इस्पात की कीमतों, इस उद्योग के मुनाफों, इस उद्योग में साधनों

1. Eckert and Leftwich, The Price System and Resource allocation, Tenth edition, 1988, p 581

की माँग, रोजगार व उनकी कीमतों, आदि पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन आंशिक संतुलन की सहायता से किया जा सकता है। लेकिन ध्यान रहे कि ये प्रथम क्रम के ही प्रभाव माने जायेंगे। इनका अंत यहीं पर नहीं हो जायेगा। आगे चलकर इसके प्रभाव अधिक गहरे व अधिक व्यापक होने के कारण ये सामान्य संतुलन के दायरे में प्रवेश कर जायेंगे।

सामान्य संतुलन
(General equilibrium)

अर्थ—सामान्य संतुलन उस समय स्थापित होता है जब सभी वैयक्तिक आर्थिक इकाइयाँ तथा अर्थ व्यवस्था के सभी उप भाग (sub sections) एक साथ आंशिक संतुलन में होते हैं। सामान्य संतुलन की अवधारणा सभी आर्थिक इकाइयों व अर्थव्यवस्था के सभी भागों की परस्पर निर्भरता (Interdependence) को स्पष्ट करती है। इसका विवेचन लियों वालरा (Leon Walras), जे आर हिक्स, वैसली डबलू लिओन्टीफ (Wassily W Leontief), सेमुअल्सन आदि अर्थशास्त्रियों ने किया है जो उच्चतर अर्थशास्त्र में आता है। इसमें गणित का व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है। यहाँ हम संतुलन की अवधारणा का सरल रूप में अर्थ स्पष्ट करते हैं।

सामान्य संतुलन की प्रक्रिया के दो उदाहरण–

(i) सरकार द्वारा युद्ध की सामग्री बढ़ाने के निर्णय का प्रभाव–हम पहले ही बता चुके हैं कि जब सरकार युद्ध का अधिक सामान बनाने का निर्णय करती है तो पहला प्रभाव इस्पात उद्योग पर पड़ता है। इसे आंशिक संतुलन के अन्तर्गत लिया जा सकता है, क्योंकि हमें सर्वप्रथम इस्पात के मूल्यों, उत्पादन, इस उद्योग के मुनाफों, इसमें उत्पादन के साधनों के उपयोग व उनकी कीमतों आदि पर विचार करना होता है। लेकिन इससे अन्य उद्योगों व आर्थिक क्रियाओं में भी हलचलें पैदा होने लगती हैं। इस्पात के स्थानापन्न पदार्थों की माग भी बढ़ती है जिससे हलचलों का दायरा बढ़ता जाता है। अंत में ये प्रभाव सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था तक फैल जाते हैं। अत युद्ध का अधिक सामान बनाने की सरकारी घोषणा का प्रभाव समस्त अर्थव्यवस्था में व्याप्त होने के कारण इसका अध्ययन सामान्य संतुलन विश्लेषण के द्वारा करना पड़ता है।

(ii) भारत सरकार द्वारा उर्वरकों पर सब्सिडी घटाने के प्रभाव–हमारे देश में पिछले वर्षों में खाद्यान्नों, उर्वरकों व निर्यातों पर सब्सिडी का आर्थिक भार बहुत बढ़ गया है और यह असहनीय हो गया है। इसलिए बजट घाटे को कम करने के लिए उर्वरकों पर सब्सिडी कम करने पर बहुत जोर दिया गया है। प्रश्न उठता है कि उर्वरकों के लिए दी जाने वाली सब्सिडी या आर्थिक सहायता को कम करने से अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ेंगे?

इसका अध्ययन आई जेड भट्टी व एस पी पाल ने सामान्य संतुलन मॉडल की सहायता से किया है।[1] इसमें उर्वरकों पर सब्सिडी कम करने के प्रभाव निम्न प्रकार से देखे गये हैं।

1. उर्वरकों की कीमतें कितनी बढ़ेंगी?
2. उर्वरकों की खपत पर क्या प्रभाव पड़ेगा?
3. कृषिगत उत्पादन पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

1 I Z Bhatty and S P Pal Food and Fertiliser Reducing Subsidies I and II in the Economic Times March 15 and 16 1991

4 गेहूँ, चावल व अन्य फसलों के बाजार भाव पर क्या असर होगा।
5 देश में कीमत सूचनाकों (थोक व उपभोक्ता मूल्य दोनों पर) क्या प्रभाव पडेगा ?
6 खाद्यान्नों की सरकारी वसूली या खरीद पर क्या प्रभाव पडेगा।
7 देश में खाद्यान्नों के स्टॉक पर क्या प्रभाव पडेगा ?
8 बजट घाटा कितना कम होगा ? आदि, आदि ?

इस प्रकार उर्वरकों पर सब्सिडी घटाने का प्रथम प्रभाव उर्वरक उद्योग पर पडता है, जिसे आंशिक सतुलन के अन्तर्गत देखा जा सकता है। लेकिन वह पर्याप्त नहीं होगा। इसलिए इसके सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर व्यापक प्रभाव जानने के लिए सामान्य सतुलन विश्लेषण का उपयोग करना उचित होगा। उसी से हमको इसके विस्तृत प्रभावों को भलीभाँति समझने में मदद मिलेगी।

अतः उर्वरकों पर सब्सिडी कम करने का निर्णय उर्वरक-उत्पादन व उर्वरक-उपयोग के अलावा खाद्यान्नों के बाजार भावों, कीमत-सूचनाक, सरकार के खाद्यान्नों के भण्डार, आदि को प्रभावित करके अर्थव्यवस्था में व्यापक रूप से परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है। इसलिए इसका विश्लेषण सामान्य सतुलन की सहायता से करना उचित माना जायेगा।

सामान्य सतुलन के दो उद्देश्य

(i) इससे अर्थव्यवस्था को सम्पूर्ण रूप में देखने का अवसर मिलता है जो विशुद्ध सिद्धान्त की दृष्टि से बहुत लाभकारी होता है।

(ii) इसकी सहायता से आर्थिक हलचल के प्रथम क्रम, द्वितीय क्रम, तृतीय क्रम व अन्य उच्च क्रम के प्रभाव जाने जा सकते हैं। अत इसकी मदद से एक आर्थिक परिवर्तन के अन्तिम प्रभाव पूरी तरह जाने जा सकते हैं, जो अन्यथा सम्भव नहीं थे।

'ईकर्ट व लेफ्टविच' के अनुसार हलचल से पहले एक बड़ी छपछपाहट-सी (big splash) उत्पन्न होती है, जिसे आंशिक सतुलन विश्लेषण सम्हाल लेता है। लेकिन इससे आगे लहरें व तरगें उत्पन्न होती हैं जो एक दूसरे को प्रभावित करती जाती हैं और छपछपाहट के दायरे को भी प्रभावित करती हैं। तरगें आगे चलती जाती हैं और उत्तरोत्तर छोटी होती जाती हैं और अत में क्षीण होकर गायब हो जाती हैं। इन सभी प्रकार के पुनर्समायोजनों (readjustments) का विश्लेषण करने के लिए सामान्य सतुलन के उपकरणों की आवश्यकता होती है।[1] इस कथन से सामान्य सतुलन की प्रक्रिया स्पष्ट हो जाती है।

सामान्य सतुलन विश्लेषण के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि यह बहुत जटिल किस्म का होता है। लियों वालरा ने इसका विवेचन गणितीय समीकरणों की सहायता से किया था जिनमें विभिन्न आर्थिक चलराशियों में आपस में सम्बन्ध स्थापित किये गये थे। विभिन्न समीकरणों के हल से चलराशियों के वे मूल्य प्राप्त होते हैं जो सामान्य सतुलन के अनुरूप होते हैं। इससे अर्थव्यवस्था के विभिन्न भागों की परस्पर निर्भरता को समझने में भी सहायता मिलती है।

1 Eckert and Leftwich, The Price System and Resource Allocation, 10th ed. 1988. p. 582.

सामान्य सतुलन विश्लेषण का दूसरा रूप लियोन्टीफ ने 'इन्पुट आउटपुट विश्लेषण' के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इसमें अर्थव्यवस्था को कुछ क्षेत्रों (sectors) या उद्योगों में विभाजित किया जाता है। एक उद्योग का आउटपुट दूसरे उद्योग के लिए इन्पुट बन जाता है। इस प्रकार एक उद्योग की दूसरे उद्योग पर निर्भरता प्रगट हो जाती है। वस्तुओं सेवाओं व साधनों के अन्तर उद्योग प्रवाहों (inter industry flows) से काफी सूचनाएं प्राप्त होती हैं। इस विश्लेषण की सहायता से आर्थिक नियोजन व आर्थिक विकास के सम्बन्ध में काफी जानकारी मिलती है।

स्मरण रहे कि आशिक सतुलन व सामान्य सतुलन में आपस में कोई विरोध नहीं होता है। हम आशिक सतुलन से प्रारम्भ करते हैं और धीरे धीरे आगे बढते जाते हैं। इनमें एक निरतरता व परस्पर कडी पायी जाती है। हम प्रथम क्रम के प्रभाव को देखकर द्वितीय क्रम तृतीय क्रम व अन्य उच्च क्रमों के प्रभाव देखते जाते हैं। एक फर्म के संतुलन से एक उद्योग के संतुलन पर जाते है, तत्पश्चात् पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में एक निजी उद्यमवाली अर्थव्यवस्था का सम्पूर्ण अध्ययन करके परिणाम निकालते है। इस प्रकार आशिक संतुलन से सामान्य सतुलन की तरफ बढने का प्रयास निरतर जारी रहता है।

प्रश्न

1 व्यष्टि एवं समष्टि आर्थिक विश्लेषण में अन्तर स्पष्ट कीजिये। इनमें से कौनसी अच्छी है एव क्यों? (Ajmer Iyr 1992)

2 आशिक साम्य एवं सामान्य साम्य का अर्थ व उपयुक्तता की दशाओं को समझाइये। इनकी पूरकता यदि कोई हो तो सिद्ध कीजिए। (Raj Iyr 1993)

3 निम्नांकित पर लगभग 100 शब्दों में सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये

(i) समष्टि अर्थशास्त्र में किन समस्याओं का अध्ययन किया जाता है? (Ajmer Iyr 1993)

4 (i) व्यष्टि एव समष्टि अर्थशास्त्र में भेद स्पष्ट कीजिए।

(ii) स्थिर एव गतिशील विश्लेषण में भेद स्पष्ट कीजिए। (Ajmer Iyr 1994)

5 व्यष्टि एवं समष्टि अर्थशास्त्र में कोई विरोध नहीं है। दोनों अत्यन्त आवश्यक हैं। यदि आप एक को समझते हैं और दूसरे से अनभिज्ञ हैं तो आप अर्द्ध शिक्षित हैं। (सेमुअल्सन) इस कथन की विवेचना कीजिए।

6 स्थैतिकी एक समयरहित विचार है जबकि प्रावैगिकी का सम्बन्ध समय से होता है। इस कथन की व्याख्या कीजिए।

7 सामान्य संतुलन विश्लेषण का विवेचन कुछ व्यावहारिक आर्थिक समस्याओं के उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

8 सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

(i) आशिक संतुलन (partial equilibrium)

(ii) सामान्य सतुलन (general equilibrium)
(iii) प्रावैगिक अर्थशास्त्र
(iv) समष्टि अर्थशास्त्र
(v) तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण
(vi) व्यष्टि अर्थशास्त्र व समष्टि अर्थशास्त्र में कौनसा अधिक श्रेष्ठ है ?
(vii) आदर्शात्मक अर्थशास्त्र (normative economics) का महत्त्व।

9 व्यष्टि अर्थशास्त्र व समष्टि अर्थशास्त्र में अतर स्पष्ट कीजिए। क्या ये एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न हैं ?

10 भेद बताइये
(i) व्यष्टि अर्थशास्त्र व समष्टि अर्थशास्त्र
(ii) स्थैतिक विश्लेषण व प्रावैगिक विश्लेषण
(iii) आशिक एव सामान्य साम्य (Raj Iyr , 1996 non coll)
(iv) वास्तविक अर्थशास्त्र व आदर्शात्मक अर्थशास्त्र।

11 निम्नलिखित की व्य ख्या करें—
(i) व्यक्ति एव समष्टि अर्थशास्त्र (Ajmer Iyr , 1996)



7

बाजार के विभिन्न रूप
(Different Types of Markets)

साधारण बोलचाल की भाषा में बाजार का अर्थ एक स्थान विशेष से लगाया जाता है जहाँ एक वस्तु के क्रेता व विक्रेता एकत्र होकर उस वस्तु का क्रय विक्रय करते हैं। लेकिन अर्थशास्त्री बाजार शब्द का थोडा भिन्न अर्थ लगाते हैं। उनके अनुसार, बाजार की परिभाषा में क्रेताओं व विक्रेताओं का एक स्थान पर उपस्थित होना आवश्यक नहीं होता। वे टेलीफोन व डाक-तार द्वारा परस्पर सम्पर्क बनाये रख सकते हैं, भाव तय कर सकते हैं एव लेन देन कर सकते हैं। इसलिए बाजार के अस्तित्व के लिए क्रेताओं व विक्रेताओं में निरन्तर समीप का सम्पर्क होना ज्यादा आवश्यक होता है। स्टोनियर व हेग के अनुसार, सक्षेप में, वे (अर्थशास्त्री) इसे एक ऐसा सगठन मानते हैं जिसके माध्यम से एक वस्तु के क्रेता व विक्रेता एक दूसरे के निकट सम्पर्क में रखे जाते हैं।

इस प्रकार बाजार शब्द की परिभाषा में क्रेताओं व विक्रेताओं का परस्पर सम्पर्क ज्यादा महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है। सम्पर्क के स्थान पर हम 'प्रतिस्पर्धा' (competition) का उल्लेख भी कर सकते हैं, क्योंकि यह बाजार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व होती है। यदि दिल्ली के ग्राहक मकान बनाने के लिए दिल्ली के आस पास के पत्थर व ईंट ही प्रयोग में लाते हैं तो वे जयपुर के ग्राहकों से प्रतिस्पर्धा नहीं करते जो अपने आस पास के पत्थर व ईंटें काम में लेते हैं। इसलिए बाजार शब्द में 'प्रतिस्पर्धा' का तत्व महत्त्वपूर्ण माना जाता है। यदि किसी वस्तु के लिए क्रेताओं व विक्रेताओं में विस्तृत क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा पायी जाती है तो उस वस्तु का बाजार विस्तृत माना जायेगा। बाजार का विस्तृत होना कई बातों पर निर्भर करता है, जैसे वस्तु की माँग व पूर्ति का विस्तृत होना, वस्तु का टिकाऊपन, आदि। परिवहन व सचार के साधनों के विकास ने भी बाजारों के विस्तार में सहायता पहुँचाई है। सोने का बाजार अन्तर्राष्ट्रीय माना जाता है। अमरीका के गेहूँ की माँग रूस, चीन, भारत तथा अन्य कई देशों में होने के कारण गेहूँ का बाजार अन्तर्राष्ट्रीय बन गया है। इसलिए आजकल बाजार का अर्थ किसी स्थान विशेष से नहीं लगाया जाता, जहाँ कोई व्यक्ति जाकर अपनी किसी आवश्यकता की वस्तु खरीदता है बल्कि बाजार तो एक क्षेत्र होता है जिसमें क्रेता व विक्रेता परस्पर सम्पर्क करके लेन देन का कार्य सम्पन्न करते रहते हैं। लिप्से व क्रिस्टल के अनुसार, 'हम बाजार की परिभाषा एक क्षेत्र के रूप में करते है जहाँ क्रेता व विक्रेता एक निश्चित वस्तु विनिमय का कार्य सम्पन्न करते है। इसके लिये यह जरूरी है कि क्रेता व विक्रेता परस्पर सम्पर्क बनाये

जैसे ईंट, साधारण पत्थर, मिट्टी, चूना आदि के परिवहन में दिक्कतें आती हैं। इनमें परिवहन की लागतें भी ऊची होती हैं। इसलिए इनका बाजार प्राय स्थानीय होता है। इनमें भी संगमरमर का पत्थर अथवा ग्रेनाइट स्टोन्स आदि अपने ऊचे मूल्य की वजह से अपेक्षाकृत अधिक दूर के स्थानों तक भेजे जाते हैं। अत साधारणतया अधिक मूल्यवाली वस्तुओं का बाजार अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत होता है।

(4) वस्तु की पूर्ति—प्राय पर्याप्त व अत्यधिक पूर्ति वाली वस्तुओं के बाजार व्यापक व अन्तर्राष्ट्रीय पाये जाते हैं, जैसे गेहूँ, कच्चा लोहा, कोयला आदि। सीमित पूर्ति वाली वस्तुओं के बाजार भी सीमित होते हैं। ये सीमाएँ स्थानीय व ज्यादा से ज्यादा राष्ट्रीय हो सकती हैं। लेकिन कुछेक अपवाद भी देखने को मिलते हैं, जैसे कलात्मक मूर्तियों व विख्यात कलाकारों के बनाये हुए चित्रों आदि के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बाजार होते हैं। इनकी दूर दूर तक प्रतिष्ठा होती है, जिससे माँग भी विस्तृत होती है।

(5) ग्रेडिंग व प्रमापीकरण का प्रभाव—जिन वस्तुओं को आकार व किस्म के आधार पर विभिन्न सुनिश्चित श्रेणियों में बाँटा जा सकता है, उनके बाजार विस्तृत होते हैं, क्योंकि उनकी बिक्री नमूने व श्रेणी के आधार पर हो सकती है। ये वस्तुएँ मानक व प्रमापीकृत मानी जाती हैं। यही कारण है कि चाय, कपास, गेहूँ आदि के बाजार विश्वव्यापी बन गये हैं।

इस प्रकार स्वय वस्तु के गुण उसके बाजार की सीमा को निर्धारित करते हैं।

(आ) बाहरी तत्त्व

(1) आर्थिक विकास की आवश्यकता—विभिन्न देश अपना आर्थिक विकास करने के लिये विदेशों से अनेक प्रकार की वस्तुओं का आयात करते हैं जिससे सामान्यतया बाजारों का विस्तार हुआ है। जापान अपने इस्पात उद्योग के लिए भारत व अन्य देशों से कच्चे लोहे का आयात करता है। इसी प्रकार अनेक किस्म के कच्चे मालों का आदान प्रदान विश्वव्यापी स्तर पर होता है।

(2) परिवहन व सचार के साधनो का विकास—पिछले वर्षों में यातायात व सदेशवाहन के साधनों में क्राति हो गई है जिसके फलस्वरूप सडक, रेल, जल व वायु परिवहन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गये हैं। इसी प्रकार तार-टेलीफोन आदि सचार के साधन काफी विकसित हो गये हैं। इनकी वजह से क्रेता व विक्रेताओं में व्यावसायिक सम्बन्ध स्थापित करना बहुत सुगम हो गया है। इन कारणों से बाजार विस्तृत हो गये हैं।

(3) बैंकिंग, बीमा आदि का तीव्र गति से विकास—आर्थिक विकास ने मुद्रा, बैंकिंग, बीमा आदि क्षेत्रों को पूर्णतया बदल डाला है। आज प्रत्येक देश में सुदृढ मुद्रा प्रणाली, बैंकिंग व बीमा व्यवस्था व अन्य सुविधाएँ पायी जाती हैं, और इनका तेजी से विकास हो रहा है। इससे विदेशी व्यापार की सम्भावनाएँ बढ गयी हैं, जो इनके अभाव में कम थीं।

(4) विश्व में संरक्षणवाद की नीति इसको सीमित करती है तथा स्वतत्र व्यापार की नीति इसको बढ़ाती है—यह तो सर्वविदित है कि विभिन्न देशों के बीच स्वतन्त्र व्यापार की नीति के अपनाये जाने से व्यापार बढता है तथा सरक्षणवाद (protectionism) की नीति से व्यापार घटता है, क्योंकि एक देश के द्वारा आयात सीमित करने व आयात शुल्क लगाने से वहाँ दूसरे देशों का माल सीमित मात्रा में ही आ पाता है। आज अमरीका व अन्य विकसित देश सरक्षणवाद के मार्ग पर चल रहे हैं, जिससे विकासशील देशों को अपना माल निर्यात

करने में काफी कठिनाई हो रही है। अतः वस्तुओं का बाजार विकसित देशों की व्यापार नीति से भी प्रभावित होता है।

(5) राजनीतिक स्थिरता व शान्ति—विभिन्न देशों में राजनीतिक स्थिरता, कानून व व्यवस्था की सुदृढ स्थिति व आन्तरिक शान्ति के पाये जाने पर ही वस्तुओं के बाजार अधिक विस्तृत होते हैं। यही नहीं बल्कि एक देश के किसी भी भाग में अशान्ति व अराजकता के पाये जाने से वहाँ का आन्तरिक व्यापार भी खतरे में पड जाता है।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि बडे पैमाने के उत्पादन, विशिष्टीकरण, आधुनिकीकरण, परिवहन-क्रान्ति व आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के फलस्वरूप वस्तुओं के बाजारों का विस्तार हुआ है। इस प्रक्रिया के भविष्य में जारी रहने की सम्भावना है। विश्व तेजी से सिमट कर एक छोटी सी इकाई बनता जा रहा है, लेकिन कुछ राष्ट्रों की संकीर्ण भावनाएँ व संरक्षणवादी नीतियाँ इस प्रक्रिया को अपनी चरम सीमा पर नहीं पहुँचने दे रही हैं।

बाजारों का वर्गीकरण

(Classification of Markets)

आर्थिक साहित्य में बाजारों के वर्गीकरण कई आधारों पर देखने को मिलते हैं। जैसे क्षेत्र के अनुसार (स्थानीय, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय); समय के अनुसार (अति अल्पकाल, अल्पकाल, दीर्घकाल व अति दीर्घकाल); कानूनी वैधता के अनुसार (सामान्य बाजार व काला बाजार); वस्तु-बाजार व साधन बाजार, स्वतंत्र बाजार व नियंत्रित बाजार तथा प्रतियोगिता के आधार पर (विक्रेताओं के बीच पूर्ण प्रतियोगिता, एकाधिकार, एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा, अल्पाधिकार, आदि)। इसी प्रकार क्रेताओं के बीच प्रतिस्पर्धा के आधार पर क्रेता-एकाधिकार, क्रेता-अल्पाधिकार, आदि की दशाएँ भी पायी जा सकती हैं। अतः बाजारों में विभिन्न प्रकार से अन्तर किये जा सकते हैं और उनका अपना-अपना महत्त्व होता है। एक देश की अर्थव्यवस्था की प्रकृति का सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए विभिन्न आधारों पर वहाँ के बाजारों की स्थिति का अध्ययन करना लाभकारी होता है। भारतीय सन्दर्भ में प्रायः यह कहा जाता है कि यहाँ गैर-कानूनी या काले बाजार का विस्तार हो रहा है। नियोजित अर्थव्यवस्था के कारण सरकारी हस्तक्षेप व नियंत्रित बाजार प्रणाली का विस्तार हुआ है तथा आधुनिक औद्योगिक क्षेत्र में अल्पाधिकार एवं कृषिगत क्षेत्र में बहुत कुछ पूर्ण प्रतियोगिता की दशाएँ पायी जाती हैं।

नीचे बाजार के विभिन्न रूपों का विवेचन किया गया है।

(अ) क्षेत्र के अनुसार वर्गीकरण

जब एक वस्तु की माँग व पूर्ति स्थानीय क्षेत्र तक सीमित होती है तो उसे स्थानीय बाजार कहते हैं। भूतकाल में ऐसा प्रायः दूध, फल, सब्जी आदि के सम्बन्ध में पाया जाता था। आजकल ईंट व पत्थर आदि में स्थानीय बाजार की स्थिति देखने को मिलती है। स्थानीय दस्तकारों के द्वारा निर्मित मिट्टी के बर्तनों, जूतों, खिलौनों व अन्य घरेलू वस्तुओं की माँग भी प्रायः स्थानीय ही होती है।

जब किसी वस्तु की माँग व पूर्ति राष्ट्रव्यापी होती है तो उसका बाजार राष्ट्रीय बाजार कहलाता है। भारत में गेहूँ, दालें अनेक उपभोग्य वस्तुओं-साबुन, तेल, टूथपेस्ट, आदि का

बाजार राष्ट्रीय माना जाता है। कई वस्तुओं का बाजार अन्तर्राष्ट्रीय होता है, जैसे भारतीय आमों की माँग विदेशों में भी होती है। इसी प्रकार भारतीय चाय, सिले सिलाये वस्त्रों भारतीय चलचित्रों आदि की माँग भी अन्तर्राष्ट्रीय कहलाती है।

(आ) समय के अनुसार वर्गीकरण

(1) अति अल्पकाल (Very short period)—इसे बाजार की अवधि भी कहते हैं। इसमें वस्तु की पूर्ति स्थिर रहती है और कीमत पर माँग के परिवर्तनों का अधिक प्रभाव पडता है। माँग के बढने पर कीमत बढ जाती है और माँग के घटने पर कीमत घट जाती है। उदाहरण के लिए किसी भी दिन दूध की सप्लाई स्थिर मानी जायेगी और इसकी कीमत पर माँग का अधिक प्रभाव पडेगा। स्मरण रहे कि यहाँ अवधि की परिभाषा वर्ष, महीने, सप्ताह, दिन अथवा घटों में नहीं की जाती है, बल्कि माँग व पूर्ति की शक्तियों में होने वाले परिवर्तनों के माध्यम से की जाती है। अत अति अल्पकाल मे वस्तु की पूर्ति स्थिर रहती है और उसे माँग के अनुसार घटाया-बढ़ाया नही जा सकता।

(2) अल्पकाल (Short Period)—इसमें सयत्र की वर्तमान उत्पादन क्षमता का गहरा उपयोग करके कुछ सीमा तक वस्तु की पूर्ति बढायी जा सकती है एव आवश्यकता पडने पर इसका कम मात्रा में उपयोग करके कुछ सीमा तक पूर्ति घटायी जा सकती है। लेकिन सयत्र का आकार स्थिर रहता है। अत माँग के परिवर्तनों के अनुसार कुछ सीमा तक पूर्ति में परिवर्तन करना सम्भव होता है, लेकिन माँग व पूर्ति में पूरा सामजस्य स्थापित करना सम्भव नहीं होता। यहाँ भी दूध के दृष्टान्त को जारी रखते हुए यह कहा जा सकता है कि माँग के बढने पर गाय भैंस आदि दुधारू पशुओं को खुराक में परिवर्तन करके दूध की सप्लाई बढाने का आवश्यक प्रयास किया जाता है। इसी प्रकार किसी भी औद्योगिक वस्तु की माँग के बढने पर सयत्र की वर्तमान उत्पादन क्षमता का अधिक उपयोग करके (जैसे मशीन को ज्यादा शिफ्टों या पालियों में चलाकर) उत्पादन बढाया जा सकता है। माँग के घटने पर सयत्र का उपयोग कम करने का प्रयास किया जाता है ताकि पूर्ति में कुछ सीमा तक कमी की जा सके।

अल्पकाल में पूर्ति में माँग के परिवर्तनों के अनुसार आवश्यक परिवर्तन करना तो सम्भव नहीं होता, फिर भी यथासम्भव सयत्र को उत्पादन क्षमता का उपयोग कुछ सीमा तक बढाया या घटाया जा सकता है।

(3) दीर्घकाल (Long period)—दीर्घकाल में सयत्र का पैमाना व आकार बदला जा सकता है जिससे पूर्ति में माँग के परिवर्तनों के अनुकूल पूरा सामंजस्य बैठाया जा सकता है। आधुनिक औद्योगिक टेक्नोलोजी के कारण सयत्र के कई प्रकार के आकार उपलब्ध हो गये हैं जिससे उत्पादन को माग के अनुसार व्यवस्थित करना सम्भव हो गया है। अत दीर्घकाल में सयत्र का पैमाना बदल कर उत्पत्ति में माँग के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है। पुन दूध वाले दृष्टान्त को लेने पर, दीर्घकाल में दुधारू पशुओं की सख्या बढा कर दूध की सप्लाई बढायी जा सकती है एव आवश्यकता पडने पर इनकी सख्या को कम करके इसकी सप्लाई घटायी जा सकती है।

आधुनिक टेक्नोलोजी के फलस्वरूप औद्योगिक वस्तुओं में सयत्र के आकार को बदलकर पूर्ति में माँग के अनुसार परिवर्तन करना सम्भव हो गया है, लेकिन जिस अवधि में यह सम्भव हो पाता है, उसे दीर्घकाल एव उस बाजार को दीर्घकालीन बाजार कहा जाता है।

में हस्तक्षेप पाया जाता है जैसे उत्पादकों को लाइसेंस देना, वितरण व मूल्यों पर नियत्रण लगाना जिससे क्रेताओं व विक्रेताओं की स्वतत्रता पर अंकुश लग जाता है। नियोजित अर्थव्यवस्था में नियंत्रित बाजारों का उपयोग करके उत्पादन, वितरण व मूल्यों को सामाजिक हित में प्रभावित किया जाता है। लेकिन इनका सचालन न होने पर काला बाजारी को प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार व्यवहार में नियत्रित बाजारों व काले बाजारों में परस्पर सम्बन्ध पाया जाता है।

(ऊ) प्रतिस्पर्धा के आधार पर बाजारो का वर्गीकरण

बाजारों का यह वर्गीकरण सर्वाधिक लोकप्रिय व उपयोगी माना गया है क्योंकि इसका उत्पादन की मात्रा व कीमत निर्धारण से गहरा सम्बन्ध होता है। इसे विक्रेता पक्ष व क्रेता पक्ष दोनों तरफ से देखा जा सकता है। इस अध्याय के शेष भाग में इसी वर्गीकरण का विवेचन किया जायेगा ताकि व्यष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत कीमत निर्धारण ज्यादा अच्छी तरह से समझ में आ सके।

(i) *विक्रेता पक्ष की ओर से प्रतिस्पर्धा के आधार पर विभिन्न बाजार*—इसके अन्तर्गत पूर्ण प्रतिस्पर्धा, एकाधिकार, एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा, अल्पाधिकार आदि का विवेचन किया जाता है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा में अनेक क्रेता व अनेक विक्रेता होते हैं तथा वस्तु समरूप या एक सी मानी जाती है। इसमें एक फर्म के लिए वस्तु की कीमत दी हुई होती है। एकाधिकार में एक वस्तु का उत्पादन एक अकेली फर्म होती है। एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में अनेक विक्रेता होते हैं लेकिन उनकी वस्तुओं में परस्पर अन्तर (product differentiation) पाये जाते हैं। अल्पाधिकार में एक वस्तु के थोडे से विक्रेता होते हैं तथा वस्तुएँ एक सी या भिन्न किस्म की हो सकती हैं।

(ii) क्रेता पक्ष की ओर से प्रतिस्पर्धा के आधार पर बाजार का वर्गीकरण— यहाँ भी क्रेता एकाधिकार (monopsony) क्रेता अल्पाधिकार (oligopsony), द्विपक्षीय एकाधिकार (bilateral monopoly) (इसे चाहें तो विक्रेता पक्ष की ओर भी दिखा सकते हैं) आदि की दशाएँ पायी जाती हैं।

क्रेता एकाधिकार की दशा में कोई उत्पादक किसी वस्तु, सेवा या साधन का अकेला खरीददार होता है। मान लीजिए, सरकार अनाज के थोक व्यापार का राष्ट्रीयकरण कर लेती है और समस्त अनाज की खरीद भारतीय खाद्य निगम की मार्फत करने लग जाती है तो यह अनाज के व्यापार में क्रेता एकाधिकार की दशा मानी जायेगी। इसी प्रकार यदि किसी स्थान पर एक खान का मालिक अकेला श्रमिकों को काम पर लगाने वाला होता है तो उसकी स्थिति भी क्रेता एकाधिकारी की मानी जायेगी। जब किसी वस्तु व उत्पादन के साधन के थोडे से खरीददार होते हैं तो उसे क्रेता अल्पाधिकार अथवा अल्पक्रेताधिकार (oligopsony) की स्थिति कहा जाता है।

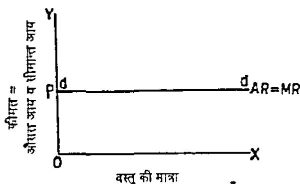
द्विपक्षीय एकाधिकार (bilateral monopoly) में एक विक्रेता (एकाधिकारी) तथा एक क्रेता (क्रेता एकाधिकारी) होता है। जब मालिकों का संगठन मजदूरों के संगठन से किसी समस्या पर बातचीत करता है तो द्विपक्षीय एकाधिकार की दशा सामने आती है जैसाकि हम ऊपर बतला चुके हैं इस स्थिति को विक्रेता पक्ष की ओर भी दिखाया जा सकता है। व्यवहार में यह स्थिति बहुत कम पायी जाती है फिर भी इसका काफी महत्व होता है क्योंकि इसका

मजदूरी के निर्धारण व श्रमिकों की मोलभाव करने की शक्ति पर प्रभाव पड़ता है।

अब हम प्रतिस्पर्धा के आधार पर पाये जाने वाले बाजारों के विभिन्न रूपों का विस्तृत रूप से विवेचन करते हैं।

विशुद्ध एवं पूर्ण प्रतिस्पर्धा
(Pure and Perfect Competition)

विशुद्ध प्रतिस्पर्धा बाजार की वह दशा होती है जिसमें एक वैयक्तिक फर्म की वस्तु की माँग पूर्णतया लोचदार होती है। इस स्थिति में फर्म प्रचलित बाजार भाव पर चाहे जितना माल बेच सकती है, लेकिन वह स्वयं कीमत को प्रभावित नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति में एक फर्म का औसत आय वक्र क्षैतिज (horizontal) आकार का होता है और X-अक्ष के समानान्तर पाया जाता है। यह नीचे चित्र 1 में दर्शाया गया है।



चित्र 1–विशुद्ध प्रतिस्पर्धा में एक फर्म के समक्ष वस्तु का माँग-वक्र

उपर्युक्त चित्र के अनुसार वस्तु की कीमत OP है जो बाजार में कुल माँग व कुल पूर्ति की शक्तियों से निर्धारित हुई है। यह फर्म OP कीमत पर चाहे कितना माल बेच सकती है। यदि वह कीमत तनिक-सी घटा देती है तो उसके पास ग्राहकों की भीड़ लग जायेगी जिससे उसका माल शीघ्र बिक जायेगा। अतः प्रचलित कीमत पर फर्म की वस्तु की माँग पूर्णतया लोचदार (perfectly elastic) होती है। यही फर्म का औसत आय-वक्र (AR) होता है। औसत आय अथवा कीमत के स्थिर रहने से सीमान्त आय (MR) भी स्थिर रहती है और यह औसत आय के बराबर होती है।

विशुद्ध प्रतिस्पर्धा में AR = MR एवं दोनों का क्षैतिज होना आगे सारणी 1 से स्पष्ट हो जायेगा।

यहाँ वस्तु की कीमत 5 रु है जो स्थिर रहती है। कॉलम 3 में कुल आय दिखायी गई है जो कीमत का वस्तु की मात्रा से गुणा करने से प्राप्त होती है। अन्तिम कॉलम में सीमान्त आय (MR) दिखायी गई है जो कॉलम (3) में प्रत्येक बिन्दु पर कुल आय में से पिछले बिन्दु की कुल आय को घटाने से प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए दो इकाइयों पर कुल आय = 10 रु है जबकि एक इकाई पर यह 5 रु है। अतः दूसरी इकाई के लिए सीमान्त आय (10 – 5) = 5 रु की होगी। इसी प्रकार आगे भी यह 5 रु के बराबर बनी रहेगी।

सारणी-1 विशुद्ध प्रतिस्पर्धा में एक फर्म की औसत आय व सीमान्त आय

वस्तु की इकाई	औसत-आय या कीमत (AR or price)	कुल आय (TR)	सीमान्त आय (MR)
(1)	(2)	(3)	(4)
1	5	5	5
2	5	10	5
3	5	15	5
4	5	20	5
5	5	25	5

अब हमें यह देखना है कि उत्पादकों में विशुद्ध प्रतिस्पर्धा के अस्तित्व के लिए कौन सी शर्तें आवश्यक होती हैं।

विशुद्ध प्रतिस्पर्धा की शर्तें (Conditions of Pure Competition)

स्टेनियर व हेग के अनुसार विशुद्ध प्रतिस्पर्धा के लिए निम्न तीन शर्तें आवश्यक होती हैं।

(1) अनेक फर्म (*Many firms*)—एक उद्योग में विशुद्ध प्रतिस्पर्धा की पहली शर्त यह है कि इसमें अनेक फर्में होती हैं। इसलिए अकेली फर्म का समस्त उद्योग की उत्पत्ति व कीमत पर कोई प्रभाव नहीं पडता। वह अपनी उत्पत्ति को घटा बढ़ा सकती है, लेकिन इससे उद्योग पर कोई प्रभाव नहीं पडता है। एक फर्म समस्त उद्योग की कुल उत्पत्ति का इतना थोड़ा सा अंश उत्पन्न करती है कि उसके द्वारा अपनी उत्पत्ति में काफी मात्रा में परिवर्तन कर लेने पर भी उद्योग की कुल उत्पत्ति व कीमत पर कोई भी असर नहीं पडता। इस प्रकार एक वैयक्तिक फर्म कीमत को स्वीकार करने वाली (price taker) होती है न कि कीमत का निर्धारण (price maker) करने वाली।

(2) समरूप वस्तुएँ (Homogeneous goods)—विशुद्ध प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत सभी फर्में ऐसी वस्तुएँ बनाती हैं जिन्हें ग्राहक एक सी या समरूप मानते हैं। *यही कारण है कि कोई भी उत्पादक अपनी वस्तु की कीमत ऊंची नहीं रख सकता। यदि वह ऊंची कीमत लेने* लगता है तो ग्राहक दूसरे विक्रेताओं के पास चले जाते हैं। समरूप वस्तुओं के कारण ही समस्त बाजार में उस वस्तु की एक कीमत पायी जाती है। यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि उपभोक्ता ही इस बात का निर्णय करता है कि दो वस्तुएँ समरूप हैं अथवा नहीं। यदि उसके मस्तिष्क में दो वस्तुओं के बीच वास्तविक या कृत्रिम भेद पैदा हो जाते हैं तो उनके भावों में भी अन्तर उत्पन्न हो जायेगा। इन दो मान्यताओं के कारण ही एक फर्म का औसत आय वक्र क्षैतिज हो जाता है, क्योंकि अनेक फर्में होने के कारण एक फर्म कीमत को प्रभावित *नहीं कर सकती और वस्तुओं की समरूपता के कारण कीमत का अन्तर उत्पन्न नहीं हो* पाता।

(3) स्वतन्त्र प्रवेश (Free entry)—विशुद्ध प्रतिस्पर्धा में दीर्घकाल में उद्योग में कोई भी नयी फर्म प्रवेश कर सकती है। *इस पर कोई रोक टोक नहीं होती।* यही कारण है कि उद्योग में फर्मों की संख्या विशाल होती है। नयी फर्मों के आगमन से दीर्घकाल में एक फर्म को केवल सामान्य लाभ ही मिल पाता है। इसी शर्त का दूसरा भाग यह है कि कोई भी फर्म

उद्योग छोडकर जा सकती है। यदि किसी फर्म को घाटा हो रहा हो तो वह उद्योग छोड कर बाहर जा सकती है।

इन तीन शर्तों के पूरा होने से इस अर्थ में विशुद्ध प्रतिस्पर्धा पायी जाती है कि उसमें एकाधिकार का कोई तत्व नहीं होता। चेम्बरलेन ने विशुद्ध प्रतिस्पर्धा उस प्रतिस्पर्धा को कहा है जिसमें एकाधिकार के कोई भी तत्व नहीं होते। इसमें एक फर्म का औसत आय वक्र एक क्षैतिज रेखा बन जाता है।[1]

यहाँ पर विशुद्ध प्रतिस्पर्धा (pure competition) व पूर्ण प्रतिस्पर्धा (perfect competition) में भी अन्तर करना होगा। विशुद्ध प्रतिस्पर्धा के साथ निम्न अतिरिक्त शर्तें जुडने से पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति बन जाती है। ये वस्तुत पूर्ण बाजार की शर्तें होती हैं।

(1) बाजार की दशाओं का पूर्ण ज्ञान—पूर्ण प्रतिस्पर्धा में सभी क्रेताओं व विक्रेताओं को बाजार की दशाओं की पूरी जानकारी होती है। उन्हें कीमतों का पूरा ज्ञान होता है। इसलिए क्रेता कम से कम कीमत पर माल खरीदने और विक्रेता ज्यादा से ज्यादा कीमत पर माल बेचने का प्रयास करते हैं। बाजार की दशाओं का पूर्ण ज्ञान न होने पर वे ऐसा नहीं कर पाते।

(2) उद्योगों के बीच साधनों की पूर्ण गतिशीलता—पूर्ण प्रतिस्पर्धा में विभिन्न उद्योगों के बीच उत्पादन के साधन पूर्णतया गतिशील होते हैं। एक साधन कम उत्पादकता के स्थान से अधिक उत्पादकता के स्थान पर जा सकता है जिससे उत्पादन के साधनों का विभिन्न उद्योगों के बीच बटवारा अनुकूलतम हो जाता है। इसी प्रकार साधन एक स्थान से दूसरे स्थान की तरफ भी गतिशील होते हैं। इसे स्थानीय गतिशीलता कह सकते हैं। साधन की गतिशीलता के फलस्वरूप उसकी कीमत विभिन्न उद्योगों व विभिन्न स्थानों में एक-सी पायी जाती है।

(3) परिवहन लागत नहीं होनी—पूर्ण प्रतिस्पर्धा में समस्त उत्पादक परस्पर इतने समीप रहकर काम करते हैं कि कोई परिवहन लागत नहीं लगती। परिवहन लागतों के पाये जाने पर कीमतों के अन्तर उत्पन्न हो जाते हैं जिससे पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा नहीं रह पाती।

इस प्रकार पूर्ण प्रतिस्पर्धा के लिए अनेक फर्में, समरूप वस्तु, स्वतत्र प्रवेश, बाजार का पूर्ण ज्ञान, साधनों की पूर्ण गतिशीलता एव परिवहन लागतों की अनुपस्थिति की शर्तें मान ली जाती हैं। इस विवेचन में अनेक क्रेता भी माने जाते हैं जो परस्पर प्रतियोगिता करते हैं।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति प्राय कुछ कृषिगत पदार्थों जैसे गेहूँ या कपास आदि के बाजारों में पायी जा सकती है, जहाँ अनेक उत्पादक एक-सा माल लेकर बाजार में आते हैं और अकेला उत्पादक वस्तु की कीमत को दिया हुआ मानकर चलता है। वह अपने कार्यों से कीमत को परिवर्तित नहीं कर सकता। वह कुल उत्पत्ति का बहुत छोटा सा अंश उत्पन्न करता है जिससे वह कीमत को प्रभावित नहीं कर पाता।

---

1 ईकर्ट व लेफ्टविच ने विशुद्ध प्रतिस्पर्धा में निम्न चार शर्तें शामिल की हैं—

(1) एक सी वस्तु (2) बाजार की तुलना में प्रत्येक क्रेता या विक्रेता का छोटापन (3) वस्तु की माँग, पूर्ति व कीमत पर कृत्रिम प्रतिबन्धों, जैसे सरकारी हस्तक्षेप का अभाव (4) साधनों व वस्तुओं की गतिशीलता, जिसका अर्थ यह है कि उत्पादन के साधन एक उपयोग से दूसरे उपयोग में जाने को स्वतंत्र होते हैं और विक्रेता अपना माल व सेवाएँ जहाँ सर्वोच्च कीमतें मिलें, वहाँ बेचने को स्वतत्र होते हैं। देखिए Eckert and Leftwich, The Price System and Resource Allocation, 10th ed. 1988, pp 44-45

पूर्ण प्रतिस्पर्धा के मॉडल में उत्पत्ति व कीमत के निर्धारण का अध्ययन बहुत सुगम होता है। इसको आधार मानकर हम वास्तविक जगत में पायी जाने वाली बाजार की दशाओं का अध्ययन ज्यादा अच्छी तरह से कर सकते हैं। इसीलिए अर्थशास्त्रियों ने पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशाओं के अध्ययन पर काफी बल दिया है। प्रतिस्पर्धा की दृष्टि से एक छोर पर पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा पायी जाती है तो दूसरे छोर पर एकाधिकार की, जिसमें प्रतिस्पर्धा का पूर्णतया अभाव होता है। स्मरण रहे कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा वाले बाजार को पूर्ण बाजार कहते हैं तथा शेष सभी बाजारों, जैसे एकाधिकार, एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा व अल्पाधिकार के बाजारों को अपूर्ण बाजार कहते हैं।

अब हम एकाधिकार वाले बाजार की विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

एकाधिकार
(Monopoly)

एकाधिकार के अन्तर्गत एक ही फर्म एक दी हुई वस्तु की एकमात्र उत्पादक होती है और उस वस्तु के कोई निकट के प्रतियोगी स्थानापन्न पदार्थ नहीं होते हैं।[1] एकाधिकार की इस परिभाषा में दो बातों पर ध्यान आकर्षित किया गया है। (1) एकाधिकार के अन्तर्गत एक उत्पादक एक वस्तु की कुल पूर्ति को नियंत्रित करता है, (2) वह जिस वस्तु का निर्माण करता है, उसके कोई निकट या समीप के स्थानापन्न पदार्थ नहीं होते, क्योंकि तभी उसका एकाधिकार चल पाता है। एकाधिकार में फर्म व उद्योग का भेद समाप्त हो जाता है और एक फर्म का *औसत आय वक्र (AR curve) नीचे की ओर झुकता है।*

इस प्रकार एकाधिकार मे एक फर्म की वस्तु के कोई स्थानापन्न पदार्थ नही पाये जाते। एक फर्म उस वस्तु के सम्पूर्ण बाजार पर स्वय कब्जा कर लेती है। एकाधिकारी फर्म यह नही सोचती कि इसके कार्यों से अन्य उद्योगों की फर्मों में किसी प्रकार की प्रतिशोध की भावना पैदा होगी। इसी प्रकार स्वय एक एकाधिकारी फर्म अन्य उद्योगों की फर्मों के कार्यों पर भी ध्यान नहीं देती। एकाधिकारी फर्म अपनी वस्तु की कीमत व उत्पत्ति के बारे में निर्णय लेने में पूर्ण स्वतत्र होती है। टेलीफोन सेवा एकाधिकार का एक सर्वोत्तम दृष्टान्त है। गैस सर्विस भी *एकाधिकार का दूसरा उत्तम दृष्टान्त माना जा सकता है।*

यहाँ पर एकाधिकार की एक विशेष स्थिति अर्थात् 'विशुद्ध' एकाधिकार का अर्थ जान लेना उचित होगा। स्टेनियर व हेग के अनुसार, **विशुद्ध एकाधिकार में एक उत्पादक इतना शक्तिशाली होता है कि वह सदैव उपभोक्ताओं की सम्पूर्ण आय को स्वय ही ले लेने की स्थिति में होता है, उसकी अपनी उत्पत्ति की मात्रा चाहे जितनी हो।** लेकिन 'विशुद्ध एकाधिकार' की यह स्थिति व्यवहार में नहीं पायी जा सकती, क्योंकि कोई भी एकाधिकारी सदैव उपभोक्ताओं की सम्पूर्ण आय को अपनी तरफ आकर्षित करने में सफल नहीं हो सकता। विभिन्न उत्पादक उपभोक्ताओं की सीमित आमदनियों को लेने के लिए आपस में *प्रतिस्पर्धा करते रहते हैं। अत विशुद्ध एकाधिकार के अस्तित्व के लिए एक उत्पादक को*

---

1 'For a more realistic analysis, we turn to a producer who is called a 'monopolist' in the real world We consider the producer who controls the whole supply of a single commodity which has no close substitutes.'
Stonier and Hague op cit., p 192.

सभी वस्तुओं का उत्पादन करना होगा जो सम्भव नहीं होता। व्यवहार में जो एकाधिकार की दशा पायी जाती है उसमें बहुत निकट की प्रतिस्पर्धा तो नहीं, लेकिन थोड़ी प्रतिस्पर्धा अवश्य पायी जाती है। 'विशुद्ध एकाधिकार' में तो जरा भी प्रतिस्पर्धा नहीं होती। अतः यह धारणा अवास्तविक तथा केवल सैद्धान्तिक महत्व की मानी गयी है।[1]

जैसा कि एकाधिकार के विवेचन के शुरू में कहा गया है वास्तविक जगत का एकाधिकारी एक वस्तु की सम्पूर्ण पूर्ति को नियंत्रित करता है और उसकी वस्तु के निकट के स्थानापन्न पदार्थ नहीं होते। ऐसे एकाधिकारी के लिए औसत आय-वक्र समस्त दूरी तक नीचे की ओर झुकेगा। उसके लिए सीमान्त आय वक्र (MR) उसके औसत आय-वक्र (AR) से नीचे होगा।

नीचे सारणी में एकाधिकार की दशा में औसत आय व सीमान्त आय को दर्शाया गया है—

सारणी-2 एकाधिकार में सीमान्त आय तथा औसत आय*

(रुपयों में)

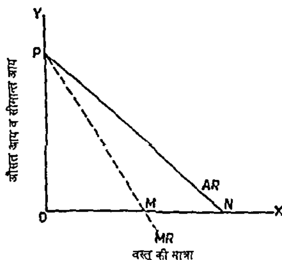
वस्तु की मात्रा (1)	कीमत या औसत आय (AR) (2)	कुल आय (TR) (3)	सीमान्त आय (MR) (4)
0	20	0	20
1	18	18	18
2	16	32	14
3	14	42	10
4	12	48	6
5	10	50	2
6	8	48	–2
7	6	42	–6

एकाधिकारी को माल की अधिक मात्रा बेचने के लिए कीमत घटानी पड़ती है। प्रस्तुत दृष्टांत में एक इकाई बेचने के लिए कीमत 18 रु. से घटकर 7 इकाइयों के लिए 6 रु कर दी जाती है। कॉलम (3) में कुल आय निकाली गयी है जो $p \times q$ के बराबर होती है, जहाँ q वस्तु की मात्रा होती है। कॉलम (4) में सीमान्त आय निकाली गयी है। वस्तु की प्रत्येक मात्रा पर कुल आय में से पिछली मात्रा पर कुल आय घटाने से सीमान्त आय निकल आती है। औसत आय (AR) घट रही है, और सीमान्त आय (MR) भी घट रही है। सीमान्त आय औसत आय से नीचे रहती है। वस्तु की 6 इकाइयों पर सीमान्त आय ऋणात्मक हो जाती है जो आगे भी ऋणात्मक ही रहती है

यह अग्र चित्र की सहायता से समझाया जा सकता है।

चित्र 2 में एकाधिकार की स्थिति में औसत आय (AR) व सीमान्त आय (MR) वक्र दर्शाये गये हैं। ये दोनों नीचे की ओर झुकते हैं। OP कीमत पर वस्तु की मात्रा शून्य है तथा ON वस्तु की मात्रा पर कीमत शून्य है। MR रेखा AR रेखा से नीचे होती है, जिसका

1 लेफ्टविच व ईकर्ट 'विशुद्ध एकाधिकार' को 'एकाधिकार' के अर्थ में ही प्रयुक्त करते हैं।
* इन्हें सीमान्त आगम व औसत आगम भी कहते हैं।



चित्र 2 : एकाधिकार मे औसत आय व सीमान्त आय (AR and MR)

स्पष्टीकरण ऊपर सारणी 2 में दिया जा चुका है। इस प्रकार जहाँ पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में AR = MR होती है, वहाँ अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकार की दशा में AR व MR दोनों घटते हैं और MR < AR (MR की राशि AR की राशि से कम) होती है। M बिन्दु पर MR शून्य हो जाती है, तथा उसके बाद ऋणात्मक। अत एकाधिकार में सीमान्त आय की राशि औसत आय अथवा कीमत से नीची होती है। चित्र में M व N मात्राओं के बीच MR की राशि ऋणात्मक होती है।

यहाँ पर सक्षेप में एकाधिकारी की शक्ति का स्रोत एव एकाधिकार के विभिन्न रूपों का भी परिचय दिया जाता है।

एकाधिकारी शक्ति के स्रोत (*Sources of Monopoly Power*)

एकाधिकार के अस्तित्व के लिए यह आवश्यक है कि उद्योग में नयी फर्मों के प्रवेश पर रोक हो। ऐसा कई तरह से हो सकता है और उसी के आधार पर प्राय तीनों प्रकार के एकाधिकार का उल्लेख किया जाता है—

(1) प्राकृतिक एकाधिकार—यह भौगोलिक दशाओं व उद्योग की प्रकृति के कारण हो सकता है। यदि एक फर्म का कच्चे माल पर नियत्रण हो जाता है तो प्राकृतिक एकाधिकार को जन्म मिलता है। कई बार एक बहुत बडी फर्म स्थापित हो जाती और उसे बडे पैमाने की किफायतें मिलने लगती हैं। अन्य छोटी फर्में उसके समक्ष प्रतियोगिता में नहीं टिक पातीं, इसलिए उस फर्म का उत्पादन पर एकाधिकार स्थापित हो जाता है।

(2) वैधानिक या सामाजिक एकाधिकार वाली फर्में—नयी वस्तु या नयी विधि पर एकाधिकार रखने वाली फर्म को पेटेण्ट अधिकार मिल जाने से वैधानिक एकाधिकार को जन्म मिलता है। रेल, टेलीफोन, विद्युत तथा जल की पूर्ति के सम्बन्ध में जो एकाधिकार की दशा पायी जाती है वह वैधानिक या सामाजिक एकाधिकार की स्थिति होती है।

(3) ऐच्छिक एकाधिकार—जब कट्टर प्रतियोगिता से उत्पादकों को हानि होने की सम्भावना होती है तो वे ऐच्छिक सहयोग व सगठन स्थापित कर लेते हैं, जिनके प्राय निम्न रूप होते हैं—

(अ) कीमत के सम्बन्ध मे ऐच्छिक समझौता—उत्पादकों के बीच न्यूनतम कीमत लेने के बारे में समझौता कर लिया जाता है। कई बार कुल उत्पत्ति को सीमित करके एव विभिन्न उत्पादकों के बीच इसका वितरण निश्चित करके भी कीमतें ऊची रखी जाती हैं। व्यवहार में प्राय ऐच्छिक समझौतों को टालने की कोशिश की जाती है।

(आ) सयोजन (Pooling) करके प्रत्येक फर्म के अश का निर्धारण—यह मात्रा, किस्म, क्षेत्र व समय के अनुसार हो सकता है। विभिन्न फर्मों का कुल उत्पत्ति में अश तय कर दिया जाता है, अथवा माल की किस्म के अनुसार या क्षेत्र व स्थान के अनुसार विभाजन कर दिया जाता है। कई बार उत्पादन का अलग अलग समय बाँट लिया जाता है। कुछ स्थितियों में इन चारों का एक साथ समन्वय स्थापित कर दिया जाता है।

(इ) कार्टेल—कार्टेल को 'बिक्री की व्यवस्था' के लिए बनाया जा सकता है। इसके अधिकार विस्तृत या सीमित हो सकते हैं। यह बातचीत व आपसी सहयोग पर आधारित होता है। इसमें शामिल होने वाली फर्मों को उत्पादन के क्षेत्र में काफी स्वतत्रता रहती है। प्राय एक शक्तिशाली बडी फर्म कार्टेल के निर्णयों को प्रभावित कर पाती है।

(ई) ट्रस्ट—यह एक स्थायी सगठन होता है जो कई फर्मों को मिलाकर अथवा एक फर्म में सबको विलीन करके बनाया जाता है। इससे बडे पैमाने की किफायतें बढ जाती हैं तथा लागतें कम हो जाती हैं।

भारत में व्यावसायिक समूहों व परिवारों के निर्माण से अर्थव्यवस्था में एकाधिकारी प्रवृत्ति को बढावा मिला है। एक बडे व्यावसायिक घराने के अन्तर्गत कई कम्पनिया होती हैं, जिन पर प्रमुख नियत्रण उसी विशिष्ट व्यावसायिक घराने या औद्योगिक समूह का होता है।

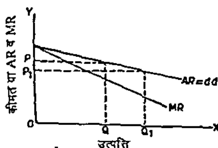
अपूर्ण प्रतिस्पर्धा (Imperfect Competition)

पूर्ण प्रतिस्पर्धा एव एकाधिकार तो बाजार की दो विशेष दशाएँ होती हैं। व्यवहार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की कई दशाएँ पायी जाती हैं जिनमें फर्मों की सख्या व वस्तु की समरूपता या वस्तु भेद को लेकर काफी अन्तर होते हैं। यहाँ पर हम अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दो प्रमुख दशाओं की चर्चा करेंगे। इनमें एक तो एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की दशा है और दूसरी अल्प-विक्रेताधिकार या अल्पाधिकार की। इनका नीचे क्रमश वर्णन किया जाता है—

(1) एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा (Monopolistic competition)—बाजार के इस रूप में अनेक फर्में पायी जाती हैं और साथ में वस्तु विभेद या अतर भी पाया जाता है। अनेक फर्मों के होने से प्रतिस्पर्धा की स्थिति पायी जाती है और वस्तु विभेद के कारण प्रत्येक फर्म का थोडा एकाधिकार भी होता है, अर्थात् एक फर्म अपनी वस्तु की कीमत को कुछ सीमा तक प्रभावित कर पाती है। ग्राहक अपनी पसन्द के कारण कुछ विक्रेताओं को उनके माल की थोडी ऊची कीमत भी दे सकते हैं। कुछ मिठाई बेचने वाले अपने माल की कीमत थोडी ऊची रखकर भी ग्राहकों को आकर्षित कर पाते हैं, क्योंकि ग्राहक किसी न किसी कारण से उनकी मिठाई को दूसरों की मिठाई से अधिक उत्तम समझते हैं। लेकिन ये प्रतिस्पर्धा के भय से कीमत को बहुत ऊचा भी नहीं रख सकते, अन्यथा उनके लगभग सभी

ग्राहक दूसरी तरफ चले जायेंगे। एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में विशेषतया अल्पकाल में फर्म का औसत आय वक्र प्राय काफी लोचदार होता है जो चित्र 3 में दर्शाया गया है।

एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में एक फर्म के द्वारा कीमत के थोडा घटाने से (चित्र 3 में OP से OP1) उसके माल की माँग काफी बढ जाती है (OQ से OQ1) क्योंकि कई ग्राहक अन्य विक्रेताओं से हटकर इसकी तरफ आने लगते हैं। यदि यह फर्म कीमत थोड़ी बढा देती है (OP1 से OP) तो इसके काफी ग्राहक अन्य प्रतिस्पर्धी फर्मों की ओर चले जाते हैं जिससे इसके लिए माँग काफी घट जाती है (OQ1 से OQ)। अत कीमत घटाने पर इस फर्म के माल की माँग काफी बढ जायेगी, हालाँकि अन्य फर्मों में से प्रत्येक को विशेष हानि नहीं होगी। इसी तरह कीमत बढाने से इस फर्म के माल की माँग काफी घट जायेगी, हालाँकि अन्य फर्मों में से प्रत्येक को कोई विशेष लाभ नहीं मिल पायेगा, क्योंकि इसके ग्राहक अन्य कई फर्मों में बट जायेंगे।



चित्र 3–एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा (अल्पकाल में) AR व MR

एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की मुख्य विशेषता यह होती है कि इसमें विभिन्न फर्मों के कीमत व उत्पत्ति निर्णय एक दूसरे से स्वतंत्र होते हैं। एक फर्म कीमत निर्धारित करते समय या बदलते समय इस बात की परवाह नहीं करती कि अन्य फर्मों पर इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी। कारण यह है कि इसमें फर्मों की सख्या काफी अधिक होती है।

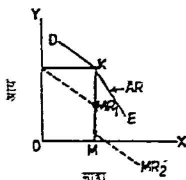
प्रोफेसर चेम्बलेन ने एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा का वर्णन अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक The Theory of Monopolistic Competition में किया है। अमरीका में इस तरह के बाजार का रूप काफी विकसित हुआ है। भारत में भी कई प्रकार के नहाने की साबुनों, हेयर-ऑयल, टूथपेस्ट, ब्रुश, एवं सेवाओं के क्षेत्र में खुदरा व्यापारियों, ड्राइक्लीनरों, टेलरों, हेयर-कटिंग सैलूनों व होटलों तथा विश्रान्ति गृहों के सम्बन्ध में एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की दशा देखने को मिलती है। पाश्चात्य देशों में तथा भारत में भी महानगरों में प्राय स्त्रियों के होजियरी उद्योग, विभिन्न प्रकार के वस्त्रों तथा सेवा व्यापारों में एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा देखने को मिलती है।

(2) अल्पविक्रेताधिकार या अल्पाधिकार (Oligopoly)–इसमें थोड़े से विक्रेता होते हैं और वस्तु एक-सी हो सकती है या वस्तु भेद भी पाया जा सकता है। जब कुछ फर्में एक-सी वस्तु बेचती हैं तो उसे विशुद्ध अल्पविक्रेताधिकर (pure oligopoly) कहते हैं। यह स्थिति प्राय सीमेंट, एल्यूमीनियम व इस्पात उद्योगों में पायी जाती है। जब वस्तु भेद

पाया जाता है तो उसे भेदात्मक अल्पविक्रेताधिकार (differentiated oligopoly) कहते हैं। प्राय यह देखा जाता है कि किसी एक विषय पर बाजार में तीन-चार प्रमुख व प्रमुख-मुख्य उपलब्ध होती हैं, जिनमें परस्पर कुछ अन्तर भी पाये जाते हैं। यह वस्तु-विभेद वाले अल्पविक्रेताधिकार का उदाहरण माना जा सकता है। मोटर गाड़ियाँ, स्कूटर, मोपेड, रेडियो, टी.वी. आदि भेदात्मक अल्पविक्रेताधिकार की स्थिति में शामिल किये जाते हैं।

अल्पविक्रेताधिकार में प्रतियोगी फर्मों के व्यवहार व प्रतिक्रियाओं का एक फर्म के व्यवहार पर काफी प्रभाव पड़ता है। मान लीजिए, टेलीविजन का निर्माण करने वाली चार बड़ी फर्में हैं। उनमें से एक फर्म अपने टी.वी. के भाव कम देती है और हम उसकी माँग पर उसका प्रभाव देखना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस फर्म की माँग पर प्रतियोगी फर्मों की प्रतिक्रियाओं का प्रभाव पड़ेगा। यदि अन्य फर्में स्वयं कीमतें घटाकर बदला नहीं लें तो पहली फर्म अपनी कीमत घटाकर उनके काफी ग्राहक तोड़ लेगी। यदि वे भी उतनी ही कीमतें घटाते हैं तो दूसरा ही प्रभाव पड़ेगा। यह भी सम्भव है कि अन्य फर्में अपनी कीमतें और भी ज्यादा घटाकर इस फर्म को ऐसा मुँहतोड़ जवाब दें कि उसकी माँग की मात्रा पहले से भी कम हो जाय। इसलिए अल्पविक्रेताधिकार में एक फर्म का माँग-वक्र या औसत आय-वक्र बनाना कठिन होता है क्योंकि प्रतिस्पर्धी फर्मों की प्रतिक्रियाओं का पता नहीं लगाया जा सकता।

अल्पविक्रेताधिकार फर्म के लिए कीमत-बेलोचता (price-rigidity) की स्थिति में 'विकुंचित' या 'मोड़ युक्त' माँग-वक्र (kinked demand curve) की चर्चा की जाती है। यह चित्र 4 में दर्शायी गयी है।



चित्र 4 : अल्पविक्रेताधिकार में मोड़युक्त या विकुंचित माँग-वक्र

इसमें K कीमत से ऊपर कीमत बढ़ाने से वस्तु की माँग काफी घट जायेगी, क्योंकि माँग लोचदार है। लेकिन K कीमत से नीची कीमत करने से माँग मामूली ही बढ़ेगी, क्योंकि माँग बेलोच है। फर्म का माँग-वक्र या AR वक्र DKE है जिसमें K पर मोड़ पाया जाता है। MR_1 तथा MR_2 वक्र के बीच में रिक्त स्थान होगा।

सारणी 3 प्रतिस्पर्धा के आधार पर विभिन्न प्रकार के बाजारों में अन्तर का संक्षिप्त परिचय[1]

प्रतिस्पर्धा की किस्म	उत्पादकों की संख्या तथा वस्तु विभेद का अंश	अर्थव्यवस्था के किस भाग में पायी जाती है ?	कीमत पर नियंत्रण का अंश	बिक्री की विधियाँ
(1) पूर्ण प्रतिस्पर्धा (Perfect Competition)	अनेक उत्पादक एक-सी वस्तुएँ	कुछ कृषिगत पदार्थों (जैसे गेहूँ या कपास का बाजार)	जरा भी नहीं	बाजार में विनिमय या नीलामी
(2) एकाधिकारात्मक* (Monopolistic competition)	अनेक उत्पादक वस्तु में असली व काल्पनिक भेद (वस्तु भेद)	टूथपेस्ट, खुदरा व्यापार, कम्पनियाँ	कुछ	
(3) अल्पविक्रेताधिकार या अल्पाधिकार (Oligopoly)	थोड़े उत्पादक या विक्रेता: वस्तु में बहुत-थोड़ा भेद या कोई भेद नहीं	इस्पात, अल्यूमिनियम	कुछ	विज्ञापन व वस्तु की किस्म के अनुसार प्रतियोगिता
(4) पूर्ण एकाधिकार	अकेला उत्पादक विशेष वस्तु जिसके निकट के स्थानापन्न नहीं होते	कुछ सार्वजनिक उपयोगिता के उद्योग (public utilities) (विद्युत, गैस, जल, आदि)	काफी	विकासोन्मुख किस्म का विज्ञापन जिसके द्वारा जनता से सम्पर्क बढ़ाया जाता है।

* सेमुअलसन व नोरढाउस ने यहाँ पर अपूर्ण प्रतिस्पर्धा शब्द का उपयोग किया है।

बाजार के विभिन्न रूपों को उपर्युक्त सारणी में स्पष्ट किया गया है। प्रस्तुत सारणी में बाजार के विभिन्न रूपों में निम्न आधारों पर भेद किया गया है

(i) उत्पादकों की संख्या,

(ii) वस्तु विभेद का अंश,

(iii) यह अर्थव्यवस्था के किस भाग में पाया जाता है ?

(iv) कीमत पर नियंत्रण का अंश कितना है ?

(v) बिक्री किस तरह की जाती है ?

हमने देखा कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा में अनेक उत्पादक होते हैं तथा वस्तुएँ एक सी होती हैं। एक उत्पादक का कीमत पर जरा भी प्रभाव नहीं पड़ता। एकाधिकार में वस्तु के निकट के स्थानापन्न पदार्थ नहीं पाये जाते और उत्पादक का कीमत पर काफी नियंत्रण होता है।

अल्पाधिकार व एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा दोनों अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशाएँ मानी जाती हैं। विशुद्ध अल्पाधिकार की दशा को पहचानना भी कठिन नहीं होता, क्योंकि इसमें थोड़े से उत्पादक एक सी वस्तु का उत्पादन करते हैं। ग्राहक उनमें अन्तर नहीं करते। ऐसा प्राय सीमेंट, चीनी या इस्पात आदि वस्तुओं में देखा जाता है, बशर्ते कि क्रेता इनमें परस्पर अन्तर न मानें, और वे इनमें से किसी की भी सम्बन्धित वस्तु को खरीदने को उद्यत रहें।

लेकिन व्यवहार में विभेदात्मक अल्पाधिकार तथा एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में अन्तर करने में कुछ कठिनाई होती है। इन दोनों में वस्तु भेद तो पाया जाता है, लेकिन एक में फर्मों

की संख्या कम होती है और दूसरे में ज्यादा होती है। फिर अल्पाधिकार में विभिन्न फर्मों के कीमत उत्पत्ति निर्णय परस्पर निर्भर होते हैं, जबकि एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा में वे एक-दूसरे से स्वतंत्र होते हैं।

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर हम बाजार के विभिन्न वर्गीकरणों का सारांश निम्न सारणी में प्रस्तुत करते हैं

सारणी 4 बाजार के विभिन्न रूप

क्षेत्र के अनुसार	समय/अवधि के अनुसार	कानूनी वैधता के अनुसार	वस्तु या साधन का आधार	स्वतंत्र या नियंत्रित	प्रतिस्पर्धा के अनुसार
(i) स्थानीय	(i) अति अल्पकाल	(i) सामान्य बाजार	(i) वस्तु बाजार	(i) स्वतंत्र बाजार	(i) विक्रेता पक्ष*
(ii) राष्ट्रीय	(ii) अल्पकाल	(ii) काला बाजार	(ii) साधन बाजार	(ii) नियंत्रित बाजार	(ii) क्रेता पक्ष+
(iii) अन्तर्राष्ट्रीय	(iii) दीर्घकाल				
	(iv) अति दीर्घकाल				

*विक्रेता पक्ष. (अ) पूर्ण प्रतिस्पर्धा (पूर्ण बाजार)
(ब) एकाधिकार (अपूर्ण बाजार)
(स) एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा
(द) अल्पाधिकार

+क्रेता पक्ष. (अ) क्रेता-एकाधिकार (monopsony)
(ब) क्रेता अल्पाधिकार
(स) द्विपक्षीय एकाधिकार (इसे विक्रेता-पक्ष में भी दिखाया जा सकता है।)

विभिन्न प्रकार के बाजारों की पहचान से सम्बन्धित प्रश्न

निम्न दशाओं में बाजार के ढाँचे को पहचानिये और उसके समर्थन में अपने तर्क दीजिये—

(अ) भारत की मण्डियों में गेहूँ का बाजार।

(ब) हिन्दुस्तान स्टेण्डर्ड, प्रीमियर ऑटोमोबाइल्स, हिन्दुस्तान मोटर्स लि तथा मारुति लि. द्वारा कारों का उत्पादन।

(स) नहाने का साबुन लिरिल।

(द) भिलाई इस्पात के कारखाने का बिक्री योग्य इस्पात।

(य) बड़े शहर में नगरपालिका निगम द्वारा जल की पूर्ति।

(र) ओनिडा टी. वी.।

उत्तर—(अ) भारत की मण्डियों में गेहूँ का बाजार पूर्ण प्रतिस्पर्धा के समीप माना जा सकता है, क्योंकि इसमें अनेक क्रेता व अनेक विक्रेता, समरूप वस्तु, आदि शर्तें पूरी होती हैं।

एक मण्डी में बहुत से किसान अपना गेहूँ बिक्री के लिए लेते हैं। एक किसान गेहूँ की कीमत को प्रभावित नहीं कर सकता। वैसे मण्डी में कई तरह का गेहूँ पाया जा सकता है, लेकिन यहाँ यह कल्पना कर ली गयी है कि एक मण्डी में ज्यादा मात्रा में एक से गेहूँ की ही आवक होती है। वैसे भी यदि गेहूँ की कई किस्मों की आवक मानें, जैसे कल्याण सोना, लाल गेहूँ, आदि तो भी इनमें से प्रत्येक किस्म के क्रेता विक्रेता अनेक होते हैं, जिससे प्रत्येक किस्म के गेहूँ के सम्बन्ध में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति मानी जा सकती है, अथवा समस्त गेहूँ के बाजार की दृष्टि से गेहूँ की कई किस्मों के होने के कारण एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा (वस्तु-विभेद के कारण) की स्थिति मानी जा सकती है।

(ब) यहाँ चार कार-उत्पादकों द्वारा भिन्न भिन्न किस्म की कारों के बनाने की स्थिति होने के कारण भेदात्मक अल्पाधिकार (differentiated oligopoly) की दशा होती है। कारों के ग्राहक अपनी-अपनी पसन्द के अनुसार कारें खरीदने का निर्णय लेते हैं, इसलिए उनके मस्तिष्क में इनकी कारें एक-सी नहीं होतीं।

(स) लिरिल नहाने का साबुन एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की बाजार-स्थिति में माना जा सकता है क्योंकि इसकी माँग काफी लोचदार होती है। लिरिल की कीमत प्रति टिकिया 5.50 रुपये से घटाकर 5.0 रुपये कर देने से (अन्य नहाने की साबुनों के भाव यथावत् रहने पर) इस ब्राण्ड की माँग काफी बढ़ जायेगी, क्योंकि रेक्सोना, गंगा, हमाम, लक्स, डेटोल सोप, ओ के, लाइफबॉय आदि के ग्राहक सम्भवत लिरिल की तरफ आकर्षित होने लगेंगे। इसी प्रकार लिरिल के दाम बढ़ने पर इसकी माँग काफी कम भी हो सकती है क्योंकि ग्राहक अन्य साबुन खरीदने लग जाते हैं।

चूंकि नहाने की साबुनों के बहुत से ब्राण्ड चल पड़े हैं, इसलिए यह एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा की दशा में भी लिया जा सकता है, अन्यथा यदि केवल तीन-चार ब्राण्डों में ही परस्पर प्रतिस्पर्धा होती तो यह भेदात्मक अल्पाधिकार की दशा मानी जा सकती थी।

(द) भिलाई इस्पात के कारखाने का इस्पात अल्पाधिकार (oligopoly) की स्थिति में शामिल किया जायगा, क्योंकि सार्वजनिक क्षेत्र में इस्पात के अन्य कारखाने दुर्गापुर, राउरकेला व बोकारो में हैं, तथा निजी क्षेत्र में टाटा का कारखाना है। अत यह कुछेक उत्पादकों की स्थिति है। इस्पात को एक-सा-मानने पर यह विशुद्ध अल्पाधिकार के अन्तर्गत लिया जायेगा। यदि इनके इस्पात में अन्तर मानें तो भेदात्मक अल्पाधिकार की दशा बन जायेगी। वैसे अर्थशास्त्री इस्पात का दृष्टान्त प्राय विशुद्ध अल्पाधिकार में ही लिया करते हैं।

(ए) बड़े शहर में नगरपालिका निगम द्वारा 'जल की पूर्ति' सार्वजनिक उपयोगिता की वस्तु या सेवा से सम्बन्ध रखने के कारण एकाधिकार की दशा में आती है।

(ऐ) ओनिडा टी वी भेदात्मक अल्पाधिकार की स्थिति में लिया जायगा क्योंकि इसे टी. वी. के अन्य उत्पादकों से प्रतिस्पर्धा करनी होती है।

भारत में बाजार का कौन-सा रूप सबसे ज्यादा लोकप्रिय है ?

भारत एक विकासशील राष्ट्र है, यहाँ नयी-नयी वस्तुओं के कारखाने खोले जा रहे हैं और देश का औद्योगीकरण किया जा रहा है। देश में कृषिगत पदार्थों में तो बहुधा पूर्ण प्रतिस्पर्धा के बाजार की स्थिति देखने को मिलती है और परिवहन, जल की पूर्ति, विद्युत, गैस आदि में बहुत कुछ एकाधिकार की दशाएँ पायी जाती हैं। लेकिन अधिकांश औद्योगिक

वस्तुओं जैसे सीमेंट, कागज, इस्पात, कारों, मशीनों आदि में प्रत्येक में थोड़े से उत्पादकों का प्रभाव होने से भारतीय उद्योगों में अल्पाधिकार की दशा काफी प्रचलित हो गयी। बम्बई विश्वविद्यालय के औद्योगिक अर्थशास्त्र के प्रोफेसर जे सी सन्डेसरा *(J C Sandesara)* ने बताया है कि भारत में 1970 में चोटी की 4 फर्मों का इन्जीनियरी व रसायन उद्योगों में उच्च श्रेणी का नियत्रण पाया गया था। 33% व अधिक का केन्द्रीयकरण, अर्थात् ऊचा केन्द्रीयकरण, जूतों, रबड व रबड पदार्थों, पेट्रोल पदार्थों, कोयला, मनोरजन की सेवाओं (सिनेमा वगैरा) में पाया गया था। अल्पाधिकार की दशा में उत्पत्ति पर प्रतिबन्ध तथा मुनाफाखोरी को प्रोत्साहन मिलता है।

लेकिन देश का तेजी से औद्योगिक विकास होने तथा वस्तु विभेद के बढने एव उत्पादकों की सख्या के बढने से एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा का वातावरण भी बनता व बढता जा रहा है। औद्योगिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रों, जैसे अमरीका, कनाडा, जापान आदि में एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा का अधिक प्रभाव देखने को मिलता है।

प्रश्न

1 पूर्ण प्रतियोगिता एव अपूर्ण प्रतियोगिता बाजारों में अन्तर कीजिए। (Raj Iyr., 1994)

2. निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—
   (i) पूर्ण प्रतियोगिता एव अपूर्ण प्रतियोगिता
   (ii) स्थिर लागतें एव परिवर्तनशील लागतें
   (iii) औसत लागतें एव सीमान्त लागतें। (Raj Iyr., 1995)

3 बाजार की परिभाषा दीजिये। पूर्ण प्रतियोगिता एव अपूर्ण प्रतियोगी बाजारों में अतर कीजिये। (Raj Iyr., 1996)

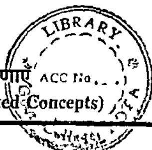
4 निम्नलिखित को स्पष्ट कीजिये—
   (अ) एकाधिकृत प्रतियोगिता और अल्पाधिकार (Raj Iyr., 1996, non-coll)

5 व्याख्या कीजिए—
   (i) पूर्ण प्रतियोगी एव एकाधिकार बाजार में विभेद कीजिये। (Raj Iyr., 1997)



इकाई II
(Unit II)

8



राष्ट्रीय आय व सम्बद्ध अवधारणाएँ
(National Income and Related Concepts)

किसी भी अर्थव्यवस्था की आर्थिक प्रगति का अनुमान उसमें उत्पादित वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य से लगाया जाता है। राष्ट्रीय आय की सहायता से दो देशों के आर्थिक विकास की तुलना की जा सकती है। राष्ट्रीय आय के अध्ययन का महत्त्व अल्पकालीन व दीर्घकालीन दोनों दृष्टियों से होता है। इसके अल्पकालीन उतार-चढ़ावों से आर्थिक तेजी-मन्दी की दशाओं, अर्थात् व्यापार-चक्रों (business cycles) का अध्ययन किया जाता है, तथा दीर्घकालीन परिवर्तनों से आर्थिक विकास की दर ज्ञात की जाती है। इसलिए आजकल अर्थशास्त्र में राष्ट्रीय आय के अध्ययन का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। इसका देश के उत्पादन, उपभोग व रोजगार आदि से गहरा सम्बन्ध होता है। जब 1930 की दशाब्दी में विश्व में महामंदी छा गई थी तब राष्ट्रीय आय के अध्ययन का महत्त्व काफी बढ़ गया था। हम इस अध्याय में राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित विभिन्न मूलभूत अवधारणाओं का अर्थ स्पष्ट करेंगे और साथ में यह भी बतलायेंगे कि किस प्रकार राष्ट्रीय उत्पत्ति, राष्ट्रीय आय व राष्ट्रीय व्यय तीनों एक-दूसरे के बराबर होते हैं। राष्ट्रीय उत्पत्ति अथवा राष्ट्रीय आय की चर्चा को भारतीय उदाहरणों से समझाया जायगा ताकि पाठकों को अपने देश की स्थिति का समुचित ज्ञान प्राप्त हो सके।

हम पहले स्टॉक व प्रवाह की अवधारणाओं के विवेचन में बतला चुके हैं कि राष्ट्रीय आय एक प्रवाह होती है, जबकि मुद्रा की पूर्ति एक स्टॉक होती है।

राष्ट्रीय उत्पत्ति के तीन माप : सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (Gross National Product), सकल राष्ट्रीय आय (Gross National Income) तथा सकल राष्ट्रीय व्यय (Gross National Expenditure)।

1. सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP)—यह एक देश में एक वर्ष की अवधि में उत्पादित समस्त वस्तुओं व सेवाओं के मूल्य का योग होती है। GNP वस्तु-प्रवाह (Goods-flow) को व्यक्त करती है। प्रति वर्ष देश में अनेक वस्तुओं व सेवाओं, जैसे गेहूँ, वस्त्र, कार, कार्यालयों में कर्मचारियों तथा बाजार में नाई, धोबी आदि की सेवाओं का उपयोग किया

जाता है। इन विभिन्न वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य बाजार-भावों पर लगाया जाता है। हम आगे चल कर स्पष्ट करेंगे कि GNP की गणना में अंतिम वस्तुओं (final goods) का मूल्य ही शामिल किया जाता है, जैसे डबल रोटी अन्तिम वस्तु होने के कारण इसका मूल्य GNP में शामिल किया जायगा, और इसको उत्पन्न करने से सम्बन्धित गेहूँ, आटे, आदि का मूल्य शामिल नहीं किया जायगा, क्योंकि ये मध्यवर्ती या बीच की वस्तुएँ (intermediate goods) होती हैं। इसी प्रकार GNP में चीनी का मूल्य लगा लेने पर गन्ने का मूल्य अलग से नहीं लगाया जाता क्योंकि इससे दोहरी गिनती की कठिनाई उत्पन्न हो जाती है।

2. सकल राष्ट्रीय आय (GNI)—सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP) के उत्पादन से प्राप्त समस्त आमदनियों (मजदूरी, मुनाफा, लगान, ब्याज आदि) का योग सकल राष्ट्रीय आय (GNI) कहलाता है। इस प्रकार GNI की धारणा आय-प्रवाह (earnings-flow) को व्यक्त करती है। यह उत्पादन के साधनों की आय जैसे—लगान, ब्याज, मजदूरी व मुनाफों का जोड़ होती है। इस प्रकार इसमें साधन आय (factor-income) के दृष्टिकोण से विचार किया जाता है।

राष्ट्रीय आय में से फर्मों द्वारा रोके गये मुनाफे व प्रत्यक्ष कर (आयकर) घटाने से प्राप्त राशि खर्च के योग्य आय या प्रयोज्य आय (disposable income) कहलाती है। परिवार इसका उपयोग उपभोग व बचत के रूप में कर सकते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर $Y=C+S$ का सम्बन्ध प्राप्त होता है, जहाँ Y = आय, C = उपभोग व S = बचत के सूचक होते हैं।

3. सकल राष्ट्रीय व्यय (GNE)—इसमें हम व्यय-पक्ष की ओर से चलते हैं एवं वस्तुओं व सेवाओं पर किये गये अन्तिम व्यय को देखते हैं।

व्यय को चार भागों में बाटा जा सकता है—यथा, उपभोग (C), विनियोग (I), सरकारी खरीद (G) तथा निर्यातों की आयातों पर अधिकता $(X-M)$, अथवा NX, यहाँ X निर्यातों व M आयातों को तथा NX शुद्ध निर्यातों को सूचित करते हैं।

इस प्रकार व्यय के दृष्टिकोण को अपनाने पर $GNE=Y=C+I+G+NX$ होगा, जो एक तत्समक (identity) भी माना जाता है। इसे GNP भी कह सकते हैं। यह सम्बन्ध परिभाषा के आधार पर लागू होता है।

उपभोग में परिवार वस्तुएँ व सेवाएँ खरीदते हैं। वस्तुएँ टिकाऊ व गैर-टिकाऊ हो सकती हैं। विनियोग में रिहायशी भवनों पर स्थिर विनियोग, फर्मों के द्वारा प्लान्ट व मशीनरी का विनियोग तथा माल में विनियोग (inventory investment) शामिल होते हैं। फर्मों के पास वर्ष के अंत में बचे माल के मूल्य में से वर्ष के शुरू में पाये जाने वाले माल के मूल्य को घटाने से जो राशि प्राप्त होती है, वह 'माल में विनियोग' कहलाता है। यह धनात्मक या ऋणात्मक हो सकता है। सरकारी खरीद में सुरक्षा उपकरण, सरकारी सेवाएँ तथा अन्य सरकारी खरीद की मदें शामिल होती हैं।

अन्तिम मद, शुद्ध निर्यातों में वस्तुओं और सेवाओं के निर्यात की राशि में से इनके आयात की राशि के घटाने का परिणाम आता है, जो धनात्मक हो सकता है अथवा ऋणात्मक भी हो सकता है। इसे विदेशी क्षेत्र का भाग माना जाता है। अत दो क्षेत्रों वाले मॉडल में $C+I$ लेते हैं, तीन क्षेत्रों वाले मॉडल में $C+I+G$ तथा चार क्षेत्रों वाले मॉडल में $C+I+G+(X-M)$ लेते हैं। इसका अधिक स्पष्टीकरण आगे चलकर किया जायगा।

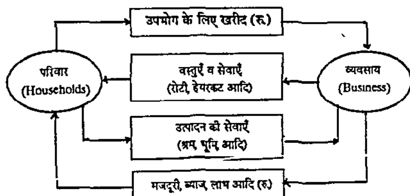
एक फर्म का सरल उदाहरण—

मान लीजिए, एक फर्म डबल रोटी बनाती है। वर्ष में डबल रोटी का बाजार मूल्य 1,000 रु. होता है, जो GNP कहलाता है, और फर्म ने मजदूरी के रूप में 800 रु. बाँटे, किराया 100 रु चुकाया, ब्याज 25 रु दिया और शेष 75 रु. उसे लाभ के रूप में प्राप्त हुए। इस प्रकार कुल आमदनी का योग भी 1,000 रु. (GNP) के बराबर हुआ। इसे एक खाते के रूप में नीचे सूचित किया गया है। उपभोक्ता व सरकार डबल रोटी पर 1000 रु. व्यय करते हैं जिससे GNE की राशि प्राप्त होती है। इस प्रकार उत्पादन से आय उत्पन्न होती है तथा आय से व्यय उत्पन्न होता है। आगे चलकर व्यय के फलस्वरूप पुन उत्पादन होता है। इस प्रकार एक अर्थव्यवस्था में आय व व्यय के प्रवाह निरन्तर चलते रहते हैं।

एक फर्म की आय का खाता

उत्पत्ति का मूल्य (Value of Output)		आमदनियाँ (Incomes)	
	रु.	उत्पादन की लागत	रु.
डबल रोटी का मूल्य	1000	मजदूरी	800
		किराया	100
		ब्याज	25
		लाभ (शेष राशि)	75
कुल	1000	कुल	1000

इसी उदाहरण को अनेक फर्मों पर लागू करके भी देखा जा सकता है। मूलत परिणाम वैसा ही निकलेगा। समस्त फर्मों के लिए भी GNP = GNI होगी। राष्ट्रीय उत्पत्ति के इन दो मार्गों को निम्नांकित चित्र की सहायता से व्यक्त किया जा सकता है।



चित्र–1 राष्ट्रीय उत्पत्ति के माप—वस्तु-प्रवाह व आय प्रवाह
(Goods-flow and Earnings-flow)

चित्र के ऊपरी घेरे में लोग अन्तिम वस्तुओं व सेवाओं पर अपनी मुद्रा व्यय करते हैं। व्यवसायी अपनी वस्तुएँ बेचते हैं और परिवार इन्हें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ख़रीदते हैं। यह GNP का दृष्टिकोण व्यक्त करता है। चित्र के निचले घेरे में लोग अपनी सेवाएँ व्यवसायियों या फर्मों को प्रदान करते हैं, और बदले में फर्म अथवा व्यवसायी इनको मजदूरी, ब्याज, लगान व लाभांश के रूप में आमदनी प्रदान करते हैं। यह घेरा GNI का दृष्टिकोण व्यक्त करता है।

स्मरण रहे कि इस विवेचन में लाभ की मात्रा एक शेष राशि का काम करती है। इसलिए *GNP = GNI होगी, अर्थात् वस्तु-प्रवाह की राशि आय प्रवाह की राशि के* बराबर होती है। हमने दृष्टान्त को सरल रखने के लिए फिलहाल इसमें बचत विनियोग, विदेशी लेन-देन, आदि का समावेश नहीं किया है। लेकिन मुख्य बात समझ में आ जाने पर *इनका समावेश भी सरल हो जाता है।*

GNP की गणना में उत्पत्ति का मूल्यांकन कैसे किया जाता है ?

हम पहले बतला चुके हैं कि GNP में अनेक प्रकार की वस्तुएँ व सेवाएँ शामिल होती हैं। हम इनके 'मूल्य' आंकते हैं। यदि एक कार बाजार में तीन लाख रुपये में बिकती है तो GNP में तीन लाख रुपये जुड जायेंगे। यदि नाई हजामत के दस रुपये लेता है तो GNP में 10 रुपये जुड जायेंगे, आदि। इस प्रकार विभिन्न वस्तुएँ व सेवाएँ अपने मूल्य के अनुसार GNP में शामिल हो जाती हैं। वस्तुओं की मात्रा को उनके मूल्य से गुणा किया जाता है और इसी प्रकार सेवाओं के लिए भी ऐसा ही किया जाता है। वस्तुओं व सेवाओं के भाव बाजार में तय होते हैं, अथवा सरकार के द्वारा निश्चित किये जाते हैं।

एक से अधिक बार गिनती की समस्या को टालना आवश्यक

सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (*GNP*) *की धारणा बडी सरल होती है। मान लीजिए 10 कारें* बनीं और प्रति कार तीन लाख रुपये का मूल्य प्राप्त हुआ तो GNP में तीन लाख रुपया × 10 = 30 लाख रुपये जुड जायेंगे। लेकिन यदि कार के उत्पादन में लगे अन्य पदार्थों जैसे *इस्पात, रबड आदि का मूल्य अलग से जोड दिया गया तो दोहरी गिनती* (double counting) की समस्या उत्पन्न हो जायेगी, जिससे GNP की राशि अनावश्यक रूप से बढ़ जायगी।

इसे डबल रोटी का उदाहरण देकर समझाया जा सकता है। मान लीजिए एक डबल रोटी 3.50 रुपये में बिकती है। कल्पना कीजिए कि रोटी बनाने वाले ने इसके लिए आटे की *मिल से 2 रुपये में आटा ख़रीदा। आटे की मिल वाले ने किसान से गेहूँ 1.50 रुपये में* खरीदा। इसी प्रकार किसान ने खाद, बीज, औजार आदि के रूप में साधन जुटाये। मान लीजिए, किसान को एक रोटी जितना गेहूँ उत्पन्न करने में इन साधनों के लिए 50 पैसे देने पड़े। अब यदि हम इन विभिन्न वस्तुओं का मूल्य जोडते जाएँ तो कुल मूल्य *3.50+2+1.50+0.50 = 7.50 रुपये हो जायगा,* जो गलत माना जायगा, क्योंकि रोटी के मूल्य 3.50 रुपये में आटे, गेहूँ, बीज, आदि सभी के मूल्य पहले ही शामिल किये जा चुके हैं। अत दो बार, तीन बार या अधिक बार की गिनती को टालने के लिए हमें अन्तिम वस्तु (final goods) *का मूल्य ही लगाना चाहिए।*

सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP) के मूल्यांकन की प्रत्येक उद्योग के द्वारा जोड़े गये मूल्य या वर्धित-मूल्य (value-added) की विधि—

प्रत्येक उद्योग के द्वारा जोडा गया या वर्धित मूल्य निकाल कर भी सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP) का मूल्य निकाला जा सकता है। जोडे गये मूल्य की अवधारणा बहुत सरल होती है। यह एक फर्म के बिक्री मूल्य व इसके द्वारा अन्य फर्मों से खरीदे गये मूल्य के अन्तर के बराबर होती है।

उपर्युक्त रोटी के उदाहरण में 'जोड़ा गया मूल्य' या वर्धित मूल्य आगे दिया गया है—

(रुपयों में)

वस्तु का नाम	बिक्री मूल्य	वर्धित मूल्य या जोड़ा गया मूल्य	उद्योग का नाम
1 रोटी	3 50	3.50–2.00=1.50	रोटी-उद्योग
2 आटा	2.00	2.00–1.50=0.50	आटा-उद्योग
3 गेहूँ	1.50	1.50–0.50=1 00	गेहूँ-उद्योग
4 खाद, बीज, वगैरा	0.50	=0.50	खाद-बीज उद्योग
कुल	7.50	3.50	

इस प्रकार 'जोडा गया मूल्य' बिक्री की राशि में से खरीद की राशि घटाने से निकल आता है। एक विकसित औद्योगिक समाज में किसी भी वस्तु का अन्तिम मूल्य विभिन्न उद्योगों के द्वारा प्रदान किया जाता है। प्रत्येक फर्म अन्य फर्मों से कच्चा माल खरीदती है, उन पर अपना कार्य करती है तथा उन्हें अन्य स्थानों पर बेचती है। इस प्रकार वह उनके मूल्य में वृद्धि करती है।

अत सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति GNP को 'अन्तिम वस्तु के बाजार मूल्य' अथवा 'प्रत्येक उद्योग के द्वारा जोड़े गये मूल्य' की विधि का उपयोग करके मापा जा सकता है। उदाहरण के लिए रोटी के दृष्टान्त में अन्तिम वस्तु के रूप में एक डबल रोटी का मूल्य 3.50 रुपये है अथवा रोटी से सम्बन्धित सभी उद्योगों जैसे स्वय रोटी उद्योग, आटा उद्योग, गेहूँ उद्योग, खाद बीज उद्योग, आदि के द्वारा कुल जोडा गया मूल्य भी 3.50 रुपये ही है।

GNP मे क्या जोड़े व क्या न जोड़ें?

स्मरण रहे कि GNP केवल आर्थिक उत्पत्ति, अर्थात् बाजार के लिए किए गए उत्पादन का ही माप होती है। लोग अपने घर पर कई प्रकार के कार्य किया करते हैं जैसे स्त्रियाँ भोजन बनाती हैं, कपडे धोती हैं एव अपने बच्चों की देखभाल करती हैं। लेकिन इन कार्यों का मूल्य GNP में नहीं जोडा जाता, क्योंकि ये आर्थिक कार्य नहीं होते, एव बाजार में विनिमय के लिए नही किए जाते। अत गृहिणी की सेवाये GNP में शामिल नही होती। यदि ये ही कार्य क्रमश रसोइए, धोबी व नौकर नौकरानी द्वारा किए जाते (जिन्हें पारिश्रमिक देना पडता) तो इनका मूल्य GNP में जुड जाता। लेकिन कहीं कहीं बाजार का आधार छोडना भी पडता है। जैसे कृषक के द्वारा अपने खेत पर उगाई गई वस्तुओं का उपभोग GNP में जोडा जाता है। इसी प्रकार स्वय के मकान में रहने वाले व्यक्ति के लिए उसका 'किराया लगाकर' GNP में जोडना होता है। ऐसा मानना पडेगा कि वह व्यक्ति स्वयं को

ही अपने मकान का 'किराया' दे रहा है। यदि वह उस मकान को किराये पर देता तो भी उसे किराया मिलता।

पेन्शन व सार्वजनिक ऋणों का ब्याज GNP में नहीं जोड़ा जाता—स्मरण रहे कि GNP में चालू वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य ही शामिल किया जाता है। इसलिए पेन्शन जैसी हस्तान्तरण की राशि (Transfer item) इसमें नहीं जोड़ी जाती, क्योंकि पेन्शन का भुगतान चालू वस्तुओं व सेवाओं के बदले में नहीं किया जाता, बल्कि भूतकाल की सेवाओं के बदले में किया जाता है। इसी प्रकार सार्वजनिक ऋण (सरकार द्वारा जनता से लिये गये कर्ज) का ब्याज भी GNP में शामिल नहीं होता, क्योंकि यह भी वर्तमान में उत्पन्न वस्तुओं व सेवाओं का प्रतिफल नहीं होता। वैसे सार्वजनिक ऋण के ब्याज की राशि काफी ऊँची होती है।

GNP के विभिन्न अंगों पर विचार करने से पूर्व हमें प्रचलित मूल्यों पर राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP at current prices) एवं स्थिर मूल्यों पर सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP at constant prices) के अन्तर को भी समझना होगा। प्रचलित मूल्यों पर GNP को कीमत-सूचकांक (Price index numbers) से डिफ्लेट या समायोजित करके स्थिर मूल्यों पर GNP निकाली जाती है। इसे नीचे एक काल्पनिक उदाहरण की सहायता से समझाया जाता है—

वित्तीय वर्ष (अप्रेल-मार्च)	(1) मौद्रिक GNP (करोड़ रु. में)	(2) कीमत-सूचनांक	(3) वास्तविक GNP (करोड़ रु. में)
1980-81	120	100	120/100 × 100=120
1995-96	180	150	180/150 ×100=120

कॉलम (1) को कॉलम (2) से डिफ्लेट (Deflate) करके हम वास्तविक GNP पर पहुँचते हैं, जो कॉलम (3) में दिखाई गई है। कॉलम (1) व (3) के परिणाम काफी भिन्न हैं। मौद्रिक रूप में तो GNP ड्योढी हो गई, लेकिन वास्तविक रूप में यह स्थिर रही है, क्योंकि कीमतें 1980-81 से 1995-96 के बीच में ड्योढी हो गई हैं।

अर्थशास्त्रियों की विशेष रुचि वास्तविक GNP के परिवर्तनों का अध्ययन करने में होती है, क्योंकि एक अर्थव्यवस्था की वास्तविक प्रगति स्थिर मूल्यों पर GNP की सहायता से ही जानी जा सकती है।

भारत में राष्ट्रीय आय का वर्तमान आधार वर्ष 1980-81 है। इससे पूर्व का आधार वर्ष 1970-71 था।

भारत में 1995-96 में प्रचलित भावों (current prices) पर साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति अथवा राष्ट्रीय आय लगभग 8576 अरब रुपये तथा इसी वर्ष के लिए 1980-81 के भावों पर यह लगभग 2367 अरब रुपये रही है।[1] इन दोनों में अंतर का कारण 1980-81 से 1995-96 के बीच मूल्यों का बढ़ जाना है। इस प्रकार 1995-96 में स्थिर मूल्यों पर राष्ट्रीय आय प्रचलित मूल्यों पर राष्ट्रीय आय का लगभग 28% अंश थी, जो यह दर्शाती है कि 1980-81 से 1995-96 की अवधि में मूल्य स्तर काफी बढ़ गया है।

1. Economic Survey, 1996-97, p. S-3

GNE अथवा GNP के अग (Components of GNE or GNP)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि एक देशवासियों द्वारा वर्ष में किये गये अन्तिम 'व्यय' के जोड को सकल राष्ट्रीय व्यय (GNE) कहकर पुकारते हैं। जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है इसमें देश के समस्त उपभोक्ताओं द्वारा किया गया व्यय (C), विनियोग (I) (निजी क्षेत्र व सार्वजनिक क्षेत्र दोनों का), सरकार द्वारा वस्तुओं पर किया गया चालू व्यय (G) एव निर्यात व आयात का अन्तर (X – M) आते हैं। चूँकि GNP = GNE होती है, इसलिये ये GNP के भी अग माने जा सकते हैं। GNE की धारणा में हम 'व्यय पक्ष' की ओर से चलकर राष्ट्रीय उत्पत्ति के जोड पर पहुँचते हैं। GNE अथवा GNP के अगों का सक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

1. उपभोक्ताओं द्वारा किया गया चालू व्यय (C)–इसमें उपभोक्ता वर्ग द्वारा टिकाऊ व गैर टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं पर किया जाने वाला व्यय आता है। उपभोक्ता वर्ग सेवाओं पर भी व्यय करता है। उपभोक्ता का व्यय GNE अथवा GNP का एक बडा अश होता है। निर्धन देशों में आय का काफी बडा भाग इसी मद के अन्तर्गत आता है।

2. विनियोग (I)—एक देश फैक्ट्री की इमारत, मशीनरी, साज सामान, मकानात व अन्य उत्पादक परिसम्पत्तियों के निर्माण में अपने साधन लगाता है। इससे देश में पूँजी निर्माण होता है और अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता बढती है। स्वय के रहने के लिए बनाए गए मकान भी पूँजी-निर्माण में ही शामिल किये जाते है। स्मरण रहे कि घरेलू पूँजी-निर्माण या विनियोग के अन्तर्गत निजी विनियोग तथा सार्वजनिक विनियोग दोनो शामिल होते है। हम चाहें तो इनको अलग-अलग भी जोड़ सकते है। इसमें माल का विनियोग (inventory Investment) भी शामिल किया जाता है।

प्रतिवर्ष मशीनों व फैक्ट्रियों में टूट फूट व घिसावट के कारण मूल्य ह्रास भी होता है। उत्पादन की नई विधियाँ आने से कुछ चालू साज सामान पुराना पड जाता है। इसलिए पूँजी निर्माण का एक काम पूँजी के वर्तमान स्टॉक को भी बनाये रखना होता है। अत सकल विनियोग की राशि के मूल्य ह्रास (depreciation) के बराबर होने से नया पूँजी निर्माण शून्य हो जाता है। नये पूँजी निर्माण के लिए आवश्यक है कि सकल विनियोग की राशि मूल्य ह्रास की राशि से अधिक हो। दूसरे शब्दों में, शुद्ध विनियोग (net investments) का धनात्मक होना आवश्यक माना जाता है।

यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा

(1) सकल विनियोग (Gross Investment)	(2) मूल्य ह्रास (Depreciation)	(3) शुद्ध विनियोग (Net Investment)	(4) अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता पर प्रभाव
(अ) 100 करोड रु	100 करोड रु.	शून्य	स्थिर
(ब) 100 करोड रु	50 करोड रु	(+) 50 करोड रु	वृद्धि
(स) 100 करोड रु.	120 करोड रु.	(–) 20 करोड रु.	गिरावट

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट होता है कि शुद्ध पूँजी निर्माण अथवा शुद्ध विनियोग के धनात्मक होने से ही अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता में वृद्धि होती है।

' अब प्रश्न उठता है कि GNP की दृष्टि से उस माल का हिसाब कैसे लगाया जाये जो उत्पादकों के पास वर्ष के अन्त में पड़ा रह जाता है। फर्मों के पास वर्ष के अन्त में कच्चा माल, अर्द्ध निर्मित माल व तैयार माल पाया जाता है, जो इन्वेन्टरी (inventory) कहलाता है। इन्वेंटरी के परिवर्तन राष्ट्रीय आय को प्रभावित करते हैं। यदि वर्ष के अन्त में इन्वेंटरी का मूल्य वर्ष के प्रारम्भ की तुलना में अधिक होता है तो राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी, यदि यह कम होता है तो राष्ट्रीय आय में कमी होगी, एव यदि वह समान मात्रा में पाया जाता है तो राष्ट्रीय आय स्थिर रहेगी। इस प्रकार **वर्ष में इन्वेंटरी की राशि के परिवर्तन भी राष्ट्रीय आय को प्रभावित करते है।**

3. सरकार द्वारा वस्तुओ व सेवाओं पर किया गया चालू व्यय (G) – आजकल उपभोक्ताओं के अलावा सरकार भी चालू वस्तुओं व सेवाओं की खरीद करती है। इसे G के अन्तर्गत दिखलाया जाता है। सरकार शिक्षा, चिकित्सा, सुरक्षा, कानून व व्यवस्था आदि सार्वजनिक क्रियाओं पर चालू व्यय करती है जिनकी राशि दिनोंदिन बढती जा रही है। सरकारी विभागों के कर्मचारियों पर किया गया व्यय भी इसमें जोडा जाता है।

4 शुद्ध निर्यात (Net exports) = (X–M) : शुद्ध निर्यात में निर्यात (X) व आयात (M) की राशि का अन्तर आता है। यह GNE का अंतिम अग होता है। वस्तुओं व सेवाओं का आयात निर्यात किया जाता है। निर्यात की राशि आयात की राशि से अधिक होने पर शुद्ध निर्यात धनात्मक होते हैं, जो GNE को बढ़ाते हैं। यदि आयात की राशि निर्यात की राशि से अधिक होती है तो शुद्ध निर्यात ऋणात्मक होते हैं, जो GNE को कम कर देते हैं।

विदेशों से ब्याज व लाभ आदि के रूप में शुद्ध आय हो सकती है जिसे GNE में जोड़ा जाता है।

इस प्रकार GNE अथवा GNP = C+I+G+ (X–M) होता है।

राष्ट्रीय आय के तीन मापों का सारांश—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि राष्ट्रीय आय का माप तीन तरह से किया जा सकता है—

(i) उत्पत्ति का मूल्य लगाकर—इनमें सभी उत्पादकों की सकल उत्पत्ति के मूल्य में से अन्य उत्पादकों को उनका मध्यवर्ती या बीच की वस्तुओं की खरीद के लिये दिये गये मूल्य को घटाया जाता है। इसे जोडे गये मूल्य या वर्धित मूल्य (Value added) की विधि भी कहते हैं। कृषिगत उपज व बडे उद्योगों की उत्पत्ति का मूल्य इसी विधि से निकाला जाता है।

(ii) साधनों की आय को जोड़कर—इसमें उत्पत्ति के साधनों की आय जैसे मजदूरी, लगान, ब्याज व मुनाफों को जोडकर कुल राशि निकाली जाती है।

(iii) व्यय का हिसाब लगाकर—इसमें राष्ट्रीय आय उपभोग, विनियोग, सरकारी खरीद व शुद्ध निर्यात के जोड के बराबर होती है। व्यय के ये चार रूप पहले स्पष्ट किये जा चुके हैं। राष्ट्रीय आय के इन तीनों मापों में क्रमश एक देश के उत्पादन, आय व व्यय के प्रवाह शामिल होते हैं। तीनों विधियों से प्राप्त राष्ट्रीय आय के जोड परस्पर बराबर होते हैं। दूसरे शब्दों में, सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति = सकल राष्ट्रीय आय = सकल राष्ट्रीय व्यय की स्थिति पायी जाती है। ये सकल रूप में भी बराबर होते हैं एव मूल्य ह्रास घटाने पर शुद्ध राशि के रूप में भी बराबर होते हैं।

सारांश

सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति—(GNP) में कृषि, खनन, उद्योग, बैंक, बीमा, परिवहन, आदि क्रियाओं से प्राप्त वस्तुओं का मूल्य लगाया जाता है। सेवाओं (डॉक्टर, वकील, अध्यापक, नाई, धोबी, घरेलू नौकर आदि सेवाओं का) भुगतान भी इनमें जोड़ा जाता है।

सकल राष्ट्रीय आय—(GNI) में जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, उत्पादन के साधनों की आमदनी जैसे मजदूरी, ब्याज, लगान व मुनाफा शामिल किये जाते हैं।

सकल राष्ट्रीय व्यय—(GNE) में हम व्यय-पक्ष से प्रारम्भ करते हैं। इसमें उपभोग (C), विनियोग (I), सरकारी खरीद (G) तथा विदेशी व्यापार का आधिक्य (X−M) भी जोड़ा जाता है और विदेशों से प्राप्त अन्य आय भी जोड़ी जाती है।

इस प्रकार राष्ट्रीय आय के तीनों जोड़ एक-दूसरे के बराबर होते हैं। वस्तुत इनमें राष्ट्रीय आय तक पहुँचने के तीन मार्ग अपनाये जाते हैं—पहले में उत्पत्ति का मूल्य लगाया जाता है, दूसरे में उत्पादन के साधनों की आय जोड़ी जाती है तथा तीसरे में उपभोग, विनियोग, सरकारी खरीद तथा निर्यात-आयात का हिसाब लगाया जाता है। व्यवहार में तीनों विधियों का उपयोग एक देश में आवश्यक आकड़ों की उपलब्धि पर निर्भर करता है।

राष्ट्रीय आय सम्बन्धी अन्य अवधारणाओं का परिचय

हमने अभी तक सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP) की अवधारणा का ही विस्तृत रूप से विवेचन किया है। यह बाजार भावों (market-prices) पर तथा साधन-लागत (factor-cost) दोनों पर निकाली जा सकती है। **बाजार भावों पर GNP के लिए अन्तिम वस्तुओं व सेवाओं का बाजार भावों पर मूल्य निकाला जाता है।** इसमें विदेशों से प्राप्त साधन-आय (factor-income from abroad) भी जोड़ी जाती है।* इसके लिए जोड़े गये मूल्य की विधि भी प्रयुक्त की जा सकती है। **साधन-लागत पर GNP निकालने के लिए बाजार भावों पर GNP मे से परोक्ष कर घटाये जाते है, तथा सब्सिडी की राशि जोड़ी जाती है, क्योंकि परोक्ष करों की राशि उत्पादन के साधनो को नही मिलती, जबकि सब्सिडी की राशि उनको मिलती है।** समष्टि-अर्थशास्त्र में GNP की धारणा बहुत लोकप्रिय मानी गई है। GNP के अलावा राष्ट्रीय आय से जुड़ी कई अन्य प्रचलित धारणाएँ भी होती हैं जिनका नीचे वर्णन किया जाता है।

(I) **बाजार मूल्य पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति** (NNP at market prices)—बाजार मूल्य पर GNP में से मूल्य-ह्रास निकालने के बाद जो राशि बचती है उसे बाजार मूल्य पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति कहते हैं। इसकी गणना में मूल्य ह्रास के आकड़ों के कारण बड़ी कठिनाई होती है। देश में अनेक प्रकार की पूँजीगत वस्तुओं के वार्षिक मूल्य ह्रास का अनुमान लगाना आसान नहीं होता। इस कठिनाई के कारण बहुधा सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति, अर्थात् GNP के आंकड़ों का ही उपयोग किया जाता है, और उसके परिणाम अधिक लाभप्रद होते

---

* विदेशों से प्राप्त साधन-आय ज्ञात करने के लिए विदेशों में लगी भारतीय पूँजी का ब्याज व लाभांश तथा विदेशों में कार्यरत भारतीय श्रमिकों की मजदूरी से प्राप्त आय में से भारत में लगी विदेशी पूँजी का ब्याज व लाभांश तथा भारत में कार्यरत विदेशी कर्मचारियों के वेतन आदि की आय घटाकर शुद्ध आय ज्ञात की जाती है। इसे विदेशों से प्राप्त साधन-आय कहा जाता है। इसमें दोनों तरफ की साधन-आय ज्ञात करनी होती है। इसे आगे चलकर उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है।

हैं। बाजार मूल्यों पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति का नाम इसलिए पड़ा कि इसमें गणना करते समय बाजार मूल्यों का उपयोग किया जाता है।

उदाहरण

मान लीजिए

बाजार-भावों पर सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP at market prices)	= 100 करोड़ रु.
मूल्य-ह्रास की राशि*	= 2 करोड़ रु.
अतः बाजार भावों पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति (NNP at market prices)	= 98 करोड़ रु.

(ii) साधन-लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति (NNP at factor cost) अथवा राष्ट्रीय आय (NI)—व्यवहार में इसे ही राष्ट्रीय आय कहकर पुकारते हैं। यही राशि श्रम, भूमि, पूँजी, आदि उत्पादन के साधनों को प्राप्त होती है। बाजार भावों पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति में से परोक्ष कर *(indirect taxes)* (जैसे उत्पादन शुल्क, बिक्री-कर आदि) घटाने एवं सब्सिडी की राशि को जोड़ने से साधन-लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति अथवा राष्ट्रीय आय प्राप्त होती है। परोक्ष कर इसलिए घटाये जाते हैं कि इनकी राशि उत्पादन के साधनों को प्राप्त नहीं होती। यह सरकारी खजाने में जाती है। सब्सिडी की राशि इसलिए जोड़ी जाती है कि यह उत्पादन के साधनों को प्राप्त होती है, और सरकार अपने बजट में से इसकी पूर्ति करती है। अतः परोक्ष करों की राशि सरकार को प्राप्त होती है, तथा सब्सिडी की राशि सरकार द्वारा दी जाती है, जैसे भारत में खाद्यान्नों व उर्वरकों आदि पर काफी सब्सिडी दी जाती है। इसके अन्तर्गत सरकार अपने खजाने में से अनुदान की राशि देती है, जो देश में उत्पादन के साधनों को प्राप्त होती है।

उदाहरण

बाजार भावों पर NNP	= 98 करोड़ रु.
परोक्ष कर	= (−) 5 करोड़ रु.
सब्सिडी या आर्थिक सहायता की राशि	= (+) 2 करोड़ रुपये

यहाँ साधन लागत पर NNP अथवा राष्ट्रीय आय = 98−5+2 = 95 करोड़ रु. होगी। विभिन्न देशों में आय के स्तरों की तुलना करने में इसका उपयोग किया जाता है।

(iii) साधन-लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पत्ति (Net Domestic Product at factor cost)—शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति व शुद्ध घरेलू उत्पत्ति (NNP or NDP) में भी अन्तर किया जाना चाहिए। राष्ट्रीय उत्पत्ति में घरेलू उत्पत्ति के साथ साथ विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन-आय (net factor income from abroad) भी शामिल की जाती है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन-आय को निकालने के लिए विदेशों में लगे भारतीय श्रमिकों व भारतीय पूँजी, आदि से प्राप्त आय में से भारत में काम कर रहे विदेशी श्रमिकों व भारत में लगी विदेशी पूँजी आदि का भुगतान घटाना होता है। इसीलिए इसे विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन-आय (net factor income from abroad) कह कर पुकारा

* राष्ट्रीय आय के आंकड़ों में आजकल स्थायी पूंजी की खपत (consumption of fixed capital) नामक मद दिखलाई जाती है जो मोटे तौर पर मूल्य-ह्रास की ही सूचक होती है।

जाता है। मान लीजिए साधन लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पत्ति (NDP) 95 करोड रु तथा विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय 5 करोड रु है, तो साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति (NNP) =95+5 = 100 करोड रु होगी। यदि विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन आय ऋणात्मक (Negative) होती जैसे (-)5 करोड रु, तो शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति (NNP) = 95-5 = 90 करोड रु होती। ऐसी दशा में NDP की राशि NNP से अधिक हो जाती है।

भारत में प्रचलित भावों पर (at current prices) 1993 94 मे साधन लागत पर NDP की राशि लगभग 6271 अरब रुपये थी एव विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन आय ऋणात्मक अर्थात् (-)118 अरब रुपये थी। इस प्रकार साधन लागत पर NNP अथवा NI = 6271 + (118) = 6153 अरब रुपये थी।[1] इस स्थिति में NDP की राशि का NNP की राशि से अधिक होना स्वाभाविक है। प्रारम्भिक अध्ययन में इसको भलीभाँति समझ लेना चाहिए ताकि आगे अनावश्यक कठिनाई न हो।

(iv) निजी आय (Private income)—किसी देश में घरेलू आय दो क्षेत्रों से प्राप्त होती है। सर्वप्रथम, यह निजी क्षेत्र से, जैसे—निजी खेतों, खानों, कारखानों, दुकानों व निजी परिवहन आदि से प्राप्त होती है, एव द्वितीय, यह सार्वजनिक क्षेत्र से, जैसे सरकारी विभागों व उपक्रमों से प्राप्त होती है। मोटे तौर पर निजी क्षेत्र की घरेलू उत्पत्ति से उपार्जित आय में राष्ट्रीय ऋणों का ब्याज व हस्तान्तरण भुगतान, जैसे पेन्शन आदि जोड़े जाने पर निजी आय प्राप्त होती है।

इसे प्राप्त करने के लिए विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन आय का भी हिसाब लगाया जाता है।

उदाहरण

निजी क्षेत्र की घरेलू उत्पत्ति से उत्पन्न आय (income originating from domestic product of the private sector)	= 90 करोड़ रु
राष्ट्रीय ऋणों पर ब्याज	= (+) 5 करोड़ रु
पेन्शन के रूप में हस्तान्तरण	= (+) 5 करोड़ रु
निजी आय (private income)	= 100 करोड़ रु

यहाँ विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन आय शून्य मानी गयी है।

(v) वैयक्तिक आय (Personal income)—निजी आय में से निजी कम्पनियों की बचतों और निगम कर (ये कम्पनियों पर लगे कर होते हैं) घटाने से वैयक्तिक आय निकल आती है। यह एक देश में व्यक्तियों को प्राप्त होती है।

उदाहरण

निजी आय (private income)	= 100 करोड़ रु
निजी कम्पनी की बचतें	= (-) 5 करोड़ रु
कम्पनियों पर लगे आय कर (अथवा निगम कर)	= (-) 5 करोड़ रु
वैयक्तिक आय (personal income)	= 90 करोड़ रु

1 National Accounts Statistics, C.S.O., 1995 p 13

(ii) वैयक्तिक खर्च के लायक या प्रयोज्य आय (Personal Disposable Income) अथवा PDI—वैयक्तिक आय में से प्रत्यक्ष कर, फीस तथा जुर्माने आदि घटाने से वैयक्तिक खर्च के लायक आय या प्रयोज्य आय निकल आती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इसका उपयोग उपभोग्य व्यय व बचत के रूप में किया जाता है। अत PDI = C+S होती है। लोगों का जीवन स्तर PDI की वास्तविक वृद्धि पर निर्भर करता है। अत एक देश में उपभोग के स्तर की जानकारी करने के लिए प्रयोज्य आय के आकड़ों का उपयोग किया जाता है।

उदाहरण

वैयक्तिक आय (Personal Income)	= 90 करोड़ रु
व्यक्तियों पर लगे प्रत्यक्ष कर	= (–) 5 करोड़ रु
फीस व जुर्माने आदि	= (–) 2 करोड़ रु
वैयक्तिक खर्च के लायक आय या प्रयोज्य आय (Personal Disposable Income) या PDI	= 83 करोड़ रु

प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय (Per Capita NI)

राष्ट्रीय आय में देश की जनसख्या का भाग देने से प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय प्राप्त होती है।

सूत्र के रूप में—

प्रति व्यक्ति आय = कुल राष्ट्रीय आय/जनसख्या = $\frac{NI}{P}$ होती है।

यह भी प्रचलित मूल्यों व स्थिर मूल्यों दोनों पर ज्ञात की जाती है। उदाहरण के लिये भारत में 1950 51 में प्रति व्यक्ति आय वार्षिक आय (1980-81 के भावों पर) लगभग 1127 रुपये थी जो 1995 96 में (1980 81 के भावों पर) लगभग 2573 रुपये हो गई। इस अवधि में प्रचलित भावों (Current Prices) पर प्रति व्यक्ति आय लगभग 239 रुपये से बढकर 9321 रुपये हो गई।[1] इस प्रकार 1995 96 में प्रति व्यक्ति आय 1950-51 की तुलना में स्थिर मूल्यों पर लगभग 2.3 गुनी तथा प्रचलित भावों पर लगभग 39 गुनी हो गई। प्रति व्यक्ति आय को स्थिर मूल्यों पर तेज गति से बढाने के लिए दो उपाय आवश्यक होते हैं। (i) कुल राष्ट्रीय आय में तेज गति से वृद्धि की जाये (स्थिर भावों पर), (ii) जनसख्या की वृद्धि पर नियन्त्रण किया जाय। इसके लिए जन्म दर में कमी लाना जरूरी होता है।

विभिन्न आय सम्बन्धी अवधारणाओं को ठीक से समझने के लिए निम्न प्रश्न के उत्तर पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए—

प्रश्न - निम्नलिखित का GNP में समावेश होता है या नहीं?

(i) डॉक्टर द्वारा कार के रख-रखाव पर किया गया व्यय

(ii) घर में पत्नी द्वारा की गई सेवाएँ

(iii) घर में किचनगार्डन में उगाई गई सब्जियों का मूल्य

(iv) सावजनिक ऋणों पर चुकाया गया ब्याज

1 Economic Survey 1996-97, p S 3

(v) पेन्शन

(vi) विदेशों से प्राप्त साधन आय

(vii) लॉटरी में निकला इनाम

(viii) अवितरित लाभ (undistributed profit)

(ix) माल के स्टॉक या इन्वेण्टरी के मूल्यों में हुआ परिवर्तन

(x) अप्रत्यक्ष कर

उत्तर—(i) डॉक्टर के द्वारा कार के रख रखाव पर किया गया व्यय एक प्रकार का मध्यवर्ती या बीच का व्यावसायिक व्यय होता है। अत इसे GNP में शामिल नहीं किया जाता।

(ii) घर में पत्नी की सेवाओं को GNP में शामिल नहीं किया जाता क्योंकि ये बाजार में विनिमय की जाने वाली सेवाओं में नहीं आतीं।

(iii) घर के किचनगार्डन में उगाई गई सब्जियों का मूल्य भी GNP में शामिल नहीं किया जाता क्योंकि ये बाजार में बेचने के लिए नहीं बल्कि स्वयं के उपभोग के लिए उत्पन्न की गई हैं।

(iv) सार्वजनिक ऋणों पर चुकाया गया ब्याज भी GNP में शामिल नहीं होता, क्योंकि यह वर्तमान वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य नहीं होता (जो GNP में शामिल होने की एक आवश्यक शर्त होती है)।

(v) पेन्शन एक हस्तान्तरण भुगतान की राशि होती है। इसलिए यह GNP का अग नहीं हो सकती। लेकिन यह वैयक्तिक आय में अवश्य शामिल होती है।

(vi) विदेशों से प्राप्त साधन आय GNP का अग होती है। अत यह NI का भी अग होती है।

(vii) लॉटरी में निकला इनाम भी सरकार की तरफ से जनता की तरफ किया गया हस्तान्तरण भुगतान होता है। अत यह GNP का अग नहीं होता।

(viii) अवितरित लाभ राष्ट्रीय आय के अग होते हैं लेकिन ये वैयक्तिक आय में शामिल नहीं होते।

(ix) माल के स्टॉक के मूल्यों में हुआ परिवर्तन राष्ट्रीय आय में शामिल होता है। यदि वर्ष के अन्त में इन्वेंटरी का मूल्य बढ जाता है तो उतनी राशि से राष्ट्रीय आय बढ जाती है। यह विनियोग के अन्तर्गत लिया जाता है।

(x) अप्रत्यक्ष कर साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति या राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं होते, लेकिन ये बाजार भावों पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति में शामिल होते हैं।

GNP, NNP, NI व NDP का अर्थ व परस्पर सम्बन्ध सुगमतापूर्वक याद रखा जा सकता है। इसके लिए निम्नांकित संक्षिप्त सारणी का उपयोग किया जा सकता है।[1]

---

1 National Accounts Statistics, CSO 1995 p.3

उदाहरण 1—(वास्तविक आकड़ों पर आधारित)

(1980-81 के भावों पर (अर्थात् स्थिर भावों पर) भारत में वर्ष 1993-94 के लिये) (अरब रुपयों में)

(1)	बाजार भावों पर GNP_	2569.5
	—परोक्ष कर + सब्सिडी	(–) 282.8
(2)	= साधन-लागत पर GNP_	2286.7
	—मूल्य-ह्रास (स्थिर पूँजी की खपत)	(–) 260.0
(3)	= साधन-लागत पर NNP = NI_	2026.7

इस प्रकार हम बाजार-भावों पर सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (*GNP at market Prices*) से प्रारम्भ करके साधन-लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति (*NNP at factor cost or NI*) तक पहुँच जाते हैं। स्मरण रहे कि साधन-लागत पर NNP या NI में से विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन-आय घटाने से साधन-लागत पर NDP निकल आती है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन-आय निकालने के लिए हम पहले यह पता करते हैं कि भारतीयों को उनकी विदेशों में लगी पूँजी व विदेशों में काम कर रहे भारतीय श्रमिकों से कितनी आय प्राप्त होती है। उसमें से हम भारत में लगी विदेशी पूँजी व विदेशी श्रमिकों को दिये गये भुगतान घटा देते हैं, जिससे हमें विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन-आय का पता चल जाता है, जो हमारे देश में ऋणात्मक (negative) पायी जाती है। यदि विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन-आय धनात्मक होती तो साधन लागत पर NNP की राशि NDP से अधिक होती। यदि विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन आय ऋणात्मक होती है तो *NNP* की राशि *NDP* से कम होती है। इस प्रकार भारत में साधन-लागत पर NDP की राशि साधन-लागत पर NNP की राशि से अधिक पायी जाती है, क्योंकि हमारे देश में विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन-आय ऋणात्मक पायी जाती है। प्रचलित भावों पर 1993-94 में विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन-आय की राशि (—) 118 अरब रुपये आकी गयी है।

यहाँ राष्ट्रीय आय व सम्बद्ध राशियों से सम्बद्ध सख्यात्मक उदाहरण और दिये जाते हैं ताकि इनके बारे में जानकारी बढ सके।

उदाहरण—2 भारत के लिए 1987-88 से सम्बन्धित निम्न सूचना का उपयोग करके वैयक्तिक प्रयोज्य आय (Personal disposable income) (PDI) ज्ञात कीजिए।

(प्रचलित मूल्यों पर) (अरब रुपयों में)

1	साधन-लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति या राष्ट्रीय आय	2579
2	परोक्ष-कर	500
3	सब्सिडी	118
4	शेष ससार से प्राप्त अन्य चालू हस्तान्तरण	35
5	विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन-आय	(–)26
6	सरकारी प्रशासनिक विभागों की उद्यम व प्रोपर्टी की आय	40
7	गैर-विभागीय उपक्रमों की बचतें	21

8	सार्वजनिक कर्ज पर ब्याज	96
9	सरकारी प्रशासनिक विभाग में चालू हस्तान्तरण	100
10	निजी कम्पनी क्षेत्र की बचत	4
11	निगम पर	34
12	परिवारों द्वारा प्रत्यक्ष कर	44
13	सरकारी प्रशासनिक विभागों द्वारा विविध प्राप्त राशियाँ	12

प्रश्न का हल	साधन-लागत पर NNP		2579
	घटाओ विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन-आय		(–) (–) 26 = 26
	साधन-लागत पर NDP		= 2605
घटाओ	(i) सरकारी प्रशासनिक विभागों की उद्यम व प्रोपर्टी की आय तथा (ii) गैर विभागीय उपक्रमों की बचतें	40 21	61
	घरेलू उत्पत्ति से निजी क्षेत्र की आय		2544
जोड़ें	(i) सार्वजनिक कर्ज पर ब्याज	96	
	(ii) सरकारी प्रशासनिक विभागों से चालू हस्तान्तरण	100	
	(iii) शेष संसार से प्राप्त अन्य चालू हस्तान्तरण	35	
	(iv) विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन-आय	(–) 26	205
	निजी आय (Private Income)		= 2749
घटाओ	(i) निजी कम्पनी क्षेत्र की बचत	4	
	(ii) निगम कर	34	38
	वैयक्तिक आय (Personal Income) (PI)		2711
घटाओ	(i) परिवारों पर प्रत्यक्ष कर	44	
	(ii) सरकारी प्रशासनिक विभागों द्वारा विविध प्राप्त राशियाँ	12	56
	अतः वैयक्तिक प्रयोज्य आय (PDI)		= 2655

इस प्रकार दिये हुए आँकड़ों के आधार पर वैयक्तिक प्रयोज्य आय 2655 अरब रुपये होगी।

उदाहरण–3—निम्न आँकड़ों की सहायता से व्यय विधि का उपयोग करके साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति अथवा राष्ट्रीय आय ज्ञात कीजिए—

		(करोड़ रु. में)
1	निजी उपभोग-व्यय	500
2	निजी स्थिर विनियोग (सकल)	250
3	इन्वेण्टरी में (माल की मात्रा में) परिवर्तन	200
4	सरकारी उपभोग व्यय	150
5	सरकारी स्थिर विनियोग	100

6 ·	निजी स्थिर पूँजी की खपत	50
7	सरकारी स्थिर पूँजी की खपत	25
8	शुद्ध विदेशी विनियोग	100
9	परोक्ष कर	100
10	सब्सिडी	75

उत्तर—चूंकि यहाँ विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन-आय नहीं दी गयी है, इसलिए बाजार भावों पर GDP = बाजार भावों पर GNP मानी जायगी।

बाजार भावों पर GNP	=	मद सख्या (1) + (4) + (2) + (3) + (5) + (8) = 500 + 150 + 250 + 200 + 100 – 100 = 1100
साधन-लागत पर GNP	=	1100 – मद सख्या (9) + मद सख्या (10) = 1100 – 100 + 75 = 1075
साधन-लागत पर *NNP*	=	*1075 – मद सख्या (6) – मद सख्या (7)*
	=	1075 – 50 – 25
	=	1000 करोड़ रुपये

भारत में राष्ट्रीय आय के माप की विधि

(Method of Estimation of National Income in India)

भारत में सर्वप्रथम राष्ट्रीय आय समिति ने राष्ट्रीय आय के अनुमान तथा उनकी विधियाँ अपनी प्रथम व अन्तिम रिपोर्टों (क्रमश 1951 व 1954) में प्रस्तुत की थीं। उसके बाद भारत सरकार का केन्द्रीय साख्यिकीय सगठन (*Central Statistical Organisation*) नियमित रूप से राष्ट्रीय आय के वार्षिक आँकड़े प्रकाशित करता रहा है। आजकल इस वार्षिक प्रतिवेदन का नाम 'राष्ट्रीय लेखा साख्यिकी' (*National Accounts Statistics*) (*NAS*) हो गया है, तथा स्थिर मूल्यों पर राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के लिए अब 1980-81 का आधार वर्ष लागू हो गया है। इससे पूर्व यह *1970-71 था। अब 1950-51 से 1993-94* तक के राष्ट्रीय आय के आँकड़े 1980-81 के भावों पर उपलब्ध हो गये हैं। इस प्रकार काफी लम्बी अवधि के लिए एक पूरा सिरीज तैयार हो गया है, जो एक बड़ी उपलब्धि है।

भारत में राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाने के लिए मुख्यतया उत्पत्ति-विधि एव आय विधि (Product-method and income-method) का प्रयोग किया गया है।[1]

1 कुछ प्रचलित पुस्तकों में प्राय व्यय-विधि (*expenditure method*) एव सामाजिक लेखा-विधि (social accounting method) आदि का भी उल्लेख मिलता है, लेकिन उनके विवेचन की सार्थकता अन्य प्रसगों में अधिक होती है। राष्ट्रीय आय के अनुमानों के लिए तो प्रारम्भिक अध्ययन में उत्पत्ति-विधि पर ही पूरा जोर दिया जाना चाहिए।
विद्यार्थियों को प्रत्यक्ष किस्म की आय-विधि व परोक्ष किस्म की आय-विधि का अन्तर भी ध्यान से समझना चाहिए। इस सम्बन्ध में पाठ्य-पुस्तकों में विवेचन बहुत भ्रमपूर्ण, अधूरा व त्रुटिपूर्ण देखने को मिलता है, जिससे स्नातकोत्तर स्तर तक भी विद्यार्थी इन विधियों का सही अर्थ नहीं लगा पाते। अधिकाश विद्यार्थी प्राय यहाँ तक लिख देते हैं कि राष्ट्रीय आय लोगों की व्यक्तिगत आय का जोड़ होती है जो गलत होता है।

इन दोनों विधियों का प्रयोग विभिन्न क्षेत्रों के लिए विभिन्न प्रकार के मूलभूत आँकड़ों की उपलब्धि के कारण सम्भव हो सका है। कुछ आर्थिक क्षेत्रों से आय का पता लगाने के लिए उत्पत्ति विधि अपनाई गई है, कुछ के लिए प्रत्यक्ष किस्म की आय विधि (income method of the direct form) तथा शेष के लिए परोक्ष किस्म की आय विधि (income method in the indirect form) अपनाई गई है। नीचे इन विधियों का सरल व स्पष्ट विवरण प्रस्तुत किया गया है जिसे विशेष ध्यानपूर्वक पढ़ा जाना चाहिए।

(1) उत्पत्ति-विधि (Product Method)—इसे *'जोड़े गये मूल्य' की विधि या* **इन्वेन्टरी-विधि** भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम कुल उत्पत्ति का सकल मूल्य निकाला जाता है, फिर उसमें उत्पादन में लगाये गये साधनों का कुल मूल्य घटाया जाता है, तथा साथ में मूल्य ह्रास की राशि भी घटायी जाती है। इन्पुटों के अन्तर्गत कच्चे माल का मूल्य, ईंधन, पावर, आदि के खर्च घटाये जाते हैं। कुल उत्पत्ति के मूल्यों में से इन्पुटों का मूल्य व मूल्य ह्रास घटाने से शुद्ध जोड़ा गया मूल्य निकल आता है, जो उस क्षेत्र का राष्ट्रीय आय में योगदान माना जाता है।

भारत में कृषि (पशु पालन सहित), वनोद्योग तथा लट्ठे बनाने, मछली उद्योग, खनन तथा पंजीकृत क्षेत्र में (कारखानों आदि में) विनिर्माण (registered manufacturing) में आय का अनुमान उत्पत्ति विधि से लगाया जाता है। इसके लिए उत्पत्ति व इन्पुट की मात्राओं तथा उनके मूल्यों के आंकड़ों की आवश्यकता होती है, जो व्यवहार में उपलब्ध हो जाते हैं।

(2) प्रत्यक्ष किस्म की आय-विधि (Income method in its direct form)—यह विधि उन आर्थिक क्षेत्रों में प्रयुक्त की जाती है जिनमें कर्मचारियों के प्रतिफल, ब्याज, लगान, लाभ व मूल्य ह्रास वगैरा के आँकड़े विभिन्न उपक्रमों के वार्षिक लेखों (annual accounts) में नियमित रूप से प्रकाशित किये जाते हैं। इसलिए उत्पादन के विभिन्न साधनों की आय को जोड़कर उन क्षेत्रों का राष्ट्रीय आय से योगदान प्राप्त कर लिया जाता है।

यह विधि रेलों, विद्युत उपक्रमों, हवाई परिवहन, सगठित सड़क व जल परिवहन, सचार, बैंकिंग व बीमा, स्थावर सम्पदा, (real estate), सरकारी प्रशासन व प्रतिरक्षा (defence) जैसे क्षेत्रों से आय का अनुमान लगाने में प्रयुक्त की जाती है, क्योंकि इनके वार्षिक लेखों में मजदूरी, ब्याज, लगान व लाभ आदि के आँकड़े दिये जाते हैं।

(3) परोक्ष रूप में आय-विधि (Income method in its indirect form)—इस विधि के अन्तर्गत सर्वप्रथम सम्बन्धित क्षेत्र के लिए श्रम शक्ति का पता लगाया जाता है तथा सेम्पल सर्वेक्षण के आधार पर प्रति व्यक्ति वार्षिक औसत आय की सूचना एकत्र की जाती है। फिर श्रम शक्ति को प्रति व्यक्ति आय से गुणा करके उस क्षेत्र का राष्ट्रीय आय में योगदान निकाला जाता है।

यह विधि गैर पजीकृत विनिर्माण (कुटीर उद्योग आदि), गैस व जल पूर्ति, असंगठित सड़क व जल परिवहन, स्टोरेज, व्यापार, होटल व अन्य सेवाओं से आय का अनुमान लगाने के लिए प्रयुक्त की जाती है। इस प्रकार आय विधि (प्रत्यक्ष व परोक्ष दो रूपों में) काम में ली जाती है। तत्पश्चात् घरेलू उत्पत्ति में विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन आय को जोड़कर राष्ट्रीय आय ज्ञात की जाती है।

अल्पविकसित देशों में राष्ट्रीय आय की गणना में कठिनाइयाँ

राष्ट्रीय आय की गणना में काफी आकडों की आवश्यकता होती है जिनका अल्पविकसित देशों में प्राय अभाव पाया जाता है। इसलिए इनमें राष्ट्रीय आय के अनुमान अधिक विश्वसनीय नहीं होते। इस सम्बन्ध में निम्न कठिनाइयों का उल्लेख किया जा सकता है—

(1) गैर-मुद्रीकृत क्षेत्र का पाया जाना—पिछडे हुए देशों की अर्थव्यवस्था में गैर मुद्रीकृत क्षेत्र (non monetised sector) पाया जाता है। उत्पादक उत्पादन का एक भाग स्वय के उपभोग के लिए रख लेता है, अथवा अन्य लोगों से वस्तु विनिमय कर लेते हैं, जिसका कोई हिसाब किताब नहीं रखा जाता। इस प्रकार राष्ट्रीय आय का सही अनुमान लगाने में कठिनाई होती है। जीवन निर्वाह कृषि में तो अधिकाश उपज स्वय के उपभोग के लिए ही की जाती है। अत पिछडे देशों में गैर-मुद्रीकृत क्षेत्र का पाया जाना राष्ट्रीय आय के अनुमानों में काफी बाधा डालता है।

(2) आर्थिक क्रिया में विशिष्टीकरण का अभाव—पिछडे देशों में बहुत से व्यक्तियों का व्यवसाय सुनिश्चित नहीं होता। उन्हें अपनी आय बढाने के लिए कई तरह के कामों में लगना पडता है। औद्योगिक वर्गीकरण का अभाव पाये जाने से राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाना कठिन होता है। राष्ट्रीय आय का हिसाब लगाते समय इस सूचना की आवश्यकता पडती है कि अमुक व्यवसाय में अमुक मात्रा में लोग लगे हुए हैं। लेकिन विशिष्टीकरण के अभाव में यह सूचना ठीक से नहीं मिल पाती है।

(3) लोग आय-व्यय का हिसाब नहीं रखते जिससे कठिनाई बढ जाती है। भारतीय कृषक अशिक्षित होने के कारण प्राय कुछ भी हिसाब नहीं रख सकते जिससे खेती की उपज की मात्रा व मूल्य के अनुमान लगाने में कठिनाई होती है। सरकारी अधिकारियों को सेम्पल आधार पर उत्पत्ति की मात्रा व मूल्य का हिसाब लगाना होता है जिससे आकडों की विश्वसनीयता कम हो जाती है।

(4) अल्पविकसित देशों में उत्पादन के क्षेत्र में छोटी इकाइयों की भरमार होती है जिनकी आय का अनुमान लगाना सुगम नहीं होता। देश में अनेक लघु व कुटीर उद्योग पाये जाते हैं। असगठित क्षेत्र में हिसाब भी ठीक से नहीं रखा जाता। इसलिए राष्ट्रीय आय में इनका योगदान निकालना मुश्किल होता है।

उपर्युक्त कारणों से अल्पविकसित देशों में राष्ट्रीय आय के आँकडे कम विश्वसनीय होते हैं। प्रो अशोक रुद्र ने भारत में राष्ट्रीय आय के आकडों की कमियों को देखकर एक बार कहा था कि इनको बन्द क्यों नहीं कर दिया जाता। उन्होंने सुझाव दिया था कि राष्ट्रीय आय का अनुमान प्रति वर्ष न लगाकर प्रति पाँच वर्ष में एक बार लगाया जाना चाहिए ताकि *आकडे अधिक विश्वसनीय हो सकें।*

विभिन्न कठिनाइयों के बावजूद आजकल राष्ट्रीय आय के आकडे चालू मूल्यों व स्थिर मूल्यों पर नियमित रूप से प्रतिवर्ष पेश किये जाते हैं और इनमें धीरे धीरे सुधार भी किया जा रहा है। भविष्य में भी राष्ट्रीय आय के आकडों में निरन्तर सुधार करने की आवश्यकता *बनी रहेगी। अब हमें प्रचलित मूल्यों पर तथा 1980-81 के मूल्यों पर राष्ट्रीय आय के* आकडे सम्पूर्ण योजनाकाल के लिए उपलब्ध हो गये हैं, जो एक महत्त्वपूर्ण बात है। इससे

भारतीय अर्थव्यवस्था के ढाचे में दीर्घकालीन परिवर्तनों का अध्ययन करना सुगम हो गया है।

राष्ट्रीय आय व आर्थिक कल्याण का सम्बन्ध
(Relation Between National Income and Economic Welfare)

प्राय यह कहा जाता है कि जिस देश की प्रति व्यक्ति आय दूसरे देश की प्रति व्यक्ति आय से अधिक होती है उसका आर्थिक कल्याण भी दूसरे देश से अधिक होता है, अर्थात् वहाँ के निवासी ज्यादा सुखी व ज्यादा समृद्ध होते हैं। इसी प्रकार यदि एक देश में पहले की अपेक्षा प्रति व्यक्ति आय बढ जाती है तो वहाँ के निवासी अधिक सुखी व अधिक सन्तुष्ट माने जाते हैं, एव उनका जीवन स्तर पहले से बेहतर माना जाता है। हम यहाँ इस बात की जाच करेंगे कि राष्ट्रीय आय का आर्थिक कल्याण से किस प्रकार का सम्बन्ध होता है।

हम पहले बतला चुके हैं कि राष्ट्रीय आय में एक वर्ष की अवधि में उत्पन्न अन्तिम वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य शामिल होता है। इसलिए वास्तविक राष्ट्रीय आय के बढ़ने का अर्थ है देश मे वस्तुओ व सेवाओ की मात्रा मे वृद्धि का होना। अमेरिका, जापान व जर्मनी आदि की राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई है, जिससे वहाँ के नागरिकों का जीवन स्तर ऊँचा हुआ है। जापान की आर्थिक प्रगति अभूतपूर्व तेज गति से हुई है। राष्ट्रीय आय व आर्थिक कल्याण का सम्बन्ध स्पष्ट करने से पूर्व पुन इस बात पर जोर देना उचित होगा कि राष्ट्रीय आय का सही माप करने में कई प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं जैसे, पिछडे देशों में गैर मुद्रीकृत क्षेत्र पाया जाता है जिससे सम्पूर्ण उत्पादन की गणना राष्ट्रीय आय में नहीं हो पाती। इसलिए उनमें राष्ट्रीय आय के आकडे पूर्णतया विश्वसनीय नहीं होते। लेकिन यदि राष्ट्रीय आय के आकडे अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय व सही हों तो भी प्रश्न उठता है कि उनका आर्थिक कल्याण से क्या सम्बन्ध होगा? इसके लिए अग्रांकित बातों पर विचार करना होगा—

(1) आय के वितरण का प्रभाव—राष्ट्रीय आय के वितरण का कल्याण पर प्रभाव पडता है। यदि राष्ट्रीय आय का वितरण अधिक समान होता है तो समाज में समानता, न्याय व विकास का मार्ग खुलता है और कल्याण में वृद्धि होती है। यदि वितरण की असमानता बढती है तो *राष्ट्रीय आय के बढने पर भी सामाजिक असन्तोष बढ सकता है तथा कल्याण में* भी कमी आ सकती है, क्योंकि धनी व्यक्ति अधिक धनी हो जाते हैं और निर्धन या तो निर्धन रह जाते हैं अथवा अधिक निर्धन हो जाते हैं। इससे सामाजिक तनावों में भी वृद्धि होती है।

(2) *काम की परिस्थितियों व काम के घण्टों का प्रभाव—इस विषय में सर्वप्रथम यह* स्मरण रखना होगा कि राष्ट्रीय आय की मात्रा के साथ साथ मानवीय कल्याण पर इस बात का प्रभाव पडता है कि आय को प्राप्त करने के लिए लोगों को किस प्रकार की परिस्थितियों व वातावरण में काम करना पड़ा है। यदि देशवासियों को पहले से अधिक मेहनत करनी पडी है, एवं अधिक घण्टों तक काम करना पड़ा है तो कल्याण पर विपरीत प्रभाव भी पड सकता है। अत काम के घण्टे समान रहने पर राष्ट्रीय आय के बढने पर यह आशा की जा सकती है कि देशवासियों के कल्याण में वृद्धि हो रही है।

(3) आर्थिक कल्याण विशेषतया उपभोग्य वस्तुओं के उत्पादन पर निर्भर करता है जिनसे लोगों का जीवन-स्तर निर्धारित होता है—हम जानते हैं कि वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं, यथा पूँजीगत वस्तुएँ जैसे मशीनरी, औजार, फैक्ट्री की इमारत आदि एवं उपभोग्य वस्तुएँ जैसे खाद्यान्न, मक्खन, दवा, वस्त्र, आदि। देश के कुल उत्पादन में उपभोग्य वस्तुओं का अनुपात अधिक होने से लोगों का कल्याण वर्तमान में बढ़ेगा, जबकि पूँजीगत वस्तुओं का अनुपात ज्यादा होने से उन्हें वर्तमान में अपने उपभोग का त्याग करना होगा जिससे उनके कल्याण में कमी आ जायगी। लेकिन इससे उनका भविष्य में आर्थिक कल्याण बढ़ सकेगा।

(4) उपभोग्य वस्तुओं की संरचना (Composition) का भी कल्याण पर गहरा प्रभाव पड़ता है—उपभोग्य वस्तुएँ प्रायः दो भागों में बाँटी जाती हैं, जैसे आम जनता के लिए आवश्यक वस्तुएँ जिन्हें मजदूरी-वस्तुएँ (wage-goods) कहते हैं, जैसे साधारण वस्त्र, साबुन, खाद्य-तेल, नमक, आदि एवं विलासिता की वस्तुएँ, जैसे सोने-चाँदी के आभूषण, शानदार वस्त्र, मोटर कारें, वीडियो, रेफ्रिजरेटर, एयर कन्डीशनर, आदि। जब कुल उत्पत्ति में मजदूरी-वस्तुओं का अनुपात बढ़ता है तो सर्वसाधारण का कल्याण बढ़ता है। विलासिता की वस्तुओं का अनुपात बढ़ने पर समाज में सम्पन्न वर्ग का कल्याण ज्यादा बढ़ता है। अतः समस्त देशवासियों के कल्याण में वृद्धि करने की दृष्टि से कुल उपभोग्य वस्तुओं में अनिवार्य वस्तुओं के अनुपात को बढ़ाना ज्यादा लाभकारी माना जायेगा। इसीलिए सुप्रसिद्ध भारतीय अर्थशास्त्री प्रोफेसर पी. आर. ब्रह्मानंद कई दशकों से आर्थिक विकास के मजदूरी-वस्तु मॉडल (wage-goods-model) को अपनाने पर बल देते रहे हैं।

(5) नागरिक वस्तुओं व सुरक्षा वस्तुओं का अनुपात भी कल्याण को प्रभावित करता है—नागरिक वस्तुओं में वस्त्र, तेल, जूते, दवा आदि आते हैं तथा सुरक्षा वस्तुओं में गोला-बारूद, बन्दूकें, अस्त्र शस्त्र वगैरा आते हैं। निर्धन देशों में सुरक्षा का ज्यादा सामान बनाने से लोगों को नागरिक वस्तुओं का परित्याग करना पड़ता है, जिससे उनके कल्याण में कमी आती है। अतः सुरक्षा व्यय सीमित करके नागरिक वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने से देशवासियों के कल्याण में अधिक वृद्धि की जा सकती है।

अतः आर्थिक कल्याण पर राष्ट्रीय आय के अलावा देश में आय के वितरण, काम के घण्टों, वस्तुओं की संरचना—आवश्यक बनाम विलासिता की वस्तुओं, तथा उपभोग बनाम पूँजीगत तथा नागरिक बनाम सुरक्षा वस्तुओं—का गहरा प्रभाव पड़ता है।

(6) **पर्यावरण पर प्रभाव**—विकास व पर्यावरण का भी परस्पर गहरा सम्बन्ध होता है। यदि विकास के दौरान पर्यावरण पर विपरीत असर पड़ता है, अर्थात् जल, वायु आदि का प्रदूषण बढ़ जाता है तो आर्थिक कल्याण में कमी आ सकती है। अतः विकास की प्रक्रिया पर्यावरण की रक्षक होनी चाहिए, न कि इसकी भक्षक। यह हर प्रकार से पर्यावरण की पोषक होनी चाहिए। विकास व पर्यावरण में परस्पर विरोध नहीं होना चाहिए।

हमें यह भी स्मरण रखना है कि कल्याण की धारणा बड़ी जटिल होती है क्योंकि इसका सम्बन्ध मानवीय भावनाओं व आशाओं आदि से अधिक होता है। इसको मापना आसान नहीं होता। प्रोफेसर पीगू ने अपनी सुप्रसिद्ध रचना—Economics of Welfare में सर्वप्रथम 1920 में लिखा था कि हमारी जाँच सामाजिक कल्याण के उस भाग तक सीमित होती है जिसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मुद्रा के मापदण्ड से जोड़ा जा सकता है। कल्याण का यह अंश आर्थिक कल्याण कहलाता है। अतः कल्याण को भी आर्थिक व गैर आर्थिक दो भागों में बाँटा गया है।

प्रोफेसर पीगू ने कहा था कि कोई आर्थिक तत्त्व आर्थिक कल्याण को एक तरह से प्रभावित कर सकता है और गैर आर्थिक कल्याण को दूसरी तरह से प्रभावित कर सकता है तथा कई बार इससे आर्थिक कल्याण पर पडने वाला प्रभाव समाप्त भी हो जाता है। इसको स्पष्ट करने के लिए पीगू ने शहरीकरण और औद्योगीकरण के प्रभावों का कार्य की दशाओं के सम्बन्ध में विवेचन किया था। जैसा कि ऊपर बतलाया गया है औद्योगीकरण से जहाँ एक ओर उत्पादन बढा है, वहाँ दूसरी तरफ वातावरण सम्बन्धी (जल व वायु का प्रदूषण) व श्रम सम्बन्धी समस्याएँ (आवास की समस्या, हडतालें, आदि) भी बढी हैं।

अमरीकी अर्थशास्त्री आर्थर ओकुन (Arthur Okun) का मत है कि एक राष्ट्र बिना वास्तविक GNP बढ़ाये अधिक खुशहाल व सुखी हो सकता है, बशर्ते कि वहाँ शान्ति, अवसर की समानता, अन्याय व हिंसा की समाप्ति, नागरिकों में भाईचारे की भावना की वृद्धि, माता-पिता व सन्तान में परस्पर ज्यादा स्नेह तथा पति-पत्नी में बेहतर सम्बन्ध पाये जाएँ।

एडवर्ड शेपीरो ने भी इसी प्रकार के विचार प्रगट किये हैं। उसका कहना है कि, 'बहुत सी बातें जो वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन से कोई सरोकार नही रखती एव एक राष्ट्र को अधिक खुशहाल बना सकती है;जैसे शान्ति, बेहतर जातिगत सम्बन्ध, सभी के लिए शिक्षा के समान अवसर, पाप व हिंसा को दूर करना, अल्पसख्यकों की आवाज बुलद होना, अदालतों व न्याय की सुधरी हुई व्यवस्था, आदि।'[1]

इसलिए केवल GNP के बढने से ही सब कुछ नहीं होता, सामाजिक कल्याण को बढाने के लिए अन्य बातों पर भी ध्यान देना जरूरी होता है।

नोरढाउस व टोबिन ने GNP में कुछ मदें जोडकर व कुछ मदें घटाकर आर्थिक कल्याण का एक माप निकाला है जो GNP की तुलना में ज्यादा उपयोगी माना गया है।

इसके लिए GNP में निम्न मदों के लिए राशियाँ जोडी जाती हैं—

1 अवकाश—इसकी मात्रा के बढने से कल्याण में वृद्धि होती है,

2 घर की देख भाल में लगाई गई सेवाएँ व बगीचे आदि में लगाया गया समय,

3 सार्वजनिक व निजी पूँजी से प्राप्त सेवाएँ—सार्वजनिक पूँजी में सार्वजनिक इमारतों, सडकों, अस्पतालों, स्कूलों, पार्कों, आदि की सेवाएँ आती हैं।

GNP में से घटायी जाने वाली मदें इस प्रकार होती हैं—(i) सुरक्षा व्यय, (ii) शहरीकरण व भीड भाड तथा पर्यावरण के प्रदूषण (जल व वायु के प्रदूषण) से होने वाली असुविधाएँ।

GNP में इन मदों को जोडकर व घटाकर आर्थिक कल्याण का नया माप निकाला गया है जो अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। इसे शुद्ध आर्थिक कल्याण (Net Economic Welfare) (NEW) का नाम दिया गया है।

सामाजिक सूचकों (Social Indicators) पर अधिक जोर

आर्थिक कल्याण के अध्ययन में कुछ विद्वान सीधे सामाजिक सूचकों की जानकारी पर जोर देते हैं जैसे, अस्पताल में बिस्तरों की सख्या, शिशु मृत्यु दर, हत्याएँ आत्म हत्याएँ, सडक दुर्घटनाएँ टेलीफोनों की सख्या, शिक्षा सस्थाओं में विद्यार्थियों की भर्ती के अनुपात

1 Edward Shapiro Macroeconomic Analysis, Fifth ed., 1982, p S-48

सामाजिक समानता का अंश आदि। यदि इन सूचकों में सुधार होता है, तो कल्याण में वृद्धि होती है, अन्यथा नहीं। इसका अर्थ यह है कि GNP की जगह आर्थिक व सामाजिक कल्याण का सम्बन्ध इन विभिन्न प्रकार के सूचकों से जोड़ने का प्रयास किया गया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार यदि शिशु-मृत्यु दर घटती है एवं आत्महत्याएँ कम होती हैं तो सामाजिक कल्याण में वृद्धि मानी जाती है।

प्रोफेसर सेमुअल्सन व नोरढाउस ने भी कहा है कि GNP की धारणा की अपेक्षा शुद्ध आर्थिक कल्याण (NEW) की अवधारणा ज्यादा वास्तविक व अधिक सार्थक होती है। GNP में कुछ मदें जोड़कर व कुछ मदें घटाकर हम NEW की अवधारणा पर आ सकते हैं। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कि जोड़ने की दृष्टि से अवकाश का महत्त्व है। हमें वस्तुओं व सेवाओं की सन्तुष्टि की भाँति ही अवकाश से भी सन्तुष्टि मिलती है। लेकिन अवकाश से प्राप्त सुख GNP में शामिल नहीं होता, क्योंकि उसका माप नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार आजकल शहरों में जल तथा वायु के प्रदूषण से होने वाली हानि GNP में से घटायी जानी चाहिए। समाज में अपराधियों के बढ़ने से पुलिस बढ़ानी पड़ती है। चोर डाकुओं व अन्य प्रकार के आतंक के बढ़ने के कारण सुरक्षा की व्यवस्था करनी पड़ती है और पड़ोस में शत्रु राष्ट्रों की नीतियों के कारण भी युद्ध-सामग्री व सुरक्षा पर व्यय बढ़ाना पड़ता है। कहने का आशय यह है कि GNP में कुछ मदों के कारण कमी करके हम 'शुद्ध आर्थिक कल्याण' (NEW) की अवधारणा पर पहुँचते हैं।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि विलियम नोरढाउस व जेम्स टोबिन ने भी आर्थिक कल्याण का अनुमान लगाया है और उन्होंने आधुनिक शहरीकरण की असुविधाओं के कारण GNP को घटाया है। इस प्रकार प्रति व्यक्ति NEW की वृद्धि और प्रति व्यक्ति GNP की वृद्धि में कुछ अन्तर पाये जा सकते हैं। इन दोनों में आजकल शुद्ध आर्थिक कल्याण (NEW) का विचार ज्यादा सार्थक माना जाने लगा है। अतः हाल के वर्षों में GNP से ध्यान हटाकर NEW पर लगाया जाने लगा है। इसके अलावा कुछ विद्वान कई प्रकार के सामाजिक सूचकों की गणना पर अधिक जोर देने लगे हैं ताकि उनको देखकर सामाजिक कल्याण का अनुमान लगाया जा सके। इन सबका अपना महत्त्व होता है। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त सुप्रसिद्ध भारतीय अर्थशास्त्री प्रोफेसर अमरत्य कुमार सेन ने भी सामाजिक सूचकों के महत्त्व को स्वीकार किया है, जैसे जीने की औसत आयु, साक्षरता, समाज में स्त्रियों का स्थान, सफाई की व्यवस्था, आदि। इनके बढ़ने से समाज के कल्याण में वृद्धि होती है।

लेकिन इन सबके कारण राष्ट्रीय आय के आंकड़े निरर्थक नहीं हो जाते। आज भी सुविधा की दृष्टि से प्रत्येक राष्ट्र अपनी GNP व प्रति व्यक्ति GNP के आंकड़े नियमित रूप से प्रकाशित करता है तथा विकास दर का अनुमान लगाने के लिए राष्ट्रीय आय के आंकड़ों का ही उपयोग किया जाता है। अतः NEW का विचार उपयोगी होते हुए भी गणना की कठिनाइयों के कारण व्यवहार में ज्यादा लोकप्रिय नहीं हो पाया है। आज भी GNP व इससे सम्बद्ध अवधारणाएँ ही अर्थशास्त्र में अधिक प्रचलित मानी जाती हैं। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शुद्ध आर्थिक कल्याण (NEW) की अवधारणा व सामाजिक सूचकों की चर्चा ने आर्थिक कल्याण के अध्ययन को नयी दिशायें प्रदान की हैं और भविष्य में इनका महत्त्व बढ़ेगा।

कल्याण का विषय काफी दार्शनिक व मनोवैज्ञानिक किस्म का माना गया है। इसमें शान्ति, सहिष्णुता, पड़ौसी से स्नेह, पारिवारिक जीवन, अपने काम व वातावरण से सन्तोष, न्याय व अनेक ऐसी मदे शामिल होती है जिन्हे मुद्रा के मापदण्ड से नही मापा जा सकता। मनुष्य का सुख भौतिक साधनो के अलावा अनेक बातो पर निर्भर करता है। अत. कल्याण का प्रश्न काफी जटिल होता है। इसकी वृद्धि के लिए मानवीय व्यवहार व मानवीय सम्बन्धो को भी बेहतर बनाना आवश्यक माना गया है।

प्रश्न

1 राष्ट्रीय आय की धारणा की व्याख्या कीजिए। (Ajmer Iyr, 1996)

2 क्या आप इस बात से सहमत हैं कि प्रति व्यक्ति आय एव आर्थिक कल्याण साथ साथ चलते हैं? (Ajmer Iyr, 1996)

3 राष्ट्रीय आय से आप क्या समझते हैं? राष्ट्रीय आय की विभिन्न अवधारणाओं की विवेचना कीजिए। (Raj Iyr, 1996)

4 निम्नाकित की व्याख्या करें–

(i) 'शुद्ध आर्थिक कल्याण' (Ajmer Iyr, 1996)

5 निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए–

(अ) साधन लागत पर GNP एव बाजार भावों पर NNP (सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति)·

(ब) साधन लागत पर NNP एव बाजार भावों पर GNP (शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति)·

(स) सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP) = सकल राष्ट्रीय व्यय (GNE) = सकल राष्ट्रीय आय (GNI)

(द) व्यक्तिगत खर्च योग्य आय (PDI) (Raj Iyr, 1994)

6 निम्न अवधारणाओं को स्पष्ट कीजिए

(i) सकल राष्ट्रीय उत्पाद एव विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद

(ii) साधन लागत पर विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन तथा बाजार कीमत पर विशुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन

(iii) व्यक्तिगत आय एव व्यय योग्य आय

(iv) प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय एव आर्थिक कल्याण के मध्य सम्बन्ध।

(Ajmer Iyr 1994)

7 निम्न आंकड़ों की सहायता से शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति (NNP) व शुद्ध घरेलू उत्पत्ति (NDP) को ज्ञात कीजिए–

(1) सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति = 10000 करोड रु, (2) मूल्य ह्रास = 50 करोड रु, (3) विदेशों से प्राप्त साधन-आय की राशि = 150 करोड रु (4) विदेशों को दी जाने वाली साधन भुगतान की राशि = 165 करोड रु

[उत्तर–शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति (NNP) = 9950 करोड रु

शुद्ध घरेलू उत्पत्ति (NDP) = 9965 करोड रु, यहाँ NDP की राशि NNP से 15 करोड रु अधिक है क्योंकि विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन आय (–) 15 करोड रु है, अर्थात ऋणात्मक (negative) है।

8 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए–

(i) राष्ट्रीय आय और आर्थिक कल्याण।

(ii) बाजार भाव पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद और साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति (Raj Iyr 1992)

9 निम्न सूचना के आधार पर बाजार भावों पर सकल घरेलू उत्पत्ति निकालिए—(अरब रुपयों में)

(1) साधन लागत पर शुद्ध घरेलू उत्पत्ति 2605

(2) स्थिर पूँजी की खपत 339

(3) परोक्ष कर 500

(4) सब्सिडी 118

[उत्तर- (1) + (2) + (3)- (4) = 3326 अरब रु]

10 निम्न सूचना के आधार पर सकल घरेलू उत्पत्ति पर व्यय ज्ञात कीजिए-(अरब रुपयों में)

(i) सरकार द्वारा अन्तिम उपभोग व्यय 410

(ii) निजी अन्तिम उपभोग व्यय 2210

(iii) सकल स्थिर पूँजी निर्माण 675

(iv) स्टॉक के परिवर्तन 87

(v) वस्तुओं व सेवाओं के निर्यात 204

(vi) वस्तुओं व सेवाओं के आयात 254

(vii) विसंगतियाँ (discrepencies) (–) 6

[उत्तर- (i) + (ii) + (iii) + (iv) + (v) – (vi) + (vii) = 3326 अरब रुपये]

11 एक अर्थव्यवस्था की 'सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति' को निकालने के लिए क्या-क्या शामिल करेंगे? दोहरी गणना की समस्या को कैसे टालेंगे? (Raj Iyr 1992)

12 निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(i) सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति = सकल राष्ट्रीय आय = सकल राष्ट्रीय व्यय अथवा GNP = GNI = GNE

(ii) साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति (NNP) अथवा राष्ट्रीय आय (NI)

(iii) GNP, NNP, GDP व NDP का परस्पर सम्बन्ध

(iv) विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन आय (Net factor income from abroad)

(v) प्रचलित भावों पर प्रति व्यक्ति आय तथा स्थिर भावों पर प्रति व्यक्ति आय

(vi) प्रति व्यक्ति वास्तविक आय

(vii) वैयक्तिक प्रयोज्य आय (PDI)

13 राष्ट्रीय आय का माप किन विधियों से किया जाता है ? प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय एवं आर्थिक कल्याण का सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए। (Raj Iyr., 1995)

14 निम्नांकित को समझाइए—

(i) विशुद्ध आर्थिक कल्याण (Ajmer Iyr., 1995)

15 (अ) समुचित अंकीय उदाहरणों द्वारा निम्नांकित को समझाइये—

(i) बाजार कीमतों पर सकल राष्ट्रीय उत्पादन

(ii) बाजार कीमतों पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन

(iii) साधन लागतों पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन

(iv) वैयक्तिक आय

(v) वैयक्तिक खर्च योग्य आय

(vi) प्रति व्यक्ति आय

(ब) राष्ट्रीय आय और आर्थिक कल्याण के बीच सम्बन्ध बतलाइये। (Raj., Iyr., 1997)



9

आय का वृत्ताकार प्रवाह
(Circular Flow of Income)

किसी भी अर्थव्यवस्था में आमदनी परिवारों व फर्मों के बीच में घूमती रहती है। यदि हम यह मान लेते हैं कि (1) परिवार अपनी समस्त आमदनी फर्मों के द्वारा उत्पादित वस्तुओं व सेवाओं को खरीदने में व्यय कर देते हैं; (2) फर्में उत्पादन की मात्रा कुल बिक्री की मात्रा के बराबर रखती हैं जिससे उनके पास माल के स्टॉक में कोई परिवर्तन नहीं होता और (3) फर्में वस्तुओं व सेवाओं की बिक्री से प्राप्त समस्त मुद्रा परिवारों को मजदूरी, लगान, ब्याज व मुनाफों के रूप में बांट देती हैं, तो ऐसी अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधनों को किया गया समस्त भुगतान समाज में चालू उत्पादन के मूल्य के बराबर होगा। ऐसी अवस्था में **फर्मों की आमदनी व परिवारों की आमदनी सदैव बराबर रहती है।** फर्मों ने जो मुद्रा परिवारों को दी है वह फर्मों के पास वापस लौट आती है। यह स्पष्ट है कि आय का यह वृत्ताकार या चक्रीय *प्रवाह (Circular flow) एक बार प्रारम्भ होकर निरन्तर इसी स्तर पर चलता जाता है।* इसमें उपर्युक्त मान्यताओं के कारण कोई परिवर्तन नहीं होता।

इस स्थिति के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि अर्थव्यवस्था एक प्रकार के **तटस्थ-सन्तुलन (neutral equilibrium)** में बनी रहती है। मान लीजिए, फर्मों ने 1,000 रुपये मजदूरी, लगान, ब्याज व मुनाफे के रूप में वितरित किये जो परिवारों को उत्पादन के साधनों की आय के रूप में प्राप्त हुए। ये 1,000 रुपये पुन. फर्मों के पास आ जाते हैं, क्योंकि परिवार फर्मों द्वारा उत्पन्न माल व सेवाएँ खरीद लेते हैं। इस प्रकार आय के वृत्ताकार प्रवाह का यह सरल मॉडल लिया जा सकता है। यह प्रवाह चाहे 100 रुपयों का हो, या 1,000 रुपयों का, या 10,000 रुपयों का हो, इससे इसके वृत्ताकार प्रवाह की प्रक्रिया में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस प्रवाह की निरन्तर जारी रहने की प्रक्रिया अत्यन्त सरल किस्म की होती है।

आय के वृत्ताकार प्रवाह की परिभाषा–हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि किस प्रकार राष्ट्रीय उत्पत्ति के तीन माप वस्तु-प्रवाह, आय-प्रवाह व व्यय-प्रवाह परस्पर बराबर होते हैं, अर्थात् GNP = GNI = GNE होते हैं। यहाँ पर हम आय के वृत्ताकार प्रवाह को प्रभावित करने वाले तत्त्वों का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

रिचर्ड जी. लिप्से के अनुसार, "**आय का वृत्ताकार प्रवाह साधन-सेवाओं व उत्पत्ति पर व्यय की राशियों का एक प्रवाह होता है जो घरेलू (न कि विदेशी) फर्मों व घरेलू परिवारों**

के बीच मे चलता रहता है।"[11] एक देश में पाई जाने वाली फर्में व वहाँ के परिवार घरेलू (domestic) माने जाते हैं। जब तक घरेलू परिवार प्राप्त मुद्रा को घरेलू फर्मों से वस्तुएँ व सेवाएँ खरीदने पर व्यय करते जाते हैं, और जब तक फर्में प्राप्त मुद्रा को घरेलू परिवारों को वापस लौटाती जाती हैं, तब तक वृत्ताकार प्रवाह अपने समान स्तर पर बना रहता है। इस प्रकार प्रवाह में कभी कुछ नहीं जोड़ा जाता (no injections), और इसमें से कुछ निकाला भी नहीं जाता (no withdrawals)। हमने अध्ययन की दृष्टि से एक सरल मॉडल में तो प्रवाह में जोड़ना व घटाना नहीं माना है, लेकिन वास्तविक जगत् में यह जोड़ना व घटाना निरन्तर चलता रहता है। इसलिए अब हम आय के वृत्ताकार प्रवाह में जोड़ने व घटाने की प्रमुख मदों पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं जिससे पता चलेगा कि यह वृत्ताकार प्रवाह किन तत्वों के कारण बढ़ता है, और किन तत्वों के कारण घटता है।

रिचर्ड जी लिप्से ने आय के वृत्ताकार प्रवाह का वर्णन निम्न चार परिस्थितियों में किया है–

1. अपव्ययी या खर्चीली अर्थव्यवस्था (Spendthrift Economy)–यह एक ऐसी अर्थव्यवस्था होती है जो अत्यधिक खर्चीली होती है। लोग जितना कमाते हैं उतना ही खर्च कर देते हैं। इसमें केवल दो समूह, अर्थात् फर्में व परिवार ही होते हैं। परिवार अपनी समस्त आय उपभोग की वस्तुओं व सेवाओं पर व्यय कर देते हैं, तथा फर्में अपनी सारी आमदनी परिवारों को मजदूरी, ब्याज, लगान, व लाभ के रूप में वापस लौटा देती हैं। इस प्रकार इस अर्थव्यवस्था में कोई बचत व विनियोग नहीं किया जाता। ऐसी परिस्थिति में स्थिर आमदनी फर्मों व परिवारों के बीच में घूमती रहती है।

2. मितव्ययी या किफायती अर्थव्यवस्था (Frugal Economy)–इस अर्थव्यवस्था में लोग बचत करते हैं एव किफायत से खर्च करते हैं। इस प्रकार इसमें बचत व विनियोग होने लगते हैं। बचत व विनियोग के बराबर होने पर, राष्ट्रीय आय सतुलन में रहती है। इनमें अतर पाये जाने पर राष्ट्रीय आय में असन्तुलन उत्पन्न हो जाता है। यदि बचत की राशि विनियोग की राशि से अधिक होती है तो राष्ट्रीय आय कम हो जाती है और यदि विनियोग की राशि बचत की राशि से अधिक होती है तो राष्ट्रीय आय बढ़ जाती है। विनियोग के बढ़ने से आय में अनुपात से अधिक वृद्धि होती है। इस प्रकार मितव्ययी अर्थव्यवस्था में बचत व विनियोग में अन्तर होने से आमदनी समान स्तर पर नहीं बनी रह सकती। यह परिवर्तित होती रहती है। परिवर्तन की दिशा पर बचत व विनियोग की राशियों का प्रभाव पड़ता है।

3. सरकारी प्रशासन के द्वारा सचालित अर्थव्यवस्था (Governed Economy)–इसमें सरकार का प्रवेश व हस्तक्षेप पाया जाता है। इसलिए सरकार फर्मों से वस्तुएँ तथा परिवारों से साधनों की सेवाएँ खरीदने लगती है। इस प्रकार आय प्रवाह में सरकारी आय तथा व्यय का भी प्रवेश हो जाता है। सरकार करों के द्वारा अपनी आय प्राप्त करने लगती है। ये कर

11 "We may define the circular flow of income as the flow of expenditures on output and factor services passing between domestic (as opposed to foreign) firms and domestic households." Richard G Lipsey, AN INTRODUCTION TO POSITIVE ECONOMICS, 7th edition 1989, pp 469-470, and "The circular flow of income and expenditure implies that national income is equal to national product", Lipsey & Chrystal, op.cit., 8th ed., 1995, p 500

वस्तुओं पर, फर्मों पर तथा व्यक्तियों पर लगाये जाते हैं। अत: इस अर्थव्यवस्था में करों व सरकारी व्यय का समावेश हो जाता है। कर राष्ट्रीय आय को कम करते हैं तथा सरकारी व्यय से राष्ट्रीय आय बढ़ती है। यदि करों की राशि सरकारी व्यय की राशि से अधिक होती है तो आय का प्रवाह घट जाता है, और सरकारी व्यय के करों से अधिक होने पर यह बढ़ जाता है।

4. खुली अर्थव्यवस्था (Open Economy)–इसमें विदेशी व्यापार का भी समावेश हो जाता है। निर्यात आयात राष्ट्रीय आय की राशि को प्रभावित करने लगते हैं। निर्यात राष्ट्रीय आय को बढ़ाते हैं तथा आयात इसको घटाते हैं। निर्यातों के आयातों से अधिक होने पर राष्ट्रीय आय बढ़ती है, तथा आयातों के निर्यातों से अधिक होने पर राष्ट्रीय आय घटती है।

हम नीचे खुली अर्थव्यवस्था में आय के वृत्ताकार प्रवाह का विवेचन करते हैं ताकि एक साथ बचत व विनियोग, कर व सरकारी व्यय, तथा आयात व निर्यात, आदि सभी प्रकार की आर्थिक क्रियाओं का प्रभाव राष्ट्रीय आय पर देखा जा सके।

आय के वृत्ताकार प्रवाह का वास्तविक मॉडल
खुली अर्थव्यवस्था (Open Economy)

(अ) आय के प्रवाह को घटाने वाले या कम करने वाले तत्व या घटक–आय का वृत्ताकार प्रवाह बचतों, आयातों व करों के प्रभाव से कम होता है। इनका वर्णन आगे किया जाता है।

(i) बचतें (savings)–परिवार और फर्में दोनों बचत कर सकते हैं। परिवार उस स्थिति में बचत करते हुए माने जा सकते हैं जब वे प्राप्त आय की सम्पूर्ण राशि वस्तुओं व सेवाओं पर व्यय नहीं करते। पारिवारिक बचत की कुछ मात्रा तो वृत्ताकार प्रवाह में वापस जुड़ जाती है, क्योंकि परिवार इन बचतों को फर्मों को उधार दे देते हैं और फर्में इनका उपयोग करके नये कल-कारखाने स्थापित कर लेती हैं, अथवा अन्य किसी तरह से अपने कारोबार में प्रयुक्त कर देती हैं। लेकिन परिवार जिस बचत का संग्रह या अपसंचय कर लेते हैं, वह राशि वृत्ताकार प्रवाह में वापस नहीं लौट पाती और उस सीमा तक वह वृत्ताकार प्रवाह से बाहर रह जाती है। अत: बचतें राष्ट्रीय आय को घटाती हैं। लेकिन विनियोग की क्रिया से यह प्रभाव बदल जाता है और आय बढ़ने लगती है।

इसी प्रकार फर्में भी कुछ बचतें कर सकती हैं, जैसे वे आय कुछ मुनाफों को शेयर होल्डरों में नहीं बाटती हैं। इन्हें अवितरित या रोके गये लाभ कहते हैं। ये व्यावसायिक बचतें होती हैं। यदि फर्में इन अवितरित लाभों का उपयोग नयी फैक्ट्री की स्थापना या पुरानी फैक्ट्री के विस्तार में करती हैं तो ये बचतें वृत्ताकार प्रवाह में पुन: प्रवेश कर लेती हैं और यदि फर्में भी इनका संग्रह कर लेती हैं तो यह प्रक्रिया भी आय के वृत्ताकार प्रवाह को कम कर देती है।

(ii) आयात (Imports)–आयात की राशि भी आय के वृत्ताकार प्रवाह को घटाती है, क्योंकि यदि विदेशी माल का आयात किया जाता है तो इसका भुगतान स्वदेशी फर्मों को न मिलकर विदेशी फर्मों को मिलता है। इसलिए इससे विदेशी फर्मों की आय बढ़ती है। मान लीजिए, किसी देश के निवासी अपनी सम्पूर्ण आय को विदेशी माल के आयात पर व्यय करने का निर्णय करते हैं तो इस कदम से घरेलू फर्मों की आय शून्य हो जायेगी और

फलस्वरूप वहाँ के नागरिकों की आय भी शून्य हो जायेगी। अत आयात की क्रिया से वृत्ताकार प्रवाह का आकार घटता है।

(iii) कर (Taxes)–आजकल सरकारें विविध प्रकार के कर लगाती हैं। जब फर्मों पर कर लगाया जाता है तो फर्मों के पास मुद्रा का एक भाग परिवारों की तरफ न जाकर सरकार की ओर चला जाता है। इसी प्रकार परिवारों पर कर लगाने से इनके पास से कुछ मुद्रा फर्मों की ओर न लौटकर सरकार की ओर चली जाती है। वस्तुओं पर कर लगाये जाते हैं जिससे सरकार का राजस्व बढता है। सरकार करों से एकत्र राशि खर्च करती है, तब वह राशि पुन आय के वृत्ताकार प्रवाह में जुड जाती है। लेकिन जिस सीमा तक सरकार करों से प्राप्त राशि अपने पास रख लेती है उस सीमा तक आय का वृत्ताकार प्रवाह कम हो जाता है।

अत बचत, आयात व करों से आय का वृत्ताकार प्रवाह घटता है।

(आ) आय के प्रवाह को बढ़ाने वाले तत्त्व या घटक

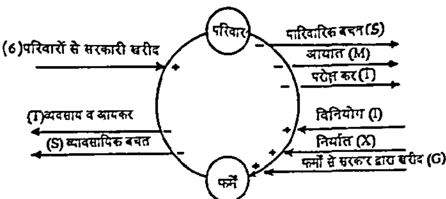
(i) विनियोग (Investment)–विनियोग के दो रूप होते हैं एक तो माल के स्टॉक अथवा इन्वेण्टरी में वृद्धि एवं दूसरा पूँजीगत माल जैसे मशीनरी, फैक्ट्री की इमारत, साज सामान, वगैरा में वृद्धि। विनियोग के लिए उधार ली गई मुद्रा का प्रयोग किया जाता है। फर्में बैंक से रुपया उधार लेकर विनियोग कर सकती हैं। सरकार घाटे की वित्त व्यवस्था या नई मुद्रा का प्रयोग करके विकास कार्यों पर खर्च कर सकती है। इस प्रकार विनियोग से आय के वृत्ताकार प्रवाह में वृद्धि होती है। यदि फर्में अपनी पुरानी बचतों का उपयोग विनियोग के लिए करती हैं तो भी आय में वृद्धि होती है। अत विनियोग की क्रिया से आय प्रवाह बढता है।

(ii) निर्यात (Exports)–निर्यात से आय के वृत्ताकार प्रवाह में वृद्धि होती है क्योंकि निर्यात करने वाले देश को विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। निर्यात सम्बन्धी उद्योगों में साधनों की माँग बढती है जिससे उनमें काम करने वाले परिवारों की आमदनी बढती है। इस प्रकार निर्यात से वृत्ताकार प्रवाह में वृद्धि होती है। जो देश निर्यात बढाकर अपना आर्थिक विकास करने की नीति अपनाते हैं उनमें निर्यातों का आय प्रवाह को बढाने की दृष्टि से ऊँचा स्थान होता है, जैसा कि दक्षिण कोरिया, जापान आदि में पाया जाता है। भारत भी निर्यात बढाकर अपनी आय बढाना चाहता है।

(iii) सरकारी व्यय (Government Expenditures)–सरकारी व्यय से आय का वृत्ताकार प्रवाह बढ़ता है। सरकारी व्यय के कई रूप होते हैं। सर्वप्रथम, सरकार रेल, डाक-तार विभाग आदि पर व्यय करती है और इनकी सेवाएँ खरीदने के लिए जनता को कीमत देनी होती है। जो व्यक्ति यात्रा करना चाहते हैं या पार्सल व तार लगाना चाहते हैं उनको इन कार्यों के लिए आवश्यक कीमत चुकानी पडती है। सरकार अपने अवकाश प्राप्त कर्मचारियों को पेन्शन व अन्य सामाजिक सहायता दे सकती है। ये हस्तान्तरण भुगतान (*Transfer-Payments*) कहलाते हैं। सरकार कुछ वस्तुएँ व सेवाएँ मुफ्त भी प्रदान कर सकती है, जैसे शिक्षा, दवा, सुरक्षा, न्याय आदि। ये सार्वजनिक वस्तुएँ (Public Goods) कहलाती हैं। इस प्रकार सरकारी व्यय का जो भी रूप हो, वह आय के वृत्ताकार प्रवाह को बढ़ाने वाला ही होता है।

नीचे आय के वृत्ताकार प्रवाह को बढ़ाने वाले तत्त्व धनात्मक (+) निशान से एवं इनको घटाने वाले तत्त्व ऋणात्मक (–) निशान से सूचित किये गये हैं।

आगे के चित्र से स्पष्ट होता है कि आय के वृत्ताकार प्रवाह को घटाने वाली मदें बचत (S), आयात (M) व कर (T) हैं। अत कुल कमी या घटत की राशि S+M+T से सूचित की जा सकती है।



चित्र 1—खुली अर्थव्यवस्था में आय के वृत्ताकार प्रवाह को बढ़ाने वाली व घटाने वाली मदें।

इसी प्रकार वृत्ताकार प्रवाह को बढ़ाने वाली मदें विनियोग (I), निर्यात (X) व सरकारी व्यय (G) होता है। कुल बढ़त या जोड़ की राशियाँ I+X+G होती हैं।

यहाँ पर ध्यान देने की एक विशेष बात यह है कि आय प्रवाह को बढ़ाने वाले तत्त्व इनको घटाने वाले तत्त्वों से पूर्णतया स्वतंत्र होते हैं। इसलिए दोनों की कुल मात्राएँ एक दूसरे से भिन्न हो सकती हैं, और प्रायः होती भी हैं। हमें यह स्मरण रखना है कि प्राय बचत व विनियोग में अन्तर पाया जाता है। इसी प्रकार आयात की राशि व निर्यात की राशि में भी अन्तर पाया जाता है और सरकारी करों व सरकारी व्यय की राशियों में भी अन्तर पाया जाता है। अत आय के वृत्ताकार प्रवाह पर इस बात का प्रभाव पड़ता है कि इसको घटाने वाले तत्त्वों या घटकों का ज़ोर ज्यादा है, अथवा इसको बढ़ाने वाले तत्त्वों या घटकों का ज़ोर ज्यादा है।

इस सम्बन्ध में निम्न निष्कर्ष सरलतापूर्वक याद रखे जा सकते हैं-

1. यदि S+M+T = I+X+G हो, तो कुल घटाव = कुल जोड़ होगा, और आय का प्रवाह यथास्थिर बना रहेगा। इससे राष्ट्रीय आय सन्तुलन में रहेगी, अर्थात् इसमें कोई वृद्धि या कमी नहीं होगी।

2. यदि S+M+T की मात्रा I+X+G से कम होती है, अर्थात् कुल घटाव कुल जोड़ से कम होता है, तो आय का प्रवाह बढ़ेगा, क्योंकि यहाँ आय को बढ़ाने वाले तत्त्वों का प्रभाव अधिक होता है।

3 यदि S+M+T की मात्रा I+X+G से अधिक होती है, अर्थात् कुल घटाव कुल जोड़ से अधिक होता है तो आय का प्रवाह घटेगा। यहाँ आय को घटाने वाले तत्वों का प्रभाव अधिक होता है।

कहने का आशय यह है कि आय को घटाने वाले या इसको बढ़ाने वाले तत्वों में एक प्रकार की होड़ सी चलती रहती है और जिन तत्वों का वजन या प्रभाव अधिक हो जाता है, उसी के अनुरूप आय के प्रवाह पर प्रभाव पड़ता है।

आय के वृत्ताकार प्रवाह के इस मॉडल की सीमाएँ

(Limitations of the Circular flow of Income Model)

हमने ऊपर आय के वृत्ताकार प्रवाह सम्बन्धी जिस मॉडल का विवेचन किया है उसकी कुछ सीमाएँ भी हैं, जो विशेषतया भारत जैसे विकासशील देशों में देखने को मिलती हैं। ये इस प्रकार हैं–

1. इनमे विभिन्न फर्मों के आपसी लेन-देन तथा विभिन्न परिवारों के आपसी लेन-देन शामिल नहीं किये गये है–वास्तविक जगत में विभिन्न फर्में भी आपस में क्रय विक्रय करती हैं, जैसे कच्चे माल के स्वामी इसे फैक्ट्रियों के उत्पादकों को बेचते हैं, उत्पादक थोक विक्रेताओं को एव थोक विक्रेता इसे खुदरा विक्रेताओं को बेचते हैं। परिवारों के बीच में भी परस्पर लेन देन होते हैं जिन पर व्यक्तिगत व सामाजिक तत्वों का प्रभाव पड़ता रहता है। इन सबको आय के वृत्ताकार प्रवाह में शामिल नहीं किया गया है।

2. बाजार में न होने वाले गैर-मौद्रिक (वस्तुओं व सेवाओं के रूप में) लेन-देन शामिल नही होते–भारत जैसे देश में कृषक अपनी उपज का काफी बड़ा भाग स्वय के उपभोग में लगा देता है। यह वृत्ताकार प्रवाह में शामिल नहीं होता क्योंकि यह बाजार में नहीं आता। इसी प्रकार वह स्वय उत्पादन के साधन प्रदान करता है, लेकिन उनका प्रतिफल अलग से नहीं चुकाया जाता। उसके द्वारा किराये पर लिये गये साधनों का प्रतिफल चुकाया जाता है। इसके अलावा भारतीय गाँवों में वस्तु विनिमय प्रणाली (barter system) भी पायी जाती है। कृषक दूसरों से प्राप्त सेवाओं का भुगतान वस्तु रूप में करते हैं। अतः **गैर-बाजार व गैर-मुद्रा के सौदे वृत्ताकार प्रवाह से बाहर रह जाते है।** इसलिए अल्पविकसित देशों के लिए वृत्ताकार प्रवाह के मॉडल की उपयोगिता कुछ सीमा तक कम हो जाती है।

इन मर्यादाओं के बावजूद आय का वृत्ताकार प्रवाह अर्थव्यवस्था में फर्मों व परिवारों के बीच लेन देन की प्रक्रिया पर काफी प्रभाव डालता है।

एक देश में बचत, विनियोग व सरकारी व्यय आदि राष्ट्रीय आय के निर्धारण को प्रभावित करते हैं। यहाँ पर इतना जानना ही पर्याप्त होगा कि आय के वृत्ताकार प्रवाह को बढ़ाने वाली प्रमुख राशियाँ विनियोग, निर्यात व सरकारी व्यय मानी जाती हैं और इनको घटाने वाली प्रमुख राशियाँ, बचत, आयात व कर मानी जाती हैं। **जब कभी हम राष्ट्रीय आय को बढ़ाना चाहें तब हमें विनियोग, निर्यात व सरकारी व्यय को बढ़ाने पर ध्यान देना होगा और जब कभी आय को कम करने की आवश्यकता पड़े तो बचत, आयात व करों में वृद्धि करनी होगी।**

आय के प्रवाह के अलावा एक अर्थव्यवस्था में मुद्रा-प्रवाह (money flows) भी पाये जाते हैं। परिवारों, फर्मों, पूँजी-बाजार तथा विदेशी लेन देन के कारण आजकल मुद्रा के

लेन-देन बहुत बढ गये हैं। इन मुद्रा-प्रवाहों की कुल राशि राष्ट्रीय आय की कुल राशि से काफी अधिक होती है। उदाहरण के लिए, फैक्ट्री का मालिक थोक व्यापारी को माल देता है, थोक व्यापारी खुदरा व्यापारी को तथा खुदरा व्यापारी अन्तिम उपभोक्ता को। इस प्रकार मुद्रा के प्रवाह की दृष्टि से तीन सौदे हुए, लेकिन आय-सृजन की दृष्टि से केवल अन्तिम वस्तु का मूल्य ही देखा जायगा। इसी प्रकार पूंजी-बाजार में परिवार, फर्में व वित्तीय संस्थाएँ मिलकर अपनी बचतों को मुद्रा के रूप में पहुँचाते हैं, तथा वहाँ से व्यक्ति व संस्थाएँ उस मुद्रा को उधार लेते हैं, जिससे मुद्रा के प्रवाह उत्पन्न होते हैं। अत मुद्रा-प्रवाह व आय प्रवाह में काफी भेद होता है। इनमें सम्बन्ध जरूर होता है, लेकिन इनको एक-सा समझना भूल होगी। यह अवश्य है कि मुद्रा-प्रवाह की कुछ धाराओं को जोडकर राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाया जा सकता है।

प्रश्न

1. आय के वृत्ताकार प्रवाह को परिभाषित कीजिए। इस प्रवाह को बढाने वाली तथा घटाने वाली चलराशियों की व्याख्या कीजिए। (Raj Iyr. 1993)
2. रेखा चित्र की सहायता से 'अर्थशास्त्र के चक्राकार आय प्रवाह' को समझाइये। एक खुली-अर्थव्यवस्था के इस प्रवाह को कौन-से तत्त्व (प्रत्याहार तथा अन्त क्षेपण) प्रभावित करते हैं? (Ajmer Iyr. 1993)
3. सरकार को आय के वृत्ताकार प्रवाह में वृद्धि के लिए क्या करना होगा?
4 बचत व विनियोग का आय के वृत्ताकार प्रवाह पर प्रभाव बताइये। समझाकर लिखिए।
5. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए ·
   (i) आयात-निर्यात व आय का वृत्ताकार प्रवाह,
   (ii) कर व सरकारी व्यय तथा आय का वृत्ताकार प्रवाह,
   (iii) आय के वृत्ताकार प्रवाह को बढाने के उपाय,
   (iv) आय-प्रवाह व मुद्रा-प्रवाह में मूलभूत अन्तर,
   (v) आय-प्रवाह को बढाने वाले तत्त्व,
   (vi) आय-प्रवाह को घटाने वाले तत्त्व।
6 आय के वृत्ताकार प्रवाह का क्या आशय है? आय के प्रवाह के आकार को निर्धारित करने वाले तत्त्वों का वर्णन कीजिए। (Raj. Iyr., 1995)
7. निम्नांकित को समझाइए :
   (i) आय का वृत्ताकार प्रवाह (Raj. Iyr., 1995)
8 व्याख्या कीजिए .
   (i) राष्ट्रीय आय का चक्रीय प्रवाह (Raj Iyr. 1997)



10

पूँजीवाद
(Capitalism)

आधुनिक युग में विभिन्न देशों की अर्थव्यवस्थाओं में काफी अन्तर पाये जाते हैं। फिर भी 7 के समूह के देशों (G7) (अमेरिका, जापान, जर्मनी, फ्रास, यू.के., इटली व कनाडा) की अर्थव्यवस्थाएँ तथा चार एशियन टाइगर्स—हांगकांग, दक्षिणी कोरिया, सिंगापुर व तैवान एवं तीन एशियन कब्स (cubs)—इन्डोनेशिया, मलयेशिया व थाईलैण्ड की अर्थव्यवस्थाएँ निजी उद्यम वाली अर्थव्यवस्थाएँ अथवा प्रमुखतया पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाए मानी जाती हैं, जबकि चीन व क्यूबा की अर्थव्यवस्थाओं को साम्यवादी अर्थव्यवस्थाएँ कहा गया है, क्योंकि इनमें भूतकाल में उत्पादन के साधनों पर सरकार का स्वामित्व तथा केन्द्रीय नियोजन आदि अपनी चरम सीमा पर पाये गये हैं। लेकिन चीन 1979 से आर्थिक उदारीकरण के मार्ग पर चल पड़ा है जिससे वहाँ भी बाजारीकरण व निजीकरण का प्रभाव बढ़ा है। वहाँ अब साम्यवादी अर्थव्यवस्था का पुराना कठोर रूप न पाया जाकर विश्व की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल बाजारीकरण, उदारीकरण व विश्वीकरण (marketisation, liberalisation and globalisation) की प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ती जा रही हैं जिनमें निजी क्षेत्र की भूमिका बढ़ती जाती है। रूस की अर्थव्यवस्था भी अब तक साम्यवादी थी, लेकिन वर्तमान में वहाँ स्वतंत्र बाजार अर्थव्यवस्था की ओर जाने का प्रयास किया जा रहा है। यह एक व्यापक किस्म का परिवर्तन है। ब्रिटेन ने भूतकाल में समाजवाद के प्रयोग किये थे, लेकिन वहां पिछले वर्षों में निजी क्षेत्र के विकास पर अधिक जोर दिया गया है, तथा काफी सीमा तक सार्वजनिक उपक्रमों का 'निजीकरण' (Privatisation) किया गया है। यह भी निजी उद्यम वाली अर्थव्यवस्था के समीप मानी जा सकती है। भारत मिश्रित अर्थव्यवस्था के माध्यम से नियोजित विकास के मार्ग पर चल रहा है। यहाँ भी जुलाई 1991 से आर्थिक उदारीकरण की नई नीति को अपनाने के कारण सार्वजनिक क्षेत्र का प्रभाव क्षीण होता जा रहा है और उसके स्थान पर निजी क्षेत्र का प्रभाव बढ़ाया जा रहा है, जिससे अर्थव्यवस्था पूँजीवादी अर्थतंत्र की ओर मुड़ने लगी है। दूसरे शब्दों में, भारत में अब मिश्रित अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र की भूमिका अधिक सुदृढ़ की जा रही है। इस प्रकार समस्त संसार में बाजार अर्थव्यवस्था अथवा पूँजीवादी अर्थतंत्र की ओर रुझान बढ़ा है। विकासशील देशों को अन्य विकसित देशों की आर्थिक प्रगति के अनुभवों से लाभ उठाना चाहिए। इसलिए हमें आर्थिक प्रणालियों का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए। विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं के अपने गुण दोष होते हैं। कोई भी अर्थव्यवस्था सर्वगुण सम्पन्न नहीं होती है।

हम इस अध्याय में शुद्ध पूँजीवाद के लक्षणों का विवेचन करके इसके आधुनिक व व्यावहारिक रूप पर प्रकाश डालेंगे। अगले अध्याय में साम्यवाद व समाजवाद की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन किया जायेगा। उसके बाद पूँजीवादी मिश्रित व समाजवादी मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं की कार्यप्रणाली में अन्तर स्पष्ट किया जायेगा। साथ में नियोजित मिश्रित अर्थव्यवस्था के प्रयोग के रूप में भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रकृति व प्रगति का संक्षिप्त परिचय दिया जायेगा। भारतीय अर्थव्यवस्था मिश्रित अर्थव्यवस्था का एक सजीव व स्पष्ट दृष्टान्त प्रस्तुत करती है, हालांकि, इसे भी जुलाई 1991 से निजी अर्थव्यवस्था की ओर मोड़ने का अधिक प्रयास किया जा रहा है।

शुद्ध पूँजीवाद
(Pure Capitalism)

अर्थशास्त्र की पुस्तकों में ज्यादातर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का ही विवेचन देखने को मिलता है। उनमें अधिकांश आर्थिक सिद्धान्त पूँजीवाद की पृष्ठभूमि में ही समझाये जाते हैं। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने पूँजीवाद के शुद्ध रूप को हमारे समक्ष रखा था। अतः सर्वप्रथम हमें इसके शुद्ध रूप को समझना चाहिए, क्योंकि आधुनिक पूँजीवाद इससे काफी भिन्न हो गया है। पूँजीवाद के अध्ययन का महत्त्व इसलिए बढ़ जाता है कि विश्व का सबसे अधिक धनी देश अमेरिका मुख्यतया इसी प्रणाली को अपनाकर अपना विकास कर पाया है। जापान की तीव्र आर्थिक प्रगति भी इसी व्यवस्था के अन्तर्गत हुई है, और वहाँ की 'जादुई प्रगति' ने समस्त संसार को आश्चर्यचकित कर दिया है। आजकल भारत भी जापान की हाई-टेक्नोलोजी से सर्वाधिक लाभ उठाने का प्रयास कर रहा है। चीन, रूस व पूर्वी योरोप के कई समाजवादी देश पूँजीवादी अर्थतंत्र की ओर मुड़ रहे हैं। इसलिए इसके अध्ययन का महत्त्व बढ़ गया है। यह कहना गलत न होगा कि वर्तमान समय में विश्व के विभिन्न देश पूँजीवादी अर्थतंत्र को अधिक वरीयता देने लग गये हैं। फिलहाल ऐसा लगने लगा है कि जैसे पूँजीवाद का सूर्योदय हो रहा है और साम्यवाद का सूर्यास्त हो रहा है। हो सकता है कि आगे चलकर इस प्रकार का घटना-चक्र पुनः पलट जाय।

पूँजीवाद अथवा पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की परिभाषा

यह समझना भूल होगी कि पूँजीवाद की मुख्य विशेषता पूँजी का उपयोग करना, अथवा उत्पादन की घुमावदार विधियों का उपयोग करना मात्र है। पूँजी का उपयोग व उत्पादन की घुमावदार विधियाँ तो समाजवाद में भी देखने को मिलती हैं। ये दोनों बातें श्रम, पूँजी व तकनीकी ज्ञान आदि की उपलब्धि पर निर्भर करती हैं। रूस व अन्य समाजवादी देशों में उत्पादन की क्रिया काफी लम्बी, घुमावदार व जटिल रही है। अतः पूँजीवाद की परिभाषा पूँजी के उपयोग व उत्पादन की घुमावदार पद्धति के आधार पर नहीं की जा सकती।

लाउक्स व हिटनी के मतानुसार, "पूँजीवाद की परिभाषा व अन्य आर्थिक प्रणालियों से इसका अन्तर इसकी संस्थाओं के संदर्भ में किया जा सकता है। पूँजीवाद आर्थिक संगठन की वह प्रणाली है जिसमें निजी व्यक्ति अकेले अथवा समूह के रूप में, उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व रखते हैं और वे प्रायः अपनी पसन्द के अनुसार इन आर्थिक साधनों के उपयोग करने का अधिकार रखते हैं।"*

---

* कुछ लोग पूँजीवाद के स्थान पर 'निजी उद्यम वाली [illegible]' — '[illegible]' शब्दों का प्रयोग करना उचित समझते हैं।

यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि पूँजीवाद की परिभाषा में 'पूँजी के स्थान पर उत्पादन के साधनों' का प्रयोग किया गया है जो अधिक व्यापक है। इसमें पूँजी, भूमि और श्रम सभी प्रकार के साधन शामिल किये जाते हैं। इन सबका उपयोग उद्यमकर्त्ता अपनी इच्छानुसार उत्पादन में करते हैं। पूँजीवाद की उपर्युक्त परिभाषा मे उत्पादनों के साधनो पर निजी स्वामित्व की बात कही गई है और इन साधनों के उपयोग मे इनके स्वामियों को स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है। स्मरण रहे कि पूँजीवादी पद्धति में केवल यही काफी नहीं है कि उत्पादक पूँजी व भूमि के स्वामी हों, बल्कि इसमें मजदूरी पर श्रमिकों से उत्पादन करवाना और प्राप्त मुनाफे पर व्यक्तिगत अधिकार का होना भी आवश्यक माना गया है। इसलिए यदि एक किसान अपने खेत पर अपनी पूँजी व अपने परिवार के श्रम से काम करता है तो इसे व्यक्तिगत या पारिवारिक कृषि तो कहेंगे, लेकिन इसे पूँजीवादी कृषि नही कहेंगे। यदि ट्रेक्टरों व अन्य यन्त्रों का उपयोग करके तथा खेतिहर मजदूर रखकर कृषिगत फार्म चलाये जाते हैं तो वह पूँजीवादी खेती का रूप माना जायेगा। इसी प्रकार चाय, कॉफी, आदि के बागानों का निजी स्वामित्व व निजी प्रबन्ध में संचालन करना पूँजीवादी खेती का ही रूप होता है। अत पूँजीवादी व्यवस्था के लिए मजदूरी पर श्रमिक से काम करवाना एवं व्यक्तिगत लाभ को बढ़ाने मे उनका उपयोग करना आवश्यक माना गया है। केवल मजदूरी पर श्रमिकों की नियुक्ति तो साम्यवादी व्यवस्था में भी होती है, लेकिन वहाँ श्रम का उपयोग निजी लाभ को बढाने के लिए नहीं किया जाता। वहाँ उत्पादन का उद्देश्य सार्वजनिक हित होता है।

पूँजीवाद के मुख्य लक्षण या विशेषताएँ
(Main Characteristics or Features of Capitalism)

(1) निजी सम्पति (Private Property)–पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधन जैसे भूमि, पूँजी, आदि पर व्यक्तिगत अधिकार होता है। व्यक्ति या व्यक्ति-समूह कानूनी तरीके से अपना कारखाना, खेत या खान रख सकते हैं और उनको सचालित कर सकते हैं। पूँजीवाद में सरकार निजी सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करती है। सरकार निजी सम्पत्ति का कानून बनाती है।

पूँजीवाद में निजी सम्पति के स्वामी ही इसका उपयोग तय करते हैं। अत उत्पादन-सम्बन्धी निर्णय सम्पत्ति के स्वामी करते हैं। धन के सग्रह को प्रोत्साहन दिया जाता है। व्यक्तिगत तथा कम्पनी की आय का कुछ भाग बचाया जाता है।

व्यक्तियों के बीच लेन-देन के समझौतों को कानूनी मान्यता-निजी सम्पति में केवल भौतिक पदार्थ जैसे मकान, कारखाने व दुकानें आदि ही नहीं आते, बल्कि सम्पत्ति के सूक्ष्म रूप जैसे व्यक्तियों के बीच हुए समझौते भी आते हैं। उदाहरण के लिए, यदि क ने ख को किसी भुगतान की एवज में अपनी सेवाएँ उपलब्ध करने का कानूनी समझौता किया है, तो ख को यह अधिकार मिल गया है कि वह 'क' से निर्धारित कीमत पर उन सेवाओं की माग कर सके।

(2) उत्तराधिकार या विरासत (Inheritance)–वैसे तो उत्तराधिकार की बात निजी सम्पत्ति से जुडी हुई है, लेकिन इसे पूँजीवाद की एक पृथक् संस्था भी माना जा सकता है। निजी सम्पत्ति का स्वामी अपनी मृत्यु के बाद अपनी सम्पत्ति किसी भी उत्तराधिकारी को देने

का अधिकार रखता है, और वह उत्तराधिकारी सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार रखता है। निजी सम्पत्ति के अस्तित्व को निरन्तर बनाये रखने के लिए उत्तराधिकार की व्यवस्था आवश्यक मानी जाती है।

वैसे आजकल सम्पत्ति के व्यक्तिगत उपयोगों पर कुछ प्रतिबन्ध लग गये हैं। फिर भी पूँजीवादी प्रणाली में व्यक्ति का यह मूलभूत अधिकार कायम रहता है कि वह अपने अधिकार में होने वाले उत्पादन के साधनों का उपयोग अपनी इच्छानुसार अपने लाभ को ध्यान में रखते हुए कर सके। पूँजीवाद की अन्य संस्थाएँ प्रमुखतया इसी पर आश्रित होती हैं।

(3) उद्यम की स्वतन्त्रता (Freedom of enterprise)–निजी सम्पत्ति की अवधारणा को उत्पादन के साधनों तक फैलाने से 'उद्यम की स्वतन्त्रता' प्राप्त होती है। व्यक्ति या व्यक्ति समूह काम धन्धे का चुनाव करने में स्वतन्त्र होते हैं। यदि किसी व्यक्ति के पास 50 हजार रुपये हैं तो वह इनको अपनी दुकान में लगा सकता है, या फैक्ट्री में अथवा किसी अन्य आर्थिक क्रिया में। यह बात प्रत्येक व्यक्ति पर लागू होती है, चाहे वह श्रमिक हो प्राकृतिक साधनों का मालिक हो, अथवा पूँजी का स्वामी हो।

श्रमिक के सम्बन्ध मे उद्यम की स्वतन्त्रता का अर्थ है व्यवसाय या काम धन्धा चुनने की स्वतन्त्रता। व्यक्ति अपनी पसन्द के अनुसार कोई भी पेशा या व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता रखते हैं हालांकि साधनों व योग्यता के अभाव में सबको इसमें आवश्यक सफलता नहीं मिल पाती है। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति डॉक्टर बनना चाहता है तो उसके पास अध्ययन के लिए पर्याप्त साधन होने चाहिए और साथ में इस कार्य के लिए न्यूनतम योग्यता भी। इन दोनों के अभाव में वह अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि दो पेशों में समान मात्रा में साधन व योग्यता की आवश्यकता है, तो पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में एक व्यक्ति को इनमें से चुनने में किसी भी रोक-टोक का सामना नहीं करना पडता।

इसी प्रकार भूमि व पूँजी के स्वामी अपनी पसन्द के अनुसार अपने साधनों का उपयोग कर सकते हैं। अन्त में उद्यमकर्त्ता, जो इन साधनों को जुटाता है, अपने निर्णय के अनुसार इनका उपयोग करने का अधिकार रखता है। मान लीजिए, किसी श्रमिक ने सूती वस्त्र की मिल में काम करने का निश्चय किया तो सर्वप्रथम यह उन श्रमिकों के लिए उद्यम की स्वतन्त्रता हुई, फिर मिल का मैनेजर अपने निर्णय के अनुसार फैक्ट्री में उन श्रमिकों का उपयोग करेगा तो यह उस मिल मालिक की अपनी स्वतन्त्रता हुई।

(4) उत्पादन में निजी लाभ का उद्देश्य (Private Profit Motive)–पूँजीवाद में उत्पादन का प्रत्येक साधन अपने लाभ को ध्यान में रखकर निर्णय करता है। दूसरे शब्दों में हम इसे निजी 'लाभ की प्रेरणा' भी कह सकते हैं। निजी लाभ की प्रेरणा स्वतन्त्र उद्यम का अंग होती है। लाभ की मात्रा कुल प्राप्तियों व कुल लागतों का अन्तर होती है। सभी उद्यमकर्त्ता लाभ की प्रेरणा से कार्य करते हैं और इन प्राप्त राशियों व लागत में अधिकतम अन्तर रखने का प्रयास करते हैं। उत्पादन का साधन उस स्थान व उपयोग में लगाया जाता है, जहाँ पर उसका प्रतिफल अधिकतम होता है। इस सम्बन्ध में 'अन्य उद्देश्य' गौण होते हैं। स्मरण रहे कि यहाँ 'लाभ का उद्देश्य' गलत नहीं माना जा सकता क्योंकि यह उत्पादन के साधन के उपयोग का मार्गदर्शक होता है। यदि किसी व्यक्ति को अपनी मुद्रा पर एक

उपयोग में 10 प्रतिशत प्रतिफल मिले, और दूसरे उपयोग में 15 प्रतिशत प्रतिफल मिले, तो वह इसे, अन्य बातों के समान रहने पर, दूसरे उपयोग में ही लगाना चाहेगा। इस प्रकार समाज में प्रत्येक उत्पादन के साधन का उपयोग इसी तरह से निर्धारित होगा। **अर्थशास्त्रियों का मत है कि इस विधि से समाज में उत्पादन के साधनों का विभिन्न उपयोगों में सर्वोत्तम आवटन या वितरण (Optimum resource allocation) होता है।**

ध्यान रहे कि पूँजीवाद में उत्पादक व उपभोक्ता दोनों अधिकतम प्रतिफल के उद्देश्य से प्रभावित होते हैं। प्रत्येक उत्पादक न्यूनतम लागत पर अधिकतम माल उत्पन्न करना चाहता है। वह महँगे साधन के स्थान पर सस्ते साधन को लगाता है। उपभोक्ता अपने सीमित व्यय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने का प्रयास करता है।

(5) उपभोक्ता की सार्वभौमिकता (Consumer Sovereignty)–लाभ की प्रेरणा व उपभोक्ता की पसन्द परस्पर जुडे हुए हैं। लाभ उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन में अधिक मिलता है जिन्हें उपभोक्ता अधिक पसन्द करते हैं। अत पूँजीवाद के सदर्भ में उपभोक्ता की सार्वभौमिकता की प्राय पृथक् से चर्चा की जाती है। यह कहा जाता है कि **पूँजीवाद में उपभोक्ता एक राजा होता है।** वह बाजार में किसी भी वस्तु व वस्तु निर्माता के भाग्य का निर्णय करता है। उसकी पसन्द बाजार भावों के माध्यम से प्रगट होती है। इस अर्थव्यवस्था में उत्पादक उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिन्हें उपभोक्ता अधिक पसन्द करते हैं, क्योंकि ऐसा करने से उनका मुनाफा अधिकतम होता है। इस प्रकार पूँजीवाद में उद्यम की स्वतन्त्रता, लाभ की प्रेरणा व उपभोक्ता की सार्वभौमिकता तीनों परस्पर एक दूसरे से जुडे हुए होते हैं। इन्हें एक साथ देखा जाना चाहिए ताकि इस व्यवस्था की मूलभूत सस्थाएँ ठीक से समझ में आ सकें।

कुछ लोग उपभोक्ता की सार्वभौमिकता में यह कहकर सन्देह प्रकट करते हैं कि उपभोक्ता की आमदनी सीमित होने से उसकी तथाकथित सार्वभौमिकता काल्पनिक रह जाती है, (आ) वह विज्ञापन आदि देखकर उत्पादित माल में से चुनाव करता है। इसलिए सार्वभौमिकता उसकी नहीं, बल्कि वास्तव में उत्पादक की होती है। इन तर्कों में कुछ सार अवश्य है, लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अपनी सीमित आमदनी व विज्ञापन आदि के बावजूद उपभोक्ता चाहे तो किसी पदार्थ को नापसन्द कर सकता है। जब अनेक उपभोक्ता ऐसा करते हैं तब उस वस्तु का भावी उत्पादन अवश्य प्रभावित होता है। इसलिए उपभोक्ता की शक्ति में सन्देह नहीं किया जाना चाहिए। समाज में वे वस्तुएँ व सेवाएँ ही उपलब्ध की जाती हैं जिन्हें उपभोक्ता चाहते हैं। अत उत्पादकों को वस्तुओं के उत्पादन में उपभोक्ताओं की रुचि अरुचि का अवश्य ध्यान रखना पडता है। उत्पादन के साधन उन दिशाओं में ले जाने पडते हैं जिनमें उनकी रुचि बढती हुई होती है। इस प्रकार उत्पादक उन्हीं वस्तुओं का निर्माण करते हैं जिन्हें उपभोक्ता पसंद करते हैं। इसलिए पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता एक राजा माना जाता है।

(6) प्रतिस्पर्द्धा (Competition)–प्रतिस्पर्द्धा शुद्ध पूँजीवाद के विवेचन में एक प्रमुख शर्त मानी गई है। इसका अर्थ यह है कि साधन बाजार व वस्तु-बाजार में अनेक क्रेता व अनेक विक्रेता पाये जाते हैं। इससे एक क्रेता अथवा एक विक्रेता के कार्यों का मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पडता। कहने का आशय यह है कि समस्त क्रेता व समस्त विक्रेता मिलकर साधनों व वस्तुओं के भाव निर्धारित करते हैं, और अकेले क्रेता व अकेले विक्रेता के लिए ये

भाव दिए हुए माने जाते हैं। एक अकेले क्रेता को तो केवल यह तय करना पडता है कि वह प्रचलित कीमत पर वस्तु की कितनी मात्रा खरीदे एव एक अकेले विक्रेता को यह तय करना पडता है कि वह कितनी मात्रा बेचे। प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति में वस्तु की सन्तुलित-कीमत माँग व पूर्ति की शक्तियों के आधार पर तय होती है।

इस व्यवस्था में प्रतिस्पर्द्धा पर बल देने का आशय यह नहीं है कि निजी सम्पत्ति व उद्यम की स्वतन्त्रता के लिए प्रतिस्पर्द्धा का होना आवश्यक है। वास्तव में ये एकाधिकार के साथ भी चल सकते हैं। लेकिन पूँजीवाद के विवेचन में इसके प्रतिस्पर्धात्मक रूप पर अधिक बल दिया जाता है।

(7) निजी सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा के लिए सरकारी व्यवस्था-इस अर्थव्यवस्था में सरकार का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। पहले बतलाया जा चुका है कि निजी सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा के लिए सरकार का होना आवश्यक माना जाता है। यदि सरकार नहीं होगी तो कोई भी व्यक्ति छल छिद्र या बल प्रयोग करके किसी दूसरे की सम्पत्ति छीन लेगा या हडप लेगा। सरकार आन्तरिक व्यवस्था व सुरक्षा की देखभाल करती है। सरकार आवश्यकता पडने पर इस व्यवस्था की कमियों को दूर करने के लिए हस्तक्षेप भी करती है। लेकिन अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप से पूँजीवाद का स्वरूप बदल जाता है। दूसरी तरफ आजकल पूर्णतया स्वतन्त्र पूँजीवाद (जिसमें सरकार का आर्थिक जीवन में तनिक भी हस्तक्षेप न हो) न तो सम्भव है और न वाञ्छनीय ही। अत इस अर्थव्यवस्था की विभिन्न सस्थाओं पर आवश्यक प्रतिबध लगाने से ही इसकी रक्षा की जा सकती है। लेकिन यह ध्यान रहे कि सरकारी हस्तक्षेप को नियम के रूप में नहीं, बल्कि अपवाद के रूप में स्वीकार करके ही पूँजीवादी व्यवस्था के मूल स्वरूप की रक्षा की जा सकती है। इस प्रणाली में सरकार का हस्तक्षेप यथासम्भव कम से कम होना चाहिए।

(8) केन्द्रीय योजना का अभाव-पूँजीवाद के उपर्युक्त लक्षणों के अलावा कुछ विद्वान 'केन्द्रीय योजना का अभाव' भी इसकी विशेषता मानते हैं। इस अर्थव्यवस्था में अनेक आर्थिक इकाइयों की क्रियाओं में परस्पर समन्वय स्थापित करने के लिए कोई केन्द्रीय योजना नहीं होती। वस्तुओं व साधनों के बाजार मूल्य सरकार के द्वारा निर्धारित न होकर बाजार में माँग व पूर्ति की शक्तियों के द्वारा निर्धारित होते हैं। लेकिन केन्द्रीय योजना के अभाव का यह अर्थ नहीं है कि पूँजीवाद में सरकार का आर्थिक जीवन में जरा भी हस्तक्षेप नहीं पाया जाता। हम आगे चलकर देखेंगे कि इस व्यवस्था में सरकार उचित राजकोषीय व मौद्रिक नीतियाँ अपनाकर पूर्ण रोजगार, आर्थिक स्थिरता व आर्थिक समानता आदि प्राप्त करने का प्रयास कर सकती है। लेकिन सरकारी हस्तक्षेप व केन्द्रीय नियोजन दोनों अलग-अलग बातें हैं। *पूँजीवाद का सम्पूर्ण केन्द्रीय नियोजन से ताल-मेल नहीं बैठता।* वैसे इस अर्थव्यवस्था में उत्पादन की व्यक्तिगत इकाई अपने उत्पादन की योजना बना सकती है, लेकिन उसका किसी केन्द्रीय योजना से कोई वास्ता नहीं होता। अत शुद्ध पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मूलतया अनियोजित व स्वतत्र होती है, लेकिन वह अस्त-व्यस्त व अधी गली में भटकने जैसी नहीं होती। इसमें स्वचालित ढग से माँग व पूर्ति की शक्तियों के अनुसार सन्तुलन स्थापित होते रहते हैं। लाभ कमाने वाली इकाइयाँ उत्पादन जारी रखती है और घाटा उठाने वाली इकाइयाँ व्यवसाय से हटती जाती हैं। कहने का आशय यह है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के सचालन की अपनी एक निश्चित विधि होती है। एडम स्मिथ ने इसे एक 'अदृश्य शक्ति' (invisible

hand) कहा है जो इस व्यवस्था में सन्तुलन स्थापित करती रहती है। इसके विपरीत साम्यवाद में 'सरकारी शक्ति' काम करती है।

पूँजीवाद से बचत व विनियोग के सम्बन्ध में काफी स्वतन्त्रता होती है। कोई भी व्यक्ति अपने उपभोग को कम करके अधिक बचत करने का निर्णय कर सकता है। इसी प्रकार विनियोगकर्त्ता एक विशेष समय में अपने निर्णय के अनुसार विनियोग की दिशा चुन लेता है। लेकिन ये सभी स्वतन्त्रताएँ उद्यम की स्वतन्त्रता का ही अंग मानी जा सकती हैं।

हमने ऊपर शुद्ध पूँजीवाद के प्रमुख लक्षणों का वर्णन किया है। स्पष्ट है कि इस व्यवस्था में निजी सम्पत्ति, उत्तराधिकार की प्रथा, उद्यम की स्वतन्त्रता, लाभ का उद्देश्य, उपभोक्ता की सार्वभौमिकता, प्रतिस्पर्द्धा सरकार द्वारा निजी सम्पत्ति के अधिकारों की रक्षा, केन्द्रीय योजना का अभाव, आदि तत्व पाये जाते हैं।

आज पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का व्यावहारिक रूप काफी बदल गया है। हम नीचे आधुनिक अथवा व्यवहार में पाये जाने वाले पूँजीवाद की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करके इसकी उपलब्धियों व कमियों पर प्रकाश डालेंगे।

पूँजीवाद का प्रचलित रूप अथवा आधुनिक स्वरूप

व्यवहार में पूँजीवाद जिस रूप में विकसित हुआ है उसमें और उसके ऊपर वर्णित रूप (शुद्ध रूप) में काफी अन्तर पाया जाता है। अमरीकी पूँजीवाद को नये ढंग का पूँजीवाद माना जा सकता है। यह 'शुद्ध पूँजीवाद' से काफी भिन्न किस्म का हो गया है। आधुनिक पूँजीवाद में बाजार की अपूर्णताएँ उत्पन्न हो गई हैं, जिसमें से कुछ के लिए स्वयं निजी क्षेत्र जिम्मेदार हैं, और कुछ के लिए सरकार। इन बाजार अपूर्णताओं पर नीचे प्रकाश डाला जाता है।

(अ) निजी स्रोतों से उत्पन्न बाजार-अपूर्णताएं—(i) सीमित क्रेता व सीमित विक्रेता— हम पहले बतला चुके हैं कि पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति में अनेक क्रेता व अनेक विक्रेता होते हैं जिससे साधन की कीमत व वस्तु की कीमत पर एक क्रेता या एक विक्रेता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लेकिन इस सम्बन्ध में बाजार की अपूर्णताएँ क्रेता पक्ष अथवा विक्रेता पक्ष अथवा दोनों ओर से उत्पन्न हो सकती हैं। क्रेता पक्ष की ओर एक क्रेता दो क्रेता व कुछ क्रेता पाये जा सकते हैं। इसी तरह विक्रेता पक्ष की ओर से एक विक्रेता (एकाधिकारी) दो विक्रेता (द्वयाधिकारी) व कुछ विक्रेता (अल्पाधिकारी) (oligopolists) पाये जा सकते हैं। हमें विक्रेता पक्ष की ओर से उत्पन्न एकाधिकारी दशाओं पर विशेष रूप से ध्यान देना है। कभी-कभी अनेक विक्रेता वस्तु भेद के वातावरण में काम करते हुए पाये जा सकते हैं जिसे एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्द्धा (monopolistic competition) कहते हैं। यह स्थिति अमेरिका में बहुत पायी जाती है। इसमें वस्तु भेद के कारण प्रत्येक विक्रेता कुछ अंश तक एकाधिकारी शक्ति का भी प्रयोग करता है और उसे साथ में अन्य विक्रेताओं से प्रतिस्पर्द्धा का भी सामना करना पड़ता है।

एकाधिकार के अन्तर्गत पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की तुलना में उत्पत्ति कम व कीमत अधिक होती है। एकाधिकारी का मुनाफा भी उत्पत्ति की एक दी हुई मात्रा के लिए अपेक्षाकृत अधिक होता है। इसलिए प्रत्येक उत्पादक अपनी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ अंश में एकाधिकारी नियंत्रण स्थापित करना चाहता है। शुद्ध पूँजीवाद में इनकी सम्भावनाएँ नहीं पाई

जाती। वहाँ एक उद्योग में अतिरिक्त लाभ मिलने पर उसमें नये उद्यमकर्ता प्रवेश करते और लाभ को घटाकर सामान्य स्तर पर ले आते हैं। इसमें यह मान लिया गया है कि नं उद्यमकर्त्ता किसी तरह से पूँजी की व्यवस्था कर लेते हैं। इस प्रकार शुद्ध पूँजीवाद में न फर्मों के प्रवेश के कारण एकाधिकार की स्थिति नहीं रह सकती।

(ii) कम्पनी संगठन—आधुनिक टेक्नोलोजी व बडे पैमाने के उत्पादन ने व्यावसायि जगत में कम्पनी व निगम के आधार पर संगठन विकसित किया है। इसमें स्वामित्व व नियंत्रण के बीच खाई उत्पन्न हो गई है। शेयरहोल्डर कम्पनी के वास्तविक स्वामी होते हैं जबकि वेतनभोगी मैनेजर प्रबन्ध सम्बन्धी निर्णय लेते हैं। कम्पनी-संगठन के कार एकाधिकार को बढ़ावा मिला है।

(iii) एकीकरण (Mergers)—आधुनिक पूँजीवाद में कुछ कम्पनियाँ आपस में मिल जाती हैं। एकीकरण में दो या अधिक कम्पनियाँ आपस में मिल जाती हैं, जिसमें एक कम्पनी दूसरी कम्पनी को खरीद लेती है। वह अपना अस्तित्व तो बनाये रखती है, अर्थात् दूसरों का मिटा देती है। जब एक ही वस्तु को बनाने वाली कम्पनियाँ आपस में मिलती हैं तो उसे क्षैतिज एकीकरण (horizontal merger) कहते हैं। जब एक वस्तु के उत्पादन की विभिन्न अवस्थाओं में लगी कम्पनियाँ, जैसे इस्पात उद्योग में कच्चा लोहा, कोयला, आदि उत्पन्न करने वाली कम्पनियाँ आपस में मिलती हैं तो उसे उदग्र या लम्बवत् एकीकरण (vertical merger) कहते हैं। इसी प्रकार विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में लगी कम्पनियों का एकीकरण किया जा सकता है। एकीकरण के पीछे कई उद्देश्य हो सकते हैं, जैसे अधिक पूँजी की प्राप्ति, बडे पैमाने की बचतों का उपयोग, प्रतिस्पर्द्धा को मिटाना, आदि। एकीकरण ने एकाधिकार को बढ़ावा दिया है। इससे कीमतें बाजार में निश्चित न होकर स्वयं एकीकृत कम्पनी तय करने लगती है, जो प्रतिस्पर्द्धात्मक कीमतों से ऊँची होती हैं। ये प्रशासित व नियंत्रित कीमतें कहलाती हैं। ऐसी स्थिति में एकाधिकार विरोधी कानून बनाये जाते हैं।

(iv) मजदूर संघ व सामूहिक सौदाकारी—आजकल मजदूर संघों के कारण मजदूर प्रतिस्पर्द्धात्मक मजदूरी से अधिक मजदूरी प्राप्त करने में समर्थ हो गये हैं। इस प्रकार शुद्ध पूँजीवाद में बाजार-अपूर्णता मजदूर-संघों की तरफ से भी उत्पन्न हो सकती है। अब मालिकों के संगठन मजदूरों के संगठनों से मुख्य औद्योगिक प्रश्नों पर विचार विमर्श करते हैं। यह सामूहिक सौदाकारी (Collective bargaining) कहलाती है। इससे शुद्ध पूँजीवाद व्यवहार में कम देखने को मिलता है।

(आ) सरकारी स्रोतों से उत्पन्न-बाजार अपूर्णताएँ—सरकार के कार्यों ने एक तरफ बाजार अपूर्णताओं को कम करने का प्रयास किया है तो दूसरी तरफ अपने कार्यों से नई अपूर्णताएँ भी उत्पन्न की हैं। सरकार ने सार्वजनिक उपक्रम स्थापित किये हैं और निजी उद्योगों का नियंत्रण व नियमन भी किया है।

सरकार समाज के हितों का ध्यान रखकर स्वयं कई वस्तुओं का उत्पादन करने लगी है। राष्ट्रीय सुरक्षा, न्याय, बिजली, गैस, टेलीफोन, आदि की सरकारी व्यवस्था एक साधारण बात हो गई है। इनमें सार्वजनिक संस्थाओं का एकाधिकार पाया जाता है। विभिन्न प्रकार के ग्राहकों से अलग-अलग कीमतें वसूल की जाती हैं।

परोक्ष नियन्त्रण : राजकोषीय व मौद्रिक नीतियाँ

आजकल पूँजीवादी देशों में आर्थिक उतार-चढाव एवं आर्थिक असमानता वगैरा की समस्याओं के हल के लिए सरकार बजट एवं मौद्रिक नीति के माध्यम से विभिन्न समस्याओं का समाधान ढूढने का प्रयास किया जाता है। उदाहरण के लिए मन्दी के समय कर कम कर दिये जाते है तथा सरकारी व्यय बढ़ा दिया जाता है और ब्याज कम करके निजी विनियोगों को प्रोत्साहन दिया जाता है। मुद्रास्फीति को कम करने के लिए कर बढ़ाये जाते है, सरकारी व्यय में कटौती की जाती है और साख-नियन्त्रण के उपायो का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार सरकार का आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप बढ गया है और पूँजीवाद अपने पूर्व शुद्ध रूप से काफी दूर होता गया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि वास्तविक जगत में पाया जाने वाला पूँजीवाद शुद्ध पूँजीवाद से काफी भिन्न होता है। केन्स के अर्थशास्त्र ने इस व्यवस्था को नया जीवन प्रदान किया है। सरकार प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन में भाग लेने लगी है और अपनी राजकोषीय, मौद्रिक व अन्य नीतियों के माध्यम से राष्ट्रीय आय, उत्पादन, रोजगार, उपभोग, बचत विनियोग, कीमतों व आय के वितरण आदि को व्यापक रूप से प्रभावित करने लगी है। यही नहीं बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था में आर्थिक नियोजन भी किया जाने लगा है, हालांकि वह साम्यवादी व्यवस्था के केन्द्रीय व व्यापक नियोजन से काफी भिन्न होता है। पूँजीवादी नियोजन में बाजार प्रणाली का उपयोग जारी रखा जाता है तथा यह नियोजन आंशिक किस्म का होता है।

प्रश्न उठता है कि अमेरिका, दक्षिण कोरिया, जापान व अन्य देशों की अर्थव्यवस्थाओं को पूँजीवादी अर्थव्यवस्था कह कर क्यों सम्बोधित किया जाता है। इसका उत्तर स्पष्ट है। वहाँ आज भी निजी सम्पत्ति को कानूनी मान्यता प्राप्त है, उत्तराधिकार की संस्था विद्यमान है, चाहे उस पर कितने भी प्रतिबन्ध लगे हों, सरकार निजी सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करती है, एवं वहाँ उद्यम की स्वतन्त्रता विद्यमान है। वहाँ उपभोक्ता की सार्वभौमिकता पायी जाती है, लाभ की प्रेरणा के लिए अवसर होते हैं और कुछ सीमा तक प्रतिस्पर्द्धा भी पायी जाती है। अतः शुद्ध पूँजीवाद तो समाप्त हो गया है, लेकिन इसकी आधारभूत संस्थाएँ आज भी उन देशों में कायम है। हम चाहे तो उसे नई किस्म का पूँजीवाद या नियन्त्रित पूँजीवाद भी कह सकते हैं। कहने का आशय यह है कि सरकारी हस्तक्षेप के बावजूद कुछ देशों की अर्थव्यवस्थायें मूलतः पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को ही अपनाये हुए हैं।

अब हम इस व्यवस्था के गुण दोषों का उल्लेख करेंगे ताकि साम्यवाद व समाजवाद का विवेचन ज्यादा अच्छी तरह स्पष्ट में आ सके।

पूँजीवाद की उपलब्धियाँ या गुण

(Achievements or merits of capitalism)

अमेरिका में पूँजीवादी प्रणाली ने पिछले लगभग 150 वर्षों से अर्थव्यवस्था का सचालन किया है जिससे इसकी सफलताएँ व असफलताएँ हमारे सामने आई हैं। जापान भी एक विकसित पूँजीवादी देश है। हम आगे इस अर्थव्यवस्था के गुण दोषों का विवेचन करते समय मुख्यतया अमेरिका व जापान के उदाहरणों पर ही निर्भर करेंगे। सिंगापुर जैसे छोटे आकार वाले मुल्क भी इसी व्यवस्था को अपनाकर अपना आर्थिक विकास तेज कर पाये हैं। इस अर्थव्यवस्था की महान उपलब्धियों को देखकर आज भी कुछ विद्वान यह मानते हैं कि

इस प्रणाली में सुधार किया जाना चाहिए न कि इसका अन्त। हालांकि सैद्धान्तिक कारणों से मार्क्सवादी व साम्यवादी इसके अन्त को आवश्यक मानते रहे हैं। वैसे कार्ल मार्क्स ने भी अपने विवेचन में पूँजीवाद की विभिन्न उपलब्धियों की काफी सराहना की है। इसकी आर्थिक शक्ति व क्षमता निम्न गुणों से प्रकट होती है।

1. लोच (Flexibility)

पूँजीवाद ने वातावरण के अनेक परिवर्तनों के अनुसार अपने-आपको ढालने की शक्ति प्रकट की है। इसने स्वय को युद्ध व शान्ति नई टेक्नोलोजी, उपभोक्ता की पसन्द के परिवर्तन, शहरीकरण व औद्योगीकरण के अनुसार बदला है। इसमें निर्णय लेने वाली इकाइयों जैसे उद्यमकर्त्ता, उपभोक्ता, श्रमिक, मजदूर संघ आदि के द्वारा अपने आपको परिस्थितियों के अनुसार ढालने में शीघ्रता दिखाई गई है। इसने शीघ्र ही व्यावसायिक सगठन का कम्पनी रूप अपना लिया है। आज बडी बडी कम्पनियों को देख कर कोई यह नहीं कह सकता कि ये पूँजीवाद के आरम्भ में नहीं थीं।

जापानी अर्थव्यवस्था ने भी पूँजीवादी ढाँचे को अपनाकर काफी लचीलापन व परिस्थितियों के अनुसार स्वय को ढालने की अद्भुत क्षमता प्रदर्शित की है। 1973-74 के प्रथम तेल सकट का जिस खूबी से इसने सामना किया, वह दुनिया में बेमिसाल है। इसने ऊर्जा व तेल की खपत में कमी की है। टेक्नोलोजिकल प्रगति, अनुसधान व विकास, लागत की कमी व वस्तु में गुणात्मक सुधार तथा निर्यात सवर्द्धन ने वहाँ उद्योगों में विस्फोटक विकास (explosive growth) की दशा उत्पन्न की है। 1978-79 के दूसरे तेल सकट तथा 1990 के तीसरे तेल सकट का भी इसने बडी सफलतापूर्वक सामना किया है।

पूँजीवाद में विभिन्न सस्थागत परिवर्तनों को कानूनी रूप दे दिया गया है। इस व्यवस्था की लोच, नव प्रवर्तन (innovation), परिस्थितियों के अनुसार अनुकूलन (adaptation) व समायोजन (adjustment) की क्षमता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि यह व्यवस्था अनेक जटिल सरकारी प्रतिबन्धों व हस्तक्षेप को भी अपने में समा सकी है। फिर भी निजी सम्पत्ति व उद्यम की स्वतन्त्रता इसके नीचे निरन्तर पल रहे हैं और सम्भवत भविष्य में भी पलते रहेंगे। स्वय हमारे देश में अनेक सरकारी नियन्त्रणों के बावजूद पूँजीवादी अर्थव्यवस्था निरंतर चल रही है। इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था बडी लचीली, परिवर्तनशील व प्रगतिशील होती है।

2. पूँजी-निर्माण (Capital Formation) को बढ़ावा

पूँजीवाद में आर्थिक असमानता ने पूँजी सग्रह को बढावा दिया है। इस प्रणाली ने उत्पादन के नये मार्ग खोले, जिससे बचतें बढीं और उन्हें विनियोगों में बदला गया। इस तीव्र गति से पूँजी निर्माण होने से पूँजीवाद में आर्थिक विकास काफी तेजी से हुआ। कुछ विद्वानों का मत है कि इस व्यवस्था में आमदनी की असमानताओं के कारण बचत की दर ऊँची होती है जिससे आर्थिक विकास में मदद मिलती है। जापान ने पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को अपनाकर ही तेजी से आर्थिक विकास किया, हालांकि वहाँ सरकार ने भी विकास की प्रक्रिया में सक्रिय रूप से भाग लिया है। पिछले वर्षों में वहाँ विनियोग की दर 30% से अधिक रही है, जिससे वहाँ विकास की दर को ऊँचा रखना सम्भव हो सका है।

3. रहन-सहन का बढ़ता हुआ स्तर

इस प्रणाली के अन्तर्गत ही अमेरिका के निवासियों ने अपने जीवन स्तर में अत्यधिक वृद्धि की है। आज भी अमेरिका की सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (GNP) बहुत ऊँची है। यह भी ध्यान देने लायक है कि आय की असमानता के बावजूद बढ़ती हुई सम्पन्नता में समाज के सभी वर्गों ने भाग लिया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पूँजीवाद ने कई देशों में वहाँ के नागरिकों को ऊँचा जीवन स्तर प्राप्त करने का सुअवसर दिया है। इस प्रगति में विज्ञान व टेक्नोलोजी का विशेष रूप से योगदान रहा है। अमेरिका, कनाडा, जापान व सिंगापुर आदि देशों में नागरिकों को ऊंचा जीवन स्तर पूँजीवाद की ही देन है। अन्य नये औद्योगिक देश भी इसी प्रणाली को अपनाकर आगे बढे हैं। आज जापान में 90 प्रतिशत से अधिक परिवारों के पास रंगीन टीवी सेटस, विद्युतचालित वाशिंग मशीनें व रेफ्रीजरेटर्स पाये जाते हैं। लगभग आधे परिवारों के पास स्वयं की कारें हैं। इस प्रकार जापान पूँजीवादी व्यवस्था के माध्यम से ही इतना धनी व वैभवशाली राष्ट्र बन पाया है। इसकी छोटी कारें अमेरिका तक के बाजारों में छा गई हैं।

4. उद्यमशीलता व व्यक्तिगत प्रेरणा का विकास

पूँजीवादी व्यवस्था विभिन्न आर्थिक कार्यों के लिए उद्यमकर्ता को प्रोत्साहन देती है जो उत्पादन के साधनों का संगठन करते हैं, जोखिम उठाते हैं और महत्वपूर्ण निर्णय लेते हैं। व्यक्तिगत प्रेरणा का विकास इस व्यवस्था की छत्रछाया में ही हो सकता है। हमारे देश में ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे जिनमें कुछ लोगों ने बहुत मामूली पूँजी से अपना काम चालू किया था। लेकिन उन्होंने बाद में काफी मात्रा में बचतें कीं, विभिन्न दिशाओं में अपने विनियोग बढाये और विशाल व्यवसाय स्थापित करके वे अपनी सन्तान के लिए काफी सम्पति व अनेक प्रकार के काम धन्धे व कारोबार छोड गये। उन लोगों ने अपनी उद्यमशीलता, मितव्ययिता, व्यक्तिगत प्रेरणा, आदि का उपयोग करके ही उत्पादन के ऊंचे स्तर प्राप्त किये थे।

5. तकनीकी प्रगति

हम पूँजी के विकास व टेक्नोलोजी की प्रगति में अब स्वचालित यन्त्रों के प्रयोग की स्थिति में पहुँच गये हैं। निरन्तर अनुसंधान, आविष्कार या नये प्रयोगों के कारण बहुत जटिल यन्त्र हमारे बीच में आ गये हैं, जो लागत कम करने की दृष्टि से काफी महत्त्व रखते हैं। पूँजीवादी ढाँचा सदैव लागत घटाने वाले परिवर्तनों को बढावा देता है। तकनीकी प्रगति ने कृषि, उद्योग, परिवहन आदि सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया है। अमरीकी या जापानी *अर्थव्यवस्थाएँ तकनीकी दृष्टि से काफी विकसित व आधुनिक मानी जाती हैं,* लेकिन उनमें आज भी तकनीकी परिवर्तन जारी हैं। सीटोवस्की (Scitovsky) ने प्रतिस्पर्धात्मक पूँजीवादी प्रणाली में दो प्रकार की कार्यकुशलताएँ मानी हैं, पहली तकनीकी कार्यकुशलता एवं दूसरी आर्थिक कार्यकुशलता। *तकनीकी कार्यकुशलता में उत्पादन की लागत न्यूनतम की जाती है* और आर्थिक कार्यकुशलता में उपभोक्ताओं की पसन्द के अनुसार माल बनाया जाता है।

6. व्यक्तिगत योग्यता व प्रतिफल में सीधा सम्बन्ध

पूँजीवादी प्रणाली में व्यक्तिगत योग्यता व प्रतिफल में सीधा सम्बन्ध पाया जाता है। ऊँची योग्यता दुर्लभ व कम होने से ऊँचे प्रतिफल प्रदान करती है। सफल औद्योगिक या

आर्थिक इकाइयाँ जीवित रहती हैं एवं पनपती हैं। घाटे में चलने वाली इकाइयाँ बन्द हो जाती हैं। इस प्रकार पूँजीवाद 'कार्यकुशलता की नींव' पर टिका हुआ है। यह "सबसे अधिक योग्य के जीवित रहने"(Survival of the fittest) के सिद्धान्त को लागू करता है। इसमें अकुशल व कमजोर इकाइयों के लिए कोई स्थान नहीं होता।

7. पूँजीवाद, लोकतन्त्र व व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हामी रहा है

किसी भी अर्थव्यवस्था का मूल्याकन केवल आर्थिक आधार पर ही नहीं हो जाता, बल्कि इसके सामाजिक, राजनीतिक व सास्कृतिक पहलुओं पर भी ध्यान देना होता है। आज भी एक औसत अमरीकी नागरिक व्यक्तिगत स्वतत्रता व लोकतन्त्र आदि के मूल्यों को अधिक महत्व देने के कारण पूँजीवादी प्रणाली को ही अधिक पसन्द करता है। यदि उसे साम्यवादी प्रणाली के अन्तर्गत दुगुनी आर्थिक विकास की दर प्राप्त करने का आश्वासन दिया जाय तो भी वह सम्भवत इसकी ओर आकर्षित नहीं होगा। पिछले वर्षों में हगरी, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, बुल्गारिया व रोमानिया में साम्यवादी व्यवस्था के खिलाफ जो जन आदोलन हुए हैं, उनके पीछे लोकतत्र, व्यक्तिगत स्वतत्रता व बाजार प्रणाली के प्रति जन समर्थन ही माना जा सकता है। इन देशों में अब बाजार प्रणाली को पसद किया जाने लगा है।

8. आधुनिक टिकाऊ उपभोग की आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि पूँजीवाद में बाजार तन्त्र रेफ्रीजरेटर, टीवी, वीडियो, टेप रिकार्डर, एयर कन्डीशनर, घडियाँ, शानदार पोशाकें व फर्नीचर, मोटरकार व अन्य आधुनिक जीवन की वस्तुओं के उत्पादन व वितरण की दृष्टि से काफी कार्यकुशल प्रमाणित हुआ है। जापान में अधिकाश परिवारों को ये पदार्थ उपलब्ध हो गये हैं। यह सब पूँजीवाद की ही देन माने जा सकते हैं।

पूँजीवाद की कमियाँ या दोष

(Defects of Capitalism)

पूँजीवाद के आलोचकों ने इस व्यवस्था में पायी जाने वाली आय के वितरण की असमानता, सामाजिक असमानता, साधनों की बेकारी व उनका अपव्यय तथा इसमें पाये जाने वाले एकाधिकार को लेकर इस व्यवस्था की तीक्ष्ण आलोचना की है। पूँजीवाद को *साम्राज्यवाद से भी सम्बद्ध किया गया है। ग्रिगोरी ग्रोसमैन के अनुसार, "मन्दी, बेरोजगारी, मुद्रास्फीति, धीमा-विकास—ये स्पष्टतया ऐसी गम्भीर समस्याएँ हैं जिनका एक विकसित अर्थव्यवस्था को सामना करना पड़ता है। यही बातें निजी उपक्रम के सम्बन्ध में समाजवादी आलोचना का केन्द्र बिन्दु रही हैं।"* इनका विवरण आगे दिया जाता है

1. पूँजीवाद में धन एव आय की भारी असमानता व अत्यधिक सामाजिक असमानता

पूँजीवाद ने चाहे उत्पादन की समस्या हल कर ली हो, लेकिन इनके समर्थकों ने भी वितरण की असमानता को इसका सबसे बडा दोष माना है। उत्तराधिकार की सस्था के कारण आर्थिक असमानता कायम रहती है। पीढी दर पीढी सम्पत्ति का हस्तान्तरण आय की असमानता को स्थायी बना देता है। समाज 'धनी' व 'निर्धन' दो वर्गों में बँट जाता है जिससे सामाजिक तनाव, वर्ग सघर्ष, हडतालें, तालाबन्दी, घेराव, आदि को बढावा मिलता है।

आर्थिक असमानता अवसर की असमानता को भी बढ़ाती है जिससे सामाजिक असमानता भी बढ़ जाती है।

अनर्जित आय (Unearned Income)–पूँजीवाद में अनर्जित आय के अवसर पाये जाते हैं। इसके निम्न रूप हो सकते हैं–(अ) एकाधिकार लाभों से प्राप्त आमदनी, (आ) भूमि व अन्य प्राकृतिक साधनों के लगान से प्राप्त आमदनी, (इ) विरासत के धन से प्राप्त आमदनी। आय को अनर्जित इसलिए कहा जाता है कि इनमें व्यक्ति को अपना प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इन सब बातों से इस प्रणाली में वितरण की असमानता काफी ग नीर रूप धारण कर लेती है और सरकार के लिए असमानता को कम करने के उपाय अपनाना आवश्यक हो जाता है।

2. साधनों की बेकारी की समस्या

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की यह मान्यता थी कि इस व्यवस्था में आर्थिक साधनों का पूर्ण उपयोग होता है। इनमें कभी कोई साधन लम्बी अवधि तक बेकार नहीं रह सकता। लेकिन 1930 की दशाब्दी की महान् आर्थिक मन्दी ने यह स्पष्ट कर दिया था कि इस व्यवस्था में साधनों की बेकारी की स्थिति पाई जा सकती है। अर्थव्यवस्था में माँग की कमी के कारण श्रमिकों में व्यापक रूप से बेकारी फैल जाती है। साधनों की गतिशीलता में रुकावटों के कारण भी उनके उपयोग में कमी पाई जा सकती है। कार्ल मार्क्स ने कहा था कि पूँजीवाद में बेरोजगार व्यक्तियों की काफी संख्या एक "रिजर्व सेना" के रूप में बनी रहती है। अस्सी के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में औद्योगिक देशों में मन्दी का प्रभाव काफी तीव्र रूप में पाया गया था। ब्रिटेन में बेरोजगारों का श्रम शक्ति से अनुपात 1986 में 11.6 प्रतिशत हो गया था। अमेरिका में भी मुद्रास्फीति व बेरोजगारी की समस्या काफी गम्भीर रूप में पायी गयी है।

3. साधनों का अपव्यय (Wastage of resources)

प्राय प्रतिस्पर्धा के कारण औद्योगिक साज समान व उपकरण इतने बढ़ा लिए जाते हैं कि वे कुछ सीमा तक फालतू पड़े रहते हैं। नित्य नये उपकरण व यन्त्र सामने आते रहते हैं, जिससे पहले के उपकरणों व यन्त्रों को समय से पूर्व ही खारिज करना पड़ता है। जैसे, मान लीजिए, एक मशीन पाँच वर्ष और चलती, लेकिन टेक्नोलोजी के परिवर्तन के कारण दूसरी नई व बेहतर मशीन आ गई। इसलिए पुरानी मशीन को हटाकर नई मशीन लगाने से समाज को समय से पूर्व ही पहली मशीन के उपयोग से वंचित होना पड़ेगा। इस प्रकार पूँजीवाद में काफी मशीनें जल्दी ही पुरानी पड़ जाती हैं, और उन्हें उत्पादन की प्रक्रिया से हटा दिया जाता है।

पूँजीवाद में आर्थिक अपव्यय का एक रूप ऐसे विज्ञापनों पर धन को व्यय करना माना गया है जो झूठे व गुमराह करने वाले होते हैं। लेकिन उपभोक्ताओं को आकर्षित करने के लिए काफी विज्ञापनबाजी की जाती है, जिसका भार अन्तत उन्हीं के कन्धों पर पड़ता है। इस प्रकार पूँजीवाद में आर्थिक साधनों का काफी अपव्यय होता रहता है।

4. एकाधिकार व निजी हाथों में आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण के दोष

पूँजीवाद में एकाधिकार व आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण होना स्वाभाविक है। भारत में कुछेक औद्योगिक परिवारों के पास आर्थिक सत्ता काफी सीमा तक केन्द्रित हो गई है। इसके

राजनीतिक परिणाम भी घातक होते हैं और समाज में भारी असमानता उत्पन्न हो जाती है। हम पहले बता चुके हैं कि एकाधिकार की स्थिति में उत्पत्ति कम व कीमत अधिक होती है। उपभोक्ता व श्रमिकों के हितों का पूरा ध्यान नहीं रखा जाता। इस प्रकार टेक्नोलोजी की दृष्टि से अर्थव्यवस्था के उन्नत होने पर भी सर्वसाधारण को एकाधिकार के खतरे उठाने पड़ते हैं। कहने का आशय यह है कि एकाधिकार पूंजीवाद (Monopoly Capitalism) काफी दोषपूर्ण होता है क्योंकि इसमें श्रमिकों व उपभोक्ताओं दोनों का शोषण किया जाता है।

5. मानव-कल्याण की नितान्त उपेक्षा व निजी लाभ पर अत्यधिक जोर

पूंजीवाद में प्रत्येक उत्पादक अपने हाथ में लागत व लाभ का तराजू लिए बैठा रहता है और प्रत्येक प्रश्न पर लाभ अधिकतम करने व लागत-न्यूनतम करने की दृष्टि से विचार करता रहता है। मान लीजिए, किसी उत्पादक को शराब के उत्पादन में 20% लाभ मिलने की आशा है, और दूध के उत्पादन में केवल 10%, तो शीघ्र ही साधन शराब के उत्पादन की ओर हस्तान्तरित हो जायेंगे। समाज की आवश्यकताओं व उनके कल्याण पर प्रत्यक्ष रूप से कोई विचार नहीं करेगा। पूंजीपति का लक्ष्य अधिक से अधिक उत्पत्ति करना और कम से कम लागत रखना होता है और इन्हीं को उचित माना जाता है। इस प्रकार इस व्यवस्था में मौद्रिक लाभों व मानवीय कल्याण के बीच समन्वय स्थापित करना कठिन होता है। इसमें कीमत-प्रणाली अपना कार्य करती रहती है और वह माँग और पूर्ति की शक्तियों के सहारे चलती रहती है उसका और कोई जन-कल्याण का नीतिशास्त्र नहीं होता।

6. पूंजीवाद व व्यापार-चक्र (Capitalism and Trade-cycles)

पूंजीवाद में व्यापार-चक्र या आर्थिक तेजी-मन्दी के दौर निरन्तर आते रहते हैं, जिससे समाज के विभिन्न वर्गों को काफी कष्ट उठाना पड़ता है। व्यापार चक्र में मुद्रास्फीति व मुद्रा सकुचन की दशाएं आती हैं। मुद्रास्फीति से आय का वितरण अधिक असमान हो जाता है। मुद्रा सकुचन के समय माग की कमी से उत्पन्न मन्दी से बेकारी फैल जाती है और आर्थिक साधन बेकार हो जाते हैं। अमरीकी अर्थव्यवस्था मुद्रास्फीति का शिकार रही है, जबकि आमतौर पर चीन में यह समस्या उस रूप में नहीं पायी गयी है, क्योंकि वहाँ अर्थव्यवस्था का नियोजित ढग से सचालन किया जाता है और अधिकाश कीमतें बाजार में तय नहीं होतीं। लेकिन हाल के कुछ वर्षों में विशेष कारणों से चीन में भी मुद्रास्फीति की दर ऊंची रही है। फिर भी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने ऐसे राजकोषीय व मौद्रिक उपाय विकसित कर लिए हैं जो उसे आर्थिक तेजी-मन्दी से उबारने में मदद देते हैं। ये उपाय इस व्यवस्था को नष्ट होने से बचाते हैं। मुद्रास्फीति के समय करों में वृद्धि, सरकारी व्यय में कमी तथा ब्याज की दर में वृद्धि, आदि उपाय काम में लिए जाते हैं। आर्थिक मदी के समय करों में कमी, सरकारी व्यय में वृद्धि तथा ब्याज की दर में कमी तथा सार्वजनिक ऋणों में कमी, आदि उपाय काम में लिये जाते हैं।

व्यापार-चक्र किन कारणों से उत्पन्न होते हैं?

1930 के दशक में महान मन्दी में व्यापार चक्र के कई सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये थे। इसके तीन कारण बतलाये गये हैं मनोवैज्ञानिक, मौद्रिक व अधिक बचत की प्रवृत्ति। सर्वप्रथम, पूंजीगत वस्तुओं के कारखानों में उतार-चढाव की प्रवृत्ति आती है, तथा कृषिगत उपज में उतार चढाव आते हैं। मनोवैज्ञानिक कारणों में व्यवसायियों के द्वारा आशावाद व

निराशावाद से प्रभावित होना माना गया है। मन्दी के बाद वे बेहतर समय की आशा में पूँजीगत सामान को बदलना प्रारम्भ कर देते हैं, जिससे पुनरुत्थान की क्रिया फिर से चालू हो जाती है। *इसी प्रकार तेजी की चरम सीमा पर उन्हें मन्दी आने की सम्भावना प्रतीत होती है* तो वे अपने कार्यों से मन्दी को प्रारम्भ करवा देते हैं। कुछ लेखक व्यापार चक्रों के लिए मौद्रिक कारणों को उत्तरदायी ठहराते हैं। मुद्रा की मात्रा व साख का विस्तार तथा ब्याज की दर के परिवर्तनों को व्यापार-चक्र का कारण माना गया है। कुछ विद्वान अधिक बचत तथा कम उपभोग को व्यापार-चक्र का कारण मानते हैं। इस प्रकार व्यापार-चक्र विशेषतया पूँजीवादी व्यवस्था में ही अधिक पाये जाते हैं। ये विभिन्न कारणों से उत्पन्न होते रहते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है अस्सी के दशक के आरम्भ में विश्व में मन्दी की स्थिति रही जिससे विकसित व विकासशील दोनों प्रकार के देशों में विकास की गति धीमी हो गई थी। अमेरिका में भारी मात्रा में घाटे के बजटों व ऊँची वास्तविक ब्याज की दर के कारण निर्धन विकासशील देशों पर कर्ज का सकट काफी बढा है। अमेरिका, ब्रिटेन आदि में बेरोजगारी की समस्या ने जटिल रूप धारण कर लिया है।

7. लाभदायकता पर जोर, न कि उत्पादकता बढ़ाने पर

कुछ लोगों का विचार है कि पूँजीवाद में उत्पादक लाभदायकता बढाने पर अधिक जोर देते हैं लेकिन उत्पादकता बढाने पर आवश्यक ध्यान नहीं देते। लाभदायकता के अन्तर्गत तो कुल प्राप्तियों व कुल लागतों का अन्तर देखा जाता है, लेकिन उत्पादकता की धारणा अधिक व्यापक होती है। यदि कोई खान निजी उद्यमकर्त्ता को सौंप दी जाय तो वह उससे ज्यादा से-ज्यादा खनिज पदार्थ निकालकर अपना निजी लाभ अधिकतम करना चाहेगा, चाहे इस प्रक्रिया में वह सामाजिक क्षति ही क्यों न कर बैठे। इस प्रकार पूँजीवाद में व्यक्तिगत मुनाफों को अधिकतम करने की चेष्टा की जाती है एव उत्पादकता बढाने पर प्रत्यक्ष रूप से पूरा ध्यान नहीं दिया जाता।

8. यह व्यवस्था सार्वजनिक वस्तुओ को प्रदान करने में प्रयुक्त नही की जा सकती

सार्वजनिक वस्तुओं व सेवाओं जैसे सडक, पुलिस, सेना बिजली, शिक्षा, चिकित्सा, अनुसन्धान, समुद्र में प्रकाश घर बनाने, आदि में पूँजीवादी व्यवस्था बाजार प्रणाली के माध्यम से आवश्यक विकास नहीं कर पाती। अत इसके लिए सरकार का आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप करना आवश्यक हो जाता है। *इस प्रकार पूँजीवाद सार्वजनिक वस्तुओं की सप्लाई बढ़ाने पर ध्यान नहीं देता।*

इस अर्थव्यवस्था में एकाधिकारी शक्ति व उससे उत्पन्न दोषों को दूर करने के लिए दूसरी शक्ति उत्पन्न हो गई है, जिसे प्रोफेसर गैलब्रेथ ने "प्रतिसंतुलनकारी शक्ति" (Countervailing Power) कहा है। इसका अर्थ यह कि जहाँ बाजार में एक तरफ विशाल व एकाधिकारी फर्में होती है, वहाँ दूसरी तरफ अन्य शक्तिशाली फर्में भी विकसित हो गई हैं। इस प्रकार एक तरफ की शक्ति दूसरी तरफ की शक्ति से सन्तुलित या बराबर हो गई है। ऐसा होने से कुछ सीमा तक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में प्रतिस्पर्धा की कमी से उत्पन्न हानियाँ कम हो गई हैं। साथ में विभिन्न वस्तुओं के बीच प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो गई है, जैसे इस्पात व एल्यूमिनियम के बीच, एल्यूमिनियम व कांच के बीच, कांच व प्लास्टिक के बीच, प्लास्टिक व लकडी के बीच, आदि, आदि। इस प्रकार पूँजीवाद में प्रतिस्पर्धा की कमी से उत्पन्न खतरे कुछ सीमा तक कम किये जा सकते हैं।

9. पूँजीवादी व्यवस्था जल, थल व वायु-प्रदूषण की समस्या को हल नहीं कर पायी है।

विकसित पूँजीवादी देशों में पर्यावरण की समस्या काफी जटिल रूप में पायी जाती है। वहाँ वायु प्रदूषण काफी मात्रा में बढ गया है।

विभिन्न देशों की सरकारों को प्रदूषण पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए विशाल मात्रा में स्वय धनराशि के व्यय की व्यवस्था करनी पडी है। अत सरकारी हस्तक्षेप से इस समस्या का समाधान करने का प्रयास किया गया है।

10. विकसित पूँजीवादी देशों की नीतियों से विकासशील देशों के आर्थिक विकास पर विपरीत प्रभाव पड़े हैं।

योजना-आयोग के पूर्व सदस्य डॉ सी एच. हनुमन्थराव का कहना है कि विकसित पूँजीवादी देशों के सकट का विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था पर तीन तरह से विपरीत असर पडा है। एक तो विकासशील देशों में सैन्यकरण व शस्त्रीकरण बढ़ा है, जिससे पड़ौसी देशों के सम्बन्धों में परस्पर तनाव उत्पन्न हो गया है। अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को अत्याधुनिक हथियार देने से भारत पाक सम्बन्धों में तनाव बढा है। दूसरा विपरीत प्रभाव यह है कि व्यापार की शर्तें विकासशील देशों में विपक्ष में चली गयी हैं, जिससे इनकी निर्यात वस्तुओं की कीमतें अपेक्षाकृत नीची रही हैं और इनको महँगे आयातों के कारण ऊँचे दाम देने पड़े हैं। इससे इनके लिए व्यापार के घाटे की समस्या बढ़ी है। तीसरी बात यह कि पूँजीवादी देशों ने निर्धन विकासशील देशों की आर्थिक नीतियों को प्रभावित करने की कुचेष्टा भी की है जिससे उनको ऐसी उदार नीतियाँ अपनाने के लिए प्रेरित किया गया है जिनका लाभ विकसित पूँजीवादी देशों को अधिक मात्रा में मिला है।

इस प्रकार विकसित पूँजीवादी देशों ने निर्धन विकासशील देशों में अस्थिरता व अशान्ति का वातावरण उत्पन्न करके करोडों नर-नारियों के जीवन को भारी खतरे में डाल दिया है। अत पूँजीवाद में कुछ गम्भीर किस्म की कमियाँ भी पायी जाती हैं।

सारांश

ऊपर पूँजीवाद के शुद्ध व व्यावहारिक रूप का वर्णन करके इसके गुण-दोषों का विवेचन किया गया है। उससे प्रकट होता है कि पूँजीवादी व्यवस्था में कई प्रकार के नये परिवर्तन हुए हैं जिससे अब इसका पहले वाला रूप बदल गया है। सरकार इसकी कमियों को दूर करने में सलग्न है। हमारे सामने दो विकल्प हैं (अ) पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में आवश्यक सुधार करके इसकी कमियों को दूर करने का प्रयास करना, अथवा (आ) इस अर्थव्यवस्था का अन्त करके इसके स्थान पर साम्यवादी या समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करना। अगले अध्याय में हम दूसरे विकल्प को लेते हैं। पहले विकल्प के अनुसार सरकार को व्यवस्था के दोषों को दूर करने के लिए उत्पादन में सक्रिय रूप में भाग लेना चाहिए एव आर्थिक असमानता कम करने के लिए प्रत्यक्ष करों व सार्वजनिक व्यय का उपयोग करना चाहिए एव आर्थिक अस्थिरता को कम करने के लिए राजकोषीय, मौद्रिक व भौतिक नियन्त्रण आदि उपायों का पर्याप्त मात्रा में सहारा लेना चाहिए। इस प्रकार पूँजीवाद में सुधार करना सम्भव है, **इसका पूर्ण रूप से अन्त करने की आवश्यकता नहीं (Capitalism can be mended, it need not be ended)** हम पहले बतला चुके हैं कि जी 7 के देशों में, एशियन टाइगर्स में व एशियन कब्स में पूँजीवाद का आधुनिक व प्रगतिशील रूप ज्यादा उभरा है। अमेरिका,

जापान, हांगकांग, सिंगापुर, आदि देश इसी अर्थव्यवस्था की छत्रछाया में विकास की दौड़ में काफी आगे निकल गये हैं। यहाँ उन्नत टेक्नोलोजी ने उत्पादन में वृद्धि की है और लोगों को उच्च जीवन-स्तर प्राप्त करने के अवसर दिये हैं। लेकिन उनमें आर्थिक उतार-चढ़ाव व आर्थिक असमानता के प्रश्न आज भी विद्यमान हैं, जिनकी वजह से सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक माना गया है। विद्वानों का मत है कि पूँजीवादी देशों की साम्राज्यवादी नीतियों के कारण कुछ निर्धन व विकासशील देश सैन्यकरण, शस्त्रीकरण व विभिन्न प्रकार की स्वतन्त्रता तथा उदार आर्थिक नीतियों के कुचक्र में फँस गये हैं, जिससे उनका आर्थिक विकास खतरे में पड़ गया है। विकासशील देशों को पूँजीवादी राष्ट्रों की कुचालों के जाल से मुक्त होकर अपने राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखकर आगे बढ़ने का प्रयास करना चाहिए, अन्यथा वे राजनीतिक व सामाजिक अस्थिरता के शिकार हो जायेंगे। कुछ विकसित पूँजीवादी राष्ट्र विकासशील निर्धन राष्ट्रों में अस्थिरता व अशान्ति उत्पन्न करने का निरंतर षड्यन्त्र रचते रहते हैं जिससे उनको सावधान रहने की आवश्यकता है।

पूँजीवाद के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इसमें कुछ कमियाँ भी हैं, लेकिन व्यक्तिगत स्वतंत्रता, काम करने की प्रेरणा, पूँजी-निर्माण को प्रोत्साहन, टेक्नोलोजिकल प्रगति, आदि *गुणों के कारण विश्व के समाजवादी व साम्यवादी देश भी आज इसकी ओर मुड़ गये* हैं, जिससे पूँजीवाद व निजी उद्यमवाली अर्थव्यवस्था की सर्वोपरिता व उत्कृष्टता सिद्ध हो गयी है। फिर भी हमें इस प्रणाली के खतरों से सावधान रहना है, और उनसे बचने के लिए सरकारी हस्तक्षेप व उचित किस्म के नियन्त्रणों व नियमनों तथा नियोजित विकास का उपयोग करने के लिए तत्पर रहना है। इस समय साम्यवाद व समाजवाद अधोगति की ओर है, तथा पूँजीवाद उत्थान की ओर है, लेकिन हमें इनके सम्बन्ध में 'संतुलित दृष्टिकोण' अपनाना चाहिए। हो सकता है आगे चलकर समाजवाद के सुनहरी दिन वापस आ जाएँ। इसमें कोई संदेह नहीं कि इक्कीसवीं सदी पूँजीवाद के पुनर्जीवन व पुनरागमन की सदी होगी क्योंकि विश्व के अधिकांश देश इसी को अपनाने का प्रयास कर रहे हैं। वास्तव में विश्व की बदलती हुई परिस्थितियों ने पूँजीवाद को नवजीवन प्रदान किया है। अत इसका भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है।

प्रश्न

1. पूँजीवाद का अर्थ व इसके लक्षण स्पष्ट कीजिए।
2. पूँजीवाद के गुण और अवगुणों को लिखिए। (Raj Iyr. 1992)
3. पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की इतनी कमियों के बावजूद आज यह प्रणाली क्यों कायम है?
4. 'पूँजीवाद में सुधार करना सम्भव है, इसका पूर्णरूप से अन्त करने की आवश्यकता नहीं है।' इस कथन की जाँच कीजिए। (Raj Iyr. 1994)
5. 'ऐसा प्रतीत होता है कि साम्यवादी व समाजवादी देश *अपनी अर्थव्यवस्थाओं से ऊब* गये हैं और वे पूँजीवादी बाजार प्रणाली की ओर मुड़ना चाहते हैं।' यह कथन कहाँ तक सही है? इस सम्बन्ध में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के गुणों की चर्चा कीजिए।
6. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए–
   (अ) पूँजीवादी अर्थव्यवस्था (Raj Iyr 1993)
7. 'पूँजीवाद' पर एक निबन्ध लिखिए। (Ajmer Iyr., 1995)

अपनाना, आदि समाजवाद की दिशा में उठाये गये कदम माने जा सकते हैं। लेकिन भारतीय अर्थव्यवस्था अभी तक मूलतया पूँजीवादी 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' ही कहला सकती है। यहाँ सार्वजनिक व निजी क्षेत्र दोनों को विकास का समान अवसर दिया जाता है। अर्थव्यवस्था में मूल्य प्रणाली का व्यापक रूप से उपयोग किया गया है। यह कहना गलत न होगा कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के लगभग 50 वर्षों में देश में पूँजीवाद ही अधिक मजबूत हुआ है। जुलाई, 1991 से देश में आर्थिक उदारता की नीति अपनाई गई है। जुलाई 1991 में रुपये के लगभग 20 प्रतिशत अवमूल्यन, विदेशी व्यापार नीति व औद्योगिक नीति को उदार बनाने (बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को इक्विटी में 51% स्वचालित रूप से शेयर देने व एकाधिकारी अधिनियम के तहत कम्पनियों की परिसम्पत्ति सीमा (asset limit) को समाप्त करने) व लाइसेंस प्रणाली को सरल बनाने के उपायों से भारतीय अर्थव्यवस्था अधिक मात्रा में बाजार अर्थव्यवस्था की ओर उन्मुख हुई है हालांकि आज भी इसे प्रमुख रूप से मिश्रित अर्थव्यवस्था ही माना जाता है।

इस अध्याय के प्रारम्भ में हम समाजवाद का परिचय देकर बाद में साम्यवाद के लक्षणों व उससे सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों पर विचार करेंगे।

समाजवाद की परिभाषा-लाउक्स व व्हिटनी के अनुसार, "समाजवाद की प्रचलित परिभाषा मे वह आन्दोलन आता है जो बड़े पैमाने के उत्पादन मे प्रयुक्त होने वाले समस्त पूँजीगत माल के स्वामित्व व प्रबन्ध को व्यक्तियो की बजाय सम्पूर्ण समाज के हाथो मे सौंपने का लक्ष्य रखता है, ताकि राष्ट्रीय आय में वृद्धि करके उसे अधिक समान रूप मे बाँटा जा सके। लेकिन ध्यान रहे कि ऐसा करने मे व्यक्तिगत आर्थिक प्रेरणा अथवा व्यवसाय तथा उपभोक्ता के चुनाव की स्वतन्त्रता नष्ट न हो जाय।"

समाजवाद की उपर्युक्त परिभाषा में निम्न बातों पर बल दिया गया है-

(I) इसमे बड़े पैमाने में काम मे ली जाने वाली समस्त पूँजीगत वस्तुएँ समाज के स्वामित्व मे होती है, जैसे फैक्ट्रियाँ, मशीनरी, खेत, खानें आदि,

(II) राष्ट्रीय आय मे वृद्धि की जाती है और इसका अधिक समान बटवारा करने का प्रयास किया जाता है,

(III) इस व्यवस्था मे व्यक्ति को काम करने की प्रेरणा, व्यवसाय के चुनाव की स्वतन्त्रता एवं उपभोक्ता की स्वातन्त्रता की रक्षा की जाती है। हम जानते है कि यह बात तो पूँजीवाद में विशेष रूप से पायी जाती है। इसलिए समाजवाद मे उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार और आमदनी का अधिक समान वितरण ये दो मुख्य विशेषताएँ होती है। सच पूछा जाये तो समाजवाद का मुख्य तत्व 'समानता माना गया है'। समाजवादी इस बात पर एकमत होते हैं कि वे समाज में 'समानता' लाना चाहते हैं, हालांकि अन्य बातों पर उनमें परस्पर थोडा मतभेद भी हो सकता है।

सेमुअल्सन व नोरढाउस ने समाजवादी विचारधारा के निम्न तत्वों या घटकों पर ध्यान आकर्षित किया है।

1. उत्पादन के साधनो पर सरकार का स्वामित्व--समाज में निजी सम्पत्ति का स्थान धीरे धीरे कम होता जाता है और प्रमुख उद्योग जैसे रेल, सडक, परिवहन, कोयला व इस्पात आदि का धीरे धीरे राष्ट्रीयकरण कर दिया जाता है। आधुनिक समाजवादी विचारक देश में

समाजवाद की स्थापना के लिए 'राष्ट्रीयकरण' को अनिवार्य नहीं मानते। वे उत्पादन के साधनों पर सामाजिक नियन्त्रण के पक्ष में अवश्य होते हैं। समाजवाद का आर्थिक विकास से सम्बन्ध जुड जाने से समाजवादियों का दृष्टिकोण काफी लचीला हो गया है। आर्थर ल्युइस ने बतलाया है कि आधुनिक अर्थव्यवस्था में प्रबन्ध व स्वामित्व में अन्तर हो जाने से बड़े पैमाने के सम्बन्ध में चार प्रकार के रूप सामने आये हैं।

(i) **निजी प्रबन्ध एव परिसम्पत्ति (assets) पर निजी स्वामित्व**-यह निजी पूँजीवाद (Private Capitalism) कहलाता है।

(ii) **निजी परिसम्पत्तियो का सार्वजनिक प्रबन्ध**-यह राष्ट्रीयकरण (nationalisation) कहलाता है।

(iii) **निजी प्रबन्ध व परिसम्पत्तियों पर सार्वजनिक स्वामित्व**-यह सयुक्त क्षेत्र (joint sector) कहला सकता है क्योंकि इसमें एक औद्योगिक इकाई, जैसे फैक्ट्री में सार्वजनिक पूँजी ज्यादा मात्रा में लगी होती है तथा प्रबन्ध का काम निजी हाथों में सौंपा जाता है।

(iv) **सार्वजनिक प्रबन्ध व परिसम्पत्ति पर सार्वजनिक स्वामित्व**-यह सार्वजनिक क्षेत्र (public sector) कहलाता है। यह समाजवादी या पूँजीवादी दोनों प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं में पाया जा सकता है।

आजकल समाजवादी उपर्युक्त में से सयोग (*iv*) के अलावा सयोग (*iii*) को भी अपनाने में कोई आपत्ति नहीं मानते, क्योंकि इसमें भी सार्वजनिक क्षेत्र का प्रभाव बढ़ता है। अत समय के साथ साथ समाजवादियों का दृष्टिकोण भी बदला है और अधिकांश समाजवादी उत्पादन के साधनों पर पूर्णतया सरकार का स्वामित्व स्थापित करना आवश्यक नहीं मानते।

2 ***आर्थिक नियोजन***-वैसे आजकल आर्थिक नियोजन का कुछ प्रयोग पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में भी होने लगा है, ***लेकिन समाजवाद में तो आर्थिक नियोजन नितान्त आवश्यक माना गया है।*** उत्पादन व्यक्तिगत लाभ की बजाय समाज के हितों की दृष्टि से किया जाता है। विज्ञापन पर व्यय कम किया जाता है और एक केन्द्रीय सस्था राष्ट्र के आर्थिक साधनों का सर्वोत्तम उपयोग करने के लिए योजना बनाती है ताकि समस्त समाज के आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। आर्थिक नियोजन का बाजार प्रणाली से कहाँ तक सम्बन्ध रखा जाय इस सम्बन्ध में विभिन्न समाजवादी देशों में स्थिति एक-सी नहीं पायी जाती। यूगोस्लाविया में बाजार प्रणाली को कायम रखा गया है, जबकि रूस में बाजार प्रणाली का कार्य शुरू में लगभग स्थगित कर दिया गया था। रूस में भी भूतकाल में लिबरमैन (Liberman) जैसे विचारकों ने मैनेजरों की कार्यकुशलता बढाने के लिए बोनस आदि के रूप में आर्थिक प्रेरणा देने के सुझाव दिये थे। अब तो वहाँ स्थिति उदारीकरण व निजीकरण के पक्ष में होती जा रही है।

3 **आय का पुनर्वितरण**-आय व धन पर प्रगतिशील या आरोही दरों से कर लगाकर आय की असमानता को दूर करने का प्रयास किया जाता है और सामाजिक सुरक्षा, चिकित्सा सेवाओं व पालने से मरघट तक अनेक प्रकार के कल्याणकारी कार्य करके सरकार निर्धन लोगों को विशेष रूप से लाभ पहुँचाती है और देशवासियों के लिए न्यूनतम जीवन स्तर की व्यवस्था करती है।

4. शान्तिपूर्ण व लोकतान्त्रिक विकास—जैसे कि पहले कहा जा चुका है समाजवाद की स्थापना शान्तिपूर्ण तरीकों व धीमी रफ्तार से सरकार के स्वामित्व का विस्तार करके की जाती है। यह प्रमुखतया 'वोट की क्रान्ति' मानी जाती है और चुनाव प्रणाली में विश्वास रखती है।

इस प्रकार लोकतान्त्रिक समाजवाद में उत्पत्ति के प्रमुख साधनों पर समाज का स्वामित्व आर्थिक नियोजन, कल्याण राज्य की स्थापना, आय का पुनर्वितरण, कुछ सीमा तक उपभोक्त को चुनाव की स्वतन्त्रता व लोकतन्त्र मुख्य तत्व माने गये हैं। इसमें तथा निजी उद्यम वाली अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि प्रथम में राज्य के स्वामित्व में ऐसे उद्योग चलाये जाते हैं जिनके पीछे मुनाफे का उद्देश्य नहीं होता। इस प्रकार समाजवादी अर्थव्यवस्था में निजी उद्योग उसी रूप में पाये जाते हैं जिस रूप में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक उद्योग पाये जाते हैं। समाजवादी अर्थव्यवस्था को पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के स्थान पर अपनाने का प्रयास किया जाता है। दोनों में बाजार तन्त्र का उपयोग किया जाता है। लेकिन समाजवाद केन्द्रीय नियोजन का अधिक सहारा लेता है तथा समानता लाने पर अधिक बल देता है।

हमें यह स्मरण रखना होगा कि समाजवादी अर्थव्यवस्था का झुकाव 'केन्द्रीयता' की ओर होता है, लेकिन वह 'तानाशाही' की तरफ नहीं होता। इसमें उपभोक्ता की स्वतन्त्रता को कायम रखा जाता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि साम्यवाद व नाजीवाद में उपभोक्ता की पसन्द व प्राथमिकताओं को उत्पादन व साधन आवंटन का आधार नहीं बनाया जाता। इस प्रकार समाजवाद में नियोजन व बाजार प्रणाली एवं उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व व व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में आवश्यक तालमेल बैठाने का प्रयास किया जाता है जिससे व्यवहार में काफी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। समाजवाद पूर्ण समानता को आवश्यक नहीं मानता और कुछ सीमा तक मजदूरी के अन्तरों को भी स्वीकार करता है। श्रमिकों की कार्यकुशलता व उनकी व्यक्तिगत योग्यता के कारण मजदूरी के अन्तर कायम रखे जाते हैं।

सच पूछा जाय तो बाजार-समाजवाद का स्थान पूँजीवाद व साम्यवाद के बीच में होता है। जॉर्ज एन. हॉम के शब्दों में "यह निजी उद्यम वाली अर्थव्यवस्था के साथ निम्न बातों में समानता रखता है—व्यवसाय के चुनाव की स्वतन्त्रता व उपभोक्ता की सार्वभौमिकता, उत्पादन का मार्ग-दर्शन करने व उत्पादन के साधनों का आवंटन करने में कीमतों का उपयोग, कुछ सीमा तक आय के वितरण में असमानता एवं उत्पादन में विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता में विश्वास। यह साम्यवाद से निम्न बातों में समानता रखता है—अर्थव्यवस्था का अधिक स्पष्ट रूप से समूहवादी स्वरूप, अर्थात् सामाजिक-आर्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति का यथेष्ट प्रयास, उत्पादन के भौतिक साधनों पर राज्य का स्वामित्व, आय का समान वितरण, और एक केन्द्रीय आर्थिक अधिकारी का अस्तित्व जो पूँजी निर्माण की दर तय करता है और जहाँ बाजार शक्तियाँ अपना कार्य बन्द कर देती हैं वहाँ यह आवश्यक मार्ग-दर्शन करता है।"[1]

समाजवाद के समक्ष उपर्युक्त ढंग से कार्य संचालन के लिए कई प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं। यह पूँजीवाद व समाजवाद के बीच में रहता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि साम्यवादी अर्थव्यवस्था का मॉडल ज्यादा स्पष्ट व अधिक सुनिश्चित होता है, क्योंकि इसमें

---

1 George N Halm *Economics Systems A Comparative Analysis*, 3rd ed p 183

हम भूतकाल में रूस व चीन के प्रयासों व परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए नीचे साम्यवाद का विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

साम्यवाद का अर्थ—हॉम के अनुसार "निरकुश समाजवादी (या साम्यवादी) अर्थव्यवस्था में उत्पादन के समस्त साधनों पर राज्य का स्वामित्व होता है, उत्पादन के उद्देश्य निरंकुश व स्वेच्छाचारी ढग से निर्धारित होते है और एक व्यापक व विस्तृत किस्म की केन्द्रीय योजना पाई जाती है।" यहाँ पर यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि साम्यवाद में भी उपभोग के स्वतन्त्र चुनाव की थोडी मात्रा में व्यवस्था की जा सकती है, और मजदूरी में भेद करके श्रम का विभिन्न उपयोगों में आवटन किया जा सकता है। ऐसा रूस की साम्यवादी अर्थव्यवस्था में किया भी गया था। अत साम्यवाद में बहुधा योजनाधिकारियों की पसन्द ही चलती है, लेकिन उनके द्वारा प्रदान की गई वस्तुओं व सेवाओं में उपभोक्ता को चुनाव करने का सीमित मात्रा में अवसर दिया जाता है।

साम्यवाद के लक्षण या विशेषताएँ

नीचे साम्यवाद के प्रमुख लक्षणों का विवेचन किया गया है।

1. उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व—साम्यवाद में उत्पादन के प्रमुख साधनों पर राज्य का अधिकार होता है। इसके लिए राष्ट्रीयकरण का तरीका अपनाया जाता है। दूसरे शब्दों में, साम्यवाद में उत्पादन के साधनों में व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रहने दी जाती। कृषि की सामूहिक प्रणाली को अपनाने पर बल दिया जाता है, जिससे भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार समाप्त हो जाते हैं। अधिकाश नागरिक सरकारी कर्मचारी बन जाते हैं।

2. साधनों का सार्वजनिक हित में उपयोग—साम्यवाद में उत्पादन के साधनों का उपयोग सार्वजनिक हित में किया जाता है। इसके विपरीत पूँजीवाद में यह निजी लाभ की भावना से किया जाता है। अत साम्यवाद में सामाजिक लागत व सामाजिक लाभों पर विचार किया जाता है, जबकि निजी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था निजी लाभों व निजी लागतों के आधार पर चलायी जाती है। इस प्रकार साम्यवाद में जनता के हितों को सबसे ऊँचा स्थान दिया जाता है।

3. केन्द्रीय नियोजन—पॉल एम स्वीजी व मॉरिस डॉब आदि ने साम्यवादी अर्थव्यवस्था के लिए व्यापक केन्द्रीय नियोजन आवश्यक बतलाया है। केन्द्रीय नियोजन में इन्पुट आउटपुट तालिकाओं का उपयोग करके कई प्रकार के सन्तुलन (balances) स्थापित किये जाते हैं। मान लीजिए, किसी वस्तु की माँग के बढने की आशा में उत्पत्ति बढानी है तो उसके लिए आवश्यक कच्चे माल व इन्पुटों का अनुमान लगाया जाता है। फिर अन्य इन्पुटों के उत्पादन के लिए आवश्यक अन्य इन्पुटों का हिसाब लगाया जाता है। इस बात को एक सरल उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए, सूती वस्त्र की मिल में काम आने वाली मशीनरी का उत्पादन बढाना है। इसके लिए उन मशीनों का उत्पादन करना होगा जो सूती वस्त्र मिल मशीनरी का निर्माण कर सकेंगी। फिर इस्पात, कोयला आदि की व्यवस्था करनी होगी। इस्पात का उत्पादन करने के लिए पुन कच्चे लोहे, मशीनरी व कोयला आदि की आवश्यकता पडती है। इस प्रकार विभिन्न इन्पुटों व आउटपुटों में नया सन्तुलन स्थापित करना होगा। एक अर्थव्यवस्था में अनेक वस्तुएँ उत्पन्न की जाती हैं इसलिए इन्पुट-आउटपुट सारणी काफी बड़ी हो जाती है। लेकिन इससे केन्द्रीय नियोजन की प्रक्रिया का कुछ आभास अवश्य लगाया जा सकता है।

स्मरण रहे कि साम्यवाद में भौतिक नियोजन पर जोर दिया जाता है और विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन के लक्ष्य निर्धारित किये जाते हैं और उनको प्राप्त करने के लिए आवश्यक साधनों की व्यवस्था की जाती है। इस व्यवस्था में नियोजन ही सर्वोपरि माना गया है और बाकी सब गौण माने गये हैं। कीमतों, बजटों, बैंकों आदि का उपयोग नियोजन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये किया जाता है।

4. मूल्य-प्रणाली के कार्य पर रोक-साम्यवाद के अन्तर्गत अपनाये गये केन्द्रीय *नियोजन में मूल्य प्रणाली की क्रिया पर कुछ सीमा तक रोक लगा दी जाती है।* इसमें उपभोक्ता यह निर्णय नहीं करते कि क्या उत्पादित किया जायेगा, और मैनेजर स्वतन्त्र रूप से कीमत लागत सम्बन्धों के आधार पर स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य नहीं कर सकते। बल्कि उन्हें तो योजना में निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करना होता है। केन्द्रीय नियोजन बोर्ड बाजार में निर्धारित मूल्यों पर इसके लिए निर्भर नहीं करता कि जो कुछ आवश्यक है वह ठीक समय पर, ठीक स्थान पर एव ठीक मात्राओं में प्राप्त हो जायेगा। अतः योजना का सब क्षेत्रों पर नियन्त्रण होता है। स्वयं कीमतें भी योजना मे सहायक के रूप में प्रयुक्त होती है। कीमतें केवल हिसाब-किताब के लिए दी हुई होती हैं, वे बाजार में माँग व पूर्ति की शक्तियों से *निर्धारित नहीं होती।* हिसाब के लिए रखी गई कीमतें कृत्रिम रूप से निर्धारित होती हैं और वे बहुत कम बदली जाती हैं। पूँजी व भूमि के बाजार नहीं होते जहाँ कोई इन्हें कीमत देकर खरीद सके। उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति बाजार मे भूमि नही खरीद सकता। उत्पादन के साधनों पर सरकार का अधिकार होता है। अत पूँजी व भूमि के प्रतिफल या मूल्य क्रमश ब्याज व लगान के रूप में योजनाधिकारी अपनी तरफ से लगाते या आकते हैं। ये बाजार में *माँग व पूर्ति की शक्तियों से निर्धारित नहीं होते।* इस प्रकार *उत्पादन के साधनों के मूल्य* योजनाधिकारियों द्वारा निर्धारित अनुमानित या काल्पनिक मूल्य होते है। इन्हें एक प्रकार से ऊपर से थोपे हुए मूल्य (Imputed prices) भी कहा जाता है।

5. उपभोक्ता की सार्वभौमिकता का अन्त-ऊपर कहा जा चुका है कि साम्यवाद में योजनाधिकारी की पसन्द के अनुसार उत्पादन किया जाता है। उपभोक्ता को जो कुछ माल उत्पादित हुआ है उसी में से खरीदना होता है। *अतः साम्यवाद में उपभोक्ता को पूरी स्वतन्त्रता तो नही मिलती, लेकिन उसे कुछ सीमा तक चुनाव की स्वतन्त्रता अवश्य दी जाती है।* उत्पादित वस्तुओं में से उपभोक्ता "यह न लेकर वह लेने" का प्रयास कर सकता है। वस्तुओं के मूल्य लागत के आधार पर निर्धारित होते हैं। माँग के परिवर्तनों के अनुसार उत्पादन का ढाँचा परिवर्तित नहीं किया जाता। वैसे भी 'उपभोक्ता माल' के स्थान, पर *'पूँजीगत माल' (मशीनें, उपकरण, आदि) के उत्पादन पर अधिक बल दिया जाता है।* इसलिए साम्यवाद में बहुधा विकास के शुरू के वर्षों में उपभोक्ता-माल का अभाव देखा जाता है।

6. भारी उद्योगों व सुरक्षा उद्योगों के विकास पर अधिक बल-साम्यवादी अर्थव्यवस्थाओं का अनुभव यह बतलाता है कि उनमें विकास के प्रारम्भिक वर्षों में भारी मशीन निर्माण के उद्योगों, रासायनिक उद्योगों, विद्युत के विकास आदि पर अधिक बल दिया जाता है, *जिससे पूँजी निर्माण की दर काफी ऊँची हो जाती है।* इससे अर्थव्यवस्था में उत्पादन शक्ति बहुत बढ जाती है। आगे चलकर वह अर्थव्यवस्था विकास के साधनों की दृष्टि से आत्म निर्भर बन जाती है। इसे मशीनों के लिए दूसरे देशों का मुँह नहीं ताकना

पडता। इसी प्रकार साम्यवादी अर्थव्यवस्था में सुरक्षा सम्बन्धी उद्योगों को भी ऊँचा स्थान दिया जाता है ताकि उसकी युद्ध-मशीनरी काफी मजबूत हो सके।

साम्यवादी अर्थव्यवस्था मूलभूत प्रश्नों को किस प्रकार हल करती है?

साम्यवाद में विभिन्न आर्थिक प्रश्नों का हल निम्न प्रकार से किया जाता है—

1. *'क्या' उत्पन्न किया जायेगा?*—साम्यवाद में योजनाधिकारी जनता के प्रतिनिधि के रूप में यह निर्णय करते है कि अमुक वस्तुओं का उत्पादन किया जायेगा और अमुक का नहीं किया जायेगा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है साम्यवाद में सुरक्षा के सामान व पूँजीगत माल के उत्पादन को सदैव उपभोक्ता-माल के उत्पादन की तुलना में ऊँचा स्थान दिया जाता है। इस प्रकार उपभोग को कम करके अथवा इसकी वृद्धि को नियन्त्रित करके साम्यवाद में तीव्र गति से पूँजी-निर्माण किया जाता है।

2. **कैसे उत्पन्न किया जायेगा**-योजनाधिकारी उत्पादन का कार्यक्रम निर्धारित करते हैं। उत्पादन की इकाइयों को आवश्यक साधन उपलब्ध किये जाते हैं। उन्हें उत्पादन के साधन बाजार में खरीदने की स्वतन्त्रता नहीं होती है। विभिन्न उपक्रमों को कच्चा माल प्रत्यक्षतया *सरकार के द्वारा दिया जाता है।* कच्चे माल व अन्य इन्पुटों की सहायता से प्रत्येक उपक्रम कई प्रकार का माल बनाता है। सभी वस्तुओं के मूल्य स्वय नियोजकों द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। लेकिन विभिन्न वस्तुएँ किस अनुपात में उत्पादित की जाएँ, ये निर्णय प्रत्येक उपक्रम पर छोड दिये जाते हैं। मैनेजर उत्पादन के लक्ष्य प्राप्त करने एव उनसे आगे निकलने का प्रयास करते हैं। साम्यवाद में नियोजन को प्रत्येक फर्म के स्तर तक लागू किया जाता है। यह केवल राष्ट्रीय स्तर तक ही सीमित नहीं रहता।

3. **माल का वितरण कैसे हो?**—जैसा कि पहले कहा जा चुका है साम्यवादी व्यवस्था में उत्पादित माल का वितरण बहुधा राशन-कार्डों की सहायता से निर्धारित भावों पर किया जाता है। किसी वस्तु का अभाव होने पर उसके भाव नहीं बढने दिये जाने, बल्कि 'क्यू' प्रणाली के आधार पर इसका वितरण किया जाता है। व्यक्तियों को अपना अवसर आने तक प्रतीक्षा करनी पडती है। वस्तु की कीमत में 'खरीद पर कर' (turnover tax) शामिल होता है, जो भूतकाल में रूस में सरकार की आय का मुख्य साधन माना गया था। उत्पादित वस्तुओं के चुनाव में उपभोक्ता को सीमित रूप से स्वतन्त्रता दी जाती है। लेकिन उसे उत्पादन का मार्ग-दर्शक नहीं बनने दिया जाता।

साम्यवादी अर्थव्यवस्था मे 'कीमतों का स्थान'

साम्यवादी व्यवस्था में 'कीमतें' साधन-आवटन का कार्य नहीं करतीं। वस्तुओं की कीमतें बाजार में माँग व पूर्ति की शक्तियों से निर्धारित नहीं होतीं। ये योजनाधिकारी द्वारा तय की जाती हैं। कीमतें बहुधा लागत+खरीद पर कर के सिद्धान्त पर आधारित होती हैं। ये मुनाफाखोरी का साधन नहीं बन सकतीं। यही कारण है कि साम्यवाद में पूँजीवाद की भाँति मुद्रास्फीति के अवसर उत्पन्न नहीं होते। यह अलग बात है कि स्वय नियोजक ही कुछ वस्तुओं के मूल्य ऊँचे निर्धारित कर दें।

साधन-कीमतों में पूँजी का ब्याज व भूमि का लगान ऊपर से लगाये जाते हैं, या मात्र हिसाबी कीमतें होती हैं। ये योजनाधिकारी द्वारा निर्धारित की जाती हैं। मजदूरी में योग्यता व कार्यक्षमता के अनुसार भेद किये जाते हैं, लेकिन मजदूरी भी सरकार के द्वारा निर्धारित

होती है। सरकार न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करती है व रोजगार की गारण्टी देती है। मजदूरी का उत्पादन में मामूली योगदान होने पर भी सामाजिक उद्देश्यों के आधार पर न्यूनतम मजदूरी दी जाती है। मजदूरी सामूहिक सौदाकारी या मोल-भाव से निर्धारित नहीं होती, जैसा कि बहुधा पूँजीवादी व्यवस्था में किया जाता है। लेकिन अधिक काम करने की एवज में अधिक मजदूरी दी जा सकती है।

साम्यवाद में सार्वजनिक बचत व सार्वजनिक विनियोग के एक ही संस्था के अधिकार मे होने के कारण इनके बारे मे विशेष कठिनाइयाँ नही होती। सारा मुनाफा सरकार के अधिकार में होता है जिसका उपयोग सरकार स्वयं निश्चित करती है। बोनस, सामाजिक सेवाओं, शिक्षा, अनुसधान आदि पर व्यय करने के बाद शेष राशि नये उद्योग स्थापित करने में लगाई जाती है। इस प्रकार साम्यवाद मे बाजार मे निर्धारित 'कीमतें' साधन-आवंटन का कार्य नही करती है, और ये कार्य योजना के माध्यम से सम्पन्न किये जाते हैं।

साम्यवाद की उपलब्धियाँ या गुण–कुछ वर्ष पूर्व साम्यवादी अर्थव्यवस्थाओं की आर्थिक सफलताओं ने धनी व निर्धन देशों का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित किया था। इसकी मुख्य उपलब्धियाँ निम्नांकित मानी गयी थीं–

1. तीव्रगति से सैनिक व आर्थिक विकास–रूस ने साम्यवादी अर्थव्यवस्था को अपनाकर ही 1928 के बाद तेजी से अपनी सैनिक शक्ति बढ़ायी थी तथा अपना चहुँमुखी आर्थिक विकास किया था। इस प्रकार लगभग 60 वर्षों में वह विश्व की महान् शक्तियों में गिना जाने लगा था। चीन ने भी साम्यवाद के अन्तर्गत अपनी सैनिक-शक्ति व आर्थिक विकास दोनों को काफी सुदृढ़ किया है। *1994 के मध्य में चीन की जनसंख्या 119 1 करोड* व्यक्ति आंकी गयी थी तथा उसी वर्ष वहाँ की प्रति व्यक्ति GNP 530 डालर आकी गई थी। 1985 94 की अवधि में चीन की प्रति व्यक्ति GNP 7.8% वार्षिक दर से बढ़ी थी।[1]

चीन में योजनाकाल में खाद्यान्नों, इस्पात, कोयले, क्रूड तेल, सीमेन्ट, साइकिलों आदि का उत्पादन तेजी से बढ़ा है। यहाँ मुद्रास्फीति की वार्षिक दर 1984-94 की अवधि में 8 4% रही, जबकि इससे पूर्व 1970 80 में यह केवल 0 6% रही थी। हाल के वर्षों में चीन में भी मुद्रास्फीति की दर ऊँची रही है। इस प्रकार चीन की आर्थिक उपलब्धियाँ विभिन्न क्षेत्रों में *सराहनीय रही हैं तथा उसने कई अन्य विकासशील देशों की तुलना में लम्बी अवधि तक* महगाई पर काफी सीमा तक नियत्रण बनाये रखा है।

2. तीव्र गति से औद्योगीकरण–प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व रूस की अर्थव्यवस्था कृषिगत उत्पादन पर टिकी हुई थी। द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक रूस औद्योगिक उत्पादन में अमेरिका के बाद स्थान रखने लगा था। वहाँ इस्पात, लोहा, कोयला, पैट्रोल, बिजली, सीमेंट आदि का उत्पादन काफी बढ़ा था। अर्थव्यवस्था में पूँजीगत माल के उत्पादन को प्राथमिकता दी गई थी। इससे आत्म निर्भरता को विकसित करने में मदद मिली थी। चीन ने भी इस्पात, क्रूड तेल आदि के उत्पादन पर विशेष रूप से बल दिया है। *चीन की औद्योगिक क्षेत्र में तीव्र प्रगति का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि 1994 मे वहाँ सकल घरेलू उत्पत्ति* (GNP) मे उद्योगो का अंश 47 प्रतिशत हो गया था, जो मध्यम-आय वाले विकासशील देशों के औसत के समान था। 1980 में यह केवल 49% था।[2]

1 World Development Report, 1996 p 188
2. Ibid, p 210

3. शिक्षा का विकास-रूस ने अपनी दक्ष श्रम शक्ति जैसे डॉक्टर, इन्जीनियर, तकनीकी विशेषज्ञ आदि का तेजी से विस्तार किया है। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि रूस में 80 प्रतिशत विद्यार्थी छात्रवृत्ति पाते रहे हैं, जो एक फैक्ट्री-मजदूर की औसत मजदूरी के बराबर रही है। साम्यवादी अर्थव्यवस्था में शिक्षा का विकास सरकारी नीति का मुख्य अंग होता है। यह अवसर की समानता के लिए आवश्यक माना गया है। चीन में प्रौढ़ साक्षरता की दर (1995 में 81%) भी भारत की तुलना में (1995 में 52%) काफी ऊँची है। चीन में साक्षरता-अभियान बहुत सफल हुआ है। वहाँ 1994 में जन्म के समय जीने की औसत आयु 69 वर्ष हो गयी है जो एक बड़ी उपलब्धि है। भारत में यह 62 वर्ष हुई है जो चीन से कम है।

4. आर्थिक समानता में प्रगति-इसमें कोई संदेह नहीं कि मजदूरी के अन्तरों के बावजूद रूस ने आर्थिक समानता की दिशा में काफी प्रगति की है। वहाँ निजी सम्पत्ति की व्यवस्था न होने से असमानता के अवसर कम पाये जाते हैं। साम्यवादी अर्थव्यवस्था एक समतावादी समाज को जन्म देती है, जबकि पूँजीवादी व्यवस्था एक समह प्रवृत्ति वाले समाज को प्रोत्साहन देती है। साम्यवादी समाज में निरपेक्ष समानता तो नहीं होती, लेकिन धन व आय के आसमान को छूने वाले अन्तर अवश्य मिट जाते हैं। प्रमुख रूप से आर्थिक असमानता उत्पादन के साधनों के व्यक्तिगत स्वामित्व के अन्तरों से उत्पन्न होती है, जो साम्यवाद में समाप्त कर दी जाती है।

समाज में धन व आय की अत्यधिक असमानता से लोगों पर बहुत बुरा असर पड़ता है। इसलिए निर्धन व विकासशील देशों में समाजवाद या साम्यवाद शीघ्र लोकप्रिय हो जाता है। साम्यवाद के आलोचक भी प्रायः इस बात को स्वीकार करते हैं कि "इसमें अनर्जित आय के अवसर बिल्कुल समाप्त हो जाते हैं और अर्जित आय में कार्यानुसार व योग्यतानुसार ही कुछ सीमा तक अन्तर कायम रखे जाते हैं।"

निर्धन देशों में दरिद्रता को दूर करने के विभिन्न उपायों जैसे लोगों को अधिक रोजगार प्रदान करना, सम्पन्न वर्ग पर कर लगा कर निर्धन वर्ग के कल्याण पर व्यय करना, आदि को सुझाते समय प्राय विचारक यह कहते हुए पाये जाते हैं कि यदि ये उपाय सफल न हुए तो साम्यवाद का आना अवश्यम्भावी है। इससे स्पष्ट होता है कि निर्धन देशों के नागरिक सामान्यतया समाजवाद व साम्यवाद को ज्यादा जल्दी अपनाने को तैयार हो जाते हैं। उनके लिए आर्थिक व सामाजिक न्याय की अपील बड़ी आकर्षक होती है।

5. व्यापार-चक्रों या आर्थिक उतार-चढ़ाव से मुक्ति-साम्यवाद में केन्द्रीय नियोजन को अपनाने और मूल्य प्रणाली की क्रिया को रोक देने के कारण अर्थव्यवस्था में ज्यादा स्थिरता देखने को मिलती है। यही कारण है कि साम्यवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रास्फीति व आर्थिक मन्दी के अवसर उस रूप में प्रकट नहीं होते जिस रूप में वे पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में प्रकट होते हैं। कुल मिलाकर चीन की अर्थव्यवस्था इस अस्थिर संसार में अपेक्षाकृत अधिक स्थिर मानी गई है। अस्सी के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में विश्व की प्रमुख पूँजीवादी औद्योगिक अर्थव्यवस्थाएँ मंदी का शिकार रही हैं। मुद्रास्फीति व बेरोजगारी ने उन पर काफी विपरीत प्रभाव डाला है। लेकिन चीन फिर भी अपने नियोजित विकास पर निरन्तर आगे बढ़ता गया है, और बेरोजगारी व मुद्रास्फीति के कुप्रभावों से काफी सीमा तक बचा रहा है। 1979 के बाद उदारीकरण की नीतियों को अपनाने से इसे आर्थिक विकास में मदद मिली है।

6 *पूर्ण रोजगार*-*साम्यवादी अर्थव्यवस्था व्यापक व केन्द्रीय योजना के कारण श्रमिकों* को पूर्ण रोजगार प्रदान करने में सफल हो सकती है। योजना तो अन्य देशों में भी पाई जा सकती है, लेकिन श्रम शक्ति का पूरा उपयोग करने की दृष्टि से साम्यवाद में ही अधिक सफलता मिल पाती है। साम्यवाद के अन्तर्गत रोजगार नियोजन मूलभूत आर्थिक नियोजन का ही अग होता है। इसलिए श्रम शक्ति के व्यर्थ पडे रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, साम्यवाद में प्रत्येक नागरिक के लिए उचित मजदूरी पर काम देने की व्यवस्था की जाती है। मजदूरी का सम्बन्ध पूँजीवाद की भाँति श्रम की सीमान्त उत्पादकता से नहीं जोडा जाता। श्रमिक का उत्पादन में कुछ भी योगदान हो, उसे काम पर अवश्य लगाया जाता है। इस प्रकार बेरोजगारी को दूर करने की दृष्टि से साम्यवादी अर्थव्यवस्था ज्यादा प्रभावशाली मानी गयी है। गाँवों की अतिरिक्त जनशक्ति का पूँजी निर्माण की दृष्टि से उपयोग करने में भी साम्यवादी देश अधिक सफल हुए हैं। चीन इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। वहाँ साम्यवादियों ने मानवीय शक्ति का पूँजी निर्माण के कार्यों में अधिक प्रभावशाली ढग से उपयोग किया है जिससे भारत जैसे विकासशील व जनाधिक्य वाले देश काफी सबक ले सकते हैं।

साम्यवादी अर्थव्यवस्था की कमियाँ या दोष

(Defects of Communism)

साम्यवादी अर्थव्यवस्था के अब तक के अनुभवों ने यह बतलाया है कि इसमें कुछ कमियाँ व दोष भी हैं जिनका विवेचन नीचे किया जाता है। इन्हीं कमियों के कारण विश्व के कई देश साम्यवाद के मार्ग को छोड कर पुन बाजार प्रणाली की ओर मुड गये हैं।

1. समस्त आर्थिक जीवन पर 'मार्क्सवादी विचारधारा' व राजनीति का प्रभुत्व पाया जाता है। आर्थिक निर्णय जाने माने अर्थशास्त्री न लेकर जाने माने साम्यवादी राजनीतिज्ञ ही लेते हैं। जे. विलजिंस्की का कहना है कि "साम्यवाद या समाजवाद में भूमि व पूँजी सीमित नही माने जाते, जिससे इनका अपव्ययपूर्ण ढंग से उपयोग (wasteful use) हो सकता है। कभी-कभी आवश्यक आर्थिक सुधारों का भी केवल इसलिए विरोध किया जाता है कि वे 'मार्क्सवाद' से मेल नही खाते।" इस प्रकार सामान्य सूझ बूझ को ताक में रखकर सदैव साम्यवादी सिद्धान्त की दुहाई दी जाती है। इससे यह व्यवस्था अत्यधिक मात्रा में पूर्वाग्रहों व दुराग्रहों से भर जाती है और इसके द्वारा जन-कल्याण अधिकतम नहीं हो पाता।

2. बल व दमन का प्रयोग-साम्यवाद का प्रयोग यह बतलाता है कि इसमें काफी बल व दमन का उपयोग किया गया है। विरोधियों को मिटा देना इस व्यवस्था की एक साधारण सी बात मानी जाती है। रूस में सामूहिक खेती के सिलसिले में धनी किसानों (कुलकों) को समाप्त करना पडा था। कृषकों को जबरन सामूहिक सस्थाओं का सदस्य बनाया गया था। सामूहिक खेती में शामिल होने से पूर्व काफी पशु मौत के घाट उतार दिये गये थे क्योंकि कृषकों ने उन्हें बिना मुआवजे के सामूहिक खेतों को सौंपने की बजाय मार डालना ज्यादा पसन्द किया था। इसलिए साम्यवाद की स्थापना शान्तिपूर्ण व लोकतान्त्रिक पद्धति से स्थापित करना व्यवहार में कठिन जान पडता है। कट्टर साम्यवादी आवश्यकता पडने पर हिंसा के प्रयोग को अनुचित नहीं मानते। कुछ वर्ष पूर्व चीन में भी लोकतन्त्र समर्थक छात्र-आन्दोलन व बुद्धिजीवी आन्दोलन को सरकार ने दबाने की नीति अपनायी थी, जिसे किसी भी प्रकार से उचित नहीं माना गया है।

3. स्वेच्छा से निर्धारित कीमतों के कारण साधनों के विवेकपूर्ण उपयोग का अभाव–साम्यवाद की एक प्रमुख कमजोरी यह है कि इसमें माँग व पूर्ति से निर्धारित मूल्यों के अभाव में उत्पादन का ठीक से मार्ग-दर्शन नहीं होता। योजनाधिकारी मूल्य तय करते हैं जो उसी स्तर पर बने रहते हैं, जब तक कि वे स्वयं सरकार द्वारा बदले नहीं जाते। मान लीजिए प्रारम्भिक मूल्य सही निर्धारित हो जाते हैं तो वे भी माँग व पूर्ति की परिस्थितियों के बदल जाने से गलत या व्यर्थ हो सकते हैं। चूँकि कुछ वस्तुओं के मूल्य बदलने से अन्य वस्तुओं की माँग भी बदल जाती है, इसलिए सम्पूर्ण मूल्य-ढाँचा कुछ वर्षों तक स्थिर बना रहता है। इस प्रकार उत्पादन की मात्रा वस्तुओं के भावों से नियंत्रित नहीं होती। ऊपर से थोपे गये या अनुमानित कीमतों से अस्त-व्यस्त परिणाम निकल सकते हैं। इसी प्रकार नियोजक मजदूरी भी स्वयं ही निर्धारित कर देते हैं और विभिन्न उपक्रम एक दूसरे से ऊँची मजदूरी नहीं दे सकते।

4. साम्यवादी अर्थव्यवस्था में प्रभावपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा की कमी होने से कार्यकुशलता बढ़ाने की प्रेरणा का अभाव पाया जाता है। यह बात उपक्रमों व व्यक्तियों दोनों पर लागू होती है। इस व्यवस्था में बड़े पैमाने के उपक्रमों व नौकरशाही का बोलबाला होता है। बाजारों में विक्रेताओं (सरकारी इकाइयों) की ज्यादा चलती है। उत्साही लोगों व नये प्रयोग करने वाले व्यक्तियों के लिए क्षेत्र सीमित होता है, जिससे इस व्यवस्था में अकार्यकुशल व्यक्तियों को भी शरण मिल जाती है।

5. साम्यवादी अर्थव्यवस्था में भारी उद्योग व सुरक्षा सम्बन्धी साधनों के विकास पर अधिक बल दिया जाता है और कृषि व उपभोग्य वस्तुओं के उद्योगों पर अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया जाता है। भारी उद्योगों व सुरक्षा-व्यय के सम्बन्ध में ऊँचे लक्ष्य रखे जाते हैं और उन्हें प्राप्त करने का पूरा प्रयास किया जाता है। यदि कभी साधनों के पुनराबंटन का प्रश्न उठता है तो भी कृषि व उपभोग्य वस्तुओं के उद्योगों के उत्पादन में ही कमी की जाती है। इस कारण से साम्यवादी देशों में प्रायः उपभोग्य वस्तुओं का अभाव कई वर्षों तक जारी रहता है।

6. इस व्यवस्था में वर्तमान उपभोग पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता–उपभोक्ता का उत्पादन के ढाँचे पर विशेष प्रभाव नहीं होता। प्रायः साम्यवादी देशों में विकास के प्रारम्भ में आवास, सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं (पानी, बिजली आदि), कृषि, दस्तकारी व 'विलासिताओं' को नीचा स्थान दिया जाता है, जिससे उपभोक्ता के कल्याण की उपेक्षा हो जाती है। उसे मामूली किस्म की उपभोक्ता-वस्तुओं तक के लिए काफी लम्बी अवधि तक इन्तजार करना होता है, हालांकि आगे चलकर इनका अभाव दूर करने की भरसक कोशिश की जाती है।

7. साम्यवादी व्यवस्था में मैनेजरों को प्रेरणा देने की सन्तोषजनक विधि का विकास नहीं हो पाया है। कारखानों के मैनेजरों को उत्पादन-लागत घटाने एवं उत्पादन की विधियों में सुधार करने के लिए कहा जाता है। प्रायः मैनेजरों का हित इस बात में होता है कि वे अपने कारखानों की उत्पादन-क्षमता को कम करके बतलाएँ ताकि व्यवहार में अधिक उत्पादन करके वे उच्च अधिकारियों को प्रभावित कर सकें। इसलिए मैनेजर सही स्थिति को छुपाने का निरंतर प्रयास करते हैं, क्योंकि असली स्थिति बतलाने में उन्हें यह भय होता है कि उनका उत्पादन का कोटा पहले से और ऊँचा कर दिया जायेगा। इस प्रकार साम्यवादी

अर्थव्यवस्थाओं के प्रबन्धकों के लिए उचित किस्म की प्रेरणाओं का बहुधा अभाव पाया जाता है।

हॉम ने कुछ वर्ष पूर्व कहा था कि रूस की अर्थव्यवस्था में साधन-आवटन किफायत से नहीं हुआ है। वहाँ बडी किस्म के असतुलन उत्पन्न हो गये हैं और इस व्यवस्था ने प्रबन्धकीय प्रेरणाओं की मूल समस्या का समाधान नहीं निकाला है। वास्तव में मनमानी या ऊपर से आरोपित कीमतों के आधार पर उत्पादन को सचालित करने में कठिनाइयों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। लेकिन हमें यह नहीं भुलाना है कि रूस साम्यवादी व्यवस्था को अपनाकर ही कुछ वर्ष पूर्व विश्व की एक महान् शक्ति बन पाया था। यह तीव्र गति से अपना औद्योगीकरण कर सका था और वहाँ विज्ञान व टेक्नोलोजी का बहुत उपयोग हुआ था।

रूस : एक नई समाज रचना की ओर

जून 1988 के अन्त में रूस में साम्यवादी पार्टी के तत्वावधान में चार दिवसीय खुली बहस हुई थी जिसमें देश के लगभग 5000 प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाचोव ने रूस में नई समाज-रचना पर काफी जोर दिया था। **वहाँ समाजवाद को *'मानववादी व लोकतान्त्रिक स्वरूप प्रदान किया जा रहा है तथा आर्थिक क्षेत्र में अधिक उदार* नीतियों के प्रयोग किये जा रहे हैं। नौकरशाही पर अंकुश लगाया जा रहा है, कृषकों को मदद दी जा रही है, खाद्य-समस्या को हल करने पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है, तथा वस्तुओं की उपलब्धि को बढ़ाया जा रहा है।** इस प्रकार रूस 'उदारवादी दृष्टिकोण' को अपनाकर एक नई समाज रचना के प्रयास में लगा हुआ है।

वहाँ कुछ वर्ष पूर्व पेरेस्त्रोइका (पुनर्गठन) (Restructuring) की नीति लागू की गई थी जिसके परिणाम सामने आने लगे हैं। इसके विकास के मार्ग में आने वाली सभी बाधाओं को *हटाया जा रहा है। इससे राष्ट्रीय आय व श्रम की उत्पादकता में वृद्धि होने की आशा है।* सोवियत समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। पेरेस्त्रोइका एक जटिल प्रक्रिया मानी गयी है। इससे बाहरी व आन्तरिक तत्वों की अतक्रिया से अर्थव्यवस्था में सुधार आता है। इससे किसानों व मजदूरों सभी के लाभान्वित होने की आशा है। 'ग्लासनोस्त' का अर्थ है 'सार्वजनिक खुलापन' या जनवाद' जो वर्तमान सोवियत आन्तरिक नीति का एक आवश्यक अग बन गया है। आज रूस दूसरी क्रान्ति के द्वार पर खडा है। वहाँ निजी अर्थव्यवस्था की ओर जाने का सकल्प दिखाई देता है। आशा है भविष्य मे यह क्रान्ति अधिक साकार व व्यावहारिक रूप ले सकेगी और रूस बाजार प्रणाली की ओर अग्रसर होगा। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति गोर्बाचोव ने अमेरीकी अर्थशास्त्रियों से मार्ग दर्शन व दिशा निर्देश लेने की इच्छा प्रगट की है।

पिछले वर्षों में सोवियत सघ में काफी राजनीतिक उथल पुथल हो रही है। सितम्बर 1991 के प्रारम्भ में तीन बाल्टिक रिपब्लिक–लिथुवानियाँ, लतविया व एस्टोनिया को स्वतन्त्र राज्य मान लिया गया था। अन्य कई रिपब्लिक राज्य भी पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते हैं। विभिन्न रिपब्लिक इकाइयों के बीच किस प्रकार के आर्थिक व राजनीतिक सम्बन्ध होंगे, इसके बारे में विचार विमर्श चल रहा है। वर्तमान में रूस की आर्थिक दशा काफी शोचनीय है। वहाँ मुद्रा प्रसार हो रहा है, देश में दूध, मक्खन, फल सब्जी आदि उपभोक्ता वस्तुओं का काफी अभाव

है। रूस G-7 के देशों (अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, आदि) से आर्थिक सहायता लेने का प्रयास कर रहा है। यह बात आसानी से गले नहीं उतरती कि यह अचानक इतनी दयनीय स्थिति में कैसे पहुँच गया। विश्व इतिहास में इसका अनुभव नहीं मिलता कि एक साम्यवादी अर्थव्यवस्था किस प्रकार बाजार अर्थव्यवस्था में बदल सकती है। अतः भविष्य काफी अनिश्चित जान पड़ता है। सभी इस बात पर नजर लगाये हुए हैं कि देखें रूस बाजार अर्थव्यवस्था को किस रूप में अपना पाता है, और उसके परिणाम अनुकूल होते हैं या प्रतिकूल।

क्या पूँजीवादी व साम्यवादी दोनों व्यवस्थाएँ किसी मिलन-बिन्दु की ओर अग्रसर हो रही हैं?

(Are the two Systems Converging)

1961 में जॉन टिम्बरजन ने अर्थव्यवस्थाओं के 'एक दूसरे के समीप आने के विचार' का प्रतिपादन किया था। उसके बाद गैलब्रेथ, बोर्नस्टीन, विलजिन्स्की, आदि ने भी इसको अपना समर्थन दिया है।

आजकल प्रायः यह प्रश्न उठाया जाने लगा है कि क्या पूँजीवाद व साम्यवाद दोनों एक दूसरे के समीप आ रहे हैं (converging) या एक दूसरे से दूर जा रहे हैं (diverging), या एक दूसरे को समाप्त करने अथवा डुबोने जा रहे हैं (submerging) ?

एक दूसरे के समीप आने के प्रभाव—जहाँ तक इनके परस्पर समीप आने का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि आजकल विकसित औद्योगिक अर्थव्यवस्थाओं में काफी समानता दिखाई देती है—चाहे वे पूँजीवादी हों अथवा साम्यवादी हों। जैसे दोनों प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं में GNP में कृषिगत उत्पत्ति का अंश तथा कुल रोजगार में कृषिगत रोजगार का अंश, कम हुए हैं। शहरीकरण, फैक्ट्री-रोजगार व सेवा-क्षेत्र के अंश बढ़े हैं। जन्म-दरें व मृत्यु-दरें घटी हैं। साक्षरता का विस्तार हुआ है। विज्ञान व टेक्नोलोजी का विकास हुआ है। प्रति व्यक्ति GNP बढ़ी है तथा प्रादेशिक विकास में अधिक समानताएँ स्थापित हुई हैं। आजकल दोनों प्रकार की अर्थव्यवस्था में आर्थिक नियोजन का प्रयोग होने लगा है, तथा सरकार का आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप बढ़ गया है। समाजवादी देशों में लाभ को फर्म की सफलता का आधार माना जाने लगा है, वहाँ भी निजी खेती के लिए थोड़ी भूमि दी जाती है। अतः समाजवादी देशों में भी मौद्रिक प्रेरणाओं व सेवाओं का उपयोग किया जाने लगा है। उपभोक्ताओं को चुनाव की अधिक स्वतन्त्रता दी जाने लगी है। जिस प्रकार पूँजीवादी देशों में मालिकों व मजदूरों के दो वर्ग पाये जाते हैं, उसी प्रकार समाजवादी देशों में, जैसे चीन में, सामाजिक वर्ग—श्रमिक, किसान, बुद्धिजीवी—सरकारी तौर पर स्वीकार किये गये हैं। ये सब बातें सिद्ध करती हैं कि पूँजीवादी व साम्यवाद एक दूसरे के काफी समीप आ रहे हैं (converging)।

एक दूसरे के समीप आने के बावजूद दोनों अर्थव्यवस्थाओं के मूलभूत अन्तर जारी

इन समानताओं के बावजूद पूँजीवाद व साम्यवाद की आर्थिक संस्थाओं जैसे उद्यम की स्वतन्त्रता, साधनों के स्वामित्व, आदि के मूलभूत अन्तर अवश्य पाये जाते हैं। यही नहीं

बल्कि स्वय पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में भी परस्पर काफी अन्तर पाये जाते हैं और इसी प्रकार साम्यवादी व समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में भी परस्पर काफी अन्तर पाये जाते हैं, जैसे चीन व पहले के रूस के बीच, यूगोस्लाविया व पूर्व रूस के बीच, आदि। इस तरह पूँजीवाद व साम्यवाद की इन समानताओं के बावजूद इन दोनो के मूलभूत सैद्धान्तिक अन्तरों को नहीं भुलाया जा सकता। एक निजी उद्यम पर आधारित है, जबकि दूसरी में सरकारी उपक्रम प्रमुख होते हैं। दोनों की राजनीतिक प्रणालियाँ भिन्न भिन्न होती हैं। विश्व में दोना प्रकार की अर्थव्यवस्थाएँ पायी जाती हैं। अत एक के द्वारा दूसरी अर्थव्यवस्था को डुबोने या समाप्त करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। विश्व के कम विकसित देश इन दोनों पर अपनी दृष्टि जमाये हुए हैं, और अपनी परिस्थितियों व पसन्द के अनुसार इनमें से चुनाव करने का प्रयास कर रहे हैं। यही नहीं बल्कि विकासशील देश इनको अपनी विशेष परिस्थितियों के अनुसार ढालने व सुधारने का प्रयास कर रहे हैं।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया था पिछले वर्षों में एक के बाद एक साम्यवादी देश इस प्रणाली को त्याग कर पुन बाजार प्रणाली को अपनाने की तरफ बढ रहे हैं। हंगरी, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, बुल्गारिया व रोमानिया में साम्यवादी सरकारें गिरा दी गई हैं, और उनके स्थान पर गैर साम्यवादी सरकारें सत्ता में आयी हैं। इनमें लोकतन्त्र, बाजार प्रणाली, चुनावों, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के सहयोग, प्रतियोगिता व खुलेपन तथा विश्व की अर्थव्यवस्था से जुडने, आदि पर बल दिया जाने लगा है। रोमानिया में काफी नर सहार के बाद निकोलाई चाउसेस्कू के शासन का अन्त कर दिया गया था। दोनों जर्मन राष्ट्रों का एकीकरण (unification) हो गया है। पूर्वी जर्मनी में गैर साम्यवादी सरकार का गठन हो गया है। इनमें नई व्यवस्था का क्या स्वरूप होगा, यह अभी तक सुनिश्चित नही हो पाया है। इसका निर्णय भविष्य ही करेगा।

इस प्रकार आर्थिक प्रणाली के विवेचन से यह प्रकट होता है कि एक तरफ पूँजीवाद में सरकारी हस्तक्षेप व सार्वजनिक क्षेत्र के समावेश से उसके स्वरूप में परिवर्तन हो रहा है तो दूसरी तरफ साम्यवाद या समाजवाद में बाजार प्रणाली कुछ सीमा तक निजी क्षेत्र व विकेन्द्रीकरण का समावेश करके उसका स्वरूप बदलने का प्रयास किया जा रहा है। कहने का आशय है कि अब दोनों प्रकार की अर्थव्यवस्थाएँ मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं की तरफ जाने लगी हैं, हालांकि उन सबका 'मिश्रण' एकसा नहीं होता और सदा के लिए स्थिर भी नहीं होता। इस समय विश्व में कई प्रकार की मिश्रित अर्थव्यवस्थाएँ चल रही हैं। इनमें से दो विशेष रूप से ध्यान देने लायक हैं—(i) प्रमुखतया पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्थाएँ जिनका प्रतिनिधित्व अमेरिका, जापान, आदि देश करते हैं (ii) नियोजित समाजवादी मिश्रित अर्थव्यवस्थाएँ जिनका प्रतिनिधित्व अभी तक यूगोस्लाविया करता रहा है। भारतीय अर्थव्यवस्था भी मिश्रित अर्थव्यवस्था की श्रेणी में आती है। अगले अध्याय में मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं का विस्तृत विवेचन किया गया है। यहाँ इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि विश्व के विभिन्न समाजवादी अथवा साम्यवादी देशों का अपनी पूर्व व्यवस्थाओं से मोहभग हो रहा है, और वे तेजी से उदारीकरण की नीतियों को अपनाने लगे हैं ताकि निजीकरण, बाजारीकरण व विश्वीकरण को ज्यादा से ज्यादा मात्रा में अपना कर आर्थिक विकास की गति को तेज कर सकें। विभिन्न देश अपनी अर्थव्यवस्थाओं में सरचनात्मक या ढाचेगत सुधारों (structural reforms) के कार्यक्रम अपनाकर आगे बढने

मिश्रित अर्थव्यवस्थाएँ
(Mixed Economies)

हमने पिछले दो अध्यायों में पूँजीवाद, समाजवाद व साम्यवाद का विवेचन करके यह बतलाया है कि इन व्यवस्थाओं में आजकल किस दिशा में परिवर्तन हो रहे हैं। हमने देखा कि अमरीकी अर्थव्यवस्था में निजी सम्पत्ति, उत्तराधिकार की प्रथा, उद्यम की स्वतन्त्रता, प्रतिस्पर्धा, आदि तत्त्व विद्यमान हैं, जो पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली के सूचक हैं। लेकिन इसमें पिछले वर्षों में आर्थिक जीवन में सरकार का हस्तक्षेप भी बढ़ा है और सरकार राजकोषीय व मौद्रिक नीतियों का उपयोग करके देश में रोजगार, उत्पादन, आय व कीमतों को प्रभावित करने में काफी सक्रिय रूप से भाग लेने लगी है। सेमुअल्सन व अन्य अमरीकी अर्थशास्त्री अपने देश की अर्थव्यवस्था को 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' कहना ज्यादा पसन्द करते हैं। वैसे इसको पूँजीवादी 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' कहना ज्यादा उपयुक्त होगा।

इसी तरह कुछ समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में निजी क्षेत्र को समाप्त नहीं किया गया है और वहाँ भी व्यक्तिगत फर्मों को बाजार में माँग व पूर्ति के आधार पर निर्णय लेने की कुछ सीमा तक स्वतन्त्रता दी गई है और उत्पादन में मुनाफे का आधार स्वीकार किया गया है। जिनमें आर्थिक नियोजन अपनाया गया है उनमें भी निर्णय विकेन्द्रित आधार पर लिए जाते हैं, जैसे यूगोस्लाविया में। इसे कुछ अर्थशास्त्री 'बाजार समाजवाद' भी कहते हैं क्योंकि इसमें बाजार प्रणाली का उपयोग जारी रखा गया है। बाजार समाजवादी अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र के अस्तित्व के कारण इसे 'समाजवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था' भी कहा जा सकता है। विश्व की प्रचलित अर्थव्यवस्थाओं का अध्ययन करते समय हम देखते हैं कि कुछ देशों में उत्पादन के साधन निजी स्वामित्व में पाये जाते हैं, और अन्य में सार्वजनिक स्वामित्व में पाये जाते हैं। कुछ में दोनों क्षेत्रों में पाये जाते हैं। कहीं केन्द्रीय योजना पायी जाती है और कहीं नहीं। कुछ में केन्द्रीय नियोजन में बाजार प्रणाली का उपयोग किया जाता है तो कुछ में नहीं किया जाता है, और नियोजकों द्वारा निर्धारित मूल्यों का ही उपयोग किया जाता है। इस प्रकार विश्व की प्रचलित अर्थव्यवस्थाओं में व्यवहार में कई प्रकार के भेद देखने को मिलते हैं। हम यहाँ मिश्रित अर्थव्यवस्था का प्रारम्भिक विवेचन करके भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था की कार्यविधि व उपलब्धियों पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy)

परिभाषा—साधारणतया मिश्रित अर्थव्यवस्था उस अर्थव्यवस्था को कहते हैं जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र व निजी क्षेत्र दोनों साथ साथ पाये जाते हैं। सरल शब्दों में, सरकार और

पूँजीपतियों दोनों को आर्थिक विकास में भाग लेने का पर्याप्त अवसर दिया जाता है। प्राय सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आधारभूत उद्योग, जैसे लोहे व इस्पात के कारखाने, मशीनें बनाने के कारखाने, भारी रासायनिक उद्योग तथा प्रमुख खनिज पदार्थ एव शक्ति, खनिज तेल व परिवहन के साधन, आदि निर्धारित किये जाते हैं, और निजी क्षेत्र के लिए उपभोक्ता-वस्तुओं के उद्योग, छोटे पैमाने के उद्योग, कृषि, खुदरा व्यापार, आदि निर्धारित किये जाते हैं। इस प्रकार अर्थव्यवस्था में जहाँ एक तरफ सरकार सक्रिय रूप से उत्पादन में भाग लेती है, वहाँ दूसरी तरफ निजी क्षेत्र को भी अपना योगदान देने का पूरा अवसर दिया जाता है। सार्वजनिक क्षेत्र व निजी क्षेत्र के कार्यों का विभाजन सरकारी नीति पर निर्भर करता है, जैसे भारत में औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1956 के अनुसार उद्योगों में सार्वजनिक व निजी क्षेत्र का स्थान निर्धारित किया गया था। इसमें जुलाई 1991 में आर्थिक उदारीकरण के अनुरूप कुछ परिवर्तन किये गये हैं। मिश्रित अर्थव्यवस्था में सरकार राजकोषीय व मौद्रिक नीतियों एव अन्य भौतिक नियन्त्रणों के माध्यमों से अर्थव्यवस्था पर अपना नियन्त्रण स्थापित करती है। इस प्रकार से इसे *नियन्त्रित अर्थव्यवस्था (controlled economy)* भी कह सकते हैं।

डॉ ए. एम खुसरो ने मिश्रित अर्थव्यवस्था की निम्न परिभाषा दी है, "एक मिश्रित अर्थव्यवस्था दो महत्त्वपूर्ण रूपों में मिश्रित होती है–(i) इसमें उत्पादन के सार्वजनिक व निजी साधनों (पूँजी व श्रम) का मिश्रण होता है, (आ) इसमें वस्तुओं व सेवाओं के बाजारों (स्वतन्त्र बाजारों व नियन्त्रित बाजारों) का मिश्रण होता है।" इस परिभाषा के अनुसार मिश्रित अर्थव्यवस्था में दो तरह का मिश्रण पाया जाता है–(अ) उत्पादन के साधनों की दृष्टि से सार्वजनिक व निजी दोनों क्षेत्रों में साधनों का पाया जाना—इसका अर्थ यह है कि उत्पादन के साधन जैसे भूमि, पूँजी तथा श्रम सार्वजनिक क्षेत्र व निजी क्षेत्र दोनों में होते हैं। एक तरफ सरकारी खेत होते हैं तो दूसरी तरफ निजी खेत। एक तरफ सार्वजनिक कारखाने होते हैं तो, दूसरी तरफ निजी कारखाने। इसी प्रकार परिवहन व व्यापार आदि क्षेत्रों में भी सार्वजनिक व निजी इकाइयाँ साथ साथ पायी जा सकती हैं। इस प्रकार उत्पादन के साधन सार्वजनिक व निजी दोनों क्षेत्रों में पाये जाते हैं। (आ) वस्तुओं व सेवाओं के बाजार दो तरह के होते हैं, स्वतन्त्र बाजार जिसमें केवल माँग व पूर्ति की शक्तियाँ काम करती हैं और सरकारी हस्तक्षेप नहीं होता, तथा नियन्त्रित बाजार जिनमें सरकार की तरफ से मूल्य नियन्त्रण व राशनिंग वगैरह पाये जाते हैं। इसे दोहरे बाजार (dual market) की स्थिति भी कहते हैं, जो इस समय भारत में चीनी-उद्योग में प्रचलित है। इसके अन्तर्गत सरकार चीनी मिलों से लेवी के भावों पर निर्धारित मात्रा में चीनी खरीद कर राशन की दुकानों के माध्यम से उपभोक्ता वर्ग में वितरित करती है, और शेष चीनी खुले बाजार में स्वतन्त्र भावों पर उपलब्ध की जाती है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था पूँजीवाद व समाजवाद दोनों के मिश्रण से बनती है। यह एक प्रकार की *'लचीली अर्थव्यवस्था'* होती है। इसमें आर्थिक नियोजन पाया जा सकता है, जैसा कि भारत में है, और नहीं भी पाया जा सकता है, जैसा कि अमेरीका में है। एक तरफ पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में सरकारी क्षेत्र के समावेश से मिश्रित अर्थव्यवस्था बन सकती है, तो दूसरी तरफ समाजवादी अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र के समावेश से मिश्रित अर्थव्यवस्था बन सकती है। इस प्रकार शुद्ध पूँजीवाद का अपना एक सुनिश्चित रूप होता है और शुद्ध समाजवाद का भी अपना स्वरूप होता है, विशेषतया साम्यवाद का। लेकिन मिश्रित अर्थव्यवस्था का अपना कोई सुनिश्चित रूप नहीं होता। यह परिवर्तनशील होता है, और आवश्यकता के अनुसार बदलता रहता है।

मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं में भी परस्पर काफी अन्तर पाये जाते हैं। फिर भी ध्यान से देखने पर प्रत्येक मिश्रित अर्थव्यवस्था का झुकाव किसी न किसी दिशा में अवश्य दिखायी देता है। उदाहरण के लिए, अमेरिका, कनाडा, जापान, ब्रिटेन, दक्षिण कोरिया, आदि देशों की अर्थव्यवस्थाएं पूँजीवाद की ओर अधिक झुकी हुई हैं। दूसरी तरफ यूगोस्लाविया व चीन आदि की अर्थव्यवस्थाएँ कुछ सीमा तक मिश्रित होते हुए भी समाजवाद की ओर अधिक झुकी हुई हैं। भारत की स्थिति अवश्य थोड़ी भिन्न है। अब तक के विकास को देखते हुए इसके लिए 'पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था' शब्द का उपयोग करना ज्यादा उपयुक्त जान पड़ता है। भारत सरकार नियोजित विकास के माध्यम से देश में व्याप्त बेरोजगारी, निर्धनता, मुद्रास्फीति व आर्थिक असमानता जैसी जटिल समस्याओं को हल करने का प्रयास कर रही है।

पिछले वर्षों में आर्थिक उदारीकरण की नीति के अन्तर्गत आर्थिक नियन्त्रणों को कम किया गया है तथा निजी क्षेत्र पर से कुछ प्रतिबन्ध हटाये गये हैं, ताकि उत्पादन में वृद्धि हो सके व माल की किस्म में सुधार हो सके तथा कीमतें कम की जा सकें। इसके लिए बड़े पैमाने की किफायतों, टेक्नोलोजी के सुधार, आधुनिकीकरण व आन्तरिक व विदेशी प्रतिस्पर्धा तथा अर्थव्यवस्था के खुलेपन आदि तत्वों पर काफी बल दिया गया है। जुलाई 1991 से नई आर्थिक नीति के अन्तर्गत सरकार ने आर्थिक उदारता की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाये हैं जिससे यह निजी क्षेत्र की ओर अधिक उन्मुख हो गई है। भारतीय अर्थव्यवस्था निजीकरण, बाजारीकरण व विश्वीकरण की ओर बढ़ रही है जो संसार की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था के उद्देश्य अथवा लाभ

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह होता है कि विश्व के विभिन्न देशों को विभिन्न समयों में मिश्रित अर्थव्यवस्था का सहारा क्यों लेना पड़ा? जैसाकि पूर्व विवेचन से स्पष्ट होता है कि यह अर्थव्यवस्था एक प्रकार का मध्यम मार्ग (middle path) है, और पूँजीवाद व समाजवाद की कमियों को दूर करने के लिए विभिन्न देशों में इसको अपनाया गया है। अब तक के अनुभवों के आधार पर मिश्रित अर्थव्यवस्था के निम्न उद्देश्य माने जा सकते हैं—

1. **आर्थिक विकास की गति को तेज करना**—विकासशील देशों में आर्थिक विकास की गति को तेज करने के लिए मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाना पड़ा है। इन देशों में इतने ज्यादा काम करने बाकी पड़े हैं कि सार्वजनिक व निजी क्षेत्र दोनों इनको कर सकते हैं। अर्थव्यवस्था का आधारभूत ढाँचा तैयार करने का काम सरकार पर छोड़ा जाना उचित है, जैसे बिजली, सिंचाई, रेल, सड़क आदि का विकास निजी क्षेत्र पर नहीं छोड़ा जा सकता। सुरक्षा उद्योग व भारी उद्योगों के विकास में विशाल मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होती है, जो निजी क्षेत्र की शक्ति के बाहर होते हैं। लेकिन इनको सार्वजनिक क्षेत्र में रखने के बाद भी कई प्रकार के आर्थिक कार्य शेष रह जाते हैं जिन्हें निजी उद्यमकर्त्ताओं पर छोड़ा जा सकता है। इस प्रकार सार्वजनिक व निजी दोनों क्षेत्रों के मिले जुले प्रयास से देश का आर्थिक विकास अपेक्षाकृत अधिक तेजी से हो सकता है।

2. **उपभोक्ता की स्वतन्त्रता व मजदूरों के हितों की रक्षा करना**-मिश्रित अर्थव्यवस्था का उपयोग उपभोक्ता व श्रमिकों के हितों की रक्षा करने के लिए किया गया है। अत मिश्रित

अर्थव्यवस्था के माध्यम से उसे अपनी पसन्द के अनुसार चुनाव का अधिक अवसर दिया जाता है। लेकिन वस्तुओं की पूर्ति के सीमित होने पर सरकार मूल्य-नियंत्रण व राशनिंग को अपना कर इनके अधिक समान वितरण की व्यवस्था करती है।

पूँजीवाद में प्राय मालिकों व मजदूरों के बीच झगड़े होने के कारण हड़तालें व तालाबन्दियाँ होती रहती हैं। मिश्रित अर्थव्यवस्था में सरकार औद्योगिक शान्ति स्थापित करने के प्रयास करती है।

3. आर्थिक समानता स्थापित करना—पूँजीवाद में आर्थिक असमानता की समस्या सबसे जटिल मानी गई है। जो देश साम्यवाद नहीं लाना चाहते हैं वे भी कुछ सामाजिक-आर्थिक कारणों से धन व आय के वितरण में अधिक समानता अवश्य लाना चाहते हैं। इसके लिए शहरी व ग्रामीण सम्पत्ति पर सीमा लगाने का प्रयास किया जाता है, एवं विभिन्न प्रकार के प्रत्यक्ष करों जैसे आयकर, धनकर, उपहार कर आदि के माध्यम से आय की असमानताएँ दूर करने का प्रयास किया जाता है। इन प्रयत्नों के दौरान मिश्रित अर्थव्यवस्था का सहारा लेना पड़ता है।

4. एकाधिकार व निजी हाथों में आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण पर रोक लगाना—एकाधिकार के अन्तर्गत उत्पत्ति कम और कीमतें ऊँची होती हैं। निजी हाथों में आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण से अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। इसलिए सरकार को इन पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए आवश्यक उपाय करने होते हैं। सरकार एकाधिकार के विरुद्ध वैधानिक कदम उठाती है। ऐसा पूँजीवादी देशों जैसे अमेरिका आदि में भी करना पड़ा है। भारत में भी निजी क्षेत्र में एकाधिकार को रोकने के लिए MRTP अधिनियम 1969 में पारित किया गया था।

5. निजी उद्यमवाली अर्थव्यवस्था व नियोजन के मेल से मिश्रित अर्थव्यवस्था उत्पन्न होती है—नियोजन की पद्धति किसी भी अर्थव्यवस्था में अपनाई जा सकती है, इसके भी विभिन्न रूप होते हैं, जैसे—तानाशाही नियोजन, लोकतान्त्रिक नियोजन, पूर्ण नियोजन, आंशिक नियोजन आदि। आजकल विशेषतया अल्पविकसित देशों में नियोजित विकास को पसन्द किया जाने लगा है। अतः एक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक नियोजन को अपनाने से मिश्रित अर्थव्यवस्था उत्पन्न होती है।

6. संयुक्त क्षेत्र (Joint sector) की अवधारणा से भी मिश्रित अर्थव्यवस्था को बल मिला है। पहले बताया जा चुका है कि आजकल समाजवादी विचारक संयुक्त क्षेत्र जैसे संगठन को अपनाने से नहीं हिचकते, जिसमें प्रबंध निजी हाथों में होता है और पूँजी सरकार प्रदान करती है। इससे समाजवाद को ठेस नहीं पहुँचती। इसलिए 'संयुक्त क्षेत्र' के विकास से भी मिश्रित अर्थव्यवस्था के विकास को बल मिला है। पहले बताया जा चुका है कि पिछले कुछ वर्षों में भारत में संयुक्त क्षेत्र के विचार का काफी समर्थन किया गया है।

हमने ऊपर देखा कि विभिन्न देशों में विभिन्न समयों में विभिन्न उद्देश्यों व विभिन्न कारणों को लेकर मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाया गया है। मूलतः इसके अपनाने का उद्देश्य उत्पादन बढ़ाना, वितरण की व्यवस्था को ठीक करना, लोकतन्त्र की रक्षा करना व आर्थिक नियोजन के लाभ प्राप्त करना रहा है। पूँजीवाद में वितरण की असमानता व आर्थिक शोषण को दूर करने के लिए सरकार का आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप बढ़ाया गया है,

और समाजवाद में उपभोक्ता की स्वतन्त्रता की रक्षा करने एवं साधनों का अधिक विवेकपूर्ण ढग से उपयोग करने के लिए बाजार प्रणाली का अधिक समावेश किया गया है। इन दोनों प्रक्रियाओं के ताल मेल से मिश्रित अर्थव्यवस्था को बढावा मिला है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था के दोष या कमियाँ

(1) मिश्रित अर्थव्यवस्था में आर्थिक संकट व मुद्रास्फीति

विद्वानों ने मिश्रित अर्थव्यवस्था के सचालन का अध्ययन करके इसके सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण परिणाम निकाले हैं। प्रभात पटनायक व एस. के. राव ने बतलाया है कि "एक देश के बाद दूसरे देश में मिश्रित अर्थव्यवस्था को सकट का सामना करना पड़ा है। यह सकट अल्पकालीन या चक्रीय (Cyclical) न होकर अर्थव्यवस्था की क्षमता को ही प्रभावित करता है। "मिश्रित अर्थव्यवस्था के ढाँचे में आर्थिक विकास करना काफी कठिन होता है, क्योंकि इसमें भीषण मुद्रास्फीति के दवाव उत्पन्न हो जाते हैं। घाटे के बजटों से मुद्रा की सप्लाई पर भारी दवाव पड़ता है। भारत सरकार के वार्षिक बजट में कई वर्षों से घाटे के कारण देश में मुद्रास्फीति की समस्या काफी जटिल हो गई है।"

जब सरकार मुद्रास्फीति को नियन्त्रित करने के लिए विनियोग कम करती है तो आर्थिक विकास की गति रुकती है। इससे बेरोजगारी फैलती है जो विशेषतया पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों को प्रभावित करती है। साथ ही शिक्षित वर्ग को भी बेरोजगारी का सामना करना पड़ता है जिन्हें पेशेवर, तकनीकी व सरकारी क्षेत्रों में पर्याप्त मात्रा में काम नहीं मिल पाता है। अत मिश्रित अर्थव्यवस्था में ढाँचे में आर्थिक विकास की नीति से शासक वर्ग बड़ी दुविधा में पड जाता है। मिश्रित अर्थव्यवस्था में मन्दी के साथ महंगाई, अर्थात् 'स्टेग्फ्लेशन' (*Stagflation*) की स्थिति भी पाई जा सकती है। ऐसी दशा में सरकार के सामने उचित आर्थिक नीति के निर्धारण में कई प्रकार की कठिनाइयाँ व बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(2) मिश्रित अर्थव्यवस्था में पूँजीवाद व समाजवाद के दुर्गुणों का समावेश होने की आशंका

इस प्रकार मिश्रित अर्थव्यवस्था की कार्य प्रणाली की सफलता के सम्बन्ध में काफी आशकाएँ प्रकट की गई हैं। ये आशकाएँ पूँजीवादी व समाजवादी दोनों प्रकार की *अर्थव्यवस्थाओं के समर्थकों ने की हैं। उनका मत है कि 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' में इन दोनों* अर्थव्यवस्थाओं के दुर्गुणों का समावेश तो हो जाता है, लेकिन दुर्भाग्य से आर्थिक असमानता दूर नहीं होती एव नौकरशाही की दीवार और खड़ी हो जाती है। आलोचकों का मत है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था का अपना कोई निश्चित सिद्धान्त व जीवन दर्शन तो होता नहीं। पूँजीवाद का अपना एक निश्चित सिद्धान्त होता है और साम्यवाद का भी। ये दोनों अपनी अपनी निर्धारित व निश्चित राह पर चलते जाते हैं। इससे किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न नहीं होता। पूँजीवाद में लोचदार बाजार प्रणाली काम करती है और साम्यवाद में कठोर केन्द्रीय नियोजन। मिश्रित अर्थव्यवस्था बाजार प्रणाली व केन्द्रीय नियोजन तथा निजी उद्यम व सार्वजनिक उद्यम को मिलाने के प्रयास में कई बार बहुत-कुछ भटक-सी जाती है। इसके कार्य-कलाप सुनिश्चित नहीं कहे जा सकते। वे बहुधा बदलते रहते हैं।

(3) एक छिन्नभिन्न अर्थव्यवस्था

भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था के व्यावहारिक अनुभवों को देखकर आर्थिक क्षेत्र की अधिकांश कमियों के लिए इस व्यवस्था को दोषी ठहराया गया है। एक तरफ निजी क्षेत्र के समर्थक इसे पूँजीवाद की ओर घसीटते हैं, तो दूसरी तरफ साम्यवादी इसे राष्ट्रीयकरण व अन्य उपायों के द्वारा साम्यवाद या समाजवाद की ओर धकेलना चाहते हैं। इसी रस्साकशी में हमें दोनों अर्थव्यवस्थाओं के दोष तो मिल जाते हैं, लेकिन उनकी अच्छाइयाँ नहीं मिलतीं। अतः मिश्रित अर्थव्यवस्था आर्थिक समस्याओं का सरल रूप से समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाई है। *यह एक छिन्नभिन्न व शिथिल किस्म की अर्थव्यवस्था प्रमाणित हुई है।* इसमें कार्यकुशलता का अभाव पाया गया है।

भारत में सार्वजनिक क्षेत्र कम कार्यकुशल व निजी क्षेत्र प्रायः आर्थिक दृष्टि से शोषक सिद्ध हुआ है। सरकार किसी भी आर्थिक नीति को दृढ़तापूर्वक नहीं लागू कर पाती। खाद्यनीति के क्षेत्र में एक बार समाजीकरण, तो दूसरी बार निजी व्यापार, कभी उत्पादकों पर लेवी, तो कभी खुले बाजार में सरकारी खरीद, आदि को अपनाकर हमारे देश में मिश्रित अर्थव्यवस्था में एक छोर से दूसरे छोर तक जाने के प्रयास किये गये हैं, जिससे किसी भी क्षेत्र में सुनिश्चित व दीर्घकालीन नीति विकसित नहीं हो पाई है। इसी तरह औद्योगिक क्षेत्र में भी सरकार कभी 'बड़े व्यावसायिक समूहों' के प्रति कठोर रुख अपनाती है, तो कभी नरम। इस प्रकार के वातावरण में उत्पादकों को एक कार्यकुशल व न्यायपूर्ण अर्थव्यवस्था का निर्माण करने में कठिनाई होती है।

डॉ खुसरो का मत है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था में प्रगतिशील नीतियाँ अपनाकर इसे सफल बनाया जा सकता है। इसके लिए विभिन्न आर्थिक नियन्त्रणों को काफी सोच-समझ कर लगाया जाना चाहिए, और उनको अपनाने से पूर्व उनके गुण-दोषों की पूरी परख कर लेनी चाहिए। पिछले कुछ वर्षों में सरकार ने आर्थिक नीति को 'उदारता' की ओर मोड़ा है ताकि उत्पादन व उत्पादकता में वृद्धि की जा सके।

मिश्रित अर्थव्यवस्था के भेद—जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, व्यवहार में प्रायः दो प्रकार की मिश्रित अर्थव्यवस्थाएँ देखने को मिलती हैं।

1. **प्रमुखतया पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था (Dominantly Capitalist Mixed Economy)**—यह अमेरिका, कनाडा, फ्रांस, दक्षिण कोरिया, व जापान, आदि देशों में पायी जाती है। इसमें उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व पाया जाता है। सरकार भी आर्थिक जीवन में कई प्रकार से भाग लेती है। यह सार्वजनिक राजस्व (कर व व्यय) के मार्फत आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करती है। सरकारी नीतियों का राष्ट्रीय आय पर प्रभाव पड़ता है। लेकिन अर्थव्यवस्था में निजी उद्यम का प्रमुख स्थान होता है, और व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा को काम करने दिया जाता है। प्रतिस्पर्द्धा के आधार पर बाजार में कई प्रकार की दशाएँ पाई जाती हैं, जैसे अल्पाधिकार, एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता, आदि। उपभोक्ता की आवश्यकताओं के अनुसार उत्पादक माल बनाते हैं। कीमत प्रणाली साधनों का आवंटन करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। वस्तुओं और साधनों के बाजार होते हैं जिनमें माँग और पूर्ति की शक्तियों के सन्तुलन से क्रमशः वस्तु-मूल्य व साधन-मूल्य निर्धारित होते रहते हैं।

अत पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्थाएँ मूलत पूँजीवादी संस्थाओं को स्वीकार करती हैं, लेकिन सरकार भी आर्थिक जीवन में भाग लेती है और उत्पादन, वितरण, विनिमय, सार्वजनिक राजस्व, आदि के माध्यम से अर्थव्यवस्था को निरन्तर प्रभावित करती रहती है।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है वर्तमान में विश्व के विभिन्न देश—विकसित व विकासशील दोनों प्रकार के देश–पूँजीवादी अर्थतंत्र की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इसलिए *पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था का प्रभाव निरंतर बढ़ता जा रहा है और सम्भवत आगे और बढ़ेगा।*

2. नियोजित समाजवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था (Planned Socialist Mixed Economy) — यह पूर्व वर्षों में यूगोस्लाविया व अन्य समाजवादी देशों में पाई गयी है। इसमें उत्पादन के साधनों के समाजीकरण पर अधिक बल दिया जाता है। ये समाज की सम्पत्ति माने जाते हैं, न कि व्यक्तिगत सम्पत्ति। उत्पादन के साधनों का उपयोग आर्थिक योजना बनाकर किया जाता है ताकि इनका देश के हित में सर्वोत्तम उपयोग हो सके। इस प्रकार नियोजन-पद्धति का विकास किया जाता है और योजना में निर्धारित आर्थिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक नीतियाँ निर्धारित की जाती हैं। देश के आर्थिक साधनों का उपयोग सार्वजनिक आवश्यकताओं के अनुरूप करने का प्रयास किया जाता है। इनमें बाजार प्रणाली का उपयोग जारी रहता है जिससे माँग व पूर्ति की शक्तियों को अपना प्रभाव दिखलाने का पर्याप्त अवसर मिलता है। लेकिन अभाव की स्थिति में सरकार मूल्य नियंत्रण व राशनिंग का उपयोग करके उपलब्ध माल का अधिक समान वितरण करने का प्रयास भी करती है। जीवन की अनिवार्य वस्तुओं के लिए देशव्यापी सार्वजनिक वितरण की व्यवस्था का उपयोग किया जाता है।

इस प्रणाली में निजी उद्यम को पूर्णतया समाप्त नहीं किया जाता, हालांकि उसके लिए कार्य क्षेत्र बहुत सीमित हो जाता है। लोगों को रोजगार देने, व्यापक रूप से सामाजिक सुरक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध कराने, शिक्षा का तेजी से विकास करने एवं धन, आय व अवसर की असमानता कम करने के लिए आवश्यक कदम उठाये जाते हैं।

इस प्रकार नियोजित समाजवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच की व्यवस्था मानी जा सकती है। इसका झुकाव सार्वजनिक क्षेत्र के विकास की ओर होता है। इसमें 'राज्यवाद' व 'समूहवाद' का उतना बोलबाला नहीं होता जितना साम्यवाद में होता है, और व्यक्तियों को उत्पादन बढ़ाने के लिए मौद्रिक प्रेरणाएँ भी दी जाती हैं। निर्णय विकेन्द्रित आधार पर लिए जाते हैं और फैक्ट्री मैनेजरों को अधिक स्वतन्त्रता दी जाती है ताकि वे ज्यादा से ज्यादा उत्पादन कर सकें।

भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था अथवा नियोजित अर्थव्यवस्था

भारत विश्व में जनसंख्या की दृष्टि से चीन के बाद दूसरा स्थान रखता है। विश्व विकास रिपोर्ट (1996) के अनुमानों के अनुसार 1994 के मध्य में चीन की जनसंख्या 119 1 करोड़ व्यक्ति तथा भारत की 91 4 करोड़ व्यक्ति आंकी गयी थी। 1991 की जनगणना के अनुसार भारत की जनसंख्या 84 6 करोड़ रही है। 1995 के लिए हो भारत में जन्म दर 28.3 और मृत्यु दर 9 प्रति एक हजार थी। इस प्रकार वर्तमान समय में भारत में जनसंख्या की वार्षिक वृद्धि दर लगभग 1 9% है। चीन में यह 1990-94 के वर्षों में घटकर

1.2% हो गयी थी, (1993 में जन्म-दर 19 प्रति हजार तथा मृत्यु-दर 8 प्रति हजार)। भारत 'जनसख्या के विस्फोट' (Population explosion) की अवस्था में से गुजर रहा है। 1951-91 की अवधि में देश में लगभग 48.5 करोड़ जनसख्या बढ़ गयी है जो अमेरिका अथवा रूस की वर्तमान जनसख्या से भी अधिक है। इससे देश पर जनसख्या के भारी दबाव का अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है।

सातवीं योजना के प्रारूप में मार्च, 1985 में 5 व अधिक वर्ष के आयु-समूह में श्रम शक्ति का अनुमान 30.5 करोड़ व्यक्ति लगाया गया था। वर्तमान में देश में लगभग 80 लाख व्यक्ति सालाना श्रम शक्ति में जुड़ते हैं। 1971 में श्रम शक्ति का 69.8 प्रतिशत अश कृषि में लगा हुआ था, जो 1981 में पहली बार मामूली घट कर 66 7 प्रतिशत पर आ गया था। इस प्रकार श्रम शक्ति के व्यावसायिक वितरण में तीस वर्ष बाद थोड़ा अनुकूल परिवर्तन देखने को मिला था, अन्यथा यह गतिहीन ही बना हुआ था। भारत में योजनाकाल में सेवा-क्षेत्र का विकास अधिक तेज गति से हुआ है।

भारत में जनाधिक्य के कारण खाद्यान्नों की माँग काफी ऊँची रहती है। देशवासियों का जीवन स्तर बहुत नीचा है। 1995-96 में प्रति व्यक्ति वार्षिक आय (1980-81 के भावों पर) 2573 रुपये थी, जबकि 1950-51 में लगभग 1127 रुपये थी।

अब तक योजनाकाल के 46 वर्ष पूरे हो चुके हैं। सातवीं पचवर्षीय योजना में (1985-90 की अवधि में) विकास की दर 5.8% रही है, जो लक्ष्य से अधिक थी।

योजनाओं के उद्देश्य व नीतियाँ—भारत ने 1947 में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद नियोजित आर्थिक विकास की आवश्यकता स्वीकार की गई थी। प्रथम पचवर्षीय योजना 1 अप्रैल, 1951 में प्रारम्भ हुई थी। इसका उद्देश्य देश के विभाजन व द्वितीय महायुद्ध से उत्पन्न दबावों को कम करना था। इस समय नवीं योजना (1997-2002) के प्रथम वर्ष (1997-98) की योजना पर कार्य चल रहा है।[1]

इस प्रकार आर्थिक नियोजन देश के आर्थिक विकास का प्रमुख आधार बन गया है। देश में ससदीय लोकतन्त्र की व्यवस्था है। 1954 में आर्थिक नीति का उद्देश्य समाजवादी समाज की स्थापना करना रखा गया था। भारत में लोकतान्त्रिक नियोजन को अपनाया गया है, तानाशाही नियोजन को नहीं। लोकतान्त्रिक नियोजन में लोगों को योजना में भागीदार बनाया जाता है और योजना के कार्यक्रमों के लिए उनकी सहमति आवश्यक होती है। योजना का निर्माण व क्रियान्वयन जनता के सहयोग व समर्थन पर निर्भर करता है। योजना लोगों के ऊपर थोपी नहीं जाती है। अब पचायती राज सस्थाओं की स्थापना से विकेन्द्रित नियोजन को बढ़ावा मिलने की आशा है।

भारतीय नियोजन में रोजगार बढ़ाने, निर्धनता कम करने, तीव्र गति से औद्योगिक विकास करने, आधुनिकीकरण करने, आत्म-निर्भरता प्राप्त करने, आय की असमानता व धन का केन्द्रीयकरण कम करने एव राष्ट्रीय आय को बढ़ाने के उद्देश्य रखे गये हैं।

भारत ने 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' को स्वीकार किया है जिसमें औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव, 1956 के अनुसार उद्योगों के लिए सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों का स्थान निर्धारित

1 Economic Survey, 1996-97, p. S-3

किया गया है। 1985 के बाद औद्योगिक नीति व लाइसेंस-व्यवस्था को अधिक उदार बनाया गया है। कई उद्योगों को लाइसेंस लेने से मुक्त किया गया है। एकाधिकारी घरानों व विदेशी कम्पनियों को कई प्रकार की रियायतें दी गई हैं। सरकार पिछड़े क्षेत्रों में विकास-केन्द्रों के माध्यम से इन्फ्रास्ट्रक्चर की सुविधाएँ बढ़ाना चाहती है। औद्योगिक लाइसेंस से छूट की सीमा 5 करोड़ रुपये से बढ़ाकर अब सामान्यतया 25 करोड़ रुपये कर दी गई है। इससे औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन मिलने की आशा है।

24 जुलाई 1991 को सरकार ने नई औद्योगिक नीति घोषित की थी जिसमें 18 विशिष्ट उद्योगों को छोड़कर शेष सभी उद्योगों के लिए लाइसेंस की व्यवस्था समाप्त कर दी गई (अब 15 उद्योग)। प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग के लिए विदेशी कम्पनियों को विदेशी इक्विटी में पहले के 40% की बजाय 51% स्वचालित हिस्सा दिया गया, तथा एकाधिकारी कम्पनियों के लिए परिसम्पत्ति की सीमा समाप्त कर दी गयी। इस उदार औद्योगिक नीति का उद्देश्य उद्योगों की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति को बढ़ाना है।

भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था की कार्याविधि की विशेषताएँ

1. कई प्रकार के नियन्त्रणों का प्रयोग—जुलाई 1991 तक की गतिविधियों को देखते हुए भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था को एक नियन्त्रित अर्थव्यवस्था कहना अधिक उपयुक्त होगा। इसमें सरकार ने कई बिन्दुओं पर आर्थिक नियन्त्रण लगा रखे थे और उनका भूतकाल में निरन्तर विस्तार किया गया था। मूल्य नियन्त्रण, राशनिंग, आयात-निर्यात नियन्त्रण, औद्योगिक लाइसेन्स प्रदान करने के सम्बन्ध में नियन्त्रण, पूँजी निर्गम पर नियन्त्रण, आदि का अर्थव्यवस्था पर प्रभाव पड़ता रहा है। नियन्त्रणों की प्रवृत्ति होती है कि वे निरन्तर बढ़ते जाते हैं और कभी-कभी उनमें परस्पर तालमेल बैठाना भी कठिन हो जाता है। जुलाई 1991 से आर्थिक सुधारों के कार्यक्रम के अन्तर्गत अनावश्यक नियन्त्रणों को हटाने पर जोर दिया गया है ताकि उत्पादन बढ़ सके।

2. मूल्य-तन्त्र का प्रयोग—भारत में मूल्य प्रणाली का व्यापक रूप से उपयोग किया गया है और आज भी किया जा रहा है। माँग व पूर्ति की शक्तियाँ साधन-मूल्य व वस्तु-मूल्य निर्धारित करने की दृष्टि से सक्रिय रही हैं, हालांकि समय-समय पर कुछ सीमा तक इनमें सरकारी हस्तक्षेप भी पाया गया है। सरकार ने इस्पात, कोयला, उर्वरक, दवाइयों, आदि के भाव नियन्त्रित किए हैं, तथा मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरी भी निर्धारित की है। इसी प्रकार ब्याज की दरें भी निश्चित की गई हैं।

3. भूमि-सुधार—कृषि में भूमि सुधारों को लागू करके एवं भूमि की सीमा निर्धारित करके अतिरिक्त भूमि भूमिहीनों में बाँटने की नीति स्वीकार की गई है। वास्तविक काश्तकार को भूमि का मालिक बनाने की नीति अपनाई गई है। इस प्रकार भूमि की सामन्ती व्यवस्था को समाप्त करने की नीति स्वीकार की गई है।

4. सहकारिता—प्रारम्भिक वर्षों में छोटे किसानों के लिए सहकारी संयुक्त खेती के अन्तर्गत भूमि के टुकड़े मिलाने पर जोर दिया गया था। लेकिन कई कारणों से भारत में सहकारी संयुक्त खेती विशेष लोकप्रिय नहीं हो सकी। इसलिए सहकारी सेवा समितियों के विस्तार का समर्थन किया गया जिनके माध्यम से कृषक को कई प्रकार की सुविधाएँ मिलती हैं। भारतीय नियोजन में सहकारिता के विकास का महत्व प्रारम्भ से ही स्वीकार किया गया है।

5. सार्वजनिक क्षेत्र का प्रभुत्व स्थापित करने का लक्ष्य—औद्योगिक विकास में सार्वजनिक क्षेत्र व निजी क्षेत्र दोनों को उचित स्थान दिया गया है। इसलिए भारतीय अर्थव्यवस्था 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' का उदाहरण प्रस्तुत करती है। हालांकि इस बात को बहुत बार दोहराया गया है कि सार्वजनिक क्षेत्र का इस प्रकार से विकास किया जायेगा कि यह अर्थव्यवस्था में 'प्रभुता की स्थिति' (Commanding position) प्राप्त कर सके। सार्वजनिक क्षेत्र में कई प्रकार के कल-कारखाने स्थापित किये गये हैं। इनमें भारी विनियोगों की आवश्यकता थी जिसे निजी क्षेत्र के द्वारा उपलब्ध करना कठिन था। लेकिन अब आर्थिक उदारीकरण की नीति के अन्तर्गत निजी क्षेत्र को अधिक प्रोत्साहन दिया जा रहा है तथा सार्वजनिक क्षेत्र का दायरा सीमित किया जा रहा है।

6. निजी क्षेत्र का नियन्त्रण व नियमन—भूतकाल में सरकार ने विभिन्न तरीकों से निजी क्षेत्र का नियन्त्रण व नियमन किया है। औद्योगिक लाइसेन्स नीति के माध्यम से नये उद्यमकर्त्ताओं को प्रोत्साहन देने की कोशिश की गयी है। बड़े औद्योगिक घरानों का आर्थिक शक्ति पर नियन्त्रण कम करने व एकाधिकार को कम करने के उपाय किये गये हैं। इस सम्बन्ध में एकाधिकार आयोग भी काम करता रहा है।

साथ में निजी क्षेत्र के विकास के लिए सार्वजनिक वित्तीय संस्थाओं से काफी धन उधार दिया जाता है। इस प्रकार सरकार निजी क्षेत्र को विकास का समुचित अवसर प्रदान करती है।

7. संयुक्त क्षेत्र पर बल—पिछले वर्षों में संयुक्त क्षेत्र का भी विकास किया गया है। इसमें एक ही उपक्रम में सार्वजनिक व निजी क्षेत्र दोनों मिलकर काम करते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र ज्यादातर वित्त की व्यवस्था करता है और निजी उद्यमकर्त्ता बहुधा प्रबन्ध में भाग लेते हैं।

8. व्यापार में सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार—सरकार ने भारतीय खाद्य-निगम (FCI) स्थापित करके अनाज के व्यापार में सार्वजनिक क्षेत्र विकसित किया है। खाद्यान्नों के सम्बन्ध में सरकार ने निर्धारित भावों पर इनको बाजार में खरीदने की नीति अपनाई है ताकि उत्पादकों व उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा की जा सके। सरकार खाद्यान्नों की बिक्री पर सब्सिडी का भार भी उठाती है ताकि गरीबों को कम भावों पर अनाज उपलब्ध किया जा सके। इस प्रकार मिश्रित अर्थव्यवस्था का स्वरूप बहुत कुछ प्रयोगात्मक किस्म का है, जिसका अर्थ है परिस्थिति के अनुसार नीति में आवश्यक परिवर्तन करते जाना ताकि निर्धारित सामाजिक-आर्थिक उद्देश्यों को यथासम्भव प्राप्त किया जा सके।

9. आवश्यकतानुसार राष्ट्रीयकरण—सरकार ने राष्ट्रीयकरण को आर्थिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लागू करने की नीति नहीं अपनाई है। लेकिन आवश्यकता पड़ने पर भूतकाल में सरकार राष्ट्रीयकरण करने से पीछे भी नहीं हटी है। जून, 1969 में भारत के 14 बड़े व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया था। जीवन बीमा का पहले ही राष्ट्रीयकरण किया जा चुका था। कोयला उद्योग भी सरकार ने अपने हाथों में ले लिया था। जून 1980 में 6 और बैंकों के राष्ट्रीयकरण के लिए अधिनियम पास किया गया था। इस प्रकार भारत में परिवहन, बैंकिंग व बीमा के क्षेत्रों में सरकार द्वारा राष्ट्रीयकरण की नीति अपनायी गई है। विभिन्न आर्थिक क्रियाओं में सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार किया गया है।

10. प्रगतिशील प्रत्यक्ष कर-व्यवस्था—आर्थिक समानता के लिए प्रत्यक्ष करों जैसे आय कर, सम्पत्ति कर, उपहार कर आदि का उपयोग किया गया है। सामाजिक सुरक्षा की सुविधाएँ बढ़ाकर श्रमिकों के कल्याण के लिए कार्य किये गये हैं।

11. दोहरे बाजार (dual market) की नीति—भारत में खाद्यान्नों, चीनी आदि के सम्बन्ध में दोहरे बाजार की नीति अपनायी गई है, जिसके अनुसार ये कुछ सीमा तक *नियन्त्रित भावों पर तथा शेष खुले बाजार में उपलब्ध किये जाते हैं*, ताकि उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा की जा सके। दोहरे बाजार की नीति को कार्यान्वित करने के लिए सरकार उत्पादकों से निर्धारित कीमतों पर उत्पादित माल का कुछ अंश खरीदकर उपभोक्ताओं को उचित मूल्य की दुकानों के *मार्फत अपेक्षाकृत कम कीमत* पर बेचने की व्यवस्था करती है, जैसा कि चीनी के सम्बन्ध में किया गया है। उत्पादक अपना माल खुले बाजार में बेचने के लिए स्वतन्त्र रहते हैं।

भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र का व्यापक प्रभाव

स्मरण रहे कि समाजवाद के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण सैद्धान्तिक नहीं है। इसलिए हमने अपने देश में *इसका जो रूप निश्चित किया है वह अन्य देशों से भिन्न है। हमने अभी* तक मार्क्सवादी समाजवाद के सिद्धान्तों को स्वीकार करके साम्यवाद की तरफ बढ़ने की नीति नहीं अपनाई है। इतने वर्षों के बाद भी भारतीय अर्थव्यवस्था मूलतः मिश्रित अर्थव्यवस्था ही है। कृषि में पारिवारिक खेतों का बोलबाला है। अभी तक अन्य किस्मों जैसे सहकारी कृषि, सामूहिक कृषि व राजकीय खेती, आदि का ज्यादा प्रचार नहीं हुआ है। आधुनिक किस्म के अनेक बड़े पैमाने के उद्योग जैसे उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योग निजी क्षेत्र में पाये जाते हैं। बड़े व्यावसायिक घरानों का उद्योगों पर नियन्त्रण पाया जाता है। लघु उद्योग, थोक व्यापार व खुदरा व्यापार ज्यादातर निजी क्षेत्र में केन्द्रित हैं। इस प्रकार भारतीय अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र का प्रभाव बहुत व्यापक है। देश में निजी सम्पत्ति की प्रथा विद्यमान है। उत्तराधिकार की प्रथा भी प्रचलित है। काफी सीमा तक उद्यम की स्वतन्त्रता है। सरकार निजी सम्पत्ति के अधिकारों को मानती है, हालांकि इन पर नियन्त्रण करने का प्रयास भी किया गया है। देश में आर्थिक नियोजन के आधार पर काम किया जा रहा है। अतः **भारतीय अर्थव्यवस्था 'नियोजित मिश्रित-अर्थव्यवस्था' (Planned Mixed economy)** कहला सकती है जो आर्थिक उदारीकरण के फलस्वरूप 'पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था' की ओर अग्रसर हो रही है। अब हम भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं की सफलताओं व विफलताओं का संक्षिप्त परिचय देंगे।

भारत में 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' की सफलताएँ[1]

भारत में नियोजित आर्थिक विकास 1 अप्रैल, 1951 से प्रारम्भ हुआ था। अब तक योजनाकाल के 46 *वर्ष पूरे हो गये हैं। योजनावधि के इन वर्षों में कई अरब रुपयों का* परिव्यय सार्वजनिक क्षेत्र में किया है। 1989-90 से 1994-95 तक विकास की दर लगभग 4.2% सालाना रही है, जो विकास के नये पथ की सूचक है। पहले दीर्घकालीन विकास की दर 3.5% मानी जाती थी।

भारत की राष्ट्रीय आय (सन् 1980-81 के मूल्यों पर) 1995-96 में लगभग 2367 अरब रुपये हो गई है जो 1950-51 की तुलना में 5.85 गुनी है। इसी प्रकार स्थिर मूल्यों पर 1995-96 में *प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 2573 रुपये रही जो 1950-51 की तुलना में 2.28* गुनी हो गई है। सम्पूर्ण योजनाकाल में राष्ट्रीय आय में वार्षिक विकास की दर लगभग 3.8

1. Economic Survey 1996-97 तथा लेखक की "भारतीय अर्थव्यवस्था" (चतुर्थ संस्करण 1996) का उपयोग किया जा सकता है।

प्रतिशत रही है। जनसंख्या के बढ़ने के कारण प्रति व्यक्ति आय कम मात्रा में (1.7 प्रतिशत वार्षिक) बढ़ पायी है। भारतीय अर्थव्यवस्था में स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व कई शताब्दियों तक कुल राष्ट्रीय आय में वार्षिक वृद्धि की दर लगभग 1% रही थी, जो 1950-51 से तिगुनी से अधिक हो गई है। 1974-75 से विकास की वार्षिक दर 5% से अधिक हो गई है, जिससे विकास का मार्ग पहले की तुलना में ऊँचा हुआ है।

विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों में प्रगति[1]

कृषि

नियोजन काल में कृषिगत उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। खाद्यान्नों का उत्पादन 1950-51 में 51 मिलियन टन (5.1 करोड़ टन) से बढ़कर 1995-96 में 185.1 मिलियन टन हो गया है। 1966-67 से भारत में हरितक्रान्ति की शुरुआत हुई थी। 1995-96 में 75 मिलियन हैक्टेयर भूमि में अधिक उपज देने वाली किस्में बोयी गई थीं। देश में गेहूँ का उत्पादन काफी बढ़ा है। लेकिन आज भी कृषिगत उत्पादन में काफी उतार चढ़ाव आते रहते हैं जिससे कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। भारत में योजनाकाल में दालों का उत्पादन लगभग गतिहीन बना रहा है। सिंचित क्षेत्र 1950-51 में 2.3 करोड़ हैक्टेयर से बढ़कर 1995-96 में 8 करोड़ हैक्टेयर हो गया है। यह कृषिगत क्षेत्र का पहले 17% था जो अब लगभग 32% हो गया है।

उद्योग व शक्ति

विद्युत का सृजन 1950-51 से 5.1 अरब किलोवाट घण्टे से बढ़कर 1995-96 में लगभग 380 अरब किलोवाट घण्टे हो गया है। तैयार इस्पात का उत्पादन 1950-51 में 10.4 लाख टन से बढ़कर 1995-96 में लगभग 2.14 करोड़ टन हो गया है। एल्यूमिनियम, मशीनी औजार, नाइट्रोजन खाद, क्रूड तेल आदि में उत्पादन के नये रिकार्ड स्थापित किये गये हैं। क्रूड तेल आदि का उत्पादन 1950-51 में 3 लाख टन से बढ़कर 1995-96 में 3.51 करोड़ टन हो गया है। कोयले का उत्पादन (लिग्नाइट सहित) 3.2 करोड़ टन से बढ़कर 29.2 करोड़ टन हो गया है।

केन्द्रीय सरकार के औद्योगिक व व्यावसायिक उपक्रमों में 1950-51 में कुल विनियोग केवल 29 करोड़ रुपये का था। 1994-95 में इसमें लगी पूँजी (Capital employed) की राशि 161310 करोड़ रु हो गई थी। इसमें 1980 के दशक में तेजी से वृद्धि हुई है। कार्यरत सार्वजनिक उपक्रमों की संख्या 5 से बढ़कर 241 हो गई है। आज भारत का औद्योगिक ढाँचा पहले से ज्यादा सतुलित और विविधता लिए हुए है। देश में परिवहन व शक्ति का साज-सामान बनने लगा है। हम रेल के साज सामान में लगभग आत्म-निर्भर हो गये हैं। देश में सामाजिक सेवाओं का काफी विस्तार हुआ है।

भारत में 1995-96 में सकल घरेलू बचत की दर सकल घरेलू उत्पत्ति (GDP) (चालू बाजार भावों पर) के अनुपात के रूप में 25.6% तथा घरेलू पूँजी निर्माण की समायोजित दर 27.4% रही है। इनमें 1995-96 में वृद्धि हुई है। बचत व विनियोग की इतनी ऊँची दरें प्राय विकसित देशों में ही देखने को मिलती हैं। भारत में इनका बढ़ना एक सन्तोष का विषय माना जा सकता है। भविष्य में इनमें और वृद्धि की जानी चाहिए तथा साथ में बचत का अधिक उत्पादक उपयोग भी किया जाना चाहिए।

1 प्रमुखतया Economic Survey, 1996-97, p. S 1, & other tables.

नियोजन की असफलताएँ

अस्सी के दशक में भारत में विकास की वार्षिक दर पहले से अधिक रही है। लेकिन 1991 में साक्षरता की दर 52.2% (7 वर्ष से ऊपर की आयु के लिए) रही है तथा जीने की औसत आयु 59 वर्ष है, जिससे देश का सामाजिक पिछड़ापन प्रकट होता है। भारत में योजनाओं के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था गतिमान हुई है, लेकिन साथ में कुछ समस्याएँ भी उत्पन्न हुई हैं। देश में व्याप्त बेरोजगारी व अर्द्ध रोजगार की स्थिति, मुद्रास्फीति, विदेशी ऋणों का ब्याज व मूलधन चुकाने का भार, स्वदेशी व विदेशी कर्ज का फंदा, धन व आय की असमानताएँ, काले धन व मुद्रा का फैलाव, सट्टेबाजी, सग्रह, मुनाफाखोरी व तस्करी एवं निजी हाथों में आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण, आदि ने देश में जटिल आर्थिक स्थिति उत्पन्न कर दी है। ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी व अल्परोजगार की दशाएँ बड़े पैमाने पर फैली हुई हैं। आज भी देश में मानवीय शक्ति का ठीक से उपयोग नहीं हो रहा है।

प्रमुख कमियों का परिचय नीचे दिया जाता है–

1. धन व आय के वितरण में असमानता

देश में विविध प्रकार के आर्थिक नियन्त्रणों, घाटे के बजटों व आयात लाइसेन्स व्यवस्था के कारण आर्थिक असमानता में वृद्धि हुई है। देश में पूँजीवादी व्यवस्था के मूल लक्षण विद्यमान हैं। यद्यपि अर्थव्यवस्था आज भी मिश्रित ही बनी हुई है, तथापि मिश्रण के तत्व इसे समाजवादी प्रारूप की अपेक्षा पूँजीवादी प्रारूप के अधिक समीप ले जाते हैं। आर्थिक उदारीकरण से पूँजीवादी प्रारूप को अधिक पोषण मिलने की सम्भावना है।

डॉ वी के आर वी राव ने बतलाया है कि भारत में अर्द्ध समाजवादी समाज को विकसित किया गया है, जैसे यहाँ एक बड़ा सार्वजनिक क्षेत्र, राष्ट्रीयकृत बैंकिंग व बीमा, एकाधिकारी व बड़े व्यावसायिक घरानों पर प्रतिबन्ध, भूस्वामित्व की पुरानी व्यवस्था का अन्त, कुछ सीमा तक भूमि का पुनर्वितरण, न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम को लागू करना लघु कृषकों को सस्ते ब्याज पर कर्ज की सुविधा देना, एवं निर्धनता को कम करने के विविध कार्यक्रम देखने को मिलते हैं।

लेकिन इन सबके बावजूद अर्थव्यवस्था काफी सीमा तक अकार्यकुशल ढंग से काम करने वाली व ऊँची लागत वाली पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था ही बनी हुई है। सरकार किसी भी निर्धारित आर्थिक नीति को कड़ाई से लागू नहीं कर पाती और श्रमिकों व मिल मालिकों के सम्बन्ध भी ठीक नहीं हैं, जिससे आये दिन हड़तालें व तालाबन्दियाँ होती रहती हैं।

2. निजी हाथों में आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण में वृद्धि

सरकार की लाइसेन्स व्यवस्था के बावजूद आर्थिक सत्ता कुछ बड़े व्यावसायिक समूहों के हाथों में केन्द्रित हो गई है। टाटा, बिड़ला रिलायन्स व मफतलाल आदि समूहों की परिसम्पत्ति योजनाकाल में काफी बढ़ी है। आर्थिक उदारीकरण की नीति के फलस्वरूप आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण में वृद्धि की सम्भावना है।

3. मुद्रास्फीति

भारत में योजनाकाल में मुद्रास्फीति में निरन्तर वृद्धि होती रही है। फरवरी 1997 में अखिल भारतीय उपभोक्ता मूल्य सूचकांक लगभग 1725 हो गया था। (1960 को

प्रश्न

1. मिश्रित अर्थव्यवस्था क्या है ? यह अर्थव्यवस्था कहा तक पूंजीवाद एव समाजवाद में एक अच्छा समन्वय है ? (Raj Iyr 1995)
2. मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाने के कारण बतलाते हुए इसक लाभों पर प्रकाश डालिए।
3. *मिश्रित अर्थव्यवस्था का कौन सा रूप अधिक उपयुक्त माना जायेगा ?*

   (अ) विकसित देशों के लिए।

   (ब) निर्धन विकासशील देशों के लिए।

   [उत्तर सकेत—(अ) विकसित देश उदार आर्थिक नीति अपना सकते हैं। इसलिये पूँजीवादी विकसित देश (अमेरिका जापान आदि) पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था अपना सकते हैं।

   (ब) निर्धन विकासशील देशों में बेरोजगारी गरीबी आर्थिक असमानता आदि समस्याओं के हल के लिए समाजवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था ज्यादा लाभकारी सिद्ध हो सकती है। आर्थिक प्रणाली के चुनाव पर देश की सामाजिक व राजनैतिक दशाओं का भी प्रभाव पडता है। अत अन्तिम निर्णय सामाजिक आर्थिक राजनीतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से प्रभावित होगा।]
4. मिश्रित अर्थव्यवस्थाएँ किसे कहते हैं ? यह साम्यवादी अर्थव्यवस्था से किन अर्थों में बेहतर होती है ?
5. मिश्रित अर्थव्यवस्था व पूँजीवाद की परस्पर तुलना कीजिए।
6. मिश्रित अर्थव्यवस्था में पूँजीवाद व समाजवाद के उत्तम गुणों का सम्मिश्रण करने के लिए क्या किया जाना चाहिए ?
7. आप मिश्रित अर्थव्यवस्था' को कैसे परिभाषित करेंगे ? प्रमुखतया पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था तथा नियोजित मिश्रित अर्थव्यवस्था में आप किसको व क्यों पसद करेंगे ? *(Raj Iyr 1993)*
8. सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए–

   (i) नियोजित अर्थव्यवस्था

   (ii) मिश्रित अर्थव्यवस्था (100 शब्दों में) (Raj Iyr 199X)

   (iii) बाजार अर्थव्यवस्था (Ajmer Iyr., 1993)

   (iv) समाजवाद

   (v) साम्यवाद।
9. भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था' की मुख्य विशेषताएँ बतलाइए। इसमें 1991 से क्या परिवर्तन हो रहे हैं ? समझाकर लिखिए।
10. *संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए–*

    (i) प्रमुखतया पूँजीवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था

    (ii) प्रमुखतया समाजवादी मिश्रित अर्थव्यवस्था

    (iii) मिश्रित अर्थव्यवस्था के लाभ।

इकाई III
(Unit III)

13

मुद्रा—प्रकृति, कार्य व महत्त्व
(Money—Nature, Functions and Importance)

आर्थिक सिद्धान्त में, चाहे वह व्यष्टि अर्थशास्त्र हो या समष्टि अर्थशास्त्र हो, मुद्रा का विशेष महत्त्व माना गया है। व्यष्टि-अर्थशास्त्र के अन्तर्गत कीमत प्रणाली का कार्य मुद्रा के माध्यम से ही सचालित होता है। फर्में उत्पादन के साधनों को मजदूरी, ब्याज, लगान व मुनाफे के रूप में प्रतिफल देती हैं, और जनता फर्मों से वस्तुएँ व सेवाएँ खरीदकर वापस मुद्रा उनके पास पहुँचा देती है। इस प्रकार मुद्रा को अर्थव्यवस्था की रक्तवाहिनी धारा माना जा सकता है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में रक्त घूमता है उसी प्रकार अर्थव्यवस्था में मुद्रा घूमती रहती है। समष्टि-अर्थशास्त्र का प्रमुखतया तीन प्रश्नों से सम्बन्ध माना गया है—यथा, आर्थिक विकास, मुद्रास्फीति तथा बेरोजगारी। इन तीनों समस्याओं को समझने व इनका हल निकालने में मुद्रा व मौद्रिक नीति की अपनी भूमिका होती है। मुद्रा की उचित मात्रा में पूर्ति करके ही इन समस्याओं का समाधान निकालना सम्भव हो सकता है जिसकी चर्चा आगे चलकर यथास्थान की जायेगी।

इस अध्याय में मुद्रा की प्रकृति, कार्य व महत्त्व पर प्रकाश डाला जायेगा।

मुद्रा की परिभाषा (Definition of Money)—विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। उनमें से मुद्रा की कोई भी सरल व सर्वमान्य परिभाषा स्वीकार की जा सकती है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की संकीर्ण (narrow) परिभाषा दी है, तो कुछ ने विस्तृत (broad), कुछ ने कानूनी आधार (*legal basis*) पर मुद्रा की परिभाषा की है तो कुछ ने मुद्रा के कार्यों के आधार (basis of Functions) पर परिभाषा की है। इनमें से मुद्रा की कुछ परिभाषाएँ नीचे दी जाती हैं। प्रोफेसर एफ. ए. वाकर के शब्दों में, **"मुद्रा वह है जो मुद्रा का काम करे"** (Money is what money does)। इस परिभाषा में मुद्रा के कार्यों को मुद्रा की परिभाषा का आधार बनाया गया है जिससे कई प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। पहले तो यह जरूरी हो जाता है कि हम मुद्रा के कार्य निर्धारित करें, और दूसरे यदि ये कार्य अन्य वस्तुओं द्वारा भी किये जा सकते हैं तो मुद्रा को ऐसी अन्य वस्तुओं से पृथक् करने का आधार तय करें। अत यह परिभाषा सरल होते हुए भी सुनिश्चित व सही

नहीं मानी जा सकती। हार्टले विदर्स का कहना है कि "मुद्रा वह पदार्थ है जिसकी सहायता से हम वस्तुओं का क्रय विक्रय करते है।" रोबर्टसन के अनुसार "मुद्रा वह वस्तु है जो वस्तुओं के भुगतान में अथवा कई प्रकार के अन्य व्यावसायिक दायित्वों को चुकाने में व्यापक रूप से स्वीकार की जाती है।" जी डी एच कोल, केन्ट व सेलिगमैन आदि ने भी मुद्रा की परिभाषा में इसकी सामान्य माह्यता या सर्वमाह्यता (general acceptability) पर विशेष रूप से बल दिया है। ये परिभाषाएँ मुद्रा के कार्यों पर आधारित हैं जिनका स्वय परिभाषाओं में विस्तृत व स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है। प्रोफेसर क्राउथर ने इस दृष्टि से मुद्रा की जो परिभाषा दी है वह अधिक व्यापक व अधिक सतोषजनक मानी जा सकती है। उसके अनुसार "मुद्रा वह वस्तु है जो विनिमय के माध्यम के रूप में सामान्यतया स्वीकृत होती है (अर्थात् कर्ज चुकाने के माध्यम के रूप मे) और साथ में यह मूल्य के माप व मूल्य के संग्रह का भी काम करती है।" इस परिभाषा में मुद्रा के दो प्रमुख कार्यों तथा साथ में सामान्य स्वीकृति पर पर्याप्त रूप से बल दिया गया है, इसलिए यह ज्यादा व्यापक व अधिक स्वीकार्य परिभाषा मानी जा सकती है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों में रिचर्ड जी. लिप्से व के अलक क्रिस्टल के अनुसार, "अर्थशास्त्र में मुद्रा को प्राय सामान्यतया विनिमय के माध्यम के रूप में परिभाषित किया जाता है। विनिमय का माध्यम वह कोई भी वस्तु होती है जो समाज में वस्तुओं व सेवाओं के लिए स्वीकृत की जायगी।"[1]

हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं कि रोबर्टसन व क्राउथर आदि ने भी मुद्रा की परिभाषा इसी प्रकार की प्रस्तुत की है। इनमें कोई मूलभूत अतर नहीं है, बल्कि किसी एक बात पर विशेष जोर देने मात्र का अतर है। रिचर्ड जी लिप्से की मुद्रा की परिभाषा में दो बातों पर बल दिया गया है (i) यह वस्तुओं व सेवाओ के विनिमय क माध्यम के रूप में काम आती है और (ii) यह विनिमय में लगभग सभी व्यक्तियों के द्वारा सामान्यतया स्वीकार की जाती है। इस प्रकार मुद्रा कहलाने के लिए किसी भी वस्तु में भुगतान के माध्यम के रूप में सामान्य स्वीकृति का पाया जाना आवश्यक होता है। कुछ अर्थशास्त्री इसमें ऋणों के रूप में मुद्रा की सामान्य स्वीकृति को भी जोड देते हैं। अत चाहे वस्तुओं व सेवाओं का भुगतान करना हो, अथवा कर्ज का भुगतान करना हो, मुद्रा की सर्वग्राह्यता या सामान्य स्वीकृति पर जोर देना ही उचित माना जाता है।

नैप व हाट्रे ने मुद्रा के वैधानिक स्वरूप (legal nature) पर बल दिया है। नैप के अनुसार कोई भी वस्तु राज्य के द्वारा मुद्रा घोषित होने पर मुद्रा होती है। अत उसने मुद्रा के लिए कानूनी स्वीकृति को आवश्यक माना है। लेकिन मुद्रा के विकास का अध्ययन करने से

---

1 'In economics, money usually has been defined as any generally accepted medium of exchange A medium of exchange is anything that will be accepted in a society in exchange for goods and services."
—Richard G Lipsey & K Alec Chrystal, **An Introduction to Positive Economics**, Eighth edition, 1995 p. 673

पता चलता है कि मुद्रा के लिए कानूनी स्वीकृति से ज्यादा जनता के विश्वास की आवश्यकता होती है। 1913 में जर्मनी में भीषण मुद्रास्फीति के कारण वहाँ की मुद्रा में जनता का विश्वास उठ गया था जिससे कानूनी मान्यता के होते हुए ही जर्मन मार्क की जन जनता के द्वारा स्वीकृति समाप्त हो गई थी। इसलिए मुद्रा के अस्तित्व के लिए मुगतान की सामान्य स्वीकृति पर बल देना ज्यादा उचित माना जाता है। व्यवहार में हम जानते हैं कि बैंकों की माँग-जमाएँ (demand deposits) कानूनी दृष्टि से वैध नहीं होतीं, लेकिन उनका विनिमय में बैंकों के द्वारा अत्यधिक उपयोग किया जाता है और उनका उपयोग आर्थिक विकास के साथ-साथ बढ़ता जाता है। अतः मुद्रा के रूप में व्यवहृत होने के लिए कानूनी मान्यता एक आवश्यक शर्त नहीं होती, हालांकि कानूनी मान्यता से मुद्रा-पदार्थ की शक्ति अवश्य बढ़ती है। लेकिन सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात मुद्रा की सामान्य स्वीकृति ही मानी जाती है।

मुद्रा की आवश्यकता क्यों पड़ी ?

इसे वस्तु विनिमय की कठिनाइयों के अन्तर्गत भी लिया जा सकता है। मुद्रा की आवश्यकता वस्तु-विनिमय (barter) की निम्न कठिनाइयों को दूर करने के लिए पड़ी।

1. आवश्यकताओं के दोहरे संयोग का अभाव (Lack of double coincidence of wants)—वस्तु-विनिमय प्रणाली के लिए यह आवश्यक था कि दो ऐसे व्यक्तियों का तालमेल बैठे जो एक-दूसरे की वस्तु चाहते हों। कल्पना कीजिये कि मोहन के पास गेहूँ है और सोहन के पास कपड़ा है। इन दोनों में लेन-देन तभी हो सकता है जबकि मोहन गेहूँ देकर कपड़ा लेना चाहे और सोहन कपड़ा देकर गेहूँ लेना चाहे। इस व्यवस्था में कोई कमी रह जाने से दोहरे संयोग का अभाव माना जाता है जिससे लेन-देन में बाधा पड़ती है। यह समझना आसान है कि समाज में इनी-गिनी वस्तुएँ होने पर तो यह संयोग आसानी से बैठ सकता है, लेकिन वस्तुओं व सेवाओं की संख्या के बढ़ने से दोहरे संयोग की कठिनाई काफी बढ़ जाती है।

मुद्रा के आगमन से यह कठिनाई काफी सीमा तक दूर हो गई है। अब प्रत्येक व्यक्ति अपनी वस्तु या सेवा के बदले में पहले मुद्रा प्राप्त करता है और फिर मुद्रा देकर अपनी आवश्यकताओं की वस्तु या सेवा प्राप्त करता है।

2. मूल्य के मापक का अभाव (Lack of measure of value)—वस्तु-विनिमय प्रणाली की दूसरी कठिनाई एक वस्तु/सेवा का मूल्य दूसरी वस्तु/सेवा में आँकने की मानी जाती है। यदि समाज में A, B व C तीन वस्तुएँ होती हैं तो तीन भाव (A का B में, B का C में एव A का C में) रखने पड़ते। लेकिन चार वस्तुएँ होने पर $\frac{4\times3}{1\times2}=6$ भाव रखने पड़ेंगे। इसी प्रकार 100 वस्तुएँ होने पर $\frac{100\times99}{2}=4{,}950$ भाव याद रखने या लिखने पड़ते हैं। इससे उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों का आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है।

3. वस्तुओं की अविभाज्यता या विभाजनशीलता की कमी (Lack of divisibility of goods)—वस्तु-विनिमय प्रणाली की तीसरी कठिनाई यह है कि कुछ वस्तुओं का विभाजन करना असम्भव होता है। मान लीजिए एक व्यक्ति के पास एक गाय है और वह

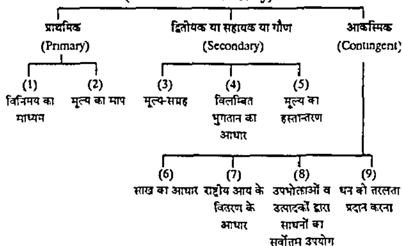
जूतों की एक जोडी खरीदना चाहता है तो गाय की अविभाज्यता के कारण उसे जूतों की एक जोडी मिलनी कठिन होगी। जब तक गाय के मूल्य के बराबर विभिन्न प्रकार की आवश्यक वस्तुएँ नही मिल जातीं तब तक गाय का स्वामी इसे बदले में देने को तैयार नहीं हो सकता।

4. **भविष्य के लिए मूल्य सग्रह की कठिनाई (Difficulty in store of value for the future)** – वस्तु विनिमय प्रणाली में व्यक्ति के लिए धन सग्रह करना कठिन होता है क्योंकि वस्तुओं के रूप में धन सग्रह करना जोखिम भरा होता है। वस्तुएँ नाशवान हो सकती हैं, जैसे पशु, आदि मर जाते हैं, अथवा वे खराब हो सकती हैं जैसे अनाज, वस्त्र आदि। उनका मूल्य अस्थिर हो सकता है। अत इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए मनुष्य ने काफी प्राचीन समय से ही मुद्रा का उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया था। यह बात अलग है कि भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न वस्तुएँ मुद्रा के रूप में प्रयुक्त हुई हैं।

मुद्रा के कार्य
(Functions of money)

मुद्रा के चार महत्वपूर्ण कार्य माने गये हैं । यथा विनिमय का माध्यम, मूल्य सग्रह, लेखे की इकाई तथा विलम्बित भुगतान का आधार।*

किनले (Kinley) ने मुद्रा के कार्यों का अग्राकित वर्गीकरण दिया है—



इनका नीचे क्रमश वर्णन किया जाता है। इसके बाद मुद्रा के अन्य कार्यों का उल्लेख किया जायेगा।

* 'Money is a matter of functions four, a medium, a measure, a standard, a store

प्राथमिक कार्य (Primary Functions)

1. विनिमय का माध्यम (A Medium of Exchange) मुद्रा ने विनिमय के कार्य को काफी सरल बना दिया है। आजकल की पेचीदा अर्थव्यवस्था जिसमें विशिष्टीकरण, श्रम विभाजन, बडे पैमाने का उत्पादन, विस्तृत बाजार आदि सामान्य बातें हो गई हैं, ये सब मुद्रा के अभाव में असम्भव थीं। विनिमय का माध्यम बनकर मुद्रा मानव की स्वतंत्रता को बढाने में सहायक सिद्ध हुई है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, अब वस्तुओं व सेवाओं के बदले में पहले मुद्रा प्राप्त की जाती है और बाद में मुद्रा देकर आवश्यकता की वस्तुएँ व सेवाएँ प्राप्त की जाती हैं। इस प्रकार वस्तुओं व सेवाओं के आगे पीछे मुद्रा रहती है, जो विनिमय के माध्यम का कार्य करती है। यह निम्न संकेतों से स्पष्ट हो जाता है—

वस्तुएँ व सेवाएँ → मुद्रा → वस्तुएँ व सेवाएँ

विनिमय के माध्यम के रूप में भलीभाति कार्य कर सकने के लिए मुद्रा में निम्न गुणों का होना आवश्यक माना गया है, यथा इसे आसानी से स्वीकार किया जाय, थोडे वजन में इसका मूल्य ऊँचा हो, यह विभाज्य हो ताकि इसके द्वारा छोटे भुगतान भी किये जा सकें एवं इसे आसानी से जाली न बनाया जा सके। इन लक्षणों के अभाव में यह विनिमय के माध्यम का कार्य सफलतापूर्वक नहीं कर सकती। मुद्रा का यह कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि कुछ लेखक केवल इसे ही मुद्रा का प्राथमिक कार्य मानते हैं और अन्य कार्यों को सहायक या गौण मानते हैं।

2. मूल्य का माप अथवा लेखे की इकाई (Measure of value or a Unit of Account)—मुद्रा हिसाब किताब की इकाई के रूप में भी प्रयुक्त की जाती है, क्योंकि सभी प्रकार की वस्तुओं व सेवाओं का मूल्य मुद्रा में आका जाता है। ऐसा पूँजीवादी व साम्यवादी दोनों तरह की अर्थव्यवस्थाओं में होता है। लेकिन यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि मुद्रा हिसाब की इकाई के रूप में अपना कार्य बिना अपने वास्तविक अस्तित्व के भी कर सकती है। साम्यवादी समाज में यह सम्भव है कि प्रत्येक व्यक्ति को प्रति माह सरकारी भण्डार से एक निश्चित मुद्रा राशि तक माल खरीदने की इजाजत दे दी जाए। भडार में वस्तुओं के मूल्य दिये हुए होते हैं और प्रत्येक व्यक्ति निर्धारित मुद्रा राशि तक वस्तुओं की खरीद करता जाता है, और एक सीमा तक पहुँचकर अपने आप रुक जाता है। इस स्थिति में मुद्रा विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयुक्त नहीं हुई, बल्कि केवल हिसाब किताब की इकाई के रूप में प्रयुक्त होकर रह गई। सरकारी भण्डार के खातों में यह केवल हिसाब के लिए काम में लायी जा सकती है।

इसी प्रकार विभिन्न परियोजनाओं की लागत लाभ की तुलना करके उनमें से चुनाव करने के लिए भी मुद्रा का उपयोग हिसाब लगाने में किया जाता है। मुद्रा का यह कार्य आजकल बहुत महत्वपूर्ण हो गया है। ध्यान देने की बात है कि विनिमय के माध्यम के रूप में काम करने के लिए तो मुद्रा में सामान्य स्वीकृति, विभाज्यता व वहनीयता, आदि गुणों की आवश्यकता होती है। लेकिन हिसाब किताब के लिए इन गुणों की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार साम्यवादी समाज को भी मुद्रा का उपयोग लेखे की इकाई के रूप में अवश्य करना होता है, हालांकि साम्यवादी साधारणतया मुद्रा विरोधी माने गये हैं और वे इसको समाप्त करने का दावा भी करते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि आधुनिक अर्थव्यवस्था मुद्रा को विनिमय के माध्यम के रूप में त्यागने की बात तो सोच सकती है, लेकिन लेखे की

इकाई के रूप मे इसका त्याग कर सकना सम्भव नहीं होता। अतः मुद्रा का यह कार्य सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण माना जा सकता है।

सहायक या गौण कार्य (Subsidiary functions)

3. मूल्य-संग्रह (A Store of Value)—मुद्रा के रूप में भविष्य के लिए मूल्य-संग्रह या धन-संग्रह का कार्य सुगम हो जाता है। इससे भविष्य में वस्तुएँ व सेवाएँ खरीदने की शक्ति का संग्रह किया जा सकता है। लेकिन इस कार्य की सफलता भी इस बात पर निर्भर करती है कि मुद्रा का मूल्य स्थिर बना रहे, अर्थात् वस्तुओं के मूल्य स्थिर रहें। यदि वस्तुओं के मूल्य बढ़ते हैं तो मुद्रा का मूल्य घटता है। ऐसी स्थिति में मुद्रा संग्रह करने वाले व्यक्ति को यह पता नहीं रहता कि उसने जो मुद्रा-संग्रह की है, उसका वस्तुओं व सेवाओं के रूप में कितना मूल्य है। अतः सामान्य कीमत-स्तर में वृद्धि होने से मुद्रा की उपयोगिता धन-संग्रह के रूप में घट जाती है। धन संग्रह का कार्य बॉड या शेयर खरीदकर भी किया जा सकता है, अथवा बैंक में बचत जमा के रूप में भी किया जा सकता है। लेकिन मुद्रा पूर्ण रूप से तरल होती है और इसका इच्छानुसार उपयोग किया जा सकता है।

यहाँ पर लिप्से के अनुसार यह बात ध्यान देने योग्य है कि मुद्रा अकेले व्यक्ति के लिए तो संचित धन के सम्बन्ध में सन्तोषजनक संग्रह का काम कर सकती है, लेकिन सारे समाज के लिए यह ऐसा नही कर सकती। यदि अकेला व्यक्ति मुद्रा का संग्रह करता है तो व्यय करने पर उसे दूसरे व्यक्ति का माल मिल जाता है। लेकिन यदि समस्त समाज अपनी मुद्रा बचाता है और आगे चलकर उसका उपयोग करना चाहता है तो उपभोग के लिए माल कहाँ से आयेगा। इस प्रकार जो बात एक व्यक्ति के लिए सही होती है वह समस्त समाज के व्यवहार पर लागू नहीं होती है। "बचत के विरोधाभास" (paradox of thrift) के विवेचन से स्पष्ट होता है कि किसी देश में बचत के अधिक हो जाने पर आय गुणक के अनुपात में कम हो जाती है। इसलिए समस्त समाज के द्वारा बचत करना आय पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

मूल्य संग्रह के रूप में मुद्रा के इस कार्य की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि भविष्य में जब वस्तुओं व सेवाओं की आवश्यकता हो तब वे उपलब्ध हो सकें। यदि भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर वस्तुएँ व सेवाएँ उपलब्ध नहीं होती हैं तो मुद्रा अपने इस कार्य में विफल हो जाती है।

स्मरण रहे कि मुद्रा के मूल्य-संग्रह वाले कार्य के फलस्वरूप ही देशों में आय की असमानता उत्पन्न होती है क्योंकि कुछ लोग मुद्रा का संग्रह कर लेते है और शेष लोग कम आमदनी के कारण ऐसा नही कर पाते।

4. विलम्बित भुगतान का आधार (A Standard of Deferred payments)—मुद्रा का उपयोग करके वस्तुओं व सेवाओं का भुगतान स्थगित कर सकना सम्भव हो गया है। इस प्रकार यह ऋणों के भुगतान का आधार बन जाती है। यहाँ लेखे की इकाई में 'समय तत्व' (time-element) और जुड़ जाता है क्योंकि भुगतान भविष्य में किया जाना है। आधुनिक समाज में ऋणों का अत्यधिक विस्तार हुआ है और इसका अधिकांश श्रेय मुद्रा के आविष्कार को ही दिया जा सकता है। सरकार व व्यवसाय काफी मात्रा में ऋण लेते हैं। उपभोक्ता-वर्ग भी ऋण लेता है। अतः मुद्रा ने ऋणों के लेन देन को बड़े पैमाने पर सम्भव व सुगम बनाया है।

कुछ लेखक मुद्रा के अन्य कार्यों में मूल्य के हस्तान्तरण, साख के आधार, राष्ट्रीय आय के वितरण का आधार एवं उपभोक्ताओं व उत्पादकों द्वारा साधनों के सर्वोत्तम उपयोग की भी चर्चा करते हैं। इनका संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है। सच पूछा जाय तो इन अतिरिक्त कार्यों का उल्लेख मुद्रा के बढ़ते हुए महत्व को प्रकट करता है। मुद्रा के प्रमुख कार्य तो चार हैं, जिन पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है।

5. मूल्य का हस्तान्तरण (Transfer of Value)—मुद्रा केवल मूल्य-संग्रह का ही कार्य नहीं करती, बल्कि यह मूल्य अथवा क्रय-शक्ति का हस्तान्तरण एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को एवं एक स्थान से दूसरे स्थान में सुगमतापूर्वक कर सकती है। इससे विनिमय का क्षेत्र काफी विस्तृत हो जाता है। मुद्रा का यह कार्य पूर्ववर्णित कार्यों से निकला हुआ है। अन्तर केवल इतना है कि आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में लेन-देन के बढ़ने से मूल्य का हस्तान्तरण काफी बड़े पैमाने पर होने लगा है।

मुद्रा के आकस्मिक कार्य (Contingent functions of money)

6. मुद्रा साख का आधार है (Money is a Basis of Credit)—हम आगे चलकर देखेंगे कि आजकल व्यापारिक बैंक साख का निर्माण करते हैं। वे नकद जमा के प्राप्त होने पर उसकी कुछ गुनी राशि ग्राहकों को उधार दे सकते हैं। यहाँ पर ध्यान देने की बात केवल यह है कि व्यापारिक बैंक जिस साख का निर्माण करते हैं, उसका आधार नकद-जमा ही होती है। वे हवा में साख का निर्माण नहीं करते। मान लीजिए किसी बैंक में 100 रुपये की नकद-राशि जमा के रूप में प्राप्त होती है और 20% रिजर्व-अनुपात के आधार पर बैंक 20 रुपये अपने पास रख लेता है तो शेष 80 रुपयों के आधार पर वह $80 \times 5 = 400$ रुपयों की नई साख या नई जमा का निर्माण कर देता है। इस प्रकार मुद्रा ही साख के निर्माण का आधार बनती है। ज्यादा मुद्रा होने पर ज्यादा साख का व कम मुद्रा होने पर कम साख का निर्माण हो पाता है।

7. राष्ट्रीय आय के वितरण का आधार (Basis of Distribution of National Income)—उत्पादन के साधनों का प्रतिफल मुद्रा में सुगमतापूर्वक चुकाया जाता है। यदि मुद्रा न होती तो लगान, ब्याज, मजदूरी व मुनाफे का भुगतान करना कठिन होता। अतः राष्ट्रीय आय का वितरण मुद्रा के आधार पर ही सम्भव हो सकता है। साधनों के प्रतिफल साधनों की कीमतों से निर्धारित होते हैं और इसमें मुद्रा अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

8. उपभोक्ताओं व उत्पादकों द्वारा साधनों का सर्वोत्तम उपयोग (Optimum Utilisation of Resources by Consumers and Producers)—हम जानते हैं कि एक उपभोक्ता अपने सीमित साधनों के व्यय से अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करने के लिए वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताओं का अनुपात उनकी कीमतों के अनुपात के बराबर करता है।[1] इसी प्रकार एक उत्पादक अपना लाभ अधिकतम करने के लिए उत्पादन के विभिन्न साधनों की सीमान्त उत्पादकताओं के अनुपात को साधन-कीमतों के अनुपात के बराबर करता है।[2] लेकिन सन्तुलन की इन दशाओं के प्राप्त करने में मुद्रा कीमत-प्रणाली के माध्यम से

1. $\frac{MU_x}{MU_y} = \frac{P_x}{P_y}$ (उपभोग के क्षेत्र में), यहाँ MU_x X-वस्तु की सीमान्त उपयोगिता को तथा MU_y Y- वस्तु की सीमान्त उपयोगिता को दर्शाते हैं तथा P_x व P_y क्रमशः X व Y वस्तुओं की कीमतें हैं।

2. $\frac{MPP_L}{MPP_c} = \frac{P_L}{P_c}$ (उत्पादन के क्षेत्र में), यहाँ MPP_L श्रम की सीमान्त उत्पादकता को तथा MPP_c पूँजी की सीमान्त उत्पादकता को, एवं P_L व P_c क्रमशः श्रम की मजदूरी की दर व पूँजी के ब्याज की दर को सूचित करते हैं।

सहायता देती है। अत हम यह कह सकते हैं कि मुद्रा साधनों के सर्वोत्तम आवटन में सहायक होती है।

9. धन को तरलता प्रदान करना (Liquidity to wealth)—मुद्रा धन के विभिन्न रूपों जैसे मकान, कार, जेवर, शेयर, ऋणपत्र आदि को तरल रूप प्रदान कर सकती है, क्योंकि इनके अपने-अपने बाजार होते हैं जिनमें इनको बेचकर नकद राशि प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार मुद्रा धन के विभिन्न रूपों का न केवल मूल्य आकती है, बल्कि इनको आवश्यकतानुसार तरल रूप भी प्रदान कर सकती है। इससे परिसम्पत्तियों को मुद्रा में व मुद्रा को परिसम्पत्तियों में बदला जा सकता है। इससे पूँजी की उत्पादकता भी बढती है।

10. अन्य कार्य (other functions)—मुद्रा हैं बचतकर्त्ताओं (savers) को विनियोगकर्त्ताओं (investors) से मिलाती है—आधुनिक समाज में मुद्रा का यह कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण हो गया है। ज्यादातर बचत परिवार करते हैं। लेकिन वे उसका पूरा विनियोग स्वयं नहीं कर पाते। सरकारें व फर्में पारिवारिक बचतों को उधार लेकर विनियोग में लगाती हैं। अत बचत व विनियोग में कडी स्थापित करने में मुद्रा व मौद्रिक सस्थाओं जैसे बैंकों, वित्तीय संस्थाओं, शेयर बाजार आदि की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। बचतकर्ता और विनियोगकर्ता के बीच वित्तीय मध्यस्थता (financial intermediation) का महत्त्व दिनों दिन बढता जा रहा है। इससे सभी को लाभ पहुँचता है। इसके लिए भारत में भी कई नई सस्थाओं जैसे म्यूच्युअल फड व नये मौद्रिक प्रपत्र जैसे जमा सर्टिफिकेटों आदि की शुरुआत की गई है।

मुद्रा का महत्त्व
(Importance of money)

"मुद्रा वह धुरी है जिसके चारों तरफ आर्थिक विज्ञान चक्कर लगाता है।"* मार्शल का यह कथन मुद्रा के महत्व को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है। आधुनिक अर्थव्यवस्था के सम्पूर्ण ढाँचे में मुद्रा का अपना केन्द्रीय स्थान होता है। अत व्यय, बचत, विनियोग, रोजगार उत्पादन, उपभोग, कीमतों तथा सरकारी करों, व कर्जों, आयात निर्यात आदि के वर्णन में मुद्रा का समावेश होता है। मुद्रा ने मानवीय स्वतन्त्रता को बढाया है, क्योंकि हम अपनी इच्छानुसार इसका उपयोग कर सकते हैं। यह क्रय शक्ति को सामान्य रूप प्रदान करती है। इसने पूँजी को अधिक गतिशील व उत्पादक बनाया है। पूँजीपति अपनी पूँजी कम लाभ की दिशाओं से निकालकर अधिक लाभ की दिशाओं में लगा सकते हैं, और इस कार्य में मुद्रा सहायक होती है। मुद्रा के इतने अधिक उपयोग हो गये हैं कि उन्हें एक सूची में बाधने की कोशिश करना व्यर्थ होगा। हमें इतना कहकर ही सन्तोष करना होगा कि यह आधुनिक [illegible] का प्राण है। दूसरे शब्दों में, मुद्रा के बिना आधुनिक अर्थव्यवस्था की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

मुद्रा का महत्त्व आर्थिक क्रिया के सभी क्षेत्रों में पाया जाता है। इसके महत्त्व के प्रमुख बिन्दु नीचे दिये जाते हैं।

* 'Money is the pivot around which economic science clusters.' Marshall

मुद्रा का आर्थिक क्षेत्र में महत्व

(1) उपभोक्ता के लिए मुद्रा का महत्व—उपभोक्ता मुद्रा का प्रयोग अपनी इच्छानुसार कर सकता है। विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का चुनाव करके वह अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने का प्रयास करता है। वह इसे वर्तमान में व्यय न करके भविष्य में व्यय कर सकता है। वर्तमान में व्यय करके अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने में मुद्रा उसे काफी मदद देती है।

(2) उत्पादक के लिए मुद्रा का महत्व—मुद्रा के बिना उत्पादक की विभिन्न क्रियाओं का संचालन असम्भव होगा। कच्चा माल खरीदने, श्रमिकों व कर्मचारियों का वेतन चुकाने, विज्ञापन करने एवं माल की बिक्री व वास्तविक भुगतान के बीच की अवधि में भुगतान की प्रतीक्षा करने, आदि के लिए मुद्रा की आवश्यकता होती है। मुद्रा की सहायता से न्यूनतम लागत पर उत्पादन किया जा सकता है। मुद्रा के अभाव में श्रम-विभाजन करना कठिन होता है। श्रम-विभाजन से श्रम की कार्यकुशलता बढ़ती है। इस प्रकार मुद्रा ने कुल उत्पादन में वृद्धि की आवश्यक दशाएँ उत्पन्न की हैं।

(3) बड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव—मुद्रा ने उत्पादन का पैमाना बढ़ाने, विशिष्टीकरण व श्रम-विभाजन के लाभ प्राप्त करने तथा व्यापार का क्षेत्र बढ़ाने में मदद की है। मुद्रा ने ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को सम्भव बनाया है। एक देश दूसरे देश को सहायता भी प्राय: मुद्रा में ही देता है। यदि सहायता वस्तु-रूप में दी जाती है तो उसका मूल्य भी प्राय: मुद्रा में ही आंका जाता है।

(4) वितरण में महत्व—उत्पादन के साधनों के प्रतिफल मुद्रा में ही चुकाये जाते हैं। आधुनिक समाज में लगान, ब्याज, मजदूरी व मुनाफ़ा मुद्रा में ही चुकाये जाते हैं। मुद्रा के अभाव में राष्ट्रीय आय का वितरण करना काफ़ी कठिन होता।

(5) सार्वजनिक वित्त में महत्व—सरकार द्वारा करारोपण, देश की जनता से प्राप्त सार्वजनिक ऋण, विदेशी ऋण, घाटे की वित्त-व्यवस्था, सार्वजनिक व्यय आदि का संचालन भी मुद्रा के माध्यम से ही हो पाता है।

(6) जीवन-स्तर की वृद्धि में सहायता—मुद्रा ने भौतिक कल्याण की वृद्धि में योगदान दिया है। जीवन-स्तर को ऊँचा करने में भी मुद्रा की अपनी भूमिका रही है। जीवन-स्तर वास्तविक आय की वृद्धि से प्रभावित होता है। वास्तविक आय निकालने के लिए मौद्रिक आय में कीमत-सूचकांक का भाग दिया जाता है। अत: जीवन-स्तर पर मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों का प्रभाव पड़ता है।

मुद्रा का सामाजिक महत्व—आज के भौतिक युग में, विशेषतया पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में, मुद्रा का सामाजिक महत्व बहुत बढ़ गया है। मुद्रा क्रय शक्ति होने के कारण व्यक्तियों के पास वस्तुओं व सेवाओं को खरीदने की शक्ति की सूचक होती है। इसलिए अधिक मुद्रा के कारण व्यक्ति अपनी अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ हो जाता है। यही कारण है कि भौतिकवादी पाश्चात्य देशों एवं भारत जैसे परम्परावादी व धार्मिक देश, दोनों में, जन-साधारण में अधिकाधिक मुद्रा प्राप्त करने की होड़ लगी हुई है। मुद्रा सामाजिक व राजनीतिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने में भी सहायक होती है। अत: आजकल मुद्रा सम्पूर्ण मानव जीवन पर छाई हुई है। यह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को प्रभावित करती है।

सच पूछा जाय तो मुद्रा का प्रभाव इतना व्यापक हो गया है कि अब ऐसे समाज की ल्पना नही की जा सकती जिसमें इसका उपयोग समाप्त किया जा सके, बल्कि दिनोंदिन रम्परागत व पिछडे समाज में भी मुद्रीकरण (monetization) की प्रवृति जोर पकडती जा ही है। उदाहरण के लिए, आजकल भारत के देहातों में मुद्रा का प्रयोग अधिक मात्रा में होने गा है जिससे अर्थव्यवस्था उत्पादन, विनिमय व उपभोग के ऊँचे स्तर प्राप्त करने लगी है ौर इनका निरन्तर विस्तार होता जा रहा है। जनसख्या के बढने से भी मुद्रा का प्रयोग बढा ।

मुद्रा का आधुनिक अर्थव्यवस्था में उच्च स्थान होने पर भी इसके कुछ सम्भावित खतरे ा दोष भी बतलाये गये हैं जो आगे दिये जाते हैं—

मुद्रा के खतरे या दोष

(Dangers or defects of Money)

मुद्रा ने कई प्रकार के आर्थिक व सामाजिक अपराधों को जन्म दिया है। तस्करी, काला बाजारी, सग्रह, मुनाफाखोरी व करों की चोरी के विरुद्ध अभियान ने भारत में यह सिद्ध कर दिया है कि देश में दो प्रकार की अर्थव्यवस्थाएँ साथ साथ चल रही हैं। एक तो सफेद या कानूनी अर्थव्यवस्था है, जिसके लेन देन का हिसाब किताब रखा जाता है और दूसरी काली अर्थव्यवस्था है जिसका समस्त लेन देन गैर-कानूनी होता है। काली मुद्रा की एक अलग किस्म की अर्थव्यवस्था होती है। इसे "अण्डर-ग्राउण्ड अर्थव्यवस्था" भी कहा जाता है। इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में सलग्न लोगों में पाये जाने वाले दुर्गुण जैसे लोभ लालच, धोखाधडी, जालसाजी, हत्या, कर की चोरी व शोषण, समस्त समाज की सुख शान्ति को भग कर देते हैं। सार्वजनिक वित व नीति पर राष्ट्रीय सस्थान (National Institute of Public Finance and Policy) (NIPFP) ने "भारत में काली अर्थव्यवस्था के पहलुओं" पर मार्च, 1985 में अपनी रिपोर्ट भारत सरकार को पेश की थी। उसमें बतलाया गया था कि भारत में 1983-84 में काली आमदनी की मात्रा लगभग 32 हजार करोड रु से 37 हजार करोड रु के बीच थी, जो GDP का 18% से 21% थी। इस प्रकार देश की कुल आय का लगभग 1/5 अश काली आमदनी का माना जा सकता है। काली अर्थव्यवस्था वाले धन व काली मुद्रा ने भारत में आर्थिक नियोजन को काफी खोखला व जटिल बना डाला है। मुद्रा ने इसमें अपना काफी योगदान दिया है।

मुद्रा के प्रमुख आर्थिक दोष नीचे दिये जाते हैं—

(1) मुद्रा का मूल्य अस्थिर होता है—मुद्रास्फीति के दौरान मुद्रा का मूल्य घट जाता है जिससे आय की असमानता बढ जाती है। धनी अधिक धनी हो जाते हैं और निर्धन अधिक निर्धन हो जाते हैं। भारत में निरन्तर बढती हुई महँगाई केन्द्रीय सरकार के लिए सर दर्द बनी हुई है। फरवरी 1997 मे अखिल भारतीय उपभोक्ता मूल्य सूचकाक 350 रहा (1982=100 के आधार पर)। 1960 के आधार पर लाने के लिए इसे 4.928 से गुणा करना होगा जिससे यह लगभग 1725 हो जायगा। इसका अर्थ यह है कि 1960 में जो वस्तुएँ व सेवाएँ 100 रु में आती थीं, उनके लिए फरवरी 1997 में 1725 रु देने पडे, जिससे रुपये का मूल्य घटकर अब 5.8 पैसे मात्र रह गया है। इस प्रकार लगभग 36 वर्षों में रुपये का मूल्य घटकर लगभग 5.8 पैसे रह गया है।

मुद्रास्फीति का मुख्य कारण मुद्रा की पूर्ति का बढ़ना रहा है। अतः मुद्रा के आधिक्य से कई समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। पिछले वर्षों में माँग को नियन्त्रित करने के विभिन्न उपायों को अपनाने के बावजूद इसका कोई स्थायी व सन्तोषजनक हल नहीं निकाला जा सका है। वर्तमान सरकार भी मुद्रास्फीति पर काबू पाने के लिए प्रयत्नशील है। स्मरण रहे कि मुद्रा का मूल्य बढ़ना भी खतरनाक होता है। इसमें कीमतें अनावश्यक रूप से गिरती हैं तथा मुद्रा-संकुचन (deflation) होता है जो बेरोजगारी बढ़ाता है। यह मुद्रास्फीति से भी बदतर होता है।

(2) मुद्रा व्यापार-चक्रों को जन्म देती है—अर्थव्यवस्था के उतार-चढ़ावों को बढ़ाने में मुद्रा का योगदान होता है। आर्थिक तेजी-मन्दी की अवस्थाओं को उत्पन्न करने तथा इनको नियन्त्रित करने में मुद्रा की काफी प्रभावशाली भूमिका होती है। यही कारण है कि व्यापार चक्रों पर काबू पाने के लिए राजकोषीय नीति का भी सहारा लिया जाता है।

(3) मुद्रा व पूँजी का केन्द्रीयकरण—मुद्रा पूँजी के केन्द्रीयकरण को बढ़ाती है। इसमें मुद्रा कुछ व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है। इससे वित्त-पूँजीवाद (Finance Capitalism) का उदय होता है जिसमें वित्त के स्रोतों पर चन्द पूँजीपतियों का नियन्त्रण हो जाता है। यदि देशवासी दूसरे देशों में मुद्रा भेजना चालू कर देते हैं तो जिस देश से मुद्रा बाहर जाती है उसको कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है। यह धारणा प्रचलित है कि भारतीयों व भारतीय फर्मों की विदेशी बैंकों में काफी धनराशि जमा हो गई है जो भारतीय हितों के प्रतिकूल है।

(4) विभिन्न देशों के बीच भ्रमणशील मुद्रा (Hot money)—आजकल भ्रमणशील मुद्रा (हॉट मनी) के कारण भी काफी समस्या उत्पन्न हो गई है। यदि एक देश में ब्याज की दर दूसरे देश की तुलना में ऊँची हो जाती है तो वहाँ विदेशों से मुद्रा आने लगती है। लेकिन यदि आगे चलकर वही दूसरे देश में पुनः ब्याज की दरें बढ़ती हैं तो वह मुद्रा उन देशों में जाने का प्रयास करने लगती है। इसे भ्रमणशील मुद्रा कहते हैं। इस प्रकार की भ्रमणशील मुद्रा से एक देश के भुगतान सन्तुलन तथा विनिमय की दरों पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है। भारत के लिए अनिवासी भारतीयों की जमाराशियाँ (deposits of non-resident Indians) भ्रमणशील मुद्रा का ही रूप मानी जा सकती हैं। इनके अचानक भारत से निकालकर दूसरे देश में ले जाये जाने का भय निरन्तर बना रहता है। कई बार सुरक्षा (safety) की तलाश में भी मुद्रा भ्रमणशील मुद्रा का रूप ग्रहण कर लेती है। अतः मुद्रा का यह स्वरूप भी कभी-कभी काफी कठिनाई उत्पन्न कर सकता है।

इस प्रकार मुद्रा के कई प्रकार के गुण-दोष होते हैं। नैतिक आचरण में सुधार करके तथा समतावादी समाज की स्थापना करके मुद्रा के अधिकांश अवगुणों पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है। मुद्रा को साधन न मानकर साध्य मानने से कई प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। जब मुद्रा जीवन का आदि व अन्त हो जाती है तो वह समाज के लिए अभिशाप का काम करती है। मुद्रा का अर्जन करने वाला व्यक्ति अन्त में स्वयं दुःखी होता है और वह अपने कार्य-कलापों से समस्त समाज को भी दुःखी कर डालता है।

अब हम पूँजीवाद, समाजवाद व नियोजित मिश्रित अर्थव्यवस्था में मुद्रा के महत्त्व पर प्रकाश डालते हैं—

पूँजीवाद में मुद्रा का महत्त्व

ऊपर मुद्रा के महत्त्व का जो विवरण दिया गया है वह स्वतन्त्र उद्यमवाली अर्थव्यवस्था में पूरी तरह लागू होता है। पूँजीवाद में उत्पादन के साधनों पर व्यक्तियों का अधिकार होता है और कीमत प्रणाली के माध्यम से निर्णय बाजार में माँग व पूर्ति की शक्तियों के आधार पर लिये जाते हैं। अत इस अर्थव्यवस्था में मुद्रा की सर्वोपरि भूमिका होती है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्त्व निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

1. उत्पादन के साधनों का विभिन्न आर्थिक क्रियाओं में सर्वोत्तम आवंटन हो पाता है—साधन कम लाभ से अधिक लाभ की दिशाओं में गतिमान होते हैं जिससे अत में उनका सर्वोत्तम आवंटन हो पाता है।

2. उपभोक्ता की सार्वभौमिकता पायी जाती है जिससे उत्पादन का मार्गदर्शन उसकी माँग के अनुरूप होता है—इसमें मुद्रा का योगदान होता है। उपभोक्ता जिन वस्तुओं को ज्यादा खरीदते हैं उनका उत्पादन अधिक मात्रा में होता है।

3. पूँजी-निर्माण में मुद्रा के कारण सहयोग मिलता है—लोग बचत करके विनियोग में लगाते हैं और स्थिर पूँजी का विस्तार करते जाते हैं, जैसे प्लान्ट, मशीनरी, फैक्टरियाँ आदि का उत्तरोत्तर विस्तार होता जाता है।

4. जैसा कि पहले कहा गया है कि आजकल मौद्रिक व वित्तीय मध्यस्थता के कारण पारिवारिक बचतें विनियोगों में लगायी जा सकती हैं जिससे मुद्रा बचत व विनियोग के बीच कड़ी स्थापित करने का काम करती है। इससे परिवारों को तरलता, प्रतिफल व जोखिम में अपने पसंद के अनुसार मिश्रण करने में मदद मिलती है। इससे पूँजी की उत्पादकता बढ़ती है और सर्वश्रेष्ठ विनियोग के प्रस्ताव अपनाने में सहूलियत होती है।[1]

अत पूँजीवाद में मुद्रा का महत्त्व उसके परम्परागत कार्यों से काफी आगे निकल गया है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्त्व

(1) सिद्धान्तत समाजवादी मुद्रा विरोधी माने गये हैं और इसे श्रमिकों के शोषण का कारण भी मानते रहे हैं। लेकिन समाजवाद में भी 'मूल्य के मापक' के रूप में मुद्रा का प्रयोग किया जाता रहा है। सरकारी भण्डारों में वस्तुओं की कीमतें निर्धारित की जाती रही हैं जिन्हें लोग एक सीमा तक खरीदते जाते हैं और एक निर्धारित राशि तक खरीदने के बाद रुक जाते हैं। अत चाहे विनिमय के माध्यम के रूप में समाजवाद में मुद्रा के प्रयोग को कम करने का प्रयास किया गया हो, लेकिन मूल्य के मापक के रूप में यह वहाँ भी जारी रहा है।

(2) विभिन्न विनियोग की परियोजनाओं में से चयन करने में लागत-लाभ की गणना में मुद्रा का उपयोग किया गया है।

(3) समाजवादी देशों को अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन में मुद्रा का प्रयोग करना पड़ा है, जैसे विघटन से पूर्व सोवियत संघ व [illegible] परस्पर व्यापार, विनियोग, टेक्नोलॉजी का हस्तान्तरण आदि रूबल व रुपयों के आधार पर होता रहा है। भारत की रूस के प्रति ऋणग्रस्तता को भारतीय मुद्रा में चुकाने का समझौता किया गया है।

1 Narendra Jadhav Monetary Economics for India, First ed., 1994 pp 34 36

(4) अब पूर्वी योरोप के विभिन्न देशों व रूस आदि में समाजवाद से बाजार-अर्थतन्त्र अथवा पूँजीवाद की तरफ प्रवृत्ति दिखायी देने लगी है। आर्थिक उदारीकरण की हवा समस्त संसार के ऊपर से बहने लगी है। बाजारीकरण, निजीकरण व अन्तर्राष्ट्रीयकरण ने मुद्रा की भूमिका पुनः सुदृढ़ कर दी है। स्वयं रूस विश्व के सात धनी देशों G7 से आर्थिक सहायता लेने का प्रयास कर रहा है। अतः बदलती हुई परिस्थितियों में पहले के समाजवादी देशों में कीमत संयंत्र का उपयोग बढ़ने के कारण अब वहाँ भी मुद्रा का महत्त्व अधिक हो गया है।

नियोजित मिश्रित अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्त्व

भारत जैसे विकासशील देश में जहाँ मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक विकास किया जा रहा है, मुद्रा का महत्त्व निम्न आधारों पर स्पष्ट किया जा सकता है—

(1) मुद्रा इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में अपने प्राथमिक, सहायक, आकस्मिक व अन्य प्रकार के कार्य सम्पादित करती है।

(2) आर्थिक विकास के लिए साधन जुटाने के लिए सरकार कर, बचत, उधार, घाटे की वित्त-व्यवस्था आदि का सहारा लेती है। विदेशों से अधिक मात्रा में कर्ज लेने से देश पर विदेशी ऋणग्रस्तता बढ़ गयी है जिससे ब्याज व मूलधन की अदायगी का वार्षिक भार बढ़ गया है। उसके लिए निर्यात बढ़ाना जरूरी है। अतः ये सारे कार्य मुद्रा के माध्यम से सम्पन्न किये जाते हैं।

(3) विदेशी मुद्रा के कोषों का आर्थिक विकास पर गहरा असर पड़ता है। जुलाई 1991 में ये लगभग एक अरब डॉलर थे जो 31 मार्च, 1997 को 22.4 अरब डालर हो गये।

अब भारतीय मुद्रा के साथ-साथ विदेशी मुद्रा के सदुपयोग का प्रश्न सामने आ गया है। विदेशी मुद्रा कोष के बढ़ने से देश में मुद्रा की पूर्ति बढ़ती है जिससे मुद्रास्फीति के दबाव बढ़ते हैं। अतः भारतीय अर्थव्यवस्था पर अब विदेशी मुद्रा के आगमन का प्रभाव अधिक प्रबल हो गया है।

(4) भारतीय शेयर बाजार में विदेशी संस्थागत विनियोजकों (foreign institutional investors) (FIIs) के द्वारा पोर्टफोलियो विनियोग के बढ़ने से शेयरों की कीमतों पर प्रभाव पड़ता है। अब भारत में विदेशी निजी विनियोग भी बढ़ रहा है। भारतीय कम्पनियाँ यूरो-बाजार से बांड व ऋणपत्र बेचकर भी विदेशी मुद्रा जुटाने लगी हैं।

अतः विभिन्न स्रोतों से भारत में विदेशी मुद्रा के अन्तर्गमन (inflow) से अर्थव्यवस्था पर नये प्रभाव उत्पन्न हुए हैं जिनका अध्ययन करने की आवश्यकता है।

(5) सरकार सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के शेयर बेचकर मुद्रा प्राप्त कर रही है जिसका उपयोग ठीक ढंग से करने की आवश्यकता है।

(6) विभिन्न देशों से आर्थिक समझौते किये जा रहे हैं जिससे आगे चलकर भारत में विदेशों से पूँजी, विनियोग व टेक्नोलॉजी के आगमन एवं व्यापार के बढ़ने की स्थिति उत्पन्न होगी। इन परिवर्तनों से मुद्रा की भूमिका सुदृढ़ होगी।

(7) सरकार तीन साल बाद 1997-98 से अपने घाटे की पूर्ति के लिए भारतीय रिजर्व बैंक से तदर्थ (adhoc) ट्रेजरी बिलों के मार्फत उधार न लेकर सीधे बाजार से उधार लेगी जिसका मुद्रा की पूर्ति पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा।

(8) देश में मुद्रास्फीति को नियन्त्रित करने के लिए मौद्रिक व साख-नीति की दिशाएँ बदल रही है, जिनका आगे चल कर वर्णन किया जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि भारत जैसे विकासशील देश में मुद्रा उत्पादन, उपभोग, बचत, विनियोग, करारोपण, सरकारी व्यय, आन्तरिक उधार व विदेशी उधार, घाटे की वित्त व्यवस्था, ब्याज की दर, विदेशी व्यापार—आयात-निर्यात आदि को प्रभावित कर रही है। अत भारत में समष्टिगत आर्थिक प्रबन्ध (macroeconomic management) को सुधारने के लिए मुद्रा की पूर्ति को नियोजित व नियन्त्रित करने की आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

मुद्रा की प्रकृति व क्षेत्र से परिचित होने के लिए इसके विकास पर दृष्टि डालना आवश्यक है।

मुद्रा का विकास
(Evolution of Money)

हम पहले बतला चुके हैं कि वस्तु विनिमय प्रणाली की कठिनाइयों से बचने के लिए मुद्रा का आविष्कार किया गया था। समय समय पर कई प्रकार की वस्तुएँ मुद्रा के रूप में प्रयुक्त हुई हैं, जैसे पशु, चाय, चीनी, नमक, कौड़ियाँ आदि। लेकिन कीमती वस्तुओं ने मुद्रा के रूप में अपना प्रभुत्व काफी समय तक कायम रखा है। कीमती धातुओं का आभूषण के रूप में भी मूल्य रहा है। इन्हें अधिकाश व्यक्ति भुगतान में स्वीकार कर लेते हैं और इनको बहुत छोटे अशों में विभाजित करना भी सम्भव होता है।

(i) धातु-मुद्रा—अत शुरू में धातु मुद्रा का प्रचलन हुआ। प्रारम्भ में सिक्कों पर अंकित मूल्य उनके धातु मूल्य के बराबर होता था, जिससे काफी धातु की आवश्यकता पड़ती थी। लेकिन बाद में सिक्कों का अंकित मूल्य उनके धातु मूल्य से अधिक कर दिया गया। इसका अर्थ यह हुआ कि उनमें शुद्ध धातु का अश क्रमश घटता गया। सिक्के चलाने वाली सस्था के विश्वास पर सिक्के व्यवहार में चलने लगे। इस व्यवस्था ने आगे चल कर पत्र मुद्रा के लिए आवश्यक भूमिका तैयार कर दी।

(ii) पत्र-मुद्रा—पत्र मुद्रा के पीछे शुरू में शत प्रतिशत स्वर्णकोष रखे जाते थे जिनका उपयोग आवश्यकता पड़ने पर पत्र मुद्रा को बदलने में किया जा सकता था। तब देश स्वर्ण मान पर माना जाता था।

बाद में यह महसूस किया जाने लगा कि पत्र मुद्रा के पीछे आशिक रूप से कोष रखना ही पर्याप्त होगा। जैसे यदि 10% के आशिक कोष के नियम को माना जाय तो 100 रुपये की कागजी मुद्रा के पीछे 10 रुपये का स्वर्ण कोष ही रखा जायेगा, और 5% के आशिक कोष को मानने पर 5 रुपये का स्वर्ण कोष रखा जायेगा। आशिक कोष की विधि के पीछे यह मान्यता थी कि सारी निर्गमित पत्र मुद्रा स्वर्ण में परिवर्तन के लिए एक साथ प्रस्तुत नहीं की जायेगी। पत्र मुद्रा सरकार में जनता का विश्वास होने से चलेगी और जनता इसे स्वर्ण में बदलना आवश्यक नहीं समझेगी। इसलिए आशिक धातु कोष की व्यवस्था चलती रही और इस व्यवस्था में पत्र मुद्रा चलाने वाली सस्था पर भी थोड़ा अकुश लगा रहता था।

लेकिन बाद के चरण में पत्र मुद्रा की स्वर्ण में परिवर्तनशीलता बन्द कर दी गई जिससे अपरिवर्तनशील करेंसी या सरकार के विश्वास पर आश्रित करेंसी (fiat currency) का

जन्म हुआ। अब पत्र मुद्रा सरकार के विश्वास पर चलती है। आज का कागजी नोट इसलिए मूल्यवान होता है कि वह सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति इसे मूल्यवान मानता है, इसलिए यह मूल्यवान होता है। इस बात से इसके विनिमय के माध्यम के रूप में होने वाले कार्य पर कोई प्रभाव नहीं पडता कि यह किसी चीज में परिवर्तनीय रहा या नहीं रहा। लेकिन इस परिस्थिति का दुरुपयोग भी हो सकता है, क्योंकि पत्र-मुद्रा सरकार की इच्छानुसार निकाली जा सकती है जिससे मुद्रास्फीति का भय उत्पन्न हो सकता है। कई देशों में पत्र मुद्रा का अनियन्त्रित विस्तार मुद्रास्फीति का प्रमुख कारण माना गया है।

(iii) जमा-मुद्रा (Deposit-Money)—आजकल व्यापारिक बैंक जमा मुद्रा का सृजन करते हैं जिसका वर्णन आगे चलकर किया जायेगा। चैक के द्वारा भुगतान का प्रचलन बढ़ने से बैंकों के लिए यह सम्भव हो गया है कि वे नकद जमा के आने पर साख-जमा का निर्माण कर सकें। चैक स्वय मुद्रा नहीं होता और न यह मुद्रा का स्थानापन्न (substitute) ही होता है। बैंक अपने ग्राहक को ऋण दे देते हैं जिसका उपयोग वह चैक के द्वारा भुगतान करने में कर सकता है। चैक के द्वारा मुद्राराशि एक खाते से निकाल कर दूसरे खाते में जमा कर दी जाती है। अत: बैंक जमा-मुद्रा होती है, न कि चैक।

चैक प्राय: दो प्रकार के होते हैं—(1) वाहक चैक (bearer) और (2) आज्ञा चैक (order cheque)। चैक वह आदेश पत्र होता है जो जमाकर्त्ता अपने बैंक पर जारी करता है ताकि उसमें लिखी रकम स्वय को अथवा किसी अन्य व्यक्ति को दी जा सके।

(1) वाहक चैक (bearer cheque) वह चैक होता है जिसमें लिखी रकम बैंक की खिड़की पर किसी भी व्यक्ति को मिल सकती है। इस प्रकार के चैक का लाभ यह है कि इससे किसी भी व्यक्ति को नकद राशि बैंक से शीघ्र मिल जाती है। लेकिन ऐसे चैक के खो जाने पर इसका भुगतान गलत व्यक्ति भी ले सकता है। इसलिए ऐसे चैक का प्रयोग काफी सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए।

(2) आज्ञा चैक (order cheque) का रुपया उस व्यक्ति को मिलता है जिसका नाम चैक पर लिखा रहता है, अथवा उससे आज्ञा प्राप्त करके तीसरे व्यक्ति को मिल सकता है। मान लीजिए, राम के पास एक चैक आया जो आज्ञा चैक था। वह चाहे तो श्याम को इसका भुगतान दिलवा सकता है। इसके लिए उसे चैक की पीठ पर श्याम के पक्ष में बेचान (endorsement) करनी पडती है।

व्यवहार में आज्ञा चैक पर दो आडी रेखाएँ डाल दी जाती हैं और उनमें (account payee only) (प्राप्तकर्ता के खाते में) या (and Co) लिख दिया जाता है, अथवा केवल दो आडी रेखाएँ खींच दी जाती हैं, जिससे वह चैक रेखांकित चैक (crossed cheque) बन जाता है और उसका रुपया आज्ञाप्राप्त व्यक्ति के खाते में ही जमा होता है। उसे बैंक के काउण्टर से सीधी नकद राशि नहीं मिल पाती है। सुरक्षा व सुविधा की दृष्टि से व्यवहार में रेखांकित चैकों का महत्त्व काफी बढ गया है। साख-पत्रों में विनिमय बिलों, प्रॉमिसरी नोटों, हुण्डियों आदि का भी काफी महत्त्व होता है। ये लेन-देन को सरल व सुविधाजनक बनाते हैं और आधुनिक आर्थिक जीवन में बहुत उपयोगी बन गये हैं।

बैंक थोडी नकद राशि के आधार पर अधिक मात्रा में जमा-मुद्रा उत्पन्न करते हैं। जमाएँ दो प्रकार की होती हैं—माँग-जमाएँ (demand-deposits) जो बैंक ग्राहक के माँगने पर

वापस करता है और अवधि जमाएँ (time deposits) जो किसी निश्चित अवधि के बाद ही वापस की जाती हैं। अवधि-जमाओं को "मुद्रा के समीप" (*Near Money*) माना गया है और प्रायः मुद्रा में सिक्कों, पत्र-मुद्रा व माँग-जमाओं को शामिल किया जाता है।

मुद्रा की प्रकृति

(Nature of Money)

मुद्रा की प्रकृति के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह एक साधन है, न कि साध्य (*money is a means not an end*)। यह मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि का एक साधन मात्र है। मुद्रा का अपने आप में कोई मूल्य नहीं होता। मुद्रा में वस्तुओं व सेवाओं को खरीदने की शक्ति होती है। लोग मुद्रा को जुटाने में इसलिए लगे रहते हैं कि वे अधिक मात्रा में वस्तुओं व सेवाओं का उपयोग करने की शक्ति प्राप्त कर सकें।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार एक अर्थव्यवस्था के संचालन में मुद्रा का केन्द्रीय स्थान होता है। मुद्रा की पूर्ति के आर्थिक जीवन पर व्यापक रूप से प्रभाव पड़ते हैं। यहाँ पर यह कहना आवश्यक है कि केन्स व उसके बाद की विचारधारा में मुद्रा को आर्थिक क्रिया का एक निर्धारक तत्व माना गया है। मुद्रास्फीति व मुद्रासंकुचन मूलतया मौद्रिक दशाएँ ही होती हैं। प्रोफेसर डी एच रोबर्टसन ने ठीक ही कहा है, "मुद्रा जो मानव के लिए कई वरदानों का स्रोत है, वह नियन्त्रण के अभाव में संकट व भ्रम का कारण भी बन सकती है।" यही कारण है कि आजकल विकसित व विकासशील देशों में मौद्रिक नीति तथा मौद्रिक प्रबन्ध का महत्व काफी बढ गया है। भारत में मौद्रिक नीति पर प्रकाश डालते समय 1985 में चक्रवर्ती पेनल ने भी मौद्रिक नियोजन (monetary planning) पर बल दिया था, जिसके अन्तर्गत मुद्रा की पूर्ति को नियमित करने पर जोर दिया गया था। मुद्रा की पूर्ति तथा वास्तविक राष्ट्रीय आय की वृद्धि का परस्पर ताल मेल अवश्य होना चाहिए।

स्मरण रहे कि मुद्रा अर्थव्यवस्था में वास्तविक साधन जैसे कोयला इस्पात आदि तो उत्पन्न नहीं कर सकती, लेकिन वह उन साधनों को जुटाने में तथा उनका सदुपयोग करने में मदद अवश्य कर सकती है।

मुद्रा का वर्गीकरण

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न आधारों पर मुद्रा के वर्गीकरण किये हैं। ये वर्गीकरण मुद्रा की प्रकृति, कानूनी मान्यता व वस्तु के आधार पर किये गये हैं। इनका सरल परिचय आगे दिया जाता है—

(क) मुद्रा की प्रकृति के आधार पर वर्गीकरण

केन्स ने मुद्रा की प्रकृति के आधार पर निम्न वर्गीकरण किया है—

(i) वास्तविक मुद्रा तथा

(ii) हिसाब की मुद्रा

(i) वास्तविक मुद्रा—यह देश में प्रचलित मुद्रा होती है, जिसमें लेन देन सम्पन्न किये जाते हैं। इसमें क्रय शक्ति का संग्रह भी किया जाता है। भारत में एक रुपया व पाँच पैसा दोनों वास्तविक मुद्रा में आते हैं।

(ii) हिसाब की मुद्रा—इस मुद्रा में देश के खाते या हिसाब किताब रखे जाते हैं।

भारतीय रुपया हिसाब या लेखे की मुद्रा होती है। अमेरिका में डॉलर, रूस में रूबल, जर्मनी में डोयच मार्क तथा जापान में येन हिसाब की मुद्रा कहलाती है।

प्राय: वास्तविक मुद्रा व हिसाब की मुद्रा एक ही होते हैं, लेकिन कभी-कभी ये अलग-अलग भी हो सकते हैं। प्रथम विश्व युद्ध के बाद मुद्रास्फीति के कारण जर्मनी में वास्तविक मुद्रा तो जर्मन मार्क था, लेकिन हिसाब की मुद्रा फ्रांस का फ्रैंक या अमरीकी डालर थे, क्योंकि इनका मूल्य अपेक्षाकृत ज्यादा स्थिर था। इसलिए ये हिसाब की दृष्टि से ज्यादा उपयुक्त माने जाते थे।

(ख) कानूनी मान्यता के आधार पर वर्गीकरण

(i) वैध मुद्रा

(ii) ऐच्छिक मुद्रा

(i) वैध मुद्रा (Legal Tender Money)—वैध मुद्रा कानून की दृष्टि से मान्य होती है। इसके भी दो भेद होते हैं—

(अ) सीमित वैध मुद्रा (Limited Legal Tender)—यह सीमित मात्रा तक वैध होती है और उस सीमा तक किसी भी व्यक्ति को इसे स्वीकार करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। इसकी सीमा सरकार द्वारा निश्चित की जाती है। आजकल भारत में 5, 10, 20 व 25 पैसे के सिक्के 25 रुपये तक वैध माने जाते हैं। कोई भी व्यक्ति इन्हें 25 रुपये से ज्यादा राशि में लेने से इन्कार कर सकता है। लेकिन किसी भी लेनदार को इन छोटे सिक्कों को 25 रुपये तक कानून की दृष्टि से लेने के लिए बाध्य किया जा सकता है। लेकिन हाल में लोग छोटे सिक्कों को लेने में आनाकानी करने लगे हैं जिससे व्यावहारिक कठिनाई उत्पन्न हो गई है।

(आ) असीमित वैध मुद्रा (Unlimited Legal Tender)—वह वह मुद्रा है जिसे असीमित मात्रा तक लेने के लिए बाध्य किया जा सकता है। भारत में एक रुपये का सिक्का, 50 पैसे का सिक्का तथा समस्त कागजी मुद्रा असीमित वैध मुद्रा के अन्तर्गत आते हैं। किसी भी लेनदार को उसका देनदार इन्हें किसी भी सीमा तक स्वीकार करने के लिए कानून की दृष्टि से बाध्य कर सकता है। लेकिन इस सम्बन्ध में व्यवहार में इस तरह की कोई समस्या उत्पन्न नहीं होती।

(ii) ऐच्छिक मुद्रा (Optional Money)—इस मुद्रा को स्वीकार करना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है, इसे लेने के लिए किसी को बाध्य नहीं किया जा सकता। चैक, हुण्डी तथा विनिमय बिल ऐच्छिक मुद्रा कहलाते हैं।

वस्तु के आधार पर मुद्रा का वर्गीकरण

(i) धात्विक मुद्रा और

(ii) पत्र-मुद्रा

(i) धात्विक मुद्रा के प्रमुख दो भेद होते हैं—

(अ) मानक मुद्रा (Standard Money)

(आ) प्रतीक मुद्रा (Token Money) I

(अ) प्रामाणिक या मानक मुद्रा (Standard Money)—यह देश की प्रधान मुद्रा

होती है। प्रामाणिक या मानक सिक्के स्वर्ण या चाँदी के होते हैं। प्रामाणिक मुद्रा विनिमय का माध्यम तथा लेखे की मुद्रा दोनों होती हैं। मानक सिक्के पर अंकित मूल्य इसके धातु मूल्य के समान होता है। इसका सिक्के के रूप में बाजार में जो मूल्य होता है वही गला कर धातु के रूप में बेचने पर होता है। इस व्यवस्था में सिक्का ढलाई नि:शुल्क होती है। लोग धातु ले जाकर टकसाल से सिक्के ढलवा कर ला सकते हैं। सिक्का ढलाई की फीस हो भी सकती है और नहीं भी। मानक मुद्रा असीमित वैध मुद्रा होती है।

(आ) सांकेतिक या प्रतीक मुद्रा (Token Money)—यह छोटे भुगतानों के काम आती है। यह प्रामाणिक मुद्रा की सहायक होती है। इसके सिक्के तांबे या निकल आदि के होते हैं। सांकेतिक या प्रतीक मुद्रा की स्वतन्त्र व नि:शुल्क ढलाई नहीं होती। इस पर अंकित मूल्य इसके वास्तविक मूल्य से अधिक होता है। यह सीमित वैध मुद्रा होती है।

भारतीय रुपया देश की प्रधान मुद्रा है, तथा यह असीमित वैध मुद्रा भी है। लेकिन इसका वास्तविक मूल्य कम व अंकित मूल्य अधिक होता है और रुपये की ढलाई स्वतन्त्र नहीं होती। इसलिए इसे प्रामाणिक-सांकेतिक सिक्का (Standard-Token Coin) कहा गया है।

(ii) पत्र-मुद्रा

इसके तीन भेद किये जा सकते हैं—

(अ) प्रतिनिधि पत्र मुद्रा, (आ) परिवर्तनीय पत्र मुद्रा, (इ) अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा।

(अ) प्रतिनिधि पत्र मुद्रा (Representative Paper Money)—इस प्रकार की पत्र मुद्रा के पीछे पूर्णतया सोने व चाँदी के कोष पाये जाते हैं। इस व्यवस्था में मुद्रास्फीति का भय नहीं होता और धातु के सिक्के चलाने की आवश्यकता नहीं होती। लेकिन यह बड़ी महंगी पद्धति होती है। इसमें धातु की बचत नहीं होती। यह बेलोच होती है और मुद्रा की पूर्ति आसानी से नहीं बढ़ाई जा सकती।

(आ) परिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (Convertible Paper Money)—यह धारक की इच्छानुसार मानक सिक्कों में परिवर्तनीय होती है। लेकिन इसमें धातु के कोष पत्र मुद्रा की कुल राशि के बराबर नहीं रखे जाते क्योंकि यह माना जाता है कि सभी धारक पत्र मुद्रा को धातु में नहीं बदलना चाहेंगे। इसमें कोष के दो भाग होते हैं (i) धातु रूप में सोना, चांदी व मानक सिक्के, तथा (ii) प्रत्ययी अंश (fiduciary portion) जिसमें प्राय सरकार की प्रतिभूतियाँ ही आती हैं। इस पद्धति में कीमती धातु की बचत होती है। यह पद्धति लोचदार होती है और जनता में विश्वास भी उत्पन्न करती है। लेकिन इसमें अधिक पत्र-मुद्रा के निकलने का भय बना रहता है।

(इ) अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (Inconvertible Paper Money)—इसमें मौद्रिक अधिकारी पत्र-मुद्रा को सिक्के या धातु में बदलने की कोई गारन्टी नहीं देते। यह पत्र-मुद्रा सरकार के विश्वास पर चलती है। इस पद्धति में धातु की किफायत हो जाती है। यह लोचदार होती है क्योंकि आवश्यकतानुसार मुद्रा की पूर्ति आसानी से बढ़ाई जा सकती है। लेकिन इसमें मुद्रास्फीति का निरंतर भय बना रहता है और इससे देशवासियों को मुद्रा के मूल्य में गिरावट का सामना करना पड़ता है। भारत में आजकल अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा का ही प्रचलन है। एक रुपये के नोट तो भारत सरकार के वित्त मन्त्रालय द्वारा छापे गए हैं।

रिजर्व बैंक के नोटों पर जो वायदा लिखा रहता है, उसका यह अर्थ है कि बैंक उस पर लिखी रकम के बराबर दूसरे नोट दे सकेगा। लेकिन उसके बदले में कोई सोना या चाँदी, आदि धातु देने की कोई प्रतिज्ञा नहीं होती है।

मुद्रा के अध्ययन में एक लाभदायक अन्तर कानूनी वैध (Legal tender) या आदेश-आश्रित (fiat money) व विश्वासाश्रित मुद्रा (fiduciary money) में किया जाना चाहिए। सिक्के व करेंसी नोट आदेश-आश्रित मुद्रा कहलाते हैं क्योंकि ये सरकार के आदेश (fiat) के आधार पर मुद्रा का काम करते हैं। ये कानूनी वैध मुद्रा (legal tender) होते है। सभी तरह के भुगतानों में इनको स्वीकार करना होता है।

इसके विपरीत बैंकों की माँग-जमाएँ (demand-deposits) विश्वासाश्रित मुद्रा होती है, क्योंकि ये सरकार के विश्वास के आधार पर स्वीकार की जाती हैं। ये कानूनी दृष्टि से वैध नही होती हैं। कोई व्यक्ति चैक लेने से इन्कार कर सकता है, और नक्द भुगतान माँग सकता है, क्योंकि चैक के भुगतान की सदैव गारण्टी नहीं होती है।

इस प्रकार आदेश-आश्रित मुद्रा कानूनी वैध मुद्रा होती है, जबकि विश्वासाश्रित मुद्रा कानूनी वैध मुद्रा नही होती। अत: *'फिएट मनी' का मुख्य गुण इसमें कानूनी वैधता (legal tender) का होना ही माना गया है।*

आधुनिक युग पत्र-मुद्रा का युग है। यदि इस पर सरकार का उचित रूप से नियन्त्रण बना रहे तो यह निर्धन व धनी सभी प्रकार के देशों के लिए उपयुक्त मानी जा सकती है। लेकिन विकासशील देशों में अत्यधिक मात्रा में पत्र-मुद्रा के जारी होने से काफी सकट उत्पन्न हुए हैं। इसलिए पत्र-मुद्रा एक प्रबल अस्त्र है जिसका उपयोग अत्यन्त सावधानी से किया जाना चाहिए। मुद्रा की पूर्ति व वस्तुओं की पूर्ति में आवश्यक ताल-मेल बैठाया जाना चाहिए, अन्यथा मुद्रास्फीति की समस्या कठिनाइयाँ उत्पन्न कर सकती है। आजकल आर्थिक नियोजन की प्रक्रिया में मौद्रिक नियोजन पर भी बल दिया जाने लगा है, जिसके अन्तर्गत मुद्रा की पूर्ति की वार्षिक वृद्धि-दर सीमित कर दी जाती है। भारत में मुद्रा की वार्षिक वृद्धि-दर को घटाने की आवश्यकता पर जोर दिया गया है ताकि मुद्रास्फीति पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सके। इस पर आगे चलकर प्रकाश डाला जायेगा।

मुद्रा का क्षेत्र
(Scope of money)[1]

मुद्रा की परिभाषा, कार्य, महत्त्व, इसका क्रमिक विकास, प्रकृति, आदि का विवेचन करने के बाद हम मुद्रा के क्षेत्र पर प्रकाश डालते हैं। मुद्रा के क्षेत्र में इस बात का विवेचन किया जाता है कि मुद्रा का अर्थव्यवस्था में वस्तुत: क्या स्थान है? दूसरे शब्दों में, मुद्रा एक अर्थव्यवस्था को कहाँ तक प्रभावित कर सकती है और कहाँ तक नहीं कर सकती ?

इस सम्बन्ध में हमें क्लासिकल विचारधारा, केन्स की विचारधारा व मुद्रावादियों (monetarists) की विचारधारा में मुद्रा की पूर्ति के परिवर्तनों के अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों पर ध्यान देना होगा। इनका सरल व सारपूर्ण परिचय नीचे दिया जाता है। इनका विस्तृत विवेचन समष्टि-अर्थशास्त्र में केन्द्रीय स्थान रखता है।

---
1 Dornbusch and Fischer, Macroeconomics, Sixth edition, 1994, pp 208-210

(1) क्लासिकल विचारधारा में मुद्रा की तटस्थता
(Neutrality of Money in classical thought)

क्लासिकल विचारधारा में मुद्रा को तटस्थ (neutral) माना गया है, क्योंकि मुद्रा के स्टॉक या पूर्ति में परिवर्तन से केवल कीमत-स्तर में ही परिवर्तन होते हैं, और अर्थव्यवस्था के वास्तविक क्षेत्रों (real sectors) जैसे उत्पत्ति, रोजगार व ब्याज की दरों में कोई परिवर्तन नहीं होते। इसलिए क्लासिकल विचारधारा में मौद्रिक व राजकोषीय नीति से उत्पत्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

लेकिन 1930 के दशक की महामंदी आदि ने विशेषतया अमेरिका में व्यापक बेरोजगारी की दशा उत्पन्न की थी जिससे केन्स का दृष्टिकोण सामने आया था। केन्स के अनुसार मुद्रा की पूर्ति बढ़ने से ब्याज की दर घटती है जिससे विनियोग बढ़ता है और फलस्वरूप उत्पत्ति व रोजगार में वृद्धि होती है और मंदी की दशा में सुधार आता है। केन्स ने रोजगार बढ़ाने के लिए राजकोषीय व मौद्रिक दोनों प्रकार के उपायों को लागू करने का समर्थन किया था।

नोबल पुरस्कार विजेता मिल्टन फ्रीडमैन जैसे मुद्रावादी अर्थशास्त्री (monetarists) व उनके अन्य समर्थक मुद्रा की पूर्ति का कीमतों पर इस प्रकार का आनुपातिक प्रभाव तो नहीं मानते जैसा कि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों–इरविंग फिशर जे बी से, तथा मिल आदि ने माना था। फ्रीडमैन व अन्य मुद्रावादियों ने मुद्रा के परिवर्तनों के अल्पकालीन व दीर्घकालीन प्रभावों में अंतर किया है। उनके अनुसार अल्पकाल में तो मुद्रा का स्टॉक बदलने से अर्थव्यवस्था पर महत्वपूर्ण किस्म के वास्तविक प्रभाव (उत्पत्ति व रोजगार आदि पर) पड़ते हैं लेकिन दीर्घकाल में मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त लागू हो जाता है और मुद्रा की तटस्थता बरकरार रहती है।

प्रश्न

1 मुद्रा का आशय है
 (अ) नकद मुद्रा या करेंसी
 (ब) बैंकों की माँग-जमाएँ
 (स) वह वस्तु जो किसी भी प्रकार के भुगतान में सर्वग्राह्य मानी जाय
 (द) सभी (स)

2. मुद्रा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य छाँटिए
 (अ) विनिमय का माध्यम (ब) मूल्य का संग्रह
 (स) मूल्य का माप (द) स्थगित भुगतान का आधार (स)

3 मुद्रा का सहायक (secondary) कार्य है
 (अ) विलम्बित भुगतान का मान
 (ब) साख का आधार
 (स) मूल्य का हस्तान्तरण
 (द) राष्ट्रीय आय के वितरण का आधार (अ)

14

मुद्रास्फीति व अवस्फीति
(Inflation and Deflation)

हम पिछले अध्याय में बतला चुके हैं कि मुद्रा का मूल्य सामान्य कीमत स्तर के विपरीत होता है। जब कीमत स्तर बढ़ता है तो मुद्रा का मूल्य घटता है और जब कीमत स्तर घटता है तो मुद्रा का मूल्य बढ़ता है। इस अध्याय में हम प्रमुखतया मुद्रास्फीति (Inflation) व अवस्फीति (deflation) पर प्रकाश डालेंगे। मुद्रास्फीति में कीमत स्तर में लगातार वृद्धि (persistent rise) होती है, जबकि अवस्फीति (deflation) में कीमत स्तर, उत्पत्ति व रोजगार में गिरावट आती है। मुद्रास्फीति को कम करने के उपाय विस्फीति (disinflation) के अन्तर्गत आते हैं, तथा अवस्फीति को दूर करने के उपाय सस्फीति (reflation) के अन्तर्गत आते हैं। इसलिए प्रायः विस्फीति की चर्चा मुद्रास्फीति के साथ तथा सस्फीति की चर्चा अवस्फीति के साथ की जाती है। पिछले वर्षों में मुद्रास्फीति व बेरोजगारी, अथवा मूल्यों में तेजी व रोजगार में मंदी, दोनों के साथ-साथ पाये जाने पर स्टेगफ्लेशन (stagflation) या स्लम्पफ्लेशन (slumpflation) की समस्या भी सामने आयी है, जिसका परिचय देना आवश्यक हो गया है। साथ में हम वर्तमान साहित्य में प्रयुक्त शब्दों, जैसे रिसेशन या शिथिलता (recession), मंदी (depression), आदि का भी अर्थ स्पष्ट करेंगे, ताकि आर्थिक जगत की इन विभिन्न हलचलों की अधिक सुनिश्चित जानकारी हो सके।

आधुनिक युग में मुद्रास्फीति की समस्या एक विश्वव्यापी समस्या मानी गयी है। विकसित व विकासशील दोनों प्रकार के देश इस समस्या के शिकार पाये जाते हैं। मुद्रास्फीति को अर्थव्यवस्था का सबसे बड़ा शत्रु (enemy number one of the economy) माना गया है। दूसरी प्रमुख समस्या बेरोजगारी की होती है। जब मुद्रास्फीति और बेरोजगारी दोनों एक साथ पाये जाते हैं तब आर्थिक समस्या और भी जटिल हो जाती है। अर्थशास्त्रियों के समक्ष आज भी मुख्य प्रश्न यही बना हुआ है कि मूल्य स्थिरता और पूर्ण रोजगार एक साथ कैसे प्राप्त किये जा सकते हैं।

विश्व विकास रिपोर्ट, 1996 के अनुसार 1984-94 की अवधि में कुछ देशों में मुद्रास्फीति की वार्षिक दर इस प्रकार रही[1]—

1 World Development Report 1996, World Bank, pp 190-191

मुद्रास्फीति की वार्षिक दर (1984-94)

(% में)

1	निकारागुआ	13111.2
2	यूक्रेन	2970
3	पेरू	492.2
4	ब्राज़ील	900.3
5	अर्जेन्टाइना	317.2
6	अमरीका	3.3
7	जापान	1.3
8	चीन	8.4
9	भारत	9.7

तालिका से पता चलता है कि *निकारागुआ*, यूक्रेन, पेरू, ब्राज़ील व *अर्जेन्टाइना* में मुद्रास्फीति की वार्षिक दरें तीन अंकों में काफी ऊँची रहीं, जबकि भारत में यह 9.7% तथा अमेरिका व जापान में अपेक्षाकृत नीची रहीं। लेटिन अमरीकी देशों में तीव्र मुद्रास्फीति की वार्षिक दर, जैसे ब्राज़ील में 900.3%, देखकर विश्वास नहीं होता कि ऐसा भी कुछ हो सकता है। लेकिन ये आँकड़े आवश्यक तथ्यों को प्रगट करते हैं। **भारत में 1950-51 में 6 रुपयों में जितनी वस्तुएँ व सेवाएँ आती थी जुलाई 1994 में उन्हीं के 100 रुपये आँके गये हैं (1950-51 में अखिल भारतीय उपभोक्ता मूल्य-सूचकांक के 17 से बढ़कर जुलाई 1994 में 281 पाइन्ट पर आ जाने से) (1982=100 लेने पर)। थोक मूल्यों को लेने पर 1950-51 से 1993-94 के बीच भारत में मुद्रास्फीति की वार्षिक दर 6.5% रही।** भारत में पचास के दशक में यह 1.5%, साठ के दशक में 6.1%, सत्तर के दशक में 9.9%, तथा 1980-81 से *1993-94* के बीच 8.1% रही। इस प्रकार पचास से सत्तर के दशक में मुद्रास्फीति की वार्षिक दर में वृद्धि (acceleration) की प्रवृत्ति पायी गयी है।[1] इस प्रकार समस्या न केवल मुद्रास्फीति की होती है, बल्कि मुद्रास्फीति की गति की वृद्धि (acceleration of inflation) की भी होती है। मुद्रास्फीति की समस्या एक विश्वव्यापी समस्या है। यह विकसित व विकासशील दोनों प्रकार के देशों में देखने को मिलती है।

हम प्रारम्भ में मुद्रास्फीति की विभिन्न किस्मों, इसके कारणों, परिणामों व नियन्त्रण की विधियों पर विचार करेंगे।

मुद्रास्फीति की परिभाषा (Definition of Inflation)

प्रारम्भ में मुद्रास्फीति का अर्थ ठीक से समझ लेना चाहिए क्योंकि इसके सम्बन्ध में कई प्रकार के भ्रम पाये जाते हैं। **जब सामान्य मूल्य-स्तर में बढ़ने की प्रवृत्ति पायी जाती है तो हम उसे मुद्रास्फीति कहते हैं।** सामान्य मूल्य-स्तर में अनेक वस्तुओं व सेवाओं की कीमतों का समावेश किया जाता है। **एक-दो वर्षों में सामान्य कीमत-स्तर का बढ़ना मुद्रास्फीति नहीं कहलाता, बल्कि कीमत-स्तर में लगातार बढ़ने (persistent rise) को स्थिति मुद्रास्फीति**

1 Basic Statistics Relating to the Indian Economy, August 1994 tables 22.2

कहा जाता है। इसके अलावा मुद्रास्फीति के समय कुछ वस्तुओं की कीमतें बढ़ सकती हैं कुछ की घट सकती हैं और कुछ की स्थिर रह सकती हैं। लेकिन औसत रूप से सामान्य कीमत स्तर (general level of prices) में बढ़ने की प्रवृत्ति पायी जाती है और यह प्रवृत्ति जारी रहती है।

गार्डनर एक्ले (Gardner Ackley) के अनुसार "हम मुद्रास्फीति को सामान्य कीमत स्तर में *निरंतर व काफी वृद्धि (persistent and appreciable rise)* के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। इससे मुद्रास्फीति स्पष्टतया एक प्रक्रिया *(process)* बन जाती है, जो बढ़ती कीमतों, न कि ऊँची कीमतों की सूचक होती है। इस प्रकार, कुछ अर्थों में, मुद्रास्फीति एक असंतुलन की दशा होती है। इसका विश्लेषण स्थैतिकी के उपकरणों से न किया जाकर प्रावैगिक रूप में किया जाना चाहिए। स्थैतिकी हमें उन दशाओं के बारे में तो बतला सकती है जिनमें मुद्रास्फीति उत्पन्न हो सकती है, अथवा यह उसकी सीमाओं को भी परिभाषित कर सकती है (कीमत-स्तर के संतुलन की दशाओं का वर्णन करके)। *लेकिन मुद्रास्फीति की दर का विश्लेषण करने के लिए जैसे–यह प्रति वर्ष 15 प्रतिशत की बजाय 1 प्रतिशत क्यों है–इसे स्पष्ट करने का काम समष्टि प्रावैगिकी (macrodynamics) का होता है।*"[1]

इस परिभाषा की मुख्य बातें इस प्रकार हैं (i) मुद्रास्फीति में कीमत-स्तर में लगातार व उल्लेखनीय मात्रा में वृद्धि होती है, (ii) यह एक असंतुलन की दशा होती है, (iii) यह एक प्रक्रिया होती है, (iv) इसका विश्लेषण प्रावैगिकी की सहायता से किया जाना चाहिए।

मुद्रास्फीति की दर में सामान्य कीमत स्तर में परिवर्तन की दर देखी जाती है। इसका सूत्र काफी सरल होता है जो इस प्रकार दर्शाया जा सकता है—

$$\text{वर्ष } t \text{ में मुद्रास्फीति की दर} = \frac{(\text{वर्ष } t) \text{ में कीमत स्तर} - (\text{वर्ष } t\text{-}1) \text{ में कीमत स्तर}}{(\text{वर्ष } t\text{-}1) \text{ का कीमत स्तर}} \times 100$$

कीमत स्तर को सूचकांकों (index numbers) की सहायता से जाना जाता है। मान लीजिए, (वर्ष t) का कीमत स्तर = 120 तथा (वर्ष t-1) का कीमत स्तर 110 है तो मुद्रास्फीति की वार्षिक दर $= \frac{120-110}{110} \times 100 = \frac{100}{11}$ = लगभग 9.1% होगी।

---

1 We can define Inflation as a persistent and appreciable rise in the *general level of prices. This clearly makes inflation a process : rising prices, not high prices.* Thus, in some sense inflation is a disequilibrium state. It must be analysed dynamically rather than with the tools of statics. The latter may tell us something about the conditions under which an inflation may emerge or possibly define its limits (by describing the conditions of price level equilibrium). *But to analyse the rate of inflation, to explain why it is 1 percent rather than 15 percent a year is essentially a problem of macrodynamics.*

–Gardner Ackley Macroeconomics : Theory and Policy, 1978, reprinted in 1987 p. 426.

मुद्रास्फीति की दर को ज्ञात करने के लिए कई प्रकार के सूचकांकों का उपयोग किया जाता है। वर्तमान समय में भारत में थोक मूल्य सूचकांक आधार-वर्ष 1981 82 = 100 को मान कर तैयार किये जाते हैं। ये प्रत्येक सप्ताह के अंत में घोषित किये जाते हैं। इनका उपयोग दो प्रकार से किया जा सकता है प्रथम, 1995-96 (अप्रैल मार्च) के 52 सप्ताहों के सूचकांकों के औसत की तुलना *1994-95* (अप्रैल मार्च) के 52 सप्ताहों के सूचकांकों के औसत से की जा सकती है। इससे 1995-96 के लिए (थोक मूल्यों पर आधारित) मुद्रास्फीति की औसत वार्षिक दर (1994-95 की तुलना में) प्राप्त हो जाती है। द्वितीय, एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु के आधार पर (point-to-point basis) पर मुद्रास्फीति की दर ज्ञात की जा सकती है, जिसका आजकल भारत में काफी बोलबाला है। उदाहरण के लिए 12 अप्रैल, *1997 को समाप्त होने वाले सप्ताह के अंत में थोक मूल्य सूचकांक 322 6 हो गया था,* जबकि पिछले वर्ष अप्रैल 1996 में लगभग इसी तारीख को समाप्त होने वाले सप्ताह में यह 302 5 रहा था। अत 12 अप्रैल, 1997 को समाप्त होने वाले सप्ताह के अंत में (बिन्दु से *बिन्दु के आधार पर) (वार्षिक औसत के आधार पर नहीं) मुद्रास्फीति की दर* $\frac{322\,6-302.5}{302.5}$ = 6 64% रही। आजकल दैनिक समाचार-पत्रों व मीडिया में इसकी सूचना बराबर प्रसारित होती रहती है।

इस प्रकार भारत सरकार यह दावा करने लगी है कि देश मे मुद्रास्फीति की दर पिछली अवधि मे दहाई अक (double digit) से घटकर एक अक (Single digit) मे आ गई है।

मुद्रास्फीति की दर को ज्ञात करने का दूसरा तरीका उपभोक्ता मूल्य सूचकांक (Consumer Price Index Number) बनाना होता है। इसमें खुदरा मूल्य शामिल किये जाते है। भारत में अखिल भारतीय उपभोक्ता मूल्य सूचकांकों का पहले आधार वर्ष *1960* हुआ करता था, जो अब 1982 कर दिया गया है। ये मासिक आधार पर घोषित किये जाते है, और उपभोक्ताओं के जीवन व्यय के परिवर्तन को सूचित करते हैं। ***जैसे 1982 = 100 मानने पर फरवरी 1997 का अखिल भारतीय उपभोक्ता मूल्य सूचकांक = 350*** रहा जिसे 1960 से जोड़ने के लिए 4 928 लिंक-अनुपात (Linking ratio) से गुणा करने पर 1725 आता है। इसका अर्थ यह है कि जिन वस्तुओं व सेवाओं को प्राप्त करने के लिए 1960 में 100 रुपये लगते थे, उनको फरवरी 1997 में प्राप्त करने के लिए लगभग 1725 रुपये देने पड़े, ***अर्थात् रुपये का मूल्य मुद्रास्फीति के कारण घट कर लगभग 5.8 पैसे मात्र रह गया है, जो एक चिन्ता का विषय है।***

इस विवरण से मुद्रास्फीति के अर्थ व माप का सरल परिचय मिलता है जिसको जानना आवश्यक होता है। भारत में मुद्रास्फीति का उपभोक्ता के जीवन स्तर पर प्रभाव जानने के लिए उपभोक्ता मूल्य सूचकांकों का उपयोग करना उचित होगा। इसके लिए भी 1996 97 के बारह महीनों के औसत सूचकांक की तुलना 1995-96 के वार्षिक औसत सूचकांक से करना ज्यादा सार्थक होगा, ताकि पूरे वर्षभर की बदलती हुई स्थिति की जानकारी हो सके।

मुद्रास्फीति के सम्बन्ध में *प्राय निम्नलिखित भ्रम पाये जाते है जिन्हें दूर किया जाना चाहिए*[1]—

1 Samuelson & Nordhaus, Economics, 15th ed , 1995, Chapter 30

(1) क्या मुद्रास्फीति का यह अर्थ है कि इसमें वस्तुएँ महँगी (expensive) होती है? नहीं, मुद्रास्फीति का तो केवल यह आशय है कि औसत कीमत स्तर बढ रहा है। चाहे वस्तुएं महँगी हों या ऊँचे दामों में मिलती हों, लेकिन जब तक औसत कीमत स्तर स्थिर रहता है तब तक मुद्रास्फीति की दशा नहीं मानी जाती है।

(2) क्या मुद्रास्फीति का यह अर्थ है कि हम उत्तरोत्तर अधिक निर्धन होते जा रहे हैं? यह भी आवश्यक नहीं है, क्योंकि मुद्रास्फीति की अवधि में यदि मौद्रिक आमदनी बढती जाती है तो वास्तविक आमदनी बढ सकती है, अथवा घट सकती है। इसलिए यह जरूरी नहीं कि मुद्रास्फीति की अवधि में लोग अधिक गरीब ही होते जायें। मुद्रास्फीति के समय जहाँ एक तरफ कीमत स्तर बढता है वहाँ दूसरी तरफ लोगों की मौद्रिक आय भी बढती है। इसलिए लोगों का अधिक निर्धन होना जरूरी नहीं होता।

(3) फर्में मजदूरों के हितों पर कुठाराघात करके मुद्रास्फीति के समय अपने हितों को आगे बढ़ाती है? यह भी आवश्यक नहीं माना गया है। मुद्रास्फीति की स्थिति में जरूरी नहीं कि मजदूरों के हितों को क्षति पहुँचाकर फर्में अपने मुनाफे अधिकतम करें। यह अलग अलग देशों की दशाओं व आय के वितरण पर प्रभावों को देख कर ही जाना जा सकता है।

स्मरण रहे कि विस्फीति (disinflation) की दशा मे भी कीमतों का बढ़ना तो जारी रहता है, लेकिन मुद्रास्फीति की दर घटती जाती है। जैसे यदि मुद्रास्फीति की वार्षिक दर 16% से घटकर 8% पर आ जाती है, तो कीमतों के बढ़ते जाने पर भी यह विस्फीति की दशा कहलायेगी, क्योंकि इसमें मुद्रास्फीति पर कुछ सीमा तक नियंत्रण स्थापित होने लगा है।

शिथिलता, अर्थात् रिसेशन (recession) की दशा में वास्तविक सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति (real GNP) में दो या अधिक लगातार तिमाहियों (two or more successive quarters) तक गिरावट आती है। इस प्रवृत्ति के जारी रहने पर अर्थव्यवस्था महान मदी (depression or slump) के दौर में प्रवेश कर सकती है। वैसे रिसेशन व डिप्रेशन में तीव्रता (intensity) का ही अंतर होता है, न कि किस्म का। डार्नबुश व फिशर ने एक जगह विनोदपूर्वक कहा है कि यदि हमारा पडौसी बेरोजगार है तो रिसेशन (recession) है और यदि हम बेरोजगार हो जाएँ तो डिप्रेशन (depression) है।

अत पाठकों को मुद्रास्फीति, विस्फीति, मदी आदि शब्दों के अंतर पर पूरा ध्यान देना चाहिए।

मुद्रास्फीति की विभिन्न किस्में

(Different Types of Inflation)

विभिन्न आधारों पर मुद्रास्फीति के कई रूप बतलाये जा सकते हैं।

(अ) सर्वप्रथम, मुद्रास्फीति की तीव्रता (severity or intensity) या वार्षिक दर के आधार पर प्राय तीन भेद किये जा सकते हैं (1) साधारण मुद्रास्फीति (moderate inflation), (2) तेज रफ्तारवाली मुद्रास्फीति (galloping inflation) (3) अत्यधिक तेज रफ्तारवाली मुद्रास्फीति (hyperinflation), इसी के आधार पर सेमुअल्सन व नोरडाउस ने मुद्रास्फीति के एक और रूप की चर्चा की है जिसे समान गतिशाली मुद्रास्फीति (inertial inflation) कहा गया है। इसमें मूल्य वृद्धि की वार्षिक दर कई वर्षों तक समान बनी रहती है।

(ब) द्वितीय, कारणों (causes) के आधार पर प्राय मुद्रास्फीति के निम्न रूप देखने को मिलते हैं (1) माँगजन्य मुद्रास्फीति (demand pull inflation or excess demand-inflation), (2) पूर्तिजन्य या लागत-जन्य मुद्रास्फीति (cost push inflation), लागत-जन्य मुद्रास्फीति में लागतें कई कारणों से बढ सकती हैं, जैसे मजदूरी का बढना, कच्चे माल की कीमत का बढना, मुनाफा बढा लेना, आदि। आयातित माल की कीमत बढने से भी लागत बढ सकती है। (3) ढाँचेगत मुद्रास्फीति (structural inflation), जो विकासशील देशों में मुद्रास्फीति की दशा का द्योतक होता है।

मुद्रास्फीति की इन विभिन्न किस्मों का नीचे वर्णन किया जाता है—

(अ) मुद्रास्फीति की तीव्रता (intensity) के आधार पर विभिन्न किस्में

(1) साधारण मुद्रास्फीति (Moderate inflation)

इसमें कीमतों में धीमी गति से वृद्धि होती है। प्राय एक इकाई वाली मुद्रास्फीति (single digit inflation) की वार्षिक दरों की स्थिति को साधारण मुद्रास्फीति कह कर सम्बोधित किया जाता है। इस स्थिति में लोगों का मुद्रा में विश्वास बना रहता है। लोग मुद्रा में दीर्घकालीन समझौते करने से नहीं हिचकिचाते, क्योंकि उनको विश्वास होता है कि मुद्रा का मूल्य भविष्य में आज की तुलना में बहुत ज्यादा नहीं बदलेगा। वे अपने धन को "वास्तविक परिसम्पत्ति" के रूप में बदलने की बजाय मुद्रा के रूप में रखना ज्यों रखते हैं, क्योंकि उन्हें मुद्रा के मूल्य की स्थिरता में विश्वास होता है। जैसा कि पहले बतलाया गया है कि विश्व विकास रिपोर्ट, 1996 के अनुसार चीन में मुद्रास्फीति की वार्षिक दर 1984-94 के दशक में 8.4% तथा जापान में 1.3% थी, जिसके कारण वहाँ साधारण मुद्रास्फीति की दशा मानी जा सकती है।

(2) तेज रफ्तार वाली मुद्रास्फीति (Galloping inflation)

इसे "दौडती हुई" मुद्रास्फीति भी कहा जाता है। इस प्रकार की मुद्रास्फीति प्राय दो अकों में व तीन अकों में देखने को मिलती है, जैसे—20%, 100%, 200% आदि। 1984-94 की अवधि में इस प्रकार की मुद्रास्फीति विश्व के कई देशों में पायी गयी है, जैसे ब्राजील में वार्षिक मुद्रास्फीति की दर 900 प्रतिशत, यूक्रेन में 297 प्रतिशत तथा अर्जेन्टीना में 317.2 प्रतिशत, आदि, आदि। इस प्रकार की मुद्रास्फीति से देश की आर्थिक स्थिति गडबडा जाती है। वास्तविक ब्याज की दरें (*real interest rate*) बडी मात्रा तक ऋणात्मक हो जाती है। लोग-बाग माल इकट्ठा करने लगते हैं, मकान खरीदने लगते हैं और ब्याज पर उधार देना बद कर देते हैं। लोग अपनी मुद्रा विनियोग के लिए विदेशों में भेजने लगते हैं जिससे घरेलू विनियोग काफी घट जाता है। अत इस प्रकार की मुद्रास्फीति से देश की अर्थव्यवस्था काफी खतरे में पड जाती है।

(3) अत्यधिक तेज रफ्तार वाली मुद्रास्फीति (Hyperinflation)

इस प्रकार की स्थिति में कीमतें प्रति वर्ष बेकाबू ढग से बढने लगती हैं। 1920 के दशक में जर्मनी में यह दशा पायी गयी थी। वहाँ जनवरी 1922 से नवम्बर 1923 के बीच कीमत-सूचकाक 1 से बढकर 10 हो गया था। पोलैण्ड में वर्ष 1989-90 में समाजवाद से बाजार-अर्थव्यवस्था की तरफ जाने के दौरान कीमतें 1000 प्रतिशत बढी थीं। 1989 में अर्जेन्टीना में मुद्रास्फीति की दर 3080 प्रतिशत रही थी। बोलीविया में 1985 में यह

11,750 प्रतिशत रही थी।[1] इस प्रकार हाइपर मुद्रास्फीति की दशाएँ भी विश्व में पाई गयी हैं। इन अवधियों में मुद्रा की वास्तविक माँग बहुत घट जाती है लोग अपनी मुद्रा को खर्च करने की भरसक व शीघ्र कोशिश करते हैं। सरकार मुद्रा प्रसार तेजी से करती है। इस प्रकार की मुद्रास्फीति से अर्थव्यवस्था नष्ट भ्रष्ट हो जाती है। लार्ड रोबिन्स का मत है कि इस स्थिति में आर्थिक असतुलन अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है और सम्भवतया हिटलर जैसी हस्तियाँ भी हाइपरमुद्रास्फीति की ही देन कही जा सकती हैं।

यह कहना ठीक होगा कि सामान्य काल मे लोग जेब मे पैसा ले जाते है और टोकरो में खाद्य-पदार्थ लाते हैं, लेकिन हाइपरमुद्रास्फीति की अवधि मे टोकरो में पैसा ले जाते है और जेबो मे खाद्य पदार्थ लाते है। इससे इस प्रकार की मुद्रास्फीति की गम्भीरता का अनुमान लगाया जा सकता है। उपर्युक्त कथन में हाइपरमुद्रास्फीति की विशेषता समायी हुई है।

सेमुअल्सन व नोरढाउस ने स्थिर गतिवाली मुद्रास्फीति (inertial inflation) का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार की मुद्रास्फीति समान गति से उस समय तक जारी रहती है जब तक कि आर्थिक घटनाओं का कोई भारी परिवर्तन उसे न बदल दे। 1980 के मध्य में अमेरिका में कीमतें लगभग 4% सालाना बढ़ती गई और लोगों ने इसे ही मुद्रास्फीति की प्रत्याशित दर (expected rate) मान लिया था। सरकार की मौद्रिक व राजकोषीय नीति के लिए यह दर मान ली गयी थी। यह दर दीर्घकाल में भी जारी रह सकती है। लेकिन व्यवहार में यह देखा गया है कि यह दीर्घकाल में स्थिर नहीं रह सकती, क्योंकि इस पर निम्न तत्वों का प्रभाव पडता है जैसे समग्र माँग के परिवर्तन, तेल के भावों में परिवर्तन, फसलों के उत्पादन में उतार चढ़ाव के कारण अचानक भारी गिरावट, विदेशी विनिमय दर (अवमूल्यन आदि) के प्रभाव, उत्पादकता के परिवर्तन, आदि, आदि। इस प्रकार माँग पक्ष व पूर्ति पक्ष की ओर से पड़ने वाले प्रभाव स्थिर गति वाली मुद्रास्फीति में भी परिवर्तन उत्पन्न कर सकते हैं।

(ब) कारणो के आधार पर मुद्रास्फीति के विभिन्न रूप

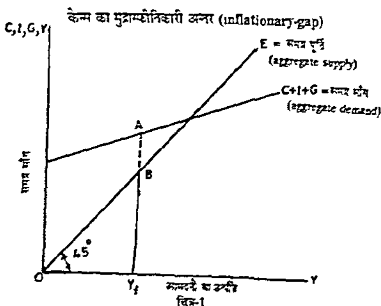
(1) माँग-जन्य मुद्रास्फीति (Demand-Pull Inflation)

इसे अतिरिक्त माँग की मुद्रास्फीति भी कह सकते हैं। अतिरिक्त माँग की स्थिति में *उत्पत्ति की समग्र वास्तविक माँग पूर्ण रोजगार की उत्पत्ति की तुलना में अधिक हो जाती है,* जिससे माँगजन्य मुद्रास्फीति उत्पन्न हो जाती है।

इस सम्बन्ध में केन्स का स्फीतिकारी अन्तर (inflationary gap) वाला विश्लेषण प्रयुक्त किया जा सकता है। इसे अग्र चित्र की सहायता से समझाया जा सकता है।

स्पष्टीकरण—चित्र में OY क्षैतिज अक्ष पर आमदनी या वास्तविक उत्पत्ति मापी गई है। 45° पर OE रेखा समग्रपूर्ति (aggregate supply) को सूचित करती है। C+I+G रेखा समग्र माँग (aggregate demand) को सूचित करती है। क्षैतिज अक्ष पर Y_f पूर्ण रोजगार की स्थिति अथवा अर्थव्यवस्था द्वारा अधिकतम उत्पत्ति की मात्रा को सूचित करती है, जिसका अल्पकाल से सम्बन्ध होता है। इस स्थिति में अतिरिक्त माँग की मात्रा AB के द्वारा सूचित की जाती है, क्योंकि यह समग्र माँग व समग्र पूर्ति की दूरी को बतलाती है। इसे

1 Dornbusch and Fischer, Macroeconomics, Sixth ed., 1994, p. 558 table 18.7 इन्होंने भी हाइपरमुद्रास्फीति में मुद्रास्फीति की वार्षिक दर 1000 प्रतिशत व अधिक मानी है।



चित्र-1

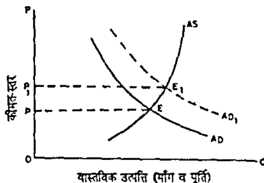
स्फीतिकारी अंतर (inflationary gap) भी कहा जाता है। ऐसी दशा में अतिरिक्त माँग के कारण कीमतों में बढ़ने की प्रवृत्ति लागू हो जाती है, क्योंकि पूर्ण रोजगार की उत्पत्ति की मात्रा Y_f से आगे उत्पत्ति नहीं बढ़ायी जा सकती।

यह स्फीतिकारी अंतर कम तभी हो सकता है जबकि किसी कारण से उपभोग-फलन नीचे की ओर खिसके, अथवा ब्याज बढ़ने से विनियोग कम हो, अथवा करों की वसूली कीमतों से ज्यादा तेज गति से बढ़े, ताकि खर्च योग्य वास्तविक आय में कमी आने से उपभोग नीचे की ओर आए। देश में कीमतों के बढ़ने से आयात बढ़ते हैं व निर्यात कम होते हैं जिससे शुद्ध विदेशी विनियोग कम होने से भी C+I+G वक्र नीचे की ओर खिसकेगा। इस प्रकार कई प्रकार के प्रभावों के फलस्वरूप C+I+G वक्र के नीचे आ कर B बिन्दु पर समग्र पूर्ति वक्र को काटने से स्फीतिकारी-अंतर समाप्त हो सकता है।

जैसा कि आगे स्पष्ट किया गया है कि इस प्रकार की मुद्रास्फीति का जन्म माँग-पक्ष की ओर से होता है, जैसे भारत में योजनाकाल में सरकारी व्यय काफी बढ़ाया गया है। इसके अलावा सरकार का गैर योजना व्यय भी काफी बढ़ा है, फलस्वरूप बजट-घाटा काफी ऊँचा हुआ है जिसके लिए घाटे की वित्त-व्यवस्था करके मुद्रा की पूर्ति बढ़ाई गयी है, और फलस्वरूप माँग में वृद्धि के कारण मुद्रास्फीति उत्पन्न हुई है। यह चित्र 2 में दर्शायी गई है—

स्पष्टीकरण—OQ अक्ष पर वास्तविक उत्पत्ति की मात्रा ली गई है जो माँग व पूर्ति को दर्शाती है तथा OP अक्ष पर कीमत स्तर माना गया है। स्मरण रहे यहाँ AD माँग-वक्र व AS पूर्ति-वक्र साधारण रूप में क्रमशः कीमत स्तर व माँग का तथा कीमत स्तर व पूर्ति का सम्बन्ध बतलाते हैं। प्रथम सतुलन में E बिन्दु पर P कीमत निर्धारित होती है। बाद में माँग के AD से बढ़कर AD_1 हो जाने पर पूर्व AS वक्र के साथ नया संतुलन E_1 पर स्थापित

माँगजन्य मुद्रास्फीति का दूसरा चित्र



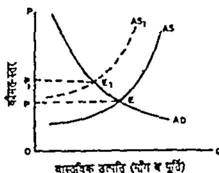
चित्र 2 : माँगजन्य मुद्रास्फीति (Demand-pull inflation)

होता है जिससे कीमत स्तर P से बढ़कर P_1 हो जाता है। इस प्रकार यहाँ माँग के बढ़ने से कीमत स्तर बढ़ा है। अत यह माँगजन्य या माँग के खिंचाव से उत्पन्न मुद्रास्फीति की दशा का सूचक है। 1920 के दशक में जर्मनी की हाइपरमुद्रास्फीति माँगजन्य मुद्रास्फीति ही थी।

भारत में पिछले लगभग चार दशकों में मुद्रास्फीति मूलत माँगजन्य मुद्रास्फीति ही मानी गयी है। इस पर जनसख्या की वृद्धि का भी प्रभाव पड़ा है। इसमें मुद्रा की पूर्ति की वृद्धि की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

(2) लागत-जन्य मुद्रास्फीति (Cost-push inflation)

यह पूर्ति पक्ष की ओर से उत्पन्न होती है। इसका लागतों की वृद्धि से सम्बन्ध होता है। लागतों की वृद्धि में प्राय मौद्रिक मजदूरी की वृद्धि, कच्चे माल (स्वदेशी व विदेशी) की कीमतों में वृद्धि, आदि के कारण उत्पन्न होती है। 1973, 1978 तथा 1990 में क्रूड तेल के



चित्र 3 : लागतजन्य मुद्रास्फीति (Cost-plus inflation)

मूल्यों में भारी वृद्धि ने भी तेल के आयातक देशों में मुद्रास्फीति को बढ़ावा दिया है। इनके कारण उत्पादन लागत में वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप कीमत-स्तर को स्थिर रखना असम्भव हो गया था।

लागतजन्य मुद्रास्फीति पूर्ण रोजगार की दशा से पहले उत्पादन क्षमता के अप्रयुक्त रहने व श्रमिकों के बेरोजगार पाये जाने की अवस्था में भी उत्पन्न हो सकती है। इसे चित्र 3 की सहायता से समझाया गया है।

स्पष्टीकरण—चित्र 3 में पूर्ति वक्र के ऊपर की ओर खिसकने से AS_1 वक्र पूर्व माँग वक्र AD को E_1 पर काटता है जिससे कीमत स्तर P से बढ़कर P_1 पर आ जाता है। अत यहाँ सामान्य कीमत स्तर की वृद्धि अर्थात् मुद्रास्फीति का कारण लागत का बढ़ना होता है।

हमने AS वक्र को सारी दूर बढ़ता हुआ दिखाया है क्योंकि हमने माना है कि *अर्थव्यवस्था में अप्रयुक्त उत्पादन क्षमता विद्यमान है जिसका उपयोग करते जाने पर पूर्ति* बढ़ती जाती है। यदि बीच में पूर्ण रोजगार का बिन्दु आ जाता तो उससे परे AS वक्र को सम्बवत् (vertical) दिखाया जा सकता था। उससे हमारे मूल विवेचन में विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

हम जानते हैं कि लागतों में वृद्धि से कीमतों में वृद्धि करना आर्थिक दृष्टि से आवश्यक हो जाता है। मजदूर संघ अपनी सौदाकारी शक्ति बढ़ाकर मजदूरी बढ़वाने में सफल हो जाते हैं। विदेशों से आयातित महँगे कच्चे माल से उत्पादन-लागत बढ़ती है। पावर की कीमत या दर बढ़ने से लागत में वृद्धि होती है। *यही नहीं बल्कि ऊँचे ब्याज व ऊँचे मुनाफा (सामान्य मुनाफों)* के कारण भी लागत बढ़ती है।

(3) ढाँचागत मुद्रास्फीति (Structural Inflation)

विकासशील देशों में प्राय ढाँचागत या संरचनात्मक मुद्रास्फीति की दशा भी पायी जाती है। *यहाँ खाद्यान्नों या उत्पादन माँग के अनुसार बढ़ना कठिन होता है। कृषिगत उत्पादन पर* मानसून व प्राकृतिक तत्वों का भी प्रभाव पाया जाता है। देश में आधारभूत ढाँचे में जैसे परिवहन, विद्युत की सप्लाई, आदि में भी कई प्रकार की रुकावटें पायी जाती हैं। कई प्रकार की संस्थागत कठिनाइयाँ (भूमि सुधारों के अभाव व भू स्वामित्व का पुराना स्वरूप) टेक्नोलोजिकल पिछड़ापन व सगठनात्मक एव प्रशासनिक बाधाएँ विकास के मार्ग में रोड़े अटकाते रहते हैं। सम्पूर्ण सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक ढाँचा विकास के मार्ग में साधक न होकर बाधक बना रहता है। इसलिए कुछ विद्वानों का मत है कि विभिन्न ढाँचेगत कारणों से विकासशील देशों में इस प्रकार की मुद्रास्फीति देखने को मिलती है।

विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं में निम्न किस्म की ढाँचेगत बाधाएँ (structural gaps or bottlenecks) पायी जाती हैं जिससे उनमें ढाचागत मुद्रास्फीति का विशेष प्रभाव देखा जाता है[1]—

(1) साधनों का अंतर या अभाव (Resources bottleneck)

विकासशील देशों में विकास के लिए वित्तीय साधनों की कमी पायी जाती है। इनकी सार्वजनिक क्षेत्र व निजी क्षेत्र दोनों के लिए कमी होती है। नियोजित विकास के लिए साधनों

1 Suraj B Gupta Monetary Economics - Institutions, Theory and Policy, Fourth edition, 1997, pp. 2(4-267

(2) मुद्रास्फीति का दूसरा कारण उत्पादन की गतिहीनता अथवा धीमी गति से बढ़ना माना गया है। भारत जैसे देश में कृषिगत उत्पादन वर्षा पर आश्रित रहने के कारण काफी अनिश्चित माना गया है। औद्योगिक उत्पादन भी आयातित कच्चे माल पर आश्रित होने के कारण सुनिश्चित नहीं हो पाता। यही कारण है कि कुछ विचारक मुद्रास्फीति को मौद्रिक प्रश्न नहीं मान कर माल के उत्पादन व सप्लाई का प्रश्न मानते हैं। उनके अनुसार मुद्रास्फीति की समस्या मूलत इसलिए है कि माल का उत्पादन पर्याप्त मात्रा में नहीं बढ पा रहा है।

(3) जैसा कि हम लागतजन्य मुद्रास्फीति के अन्तर्गत स्पष्ट कर चुके हैं, विशेषतया औद्योगिक वस्तुओं की कीमतें उनकी लागतों के ऊँचे होने का परिणाम होती हैं। कृषि के व्यवसायीकरण के बाद उर्वरकों व अन्य कृषिगत इन्पुटों की लागतें बढ़ने से इनके वसूली मूल्यों में भी प्रतिवर्ष वृद्धि की गई है। इस प्रकार एक ऊँची लागत वाली अर्थव्यवस्था एक ऊँची कीमत वाली अर्थव्यवस्था ही प्रमाणित होती है। ऊँची लागतों के लिए ऊँची मजदूरी, पावर की ऊँची दरें, ब्याज की ऊँची दरें व अन्य खर्चों की अत्यधिक वृद्धियाँ, जैसे परिवहन की लागत, आदि जिम्मेदार होती हैं।

(4) मुद्रास्फीति का एक पहलू *आयातित मुद्रास्फीति (Imported inflation)* माना गया है। विदेशों से ऊँचे मूल्यों पर आयात करने से मुद्रास्फीति को बढ़ावा मिलता है। जैसे क्रूड तेल व पेट्रोलजन्य पदार्थों के भाव विदेशों में बढ़ने से भारत में भी इनके दाम बढ़ाने पड़ते हैं जिससे मुद्रास्फीति बढ़ती है। अर्थशास्त्री भारत में मुद्रास्फीति का एक कारण आयातित पदार्थों के भावों में वृद्धि होना भी मानते हैं।

(5) प्रशासित व नियंत्रित कीमतों (Administered prices) में वृद्धि करने से भी मुद्रास्फीति को प्रोत्साहन मिलता है। सरकार विभिन्न कृषिगत पदार्थों के न्यूनतम समर्थन या वसूली मूल्य *(procurement prices)* बढ़ाती है, जिससे खुले बाजार में इनके मूल्य बढ़ने लगते हैं। इसी प्रकार औद्योगिक पदार्थों जैसे उर्वरक, इस्पात या अन्य वस्तुओं के प्रशासित मूल्यों में वृद्धि की घोषणा से मुद्रास्फीति के दबाव बढ़ते हैं।

(6) एन. ए. मुजुमदार (N.A. Mujumdar) व अन्य विद्वानों का विचार है कि भारत जैसे देश में मुद्रास्फीति पूर्णतया एक मौद्रिक तथ्य नहीं है, बल्कि इस पर बाजार की प्रत्याशाओं (market expectations) का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। जब बाजार में यह धारणा हो जाती है कि कीमतें बढ़ेंगी तो कीमतों में वृद्धि की प्रवृत्ति लागू हो जाती है। इसलिए ब्याज की दर को 19 20% तक बढ़ा कर मुद्रास्फीति को नियन्त्रित करने का प्रयास करना सफल नहीं होगा, बल्कि इससे विनियोग व उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा जिससे मुद्रास्फीति के दबाव कम होने के बजाय बढ़ जायेंगे। इसी को ध्यान में रखकर बैंकों की उधार देने की ब्याज की दर में कमी की गयी है।

(7) प्रोफेसर बी. बी. भट्टाचार्य ने अपने एक अध्ययन में बतलाया है कि भारत जैसे देश में मुद्रास्फीति पर जिन अन्य कारणों का प्रभाव देखा जाता जरूरी है, वे इस प्रकार हैं, खाद्यान्नों की पूर्ति, सरकारी बफर स्टॉक के मार्फत सार्वजनिक वितरण प्रणाली का संचालन, कृषिगत व गैर-कृषिगत आमदनी में सापेक्ष असमानता आदि।[1] खाद्यान्नों के अभाव से इनके मूल्यों में काफी वृद्धि होती है, जो अन्य वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि को प्रेरित करती है।

1 B B, Bhattacharya and Madhumita Lodh, Inflation in India. An Analytical Survey, an article in Artha Vijnana, March 1990 pp 25-68.

यदि कृषिगत व गैर कृषिगत क्षेत्रों की आमदनी की वृद्धि में भारी असमानता होती है तो सापेक्ष मूल्यों में काफी अंतर उत्पन्न हो जाता है।

(8) परोक्ष करों की वृद्धि भी मूल्य वृद्धि को जन्म देती है। भारत में उत्पादन शुल्क, आयात शुल्क, बिक्री कर आदि का भी मुद्रास्फीति को बढ़ाने में हाथ रहा है। वैसे प्रत्यक्ष करों से खर्च के योग्य आय कम होने से मुद्रास्फीति पर एक सीमा तक रोक भी लगती है लेकिन परोक्ष कर आर्थिक दृष्टि से स्फीतिकारी माने गये हैं।

इस प्रकार अनेक तत्वों ने मिलकर भारत जैसे देश में लागतजन्य व माँग जन्य मुद्रास्फीति की दशाएँ न केवल उत्पन्न की हैं बल्कि उनको स्थायित्व भी प्रदान कर दिया है। साथ में ढांचेगत बाधाओं के कारण भी मुद्रास्फीति को बल मिला है। अत मुद्रास्फीति की समस्या बहुत जटिल हो गई है और इसका स्थायी समाधान निकाल सकना कठिन होता जा रहा है।

मुद्रास्फीति का आधुनिक सिद्धात

अब हम मुद्रास्फीति के आधुनिक सिद्धांत (Modern Theory of Inflation) का संक्षिप्त परिचय देते हैं।[1] *इसके अन्तर्गत मुख्यतया फिलिप्स वक्र (The Phill ps Curve)* के माध्यम से मुद्रास्फीति व बेरोजगारी के बीच चुनाव की क्रिया (trade of) का उल्लेख किया जाता है।

फिलिप्स वक्र (The Phillips Curve)

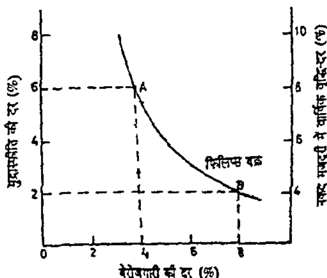
ए डब्ल्यू फिलिप्स ने संयुक्त राज्य में 100 वर्ष से भी अधिक अवधि के लिए बेरोजगारी व नकद मजदूरी के परिवर्तनों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला था कि इनमें परस्पर विपरीत या विलोम सम्बन्ध पाया जाता है। अनुभव से पता चलता है कि जब बेरोजगारी कम पायी गयी तो नकद मजदूरी ऊँची रही और जब बेरोजगारी अधिक पायी गयी तो नकद मजदूरी नीची रही। इस प्रकार के संबंध का पाया जाना स्वाभाविक भी है क्योंकि ऊँची बेरोजगारी के समय श्रमिक भी काम के कम अवसर होने के कारण मजदूरी बढ़ाने पर जोर नहीं देते तथा फर्में भी मजदूरी में वृद्धि की माँग को स्वीकार नहीं करतीं।

चूंकि नकद मजदूरी व मुद्रास्फीति में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता है इसलिए फिलिप्स वक्र की सहायता से अल्पकाल में बेरोजगारी व मुद्रास्फीति की दरों में सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। वास्तव में मुद्रास्फीति की दर नकद मजदूरी की वृद्धि-दर में से श्रम की उत्पादकता वृद्धि की दर को घटाने से प्राप्त होती है। मान लीजिए, नकद मजदूरी की वार्षिक वृद्धि दर 6% रही और श्रम की उत्पादकता 2% बढ़ी तो मुद्रास्फीति की वार्षिक दर (6−2) = 4% मानी जा सकती है।

हम मुद्रास्फीति की दर नकद मजदूरी की दर व बेरोजगारी की दर के परस्पर सम्बन्धों को एक चित्र पर अग्र प्रकार से दर्शा सकते हैं—

---

1 Samuelson and Nordhaus Economics 15th ed. 1995 pp 587 591 इसका आवश्यकतानुसार उपयोग किया जाना चाहिए।



चित्र—4 अल्पकाल में फिलिप्स वक्र

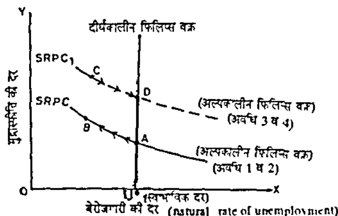
स्पष्टीकरण—चित्र में बायीं ओर ऊपर की तरफ मुद्रास्फीति की वृद्धि दरें तथा दायीं ओर नकद मजदूरी की वृद्धि दरें दर्शायी गयी हैं। क्षैतिज-अक्ष पर बेरोजगारी की वृद्धि दरें अंकित की गई हैं। इस प्रकार जो फिलिप्स वक्र बना है, वह बायीं ओर के लम्बवत् अक्ष को लेने पर मुद्रास्फीति की दर व बेरोजगारी की दर में परस्पर चुनाव की प्रक्रिया (trade-off) दर्शाता है, और दायीं ओर के लम्बवत् अक्ष को लेने पर वह नकद मजदूरी की वार्षिक वृद्धि दर को दर्शाता है।

चित्र से स्पष्ट होता है मुद्रास्फीति की दर व बेरोजगारी की दर के बीच चुनाव (trade-off) पाया जाता है, अर्थात् बेरोजगारी की दर के 8% होने पर मुद्रास्फीति की दर 2% है, लेकिन बेरोजगारी की दर को 4% लाने पर, अर्थात् घटाने पर, मुद्रास्फीति की दर को 6% करना होगा, अर्थात् बढाना होगा। इसका अर्थ यह है कि मुद्रास्फीति की दर व बेरोजगारी की दर में विलोम सम्बन्ध पाया जाता है। इसी प्रकार का सम्बन्ध नकद (मौद्रिक) मजदूरी की दर व बेरोजगारी की दर में भी देखा गया है। अतः बेरोजगारी की दर को घटाने के लिए मुद्रास्फीति की ऊँची दर सहन करनी होगी, और मुद्रास्फीति की दर को घटाने के लिए बेरोजगारी की ऊँची दर बर्दाश्त करनी होगी। यह निष्कर्ष फिलिप्स-वक्र से निकाला गया है। इस प्रकार यह वक्र मुद्रास्फीति के आधुनिक सिद्धान्त का आधार बन गया है।

दीर्घकाल में फिलिप्स वक्र*—आधुनिक अध्ययनों के अनुसार काफी लम्बी अवधि के लिए मुद्रास्फीति की दरों को रेखाचित्र पर अंकित करने पर फिलिप्स वक्र नहीं बन पाया है, बल्कि एक घुमावदार किस्म का वक्र बनता है जो घड़ी के क्रम जैसे ढंग पर घूमता हुआ आगे

* इसे प्रारम्भिक अध्ययन में छोड़ा जा सकता है।

बढ़ता है। इसलिए फिलिप्स वक्र की दीर्घकालीन आकृति पर विचार करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला गया है कि यह बेरोजगारी की *स्वाभाविक* दर (*natural rate of* employment) पर पूर्णतया लम्बवत् (vertical) हो जाता है। बेरोजगारी की स्वाभाविक दर वह दर होती है जिस पर मुद्रास्फीति व मजदूरी को बढ़ाने वाली व घटाने वाली शक्तियाँ परस्पर संतुलन में होती हैं। *इस पर मुद्रास्फीति संतुलन में होती है—न तो बढ़ने की प्रवृति* दर्शाती है और न घटने की प्रवृति। यह देश में उत्पादन क्षमता का पूरा उपयोग करने के बिन्दु की स्थिति पर अधिकतम रोजगार की मात्रा को सूचित करती है। बेरोजगारी की स्वाभाविक दर पर *वास्तविक मुद्रास्फीति समान गति वाली या प्रत्याशित मुद्रास्फीति बन* जाती है (actual inflation = expected inflation)। इसलिए यदि सरकार बेरोजगारी की स्वाभाविक दर से नीचे वास्तविक बेरोजगारी की दर रखना चाहे तो मुद्रास्फीति की दर बढ़ेगी, *और यदि वास्तविक बेरोजगारी की दर बेरोजगारी की स्वाभाविक दर से ऊँची होती है* तो मुद्रास्फीति की दर घटने लगती है। हम चित्र 5 के द्वारा यह दर्शाते हैं की दीर्घकालीन फिलिप्स वक्र बेरोजगारी की स्वाभाविक दर पर लम्बवत् होता है और इस पर दीर्घकाल में मुद्रास्फीति की दर ऊँची हो जाती है।



चित्र—5 दीर्घकालीन फिलिप्स वक्र (बेरोजगारी की स्वाभाविक दर पर पूर्णतया लम्बवत्)

स्पष्टीकरण—चित्र में OX अक्ष पर बेरोजगारी की दर व OY अक्ष पर मुद्रास्फीति की दर मापे गये हैं। अवधि 1 में अर्थव्यवस्था A बिन्दु पर होती है जिस पर बेरोजगारी की स्वाभाविक दर U* होती है और मुद्रास्फीति की दर AU* होती है। अब मान लीजिए वास्तविक बेरोजगारी की दर घटाने का प्रयास किया जाता है तो उत्पादन बढ़ेगा, मजदूरी बढ़ेगी और कीमतें बढ़ेंगी और अर्थव्यवस्था B बिन्दु पर आ जायगी। लेकिन अभी मुद्रास्फीति के संबंध में प्रत्याशाएँ नहीं बदली हैं। यहाँ बेरोजगारी की नीची दर पर द्वितीय अवधि में मुद्रास्फीति बढ़ जाती है। तृतीय अवधि में ऊँची मजदूरी व ऊँची कीमतों से श्रमिक ऊँची मुद्रास्फीति की प्रत्याशा करने लग जाते हैं जिससे मुद्रास्फीति की प्रत्याशित दर

ऊँची हो जाती है। फलस्वरूप नया अल्पकालीन फिलिप्स वक्र पूर्व वक्र से ऊपर $SRPC_1$ बन जाता है। चतुर्थ अवधि में अर्थव्यवस्था में संकुचन आता है, जिससे उत्पत्ति घट कर अपने पूर्व अधिकतम (potential) बिन्दु पर वापस लौट आती है, जहाँ बेरोजगारी की स्वाभाविक दर पुनर्स्थापित हो जाती है। इस प्रकार A से B, B से C व C से D पर आने से यह परिणाम निकलता है कि बेरोजगारी की स्वाभाविक दर पर मुद्रास्फीति की प्रत्याशित दर D बिन्दु पर DU हो जाती है, जो प्रथम अवधि की मुद्रास्फीति की दर AU से ऊँची होती है।

इस प्रकार दीर्घकाल में फिलिप्स वक्र बेरोजगारी की स्वाभाविक दर पर लम्बवत् हो जाता है। बेरोजगारी की स्वाभाविक दर के अनुमान लगाये गये हैं—यह अमेरिका में 1980 के दशक में श्रम-शक्ति का लगभग 6% आँकी गयी है। जनसंख्या में युवक-युवतियों का अनुपात बढ़ने से, स्त्रियों द्वारा श्रम शक्ति में अधिक मात्रा में भाग लेने से, सामाजिक सुरक्षा की सुविधा बढ़ने से तथा संरचनात्मक बेरोजगारी के बढ़ने से (श्रमिकों की विभिन्न श्रेणियों की माँग व पूर्ति का प्रदेशानुसार व दक्षतानुसार सतुलन न बैठना) बेरोजगारी की स्वाभाविक दर में वृद्धि होती है।

इस प्रकार मुद्रास्फीति के आधुनिक सिद्धान्त में बेरोजगारी की दर व मुद्रास्फीति की दर में चुनाव की अन्तर्क्रिया (interaction) देखी जाती है। अल्पकाल में एक के घटने से दूसरी बढ़ती है और एक के बढ़ने पर दूसरी घटती है। लेकिन दीर्घकाल में बेरोजगारी की स्वाभाविक दर पर फिलिप्स-वक्र लम्बवत् हो जाता है।

मुद्रास्फीति के परिणाम या आर्थिक प्रभाव

(Consequences or economic effects of inflation)

मुद्रास्फीति के अर्थव्यवस्था पर व्यापक रूप से प्रभाव पड़ते हैं। यह उत्पादन, उपभोग, बचत, विनियोग, आय के वितरण, विदेशी व्यापार, मुद्रा की विनिमय दर, आदि को प्रभावित करती है। इसके मुख्य परिणामों व आर्थिक प्रभावों पर नीचे प्रकाश डाला जाता है—

(1) हल्की मुद्रास्फीति उत्पादन बढ़ाने के लिए टॉनिक मानी गयी है

तीव्र मुद्रास्फीति का तो कोई समर्थन नहीं करता, लेकिन मंद गति से चलने वाली मुद्रास्फीति उत्पादन के लिए लाभकारी मानी गयी है। इससे उद्यमकर्त्ताओं व व्यापारियों को प्रेरणा मिलती है जिससे आर्थिक क्रियाओं को लाभ पहुँचता है। अतः साधारण मुद्रास्फीति, जैसे तीन चार प्रतिशत सालाना मुद्रास्फीति की दर सम्भवतः उत्पादन के लिए प्रेरणादायक मानी जा सकती है। इससे कृषिगत उत्पादन व औद्योगिक उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है। लेकिन मंद गति की मुद्रास्फीति की दर के लिए कोई सुनिश्चित दर बतला सकना कठिन होता है। इसे कुछ लेखक 5% तक मानते हैं।

(2) उपभोग व जीवन-स्तर पर प्रभाव

मुद्रास्फीति की दशाओं के निरंतर चलते रहने से स्थिर आमदनी वाले समूहों जैसे श्रमिकों, वेतनभोगी व्यक्तियों, पेंशनहोल्डरों आदि की वास्तविक क्रयशक्ति कम हो जाती है जिससे उनके जीवन स्तर पर विपरीत प्रभाव पड़ता है तथा उनकी कार्यक्षमता में भी गिरावट आती है, इससे सामाजिक असंतोष बना रहता है, जिसके राजनीतिक परिणाम गम्भीर हो सकते हैं।

(3) ऋणदाता और ऋणी पर प्रभाव

मुद्रास्फीति से कर्जदाता घाटे में रहता है जब कि कर्ज लेने वाला या ऋणी फायदे में रहता है। मान लीजिए, X ने Y को 100 रुपये 12% वार्षिक ब्याज पर उधार दिये। वर्ष के अंत में Y को 112 रु (ब्याज सहित) लौटा दिये जाते हैं। लेकिन मान लीजिए इसी बीच मूल्य स्तर 20% बढ गया तो X को 112 रुपये मिलने पर भी इनकी क्रयशक्ति मुद्रास्फीति के कारण कम मानी जायगी। इससे उसे आर्थिक हानि होगी, जबकि Y लाभ में रहेगा। यही कारण है कि तीव्र मुद्रास्फीति की अवधि में लोग उधार देना कम कर देते हैं, अथवा बंद कर देते हैं।

इस प्रकार मुद्रास्फीति बचत को हतोत्साहित करती है। मूल्य स्थिरता के वातावरण में बचतों को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि लोगों को मुद्रा की क्रयशक्ति में विश्वास रहता है।

हम जानते हैं कि मुद्रास्फीति की दर से भाग देने के कारण वास्तविक मजदूरी, वास्तविक बचत, वास्तविक विनियोग, आदि सभी अपने मौद्रिक मूल्यों की तुलना में कम हो जाते हैं। इसलिए अर्थव्यवस्था पर मुद्रास्फीति का प्रतिकूल असर पडता है।

(4) मुद्रास्फीति, राष्ट्रीय आय व धन का वितरण

प्राय यह कहा जाता है कि मुद्रास्फीति आय व धन की असमानता को बढाती है, यह धनी को *अधिक धनी और निर्धन को और निर्धन बनाती है*, क्योंकि मुद्रास्फीति के समय उद्यमकर्ता व व्यापारी तो अपनी आमदनी बढाने में समर्थ हो जाते हैं, लेकिन निर्धन वर्ग की क्रयशक्ति में भारी गिरावट आती है। मुद्रास्फीति के कारण लोग वास्तविक सम्पत्ति मकान, जेवर आदि खरीदने में अधिक रुचि दिखाने लगते हैं जिससे उत्पादक विनियोगों पर कम ध्यान दिया जाता है। फलस्वरूप अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता को बढाने में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। मुद्रास्फीति काली अर्थव्यवस्था का कारण व परिणाम दोनों मानी जा सकती है जिससे समाज में आर्थिक असमानता बढती है।

(5) मुद्रास्फीति व विदेशी व्यापार

मुद्रास्फीति के कारण एक देश की विश्व के बाजारों में प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति घटती है जिससे निर्यात बढाने में कठिनाई होने लगती है और आयात बढने लगते हैं (बशर्ते कि अन्य देशों में मुद्रास्फीति की दर नीची हो)। इससे व्यापार का घाटा बढता है और देश की विनिमय दर का ह्रास होने लगता है, अथवा कभी कभी मुद्रा का अवमूल्यन भी करना पडता है। इस प्रकार मुद्रा के बाह्य मूल्य में गिरावट (अवमूल्यन) की दशा उत्पन्न होती है। इससे आगे चलकर भुगतान-असंतुलन व विदेशी ऋणग्रस्तता की समस्याएँ अधिक गम्भीर रूप धारण कर लेती हैं।

(6) मुद्रास्फीति व बजट-घाटा

इन दोनों का चोली दामन का सम्बन्ध माना गया है। मुद्रास्फीति के कारण सरकार का योजना व गैर योजना व्यय बढता है और आय के साधन अपर्याप्त रहने के कारण बजट का घाटा ऊँचा हो जाता है, जिसकी पूर्ति के लिए घाटे की वित्त व्यवस्था का सहारा लिया जाता है जिससे मुद्रा की पूर्ति को बढाना होता है। इससे मुद्रास्फीति पुन बढती है। इस प्रकार मुद्रास्फीति, बजट घाटा व मुद्रास्फीति का दुष्चक्र (Vicious Circle) निरंतर चलता रहता है।

(7) मुद्रास्फीति अर्थव्यवस्था में अनेक प्रकार के असन्तुलन उत्पन्न करती है

समाज में आय की असमानता बढ़ने से धनिक वर्ग के लिए विलासिता व आराम की वस्तुएँ उत्पन्न करने के लिए उत्पादन के साधनों का उपयोग किया जाता है जिससे उत्पादन का ढाँचा विकृत हो जाता है। एक तरफ समाज अनिवार्य वस्तुओं के अभाव में कठिनाई भुगतता है और दूसरी तरफ विलासिताओं के उत्पादन में सीमित साधनों का दुरुपयोग जारी रहता है। इस प्रकार मुद्रास्फीति उत्पादन के क्षेत्र में अनेक प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न करती है जिनको ठीक करना कठिन होता है।

मुद्रास्फीति कई सिरों वाला दैत्य (hydra headed monster) माना गया है। यह न केवल आर्थिक दुष्परिणाम उत्पन्न करता है, बल्कि सम्पूर्ण सामाजिक, राजनैतिक व प्रशासनिक तंत्र को झकझोर डालता है। इसलिए इस पर नियंत्रण करना बहुत आवश्यक माना गया है। अब हम मुद्रास्फीति पर नियंत्रण की विधियों पर प्रकाश डालते हैं।

मुद्रास्फीति पर नियंत्रण करने की विधियाँ
(Methods to Control Inflation)

विकसित व विकासशील देशों में मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने के लिए कई प्रकार के उपाय काम में लिये जाते हैं। विभिन्न उपायों का चुनाव मुद्रास्फीति की प्रकृति व स्वरूप तथा देश की विशेष आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर किया करता है। मुद्रास्फीति पर नियंत्रण के उपायों को प्राय तीन श्रेणियों में विभाजित किया जाता है—

(1) मौद्रिक उपाय (monetary measures)'

(2) राजकोषीय उपाय (fiscal measures)

(3) भौतिक व अन्य उपाय (physical and other measures) । हम इनका क्रमश विवेचन करते हैं—

(1) मौद्रिक उपाय (Monetary measures)

चूँकि मुद्रास्फीति मोटे तौर पर एक मौद्रिक तथ्य होती है और मुद्रा प्रसार के कारण उत्पन्न होती है, इसलिए स्वाभाविक है कि इसको नियंत्रित करने के लिए मुद्रा व साख की पूर्ति पर अकुश लगाये जाएँ। मौद्रिक उपायों में हमने आगे चल कर केन्द्रीय बैंकिंग के अध्याय में बैंक दर, खुले बाजार की क्रियाओं, नकद रिजर्व अनुपात (CRR), वैधानिक तरलता-अनुपात (SLR), न्यूनतम मार्जिन की आवश्यकताओं, नैतिक दबाव, आदि उपायों का विवेचन किया है। इन सबका उद्देश्य मुद्रा व साख की पूर्ति को सीमित करना होता है।

मौद्रिक उपायों में ही ब्याज की दर को ऊँचा करने का उपाय भी शामिल होता है जिसे "महँगी मुद्रा-नीति" (dear money policy) कहा जाता है। इससे उधार में कमी आती है और साख का बेहतर उपयोग करने की दशाएँ उत्पन्न होती हैं।

लेकिन कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने के लिए ऊँची ब्याज की दरों का उपयोग विकासशील देशों के लिए सदैव लाभकारी नहीं होता। इससे विनियोगों पर विपरीत प्रभाव पड़ता है और उत्पादन-लागत बढ़ने से लागतजन्य मुद्रास्फीति को बढ़ावा मिलता है। फिर भी मुद्रास्फीति की दर व ब्याज की दर में आवश्यक तालमेल रखना जरूरी होता है। **मुद्रास्फीति की दर में स्थायी गिरावट आने से ही ब्याज की दरों में कमी लाना सम्भव हो सकता है।**

संगठित व असंगठित दोनों प्रकार के मुद्रा बाजारों की गतिविधियों पर नियंत्रण करने से मुद्रास्फीति पर नियंत्रण स्थापित करना सम्भव हो सकता है।

मौद्रिक नियंत्रण को सफल बनाने के लिए केन्द्रीय बैंक व व्यापारिक बैंकों के बीच परस्पर गहरा ताल मेल होना चाहिए।

(2) राजकोषीय उपाय (Fiscal measures)

इनके अंतर्गत चार प्रकार के उपाय शामिल होते हैं (1) कर संबंधी, (2) सरकारी व्यय संबंधी (3) सार्वजनिक कर्ज तथा (4) घाटे की वित्त व्यवस्था पर नियंत्रण (control over deficit financing)

(1) कर-सम्बन्धी उपाय—प्रत्यक्ष करों में वृद्धि करके सरकार व्यय योग्य आय कम कर सकती है जिससे अर्थव्यवस्था में माँग प्रबंध को ठीक करने में मदद मिलती है। लेकिन परोक्ष करों में वृद्धि करने से मुद्रास्फीति घटने की बजाय बढ़ती है।

(2) सरकारी व्यय में कमी—सरकारी व्यय विशेषतया अनुत्पादक व्यय में कमी करके मुद्रास्फीति को नियन्त्रित किया जा सकता है। योजना व गैर योजना दोनों प्रकार के व्यय को यथासम्भव कम किया जाना चाहिए, लेकिन कार्यकुशलता को आघात नहीं पहुँचना चाहिए। व्यय की कार्यकुशलता बढ़ाने पर जोर देना चाहिए। अनावश्यक व्यय को कड़ाई से कम करना चाहिए।

(3) सार्वजनिक कर्ज—आम जनता से अल्प बचत व बाजार ऋण के रूप में साधन जुटाने से भी मुद्रास्फीति को कम करने में मदद मिलती है।

(4) बजट-घाटे को कम करना—भारत में बढ़ते हुए बजट घाटे मुद्रास्फीति के लिए प्रमुखतया उत्तरदायी माने गये हैं। इसलिए उनका राष्ट्रीय आय से अनुपात उत्तरोत्तर कम करना लाभकारी माना गया है।

पिछले वर्षों में भारत में मुद्रास्फीति की दर को कम करने के लिए बजट घाटों को कम करने की नीति स्वीकार की गयी है। सरकार 1997 98 से बजट घाटों की पूर्ति के लिए रिजर्व बैंक से ट्रेजरी बिलों के आधार पर उधार न लेकर सीधे बाजार से कर्ज लेगी ताकि मुद्रा की पूर्ति पर नियंत्रण स्थापित किया जा सके।

(3) भौतिक व अन्य उपाय (Physical and other measures)

(1) राशनिंग व मूल्य नियंत्रण भी मुद्रास्फीति को रोकने में सहायक होते हैं। सरकार सार्वजनिक वितरण प्रणाली का उपयोग करके समाज के कमजोर वर्ग को लाभ पहुँचाने का प्रयास करती है।

(2) विदेशों से खाद्यान्नों व अन्य आवश्यक वस्तुओं जैसे—खाद्य-तेलों, चीनी, आदि के आयात की व्यवस्था करके देश में मूल्य स्थिति को नियंत्रित करने का प्रयास किया जाता है।

(3) कृषिगत व औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने के लिए उत्पादकों के लिए ऋण की सुविधा उपलब्ध की जाती है तथा उचित भावों पर कृषिगत इनपुट व औद्योगिक कच्चा माल उपलब्ध कराया जाता है।

(4) विभिन्न प्रकार के सौदों या लेन-देनों को सूचकांकों से जोड़ने की व्यवस्था (Indexing) की जाती है, जैसे मजदूरी को जीवन व्यय सूचकांकों से जोड़ दिया जाता है ताकि महँगाई बढ़ने पर मजदूरी व दैनिक भत्तों में आवश्यक वृद्धि की जा सके।

(5) राष्ट्रीय आय नीति (Income policy) निर्धारित की जा सकती है ताकि उत्पादन के विभिन्न साधनों की आमदनी में संतुलन कायम रखा जा सके। मजदूरी, ब्याज, मुनाफा आदि के सम्बन्ध में राष्ट्रीय आय-नीति को मुद्रास्फीति पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए लाभकारी माना गया है। इसके लिए न्यूनतम आमदनी व अधिकतम आमदनी का अंतराल (gap) तय किया जा सकता है। मजदूर-संघों का उत्पादकता बढ़ाने में योगदान लिया जा सकता है।

गार्डनर एक्ले के अनुसार, 'आय-नीति को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है कि इसमें सरकार जानबूझकर या संगठित तरीके से व लगातार प्रयास करके व्यवसायियों, श्रमिकों व अन्य को इस बात के लिए तैयार करती है कि वे कीमतों, मजदूरी, लगान, लाभांशों या मौद्रिक आय के अन्य रूपों में वृद्धियों को टालने, कम करने या इनमें विलम्ब को स्वीकार करें। इसके लिए अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में प्रयास किया जाता है, लेकिन इससे सामान्य कीमत-स्तर व सामान्य आमदनी में वृद्धि रुक जाती है, या धीमी पड़ जाती है, अथवा रुक जाती है।' अत: आय-नीति का काफी प्रभाव पड़ता है, लेकिन इसको लोकतांत्रिक दशाओं में लागू करना आसान नहीं होता।

(6) उपभोक्ता के हितों की रक्षा के लिए उपभोक्ता-मंच स्थापित किये जा सकते हैं ताकि उपभोक्ताओं को अनुचित शोषण से बचाया जा सके। व्यापार की अनेक प्रकार की अनुचित रीतियों से उपभोक्ता-वर्ग की रक्षा करना अत्यावश्यक माना गया है।

इस प्रकार मुद्रास्फीति पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए अनेक प्रकार के कदम उठाने पड़ते हैं। लेकिन इन सबके बावजूद प्रत्येक देश न्यूनाधिक मात्रा में बेरोजगारी व मुद्रास्फीति का शिकार बना ही रहता है। अब इक्कीसवीं सदी में प्रवेश के समय भी विभिन्न देशों के सामने प्रमुख समस्या यही बनी हुई है कि मूल्य स्थिरता के साथ पूर्ण रोजगार की स्थिति कैसे प्राप्त की जाय। इसके लिए आवश्यक अध्ययन व अनुसंधान किये जा रहे हैं। विकसित व विकासशील, सम्पन्न व निर्धन, आदि सभी प्रकार के देश मुद्रास्फीति के शिकार रहे हैं। अत: समष्टि अर्थशास्त्र में मुद्रास्फीति की समस्या सर्वोपरि स्थान रखती है।

अवस्फीति
(Deflation)

मुद्रा के मूल्य के विवेचन में अवस्फीति (deflation) की चर्चा भी बहुत महत्त्व रखती है। अवस्फीति बहुत-कुछ मुद्रास्फीति के विपरीत लक्षणों वाली होती है। अवस्फीति की दशा में राष्ट्रीय आय व उत्पत्ति में कमी होती है और प्राय: सामान्य कीमत-स्तर में गिरावट आती है। अवस्फीति (deflation) व विस्फीति (disinflation) में अंतर होता है। अवस्फीति (deflation) में कीमतें अपने साधारण स्तर से भी नीचे चली जाती हैं जिससे अर्थव्यवस्था में उत्पादन, रोजगार व आमदनी घट जाते हैं और बेरोजगारी की स्थिति, उत्पादन के घटने की स्थिति व फर्मों के लिए व्यावसायिक हानि की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। लेकिन विस्फीति (disinflation) के द्वारा मुद्रास्फीति को रोकने के उपाय काम में लिये जाते हैं ताकि उस पर काबू पाया जा सके। इससे बढ़ी हुई कीमतें पुन: अपने साधारण स्तर तक आने का प्रयास करने लगती हैं। इसलिए दोनों में मूलभूत अंतर होता है। अवस्फीति (deflation) स्वयं एक बीमारी होती है, जबकि विस्फीति (disinflation) मुद्रास्फीति का इलाज मानी जाती है।

अवस्फीति के कारण

(i) मुद्रा की पूर्ति इसकी माँग से कम हो जाती है (ii) उत्पादन का आधिक्य अवस्फीति को उत्पन्न करता है (iii) कठोर साख नियंत्रण भी अवस्फीति उत्पन्न कर सकता है, (iv) स्वर्णमान की दशाओं में स्वर्ण की कमी से मुद्रा की पूर्ति को बढाना कठिन हो जाता था, जिससे अवस्फीति की दशा उत्पन्न हो जाया करती थी। लेकिन अब यह कारण नहीं रहा।

अवस्फीति के प्रभाव

(1) इससे उत्पादकों व व्यापारियों को हानि होती है। (2) इससे ऋणदाता को लाभ होता है तथा ऋणी को हानि होती है। (3) इससे मजदूरों व आम जनता को घटती कीमतों के कारण लाभ होता है, लेकिन बेरोजगारी बढ़ने से औद्योगिक अशान्ति बढ़ती है। (4) सरकारी ऋणों का वास्तविक भार बढ जाता है। (5) मंदी के कारण अर्थव्यवस्था में गिरावट व गतिहीनता छा जाती है।

अवस्फीति को नियन्त्रित करने के उपाय

इसके लिए मुद्रास्फीति के नियंत्रण से विपरीत उपाय काम में लिये जाते हैं, जैसे, (1) ब्याज कम करके विनियोग बढाना ताकि रोजगार उत्पादन व आमदनी बढ़, (2) करों में कमी करना ताकि उत्पादकों व व्यापारियों को प्रोत्साहन मिले, (3) सार्वजनिक व्यय में वृद्धि करना ताकि रोजगार व सार्वजनिक निर्माण कार्य बढे (4) आर्थिक सहायता देकर विकास में मदद देना, (5) निर्यात बढाना, (6) आयात कम करना।

अत अवस्फीति की समस्या काफी जटिल मानी गयी है। रिसेशन व मंदी (depression) इसी के साथी माने गये हैं। रिसेशन शुरू में कुछ उद्योगों में चालू होता है जो बाद में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर छा जाता है। तब यह मंदी का रूप धारण कर लेता है। रिसेशन में उत्पादन में बढने की गति धीमी पड जाती है और प्राय यह थोडी अवधि से सम्बन्ध रखता है। मंदी अपेक्षाकृत ज्यादा समय तक चलती है और इसका दायरा भी अधिक व्यापक होता है। अवस्फीति व मंदी को बहुत-कुछ समान माना जा सकता है।

"मुद्रास्फीति को अन्यायपूर्ण लेकिन अवस्फीति को अनुपयुक्त" (Inflation is unjust but deflation is inexpedient) क्यों कहा गया है?

मुद्रास्फीति को अन्यायपूर्ण इसलिए कहा गया है कि इससे ऋणदाता, बचत करने वालों, वेतन भोगी व्यक्तियों, मजदूरों व उपभोक्ताओं को हानि होती है। अत यह आर्थिक असमानता को बढाता है। धनी अधिक धनी हो जाते हैं और गरीब या तो गरीब रह जाते हैं या अधिक गरीब हो जाते हैं। यह शहर या गाँवों के बीच की खाई को भी बढाता है। इससे शहरों की आमदनी गाँवों की आमदनी की अपेक्षा अधिक बढती है।

अवस्फीति अनुपयुक्त क्यों कहलाती है?

अवस्फीति से उत्पादकों व व्यापारियों को हानि होती है तथा बेरोजगारी से श्रमिक-वर्ग के कष्ट बढते हैं। अत यह स्थिति मुद्रास्फीति से भी ज्यादा खराब मानी गई है। मुद्रास्फीति व अवस्फीति दोनों खराब दशाएं मानी जाती हैं, लेकिन इनमें से अवस्फीति ज्यादा खराब मानी जाती है।

व्यवहार में आर्थिक नीति का उद्देश्य कीमत स्थिरता अथवा मामूली मुद्रास्फीति (लगभग 5% तक) की दशाओं में आर्थिक विकास करना होना चाहिए। मूल्य स्थिरता के वातावरण में आर्थिक विकास करना समाज के लिए अन्यत लाभकारी माना गया है।

अब हम मुद्रा के मूल्य से सम्बन्धित कुछ अन्य प्रचलित शब्दों का अर्थ स्पष्ट करते हैं।

(1) विस्फीति (Disinflation)

जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं, विस्फीति उन उपायों को सूचित करती है जो मुद्रास्फीति पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए अपनाये जाते हैं। इसके लिए कई उपाय काम में लिये जाते हैं जैसे कर बढ़ाना, सरकारी व्यय में कमी करना, ब्याज की दर ऊँची करना (कठोर मौद्रिक-नीति अपनाना), उत्पादन बढ़ाना, आयात बढ़ाना, कन्ट्रोल व राशनिंग का प्रयोग करना, मुद्रा की पूर्ति पर नियंत्रण लगाना, बजट के घाटों को कम करना, विदेशी मुद्रा के बढ़ते कोषों का मुद्रा की पूर्ति पर प्रभाव नियन्त्रित करना, आदि।

अवस्फीति (deflation) हानिकारक होती है जबकि विस्फीति (disinflation) लाभकारी होती है। आज विश्व के विभिन्न देश विस्फीति के उपाय अपनाने का प्रयास कर रहे हैं ताकि मुद्रास्फीति पर नियंत्रण स्थापित किया जा सके।

(2) सस्फीति (Reflation)

जब अवस्फीति व आर्थिक मंदी को दूर करने के उपाय काम में लिये जाते हैं तब उनको सस्फीति के उपाय कह कर पुकारते हैं। अतः सस्फीति अवस्फीति की समस्या का समाधान प्रस्तुत करती है। इसमें आर्थिक पुनरुत्थान के विभिन्न प्रयास किये जाते हैं ताकि उत्पादन, रोजगार, आमदनी व व्यावसायिक मुनाफे बढ़ें। इसके लिए करों में कमी, ब्याज की दर में कमी, सरकारी व्यय में वृद्धि, निर्यात-सवर्धन व कीमत-स्तर को धीरे-धीरे ऊँचा करने के प्रयास किये जाते हैं ताकि अर्थव्यवस्था आगे चलकर मंदी के गर्त से निकल कर अपने विकास का सामान्य व स्वाभाविक मार्ग ग्रहण कर सके।

(3) स्टेग्फ्लेशन (Stagflation)

जैसा कि पहले बतलाया गया है स्टेग्फ्लेशन में महँगाई व मंदी (बेरोजगारी) दोनों के लक्षण एक साथ देखने को मिलते हैं। यह स्थिति पिछले वर्षों में विशेषतया विकसित औद्योगिक देशों में पायी गयी है। डोर्नबुश व फिशर के अनुसार, 'स्टेग्फ्लेशन उस समय होता है जब मुद्रास्फीति बढ़ती है और उत्पत्ति की मात्रा या तो घटती है, अथवा कम से कम बढ़ती तो नहीं है।[1]

रिचर्ड जी लिप्से ने भी इसी प्रकार की परिभाषा दी है।[2]

---

1 'Stagflation occurs when inflation rises, while output is either falling or at least not rising'–Dornbusch and Fischer, Macroeconomics, Sixth ed., 1994, p. 484

2. "The simultaneous occurrence of a recession (with its accompanying high unemployment) and inflation"–Richard G Lipsey & K. Alec Chrystal, An Introduction to Positive Economics, 8th ed., 1995, p 899

लिप्से के अनुसार स्टेग्फ्लेशन में मदी व मुद्रास्फीति एक साथ पाये जाते हैं।

डोर्नबुश व फिशर की परिभाषा के अनुसार स्टेग्फ्लेशन में दो लक्षण होते हैं—

(1) कीमतों में वृद्धि होती है, अर्थात् मुद्रास्फीति पाई जाती है,

(2) उत्पत्ति की मात्रा या तो घटती है, अथवा बढ़ती नहीं। दूसरे शब्दों में स्टेग्फ्लेशन में *उत्पादन या तो गिरता है अथवा यथास्थिर बना रहता है। अकेले मुद्रास्फीति की दशाओं में* उत्पादन में वृद्धि देखी जाती है। इसलिए जब किसी देश में कीमतों में बढ़ने की प्रवृत्ति हो और उत्पादन में शिथिलता (रिसेशन की दशा) देखी जाय तो समझना चाहिए कि वहाँ स्टेग्फ्लेशन की दशा विद्यमान है।

स्टेग्फ्लेशन की स्थिति में फिलिप्स-वक्र का मुद्रास्फीति की दर व बेरोजगारी की दर का *विलोम सम्बन्ध भंग हो जाता है और दोनों में एक साथ वृद्धि देखी जा सकती है। अतः इस* स्थिति का विश्लेषण फिलिप्स-वक्र की सहायता से नहीं किया जा सकता।

स्टेग्फ्लेशन की दशा 1970 के दशक व 1980 के दशक के प्रारम्भ में तथा 1991 में कई देशों में पायी गयी है। इसके प्रमुखतया दो कारण बतलाये गये हैं—

(1) 1973 व 1979 में क्रूडतेल व पेट्रोल के भावों में वृद्धि से लागतें बढ़ने से मुद्रा *स्फीतिकारी दबाव बढ़े थे। तेल के आयातक देशों में लागतजन्य मुद्रास्फीति ने जोर पकड़ा* था जिससे वे मुद्रास्फीति की गिरफ्त में आ गये थे।

(2) इससे उनमें वास्तविक क्रयशक्ति घटी थी जिसके फलस्वरूप समग्र माँग के घटने से अवस्फीतिकारी परिणाम (deflationary consequences) निकले थे।

इन परिस्थितियों में तेल के आयातक देशों में, चाहे वे विकसित हों अथवा विकासशील *हों, स्टेग्फ्लेशन की दशा उत्पन्न हो गई थी। कीमतें बढ़ती गयीं और उत्पादन घटने लगा* अथवा कम से कम उसका बढ़ना तो रुक ही गया था।

स्टेग्फ्लेशन को दूर करने के उपाय

स्वाभाविक है स्टेग्फ्लेशन को नियन्त्रित करने के लिए एक तरफ मुद्रास्फीति को नियन्त्रित करना होगा और दूसरी तरफ उत्पत्ति व माल की पूर्ति बढ़ाने के लिए प्रयास करने *होंगे। अतः इसमें माँग पर नियन्त्रण के साथ साथ पूर्ति बढ़ाने की दिशा में प्रयास करने* होंगे। इस प्रकार स्टेग्फ्लेशन की समस्या को हल करने के लिए समग्र माँग को नियन्त्रित करने के साथ साथ उत्पत्ति व माल की पूर्ति को बढ़ाने के प्रयास भी करने होंगे।

इसलिए आजकल पूर्ति पक्ष के अर्थशास्त्र (supply-side economics) का महत्त्व काफी बढ़ गया है। इसके अन्तर्गत समग्र पूर्ति-वक्र को अल्पकाल व दीर्घकाल में बढ़ाने का *प्रयास किया जाता है।* इसके लिए वैयक्तिक आयकर कम किये जाते हैं तथा उनमें रियायतें दी जाती हैं ताकि माल की खपत बढ़े जिससे उत्पादन बढ़े। उत्पादकों को भी कई प्रकार की रियायतें दी जाती हैं, जैसे ब्याज की दर घटाना, परोक्ष करों में रियायतें देना, उनको सब्सिडी देना, इन्फ्रास्ट्रक्चर—बिजली, परिवहन, सचार, आदि का पर्याप्त विकास करना, आर्थिक क्षेत्र में उदारीकरण की नीति अपनाना, आदि। विभिन्न देशों के बीच पूँजी, विनियोग, टेक्नोलॉजी व व्यापार का आदान प्रदान बढ़ाकर भी स्टेग्फ्लेशन पर काबू पाने का प्रयास किया जाता है। भारत में भी मुद्रास्फीति को नियन्त्रित करने के लिए मुद्रा की पूर्ति की दर को कम करने तथा उत्पादन, रोजगार व आमदनी बढ़ाने के कई प्रयास किये जा रहे हैं ताकि विकास की दर ऊँची हो सके।

प्रश्न

1 मुद्रास्फीति का अर्थ लिखिए व इसकी विभिन्न किस्मों पर प्रकाश डालिए।
2 मुद्रास्फीति के परिणामों का विवेचन कीजिए और इसके नियत्रण की विधियों का उल्लेख करके बतलाइए कि कौन सी विधि सर्वाधिक कारगर सिद्ध हो सकती है?
3 निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
 (अ) अत्यन्त तीव्रगति से बढने वाली मुद्रास्फीति (hyperinflation)
 (ब) तीव्रगामी मुद्रास्फीति (galloping inflation)
 (स) साधारण मुद्रास्फीति (moderate inflation)
 (द) फिलिप्स वक्र व मुद्रास्फीति
 (ए) मुद्रास्फीति के नियत्रण के मौद्रिक उपाय
 (ऐ) मुद्रास्फीतिकारी अतर (inflationany gap)
 (ओ) माँगजन्य व लागतजन्य मुद्रास्फीति की दशाओं में अतर।
4 मुद्रास्फीति को नियत्रित करने के लिए मौद्रिक, राजकोषीय व भौतिक उपायों में अतर स्पष्ट कीजिए। इसमें से किस श्रेणी के उपाय ज्यादा कारगर सिद्ध होते हैं?
5 सक्षिप्त विवेचन कीजिए—
 (i) मुद्रास्फीति मूलत एक मौद्रिक तथ्य होती है।
 (ii) मुद्रास्फीति, विस्फीति (disinflation) व मदी (depression)
 (iii) मुद्रास्फीति का आधुनिक सिद्धात
 (iv) अल्पकाल में फिलिप्स वक्र
 (v) ढाँचागत मुद्रास्फीति (Structural inflation)
 (vi) स्थिर गतिवाली मुद्रास्फीति (inertial inflation)
6 एक विकासशील देश में मुद्रास्फीति के कारणों व नियत्रण के उपायों पर प्रकाश डालिए। इस सम्बन्ध में ढाँचेगत मुद्रास्फीति का अर्थ समझाइए।
7 माँग से उत्पन्न मुद्रास्फीति व लागत की दशाओं से उत्पन्न मुद्रास्फीति का अतर चित्र देकर स्पष्ट कीजिए। इसको नियत्रित करने के उपायों पर अलग-अलग प्रकाश डालिए।
8 सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
 (i) अवस्फीति (deflation)
 (ii) विस्फीति (disinflation)
 (iii) सस्फीति (reflation)
 (iv) स्टेगफ्लेशन (stagflation)
9 'मुद्रास्फीति अन्यायपूर्ण (unjust) है, लेकिन अवस्फीति अनुपयुक्त (inexpedient) है' इस कथन का अर्थ स्पष्ट कीजिए और यह बतलाइए कि इनमें अवस्फीति क्यों बदतर (worse) मानी गयी है?
10 'विकासशील देशों के आर्थिक ढाँचे में दोषों के कारण वहाँ मुद्रास्फीति को जन्म मिलता है।' इस कथन को स्पष्ट कीजिए तथा उन दोषों के निवारण हेतु नीति सुझाइए।

15

मुद्रा की माँग व पूर्ति की अवधारणाएँ
(Concepts of Demand and Supply of Money)

मुद्रा के सिद्धांत में मुद्रा की माँग व मुद्रा की पूर्ति का बड़ा महत्त्व होता है। मुद्रा की माँग आम जनता के द्वारा की जाती है। इसमें मुद्रा का सृजन करने वालों की माँग शामिल नहीं होती। मुद्रा की पूर्ति इसका सृजन करने वालों, सरकार व बैंकिंग व्यवस्था के द्वारा की जाती है। इस प्रकार मुद्रा बाजार वह बाजार होता है जिसमें मुद्रा की माँग करने वाले व इसकी पूर्ति करने वाले शामिल होते हैं। मुद्रा बाजार में मुद्रा के अल्पकालीन लेन देन शामिल होते हैं, जब कि पूँजी बाजार में इसके दीर्घकालीन लेन देन शामिल होते हैं जैसे इसके माध्यम से उद्योग व व्यापार द्वारा स्थिर विनियोग (fixed investment) (मशीनों व उपकरणों आदि के लिए) के लिए आवश्यक कोष जुटाये जाते हैं। इसके लिए कम्पनियाँ शेयर व ऋण पत्र बेचती हैं तथा वित्तीय संस्थाओं से दीर्घकालीन कर्ज लेती हैं।

स्मरण रहे कि मुद्रा की पूर्ति की अवधारणा एक स्टॉक (Stock) की अवधारणा होती है। यह समय के किसी बिन्दु पर मुद्रा की बकाया राशि को सूचित करती है। लेकिन उत्पत्ति व आय मुद्रा के प्रवाह (flow) को सूचित करते हैं और इनका संबंध समय की एक विशेष अवधि से होता है, जैसे एक वर्ष, आदि। अत आमदनी व मुद्रा में भली भाँति अंतर किया जाना चाहिए

मुद्रा की माँग (Demand for money)[1]

मुद्रा की माँग के संबंध में दो दृष्टिकोण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(i) नवक्लासिकल (neo-classical) और (ii) केन्स का (Keynesian)। इनका विवरण नीचे दिया जाता है।

(i) नवक्लासिकल दृष्टिकोण–यह केम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों मार्शल व पीगू ने प्रस्तुत किया था। गार्डनर एक्ले ने इसे क्लासिकल दृष्टिकोण के अन्तर्गत ही लिया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार मुद्रा की माँग निम्न समीकरण से प्रकट होती है।

$$M^d = KPY \quad \ldots\ldots (1)$$

---

1 Suraj B Gupta Monetary Economics, Institutions, Theory and Policy, Third Edition 1994 chapter 11, फिशर के सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा की माँग PT होती है, जहाँ P सामान्य कीमत-स्तर को तथा T कुल सौदों या व्यापार की मात्रा को सूचित करते हैं। यहाँ MV = PT समीकरण में V मुद्रा का सौदों का प्रचलन-वेग बतलाता है। इसका विस्तृत अध्ययन मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) के अन्तर्गत किया गया है।

जहाँ M^d = मुद्रा की माँग

Y = वास्तविक उत्पत्ति या वास्तविक राष्ट्रीय आय (real income)

तथा P = राष्ट्रीय उत्पत्ति का औसत मूल्य स्तर होता है।

K एक स्थिर राशि (constant) होती है। यहाँ K मौद्रिक आय का वह अंश होता है जिसे जनता मुद्रा के रूप में अपने पास रखना चाहती है। स्मरण रहे कि यहाँ PY मौद्रिक आय होती है। कुछ लेखक Y को मौद्रिक आय का निशान मान लेते हैं, जिसमें यह संबंध $M^d = KY$ का रूप ले लेता है।

समीकरण (1) के अनुसार, $K = \frac{M^d}{PY}$

इसमें M^d समय के किसी बिन्दु पर मुद्रा की माँग की मात्रा होती है, और यह एक स्टॉक होती है। लेकिन PY मौद्रिक आय होती है, जो एक समयावधि से जुड़ी होने के कारण एक प्रवाह होती है। अत यहाँ अंश (numerator) में स्टॉक की अवधारणा है, और हर (denominator) में प्रवाह की अवधारणा है।

इसलिए K भी समयावधि से जुड़ जाता है। इसे एक उदाहरण की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए M^d = 500 करोड़ रु है, और मौद्रिक आय प्रति वर्ष 2000 करोड़ रु है। ऐसी स्थिति में $K = \frac{500}{2000}$ वर्ष $= \frac{1}{4}$ वर्ष होगा।

यहाँ K का आर्थिक अभिप्राय ठीक से समझ लेना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि जनता जो मुद्रा अपने पास रखना चाहती है, वह इसकी वार्षिक आमदनी का $\frac{1}{4}$ अंश है। इस प्रकार K को समय की इकाइयों, अर्थात् वर्ष, महीनों, सप्ताहों, अथवा दिनों में व्यक्त किया जाता है। यदि हम उपर्युक्त दृष्टांत में वार्षिक आमदनी की जगह मासिक आमदनी पर विचार करते हैं तो भी $K = \frac{1}{4}$ वर्ष ही आयेगा। उस स्थिति में मासिक आमदनी $\frac{2000}{12} = 166.66$ करोड़ रु होगी और मुद्रा की माँग एक स्टॉक चलराशि होने के कारण पहले की भाँति 500 करोड़ रु ही रहेगी। मुद्रा की माँग को मासिक आमदनी से सम्बद्ध करने पर K का मूल्य $\frac{500}{166.66}$ महीने = 3 महीने आयेगा, जो $\frac{1}{4}$ वर्ष के बराबर ही होगा।

इस प्रकार केम्ब्रिज समीकरण की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें मुद्रा की माँग मौद्रिक आय का फलन होती है, अर्थात् यह मौद्रिक आय पर आश्रित होती है। इसमें मुद्रा, मुद्रा के माध्यम (medium of exchange) का कार्य करती है। सट्टे के उद्देश्य की मुद्रा की माँग मुद्रा की परिसम्पत्ति माँग (asset demand) भी कहलाती है। इसका विस्तृत विवेचन मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के अध्याय में किया गया है।

केन्स के अनुसार मुद्रा की माँग की अवधारणा

केन्स ने मुद्रा की माँग का व्यापक अर्थ प्रस्तुत किया है। उसने मुद्रा की माँग में तीन उद्देश्यों अथवा प्रयोजनों को शामिल किया है, जो इस प्रकार हैं—

(1) लेन देन के प्रयोजन के लिए मुद्रा की माँग

(2) सतर्कता के प्रयोजन के लिए मुद्रा की माँग

(3) सट्टे के प्रयोजन के लिए मुद्रा की माँग

1936 में जे एम केन्स ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक *The General Theory of Employment, Interest and Money* में ब्याज का तरलता अधिमान सिद्धान्त प्रस्तुत किया था। तब से तरलता अधिमान सिद्धान्त ब्याज के आधुनिक सिद्धान्तों में गिना जाता है। केन्स के अनुसार, 'ब्याज तरलता के त्याग का प्रतिफल होता है।' तरलता अधिमान या पसन्दगी का आशय यह है कि कुछ कारणों से व्यक्ति अपने पास मुद्रा रखना ज्यादा पसन्द करते हैं। दूसरे शब्दों में, लोगों के द्वारा धन को परिसम्पत्तियों (सिक्यूरिटियों) के रूप में रखने की बजाय मुद्रा के रूप में रखना ज्यादा पसन्द किया जाता है। ऐसी स्थिति में लोगों से तरलता का परित्याग करवाने की कीमत ब्याज के रूप में दी जाती है।

केन्स के अनुसार ब्याज की दर मुद्रा की माँग व पूर्ति से निर्धारित होती है। मुद्रा की माँग (demand for money) तीन कारणों से उत्पन्न होती है—

(1) लेन-देन अथवा सौदों का उद्देश्य या प्रयोजन (Transactions motive)—लोग सौदे या लेन देन के उद्देश्य से अपने पास नकद राशि रखना चाहते हैं। आय की प्राप्ति व उसके व्यय के बीच समय का काफी अन्तर रहता है। इसलिए परिवारों को लेन देन के उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने पास नकद राशि रखनी पड़ती है। व्यावसायिक फर्में कच्चे माल, श्रम, पावर, आदि पर व्यय करने के लिए अपने पास नकद राशि रखती हैं। लेन देन के उद्देश्य के लिए मुद्रा की माँग पर व्यावसायिक दशाओं व वस्तुओं की कीमतों का अधिक प्रभाव पड़ता है। राष्ट्रीय आय के एक दिये हुए स्तर पर मुद्रा की यह माँग ब्याज की दर से स्वतन्त्र मानी जाती है और यह अल्पकाल में स्थिर रहती है। अत सौदों के प्रयोजन के लिए मुद्रा की माँग पर आय का प्रभाव पड़ता है, न कि ब्याज की दर का।

(2) सतर्कता का उद्देश्य या प्रयोजन (Precautionary Motive)—अप्रत्याशित या भावी परिस्थितियों का सामना करने के लिए भी लोग अपने पास मुद्रा रखना पसन्द करते हैं। एक गृहस्थी बीमारी के दिनों के लिए अपने पास कुछ मुद्रा रखना चाहती है। इसी प्रकार फर्में भी आकस्मिक व्ययों के लिए अपने पास नकद राशि रखती हैं। मुद्रा की यह माँग भी व्यावसायिक दशाओं पर अधिक मात्रा में निर्भर किया करती है। यह भी ब्याज की दर से स्वतन्त्र मानी जाती है और अल्पकाल में स्थिर रहती है। इस पर व्यवसाय की प्रकृति, साख की सुविधा, बॉण्डों को नकद रूप में बदलने की सुविधा, आदि का प्रभाव पड़ता है।

चूंकि प्रथम व द्वितीय प्रयोजनों के लिए की जाने वाली मुद्रा की माँग विशेषतया आय पर निर्भर करती है, इसलिए हम इसे $M_1 = f(Y)$ के रूप में व्यक्त कर सकते हैं, जहाँ M_1 दोनों प्रयोजनों के लिए की जाने वाली मुद्रा की माँग का सूचक होता है और Y आय और f फलन सम्बन्ध का द्योतक होता है। इसका अर्थ है कि M_1 की मात्रा Y की मात्रा पर निर्भर करती है। इस प्रकार लेन देन व सतर्कता के उद्देश्यों से रखी जाने वाली मुद्रा की मात्रा राष्ट्रीय आय के स्तर पर निर्भर करती है। ब्याज की दर के परिवर्तन इसे प्रभावित नहीं करते।

(3) सट्टे का उद्देश्य या प्रयोजन (Speculative motive)—लोग ब्याज की दर के परिवर्तनों का लाभ उठाने के लिए भी अपने पास नकद राशि रखना पसन्द करते हैं। सट्टे के प्रयोजन के लिए मुद्रा की माँग का ब्याज की दर से गहरा सम्बन्ध होता है। अत केन्स के तरलता अधिमान सिद्धान्त में इसका केन्द्रीय स्थान माना गया है। यदि एक विनियोगकर्ता यह सोचता है कि भविष्य में ब्याज की दर बढ़ेगी तो वह आज अपने पास नकद राशि रख सकता है ताकि भविष्य में ब्याज के बढ़ने पर वह बॉण्ड कम कीमतों पर खरीद सके। इसके

विपरीत यदि वह सोचता है कि भविष्य में ब्याज की दर कम हो जायगी और बॉण्डों की कीमतें बढेंगी, तो वह आज बॉण्ड खरीद सकता है ताकि भविष्य में इन्हें बेचकर लाभ कमा सके। इस प्रकार सट्टे के प्रयोजन का ब्याज की दर से गहरा सम्बन्ध होता है।

ब्याज की दर व बॉण्ड की कीमतों का सम्बन्ध—यहाँ पर ब्याज की दर व बॉण्ड की कीमतों का सम्बन्ध सख्यात्मक उदाहरण देकर स्पष्ट करना उचित होगा। बॉण्ड में पूँजी लगाने से स्थिर वार्षिक आमदनी (fixed annual income) प्राप्त होती है। मान लीजिए, 100 रु. के बॉण्ड पर 6% की आय प्राप्त होती है। यदि वह बॉण्ड 120 रु बाजार भाव पर मिलने लगे तो ब्याज की दर $\left(\frac{6}{120} \times 100\right) = 5\%$ पर आ जायगी। अत बॉण्ड के भाव बढने से ब्याज की दर घटेगी। इसी प्रकार यह स्पष्ट किया जा सकता है कि बॉण्ड का बाजार भाव 80 रु हो जाने पर ब्याज की दर $\left(\frac{6}{80} \times 100\right) = 7.5\%$ हो जायगी। अत यदि विनियोगकर्ता सोचता है कि भविष्य में बॉण्ड का भाव गिरेगा तो वह आज अपने पास नकद राशि रखेगा ताकि भविष्य में कम कीमतों पर बॉण्ड खरीदकर अधिक ब्याज कमा सके। इसी प्रकार भविष्य में बॉण्ड के भाव बढने की सम्भावना होने पर वह आज बॉण्ड खरीदेगा और अपने पास कम नकद राशि रखेगा। इस प्रकार ब्याज की दर व बॉण्ड की कीमतों में विपरीत सम्बन्ध पाया जाता है।

यदि सट्टे के प्रयोजन के लिए मुद्रा की माँग को M_2 से सूचित करें और ब्याज की दर को i से, तो $M_2 = f(i)$ दूसरा सम्बन्ध स्थापित हो जायगा, अर्थात् इस स्थिति में M_2 की मात्रा ब्याज की दर पर निर्भर करती है।

अध्ययन की सुविधा के लिए हमने लेन-देन का उद्देश्य व सतर्कता के उद्देश्य के लिए मुद्रा की माँग को M_1 से और सट्टे के उद्देश्य के लिए की जाने वाली मुद्रा की माँग को M_2 से सूचित किया है। इस प्रकार मुद्रा की कुल माँग $M = M_1 + M_2$ होगी। इसमें M_1 की मात्रा प्रमुखतया व्यवसाय की दशाओं व राष्ट्रीय आय *(Y)* पर निर्भर करती है और M_2 की मात्रा प्रमुखतया ब्याज की दर (i) पर निर्भर करती है।

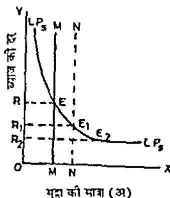
केन्स के अनुसार ब्याज की दर का निर्धारण

स्मरण रहे कि केन्स के सिद्धान्त में ब्याज की दर मुद्रा की माँग व पूर्ति से निर्धारित होती है। अत यह ब्याज का मौद्रिक सिद्धान्त (monetary theory of interest) कहलाता है। इसमें ब्याज की दर के निर्धारण में मौद्रिक अधिकारी को उच्च स्थान दिया गया है क्योंकि वह मुद्रा की पूर्ति पर नियन्त्रण रखता है। ब्याज की तरलता-अधिमान सिद्धान्त अग्रांकित चित्र की सहायता से स्पष्ट किया जाता है।

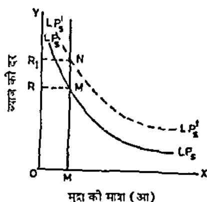
स्पष्टीकरण—आगे के चित्र में *OX*-अक्ष पर मुद्रा की मात्रा अर्थात् मुद्रा की माँग व मुद्रा की पूर्ति दिखलाये गये हैं तथा *OY*-अक्ष पर ब्याज की दर दिखलायी गयी है। *LP*-वक्र सट्टे के प्रयोजन के लिए मुद्रा की माँग (demand for money for speculative motive) को सूचित करता है। पहले बताया जा चुका है कि सौदों के लिए मुद्रा की माँग तथा सतर्कता के लिए मुद्रा की माँग पर आय का प्रभाव पड़ता है, न कि ब्याज का। इसलिए LP_s वक्र में मुद्रा की माँग जो सट्टे के उद्देश्य के लिए की जाती है, पर ही विचार किया जाता है, सारी मुद्रा की माँग पर नहीं। आगे के चित्र में *MM* मुद्रा की पूर्ति को सूचित करता है।

इस सम्बन्ध में कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि यह मुद्रा की समस्त पूर्ति होती है और कुछ का मत है कि यह मुद्रा की सट्टे के उद्देश्य के लिए की जाने वाली पूर्ति ही है (अर्थात् मुद्रा की कुछ पूर्ति में से सौदों व सतर्कता के लिए मुद्रा की पूर्ति के *MM* से बढ़ाकर *NN* कर देने से ब्याज की दर घटकर OR_1 हो जाती है। लेकिन अन्त में ब्याज की दर के OR_2 हो जाने से मुद्रा की माँग (LP_s वक्र) के क्षैतिज हो जाने से अनन्त (∞) हो जाती है तथा आगे ब्याज की दर को कम करने की आवश्यकता नहीं रहती। अत E_2 के बाद का क्षेत्र 'तरलता का जाल या तरलता का फन्दा (liquidity trap) कहा गया है।

निम्न चित्र के (आ) भाग में मुद्रा की पूर्ति के *OM* पर स्थिर रहने तथा LP_s वक्र के ऊपर की ओर खिसक जाने से ब्याज की दर OR से बढ़कर OR_1 हो जाती है। इस प्रकार केन्स के सिद्धान्त में ब्याज की दर पर मुद्रा की सट्टे के लिए माँग व मुद्रा की पूर्ति का प्रभाव चित्र में दर्शाया गया है।



मुद्रा की मात्रा (अ)



मुद्रा की मात्रा (आ)

चित्र—तरलता-पसन्दगी में ब्याज की दर का निर्धारण

प्राय यह प्रश्न उठाया जाता है कि सट्टे के लिए मुद्रा का माँग वक्र नीचे की ओर क्यों झुक जाता है ? केन्स ने इसका उत्तर यह कहकर दिया कि सट्टे के लिए मुद्रा की माँग ब्याज की दर से विपरीत दिशा में चलती है। ब्याज की ऊँची दरों पर सट्टेबाज मुद्रा की बजाय बॉण्ड रखना ज्यादा पसन्द करते हैं, क्योंकि ऐसी प्रतिभूतियों पर प्रतिफल की दर ऊँची होती है और यह आशा रहती है कि बॉण्डों के दाम बढ़ेंगे अथवा घटेंगे नहीं। ब्याज की नीची दरों पर वे बॉण्ड के बजाय मुद्रा को रखना ज्यादा पसन्द करते हैं। अत ब्याज की नीची दरों पर तरलता अधिमान अधिक होगा और ब्याज की ऊँची दरों पर तरलता अधिमान कम होगा। केन्स के तरलता अधिमान सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन आगे की कक्षाओं में व्यष्टि अर्थशास्त्र में ब्याज के सिद्धान्तों के अन्तर्गत किया जायगा। यहाँ हमारा सीमित उद्देश्य केन्स के द्वारा मुद्रा की माँग (demand for money) का विवेचन प्रस्तुत करना रहा है।

केन्स के समीकरण में सुधार—केन्स की मुद्रा की माँग के सिद्धान्त में बॉमल व टोबिन (Baumol & Tobin) ने महत्वपूर्ण सुधार किये हैं। उनका मत है कि लेन-देन के उद्देश्य व

सतर्कता उद्देश्य के लिए दी जाने वाली मुद्रा की माँग पर राष्ट्रीय आय के अलावा ब्याज की दर के परिवर्तनों का भी प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार सट्टे के उद्देश्य के लिए की जाने वाली मुद्रा की माँग ब्याज की दर के अलावा आय से भी प्रभावित होती है।

मुद्रा की माँग का संशोधित समीकरण

इन तर्कों के आधार पर केन्स का मुद्रा की माँग का फलन $M^d = f(Y) + f(i)$ से बदलकर $M^d = f(Y, i)$ हो जाता है। पहले के रूप में यह जोड़ के रूप में (additive form) था, जब कि संशोधित रूप में यह आय का बढ़ता हुआ फलन व ब्याज की दर का घटता हुआ फलन मात्र बन जाता है और इसका पहले का जोड़ स्वरूप नहीं रहता। पाठक उच्चतर अध्ययन में देखेंगे कि यह परिवर्तन मौद्रिक सिद्धांत में एक अत्यन्त क्रान्तिकारी परिवर्तन माना गया है।

$M^d = f(Y,i)$ में Y मौद्रिक आय है, इसलिए इस समीकरण को मुद्रा की वास्तविक माँग में बदलने के लिये इसमें P का भाग देना होगा जिससे $\frac{M^d}{P} = f\left(\frac{Y}{P}, i\right)$ प्राप्त होगा।

हम आगे चलकर देखेंगे कि मुद्रा-बाजार में संतुलन के लिए मुद्रा की माँग = मुद्रा की पूर्ति होती है, अर्थात् $M^s = M^d$

$\frac{M^s}{P} = \frac{M^d}{P} = f\left(\frac{Y}{P}, i\right)$ होगा,

फिलहाल हम P को दिया हुआ मान लेते हैं जिससे यह समीकरण दो चरों Y व i (मौद्रिक आय व ब्याज की दर) का समीकरण बन जाता है। इस समीकरण से हम Y व i का पता नहीं कर सकते। यह तो i व Y के उन संयोगों को दर्शाता है जहाँ मुद्रा की पूर्ति व कीमत-स्तर के दिये होने पर मुद्रा-बाजार में संतुलन स्थापित हो जाता है।

मुद्रा की माँग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्त्व

(Other Factors affecting demand for money)[1]

गोल्डफेल्ड व चेंडलर (Goldfeld and Chandler) ने मुद्रा की माँग पर आमदनी व ब्याज की दर के अलावा निम्न तत्त्वों का प्रभाव भी बतलाया है।

1. समाज में धन की मात्रा

समाज जितना धनी होगा उसमें मुद्रा की माँग उतनी ही अधिक होगी और वह जितना गरीब होगा उसमें मुद्रा की माँग उतनी ही कम होगी। यहाँ धन में विभिन्न प्रकार की मदें शामिल होती हैं जैसे मकान, आभूषण, मशीनें, शेयर आदि।

2. साख या उधार प्राप्त करने की सुविधा व सुनिश्चितता

यदि किसी समाज में उधार आसानी से न मिल सके तथा कर्ज मिलने के बारे में निश्चितता न हो तो फर्म व परिवार अपने पास ज्यादा मात्रा में मुद्रा रखना चाहेंगे। आजकल कार व टी वी सेट उधार मिलने लगे हैं जिससे मुद्रा की ज्यादा मात्रा अपने पास रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि इनका भुगतान किश्तों में किया जा सकता है।

---

1 Goldfeld & Chandler, The Economics of Money and Banking, Ninth Edition, 1986, pp 350-351

3. भविष्य में आय-प्राप्तियों की आशाएँ

यदि भविष्य में आमदनी के बढने की सम्भावनाएँ हों तो लोग बाग अपने पास कम मुद्रा रखना चाहेंगे। इसके विपरीत यदि भविष्य में आमदनी के घटने की सम्भावना हो तो वे वर्तमान में अपने पास अधिक मात्रा में मुद्रा रखने का प्रयास करेंगे।

4. भावी कीमतों के संबंध में प्रत्याशाएँ

यदि भविष्य में कीमतों के घटने की आशा हो तो लोग बाग आज ज्यादा मुद्रा अपने पास रखेंगे ताकि भविष्य में कीमतों के घटने पर उनको कम कीमतों पर खरीद कर लाभ उठा सकें। यदि भविष्य में कीमतों के बढने की आशा हो तो वे आज मुद्रा व्यय करना चाहेंगे, अर्थात् मुद्रा की माँग कम रखेंगे।

5. किस किस्म व किस प्रकृति की परिसम्पत्तियाँ (assets) उपलब्ध हैं ?

यदि समाज में उपलब्ध अन्य परिसम्पत्तिया जोखिमी हैं, अथवा तरल नही हैं तो मुद्रा की माँग ऊंची होगी, लेकिन यदि सुरक्षित किस्म की परिसम्पत्तियाँ व अधिक तरल किस्म की परिसम्पत्तियाँ उपलब्ध हैं तो मुद्रा की माँग नीची होगी। व्यवहार में विभिन्न प्रकार की परिसम्पत्तियों पर ब्याज की विभिन्न दरें पायी जाती हैं, जिनको देखकर लोग बाग परिसम्पत्तियों का अपना चुनाव किया करते हैं।

6. समाज में भुगतान की प्रणाली

यदि समाज में कच्चे माल की खरीद, उत्पादन, थोक व्यापार, खुदरा व्यापार अलग अलग फर्मों के द्वारा किये जाते हैं तो मुद्रा की माँग ज्यादा होगी और यदि ये एक या बहुत थोडी फर्मों के द्वारा किये जाते हैं तो मुद्रा की माँग अपेक्षाकृत कम होगी, क्योंकि एक या बहुत थोडी फर्मों में मुद्रा के भुगतान कम करने होंगे।

उपर्युक्त विवेचन का उद्देश्य यह समझाना है कि मुद्रा की माँग कई तत्वों से प्रभावित होती है।

मिल्टन फ्रीडमैन का मुद्रा की माँग का विवेचन

सुप्रसिद्ध अमरीकी अर्थशास्त्री मिल्टन फ्रीडमैन (Milton Friedman) ने मुद्रा की माँग का आधुनिक विवेचन प्रस्तुत किया है। फ्रीडमैन ने मुद्रा को एक प्रकार की परिसम्पति (asset) माना है। इसका धारक (holder) इससे कई प्रकार की उपयोगिताएँ प्राप्त कर सकता है, जो मुद्रा के कार्य पर निर्भर करती है। अत मुद्रा अपने स्वामी को कई प्रकार की सेवाएँ प्रदान करती है, जैसे वह इससे बांड, शेयर, मकान, टिकाऊ उपभोक्ता-माल, आदि खरीद सकता है। इसके स्वामी, अर्थात् धन रखने वाली इकाइयाँ व व्यावसायिक उपक्रम, इससे कई प्रकार की सेवाएँ प्राप्त करते हैं। अत फ्रीडमैन के अनुसार मुद्रा को रखने के उद्देश्यों का कोई महत्व नही होता, बल्कि उन सेवाओं का महत्व होता है जो मुद्रा अपने धारकों को प्रदान करती है।

फ्रीडमैन के अनुसार मुद्रा की माँग पर निम्न तत्वों का प्रभाव पडता है मुद्रा की माँग करने वाली इकाई के पास धन या सम्पति (Wealth) कितनी है, इस धन का मानवीय व गैर मानवीय रूपों में विभाजन कैसा है, धन को रखने के विभिन्न रूपों जैसे मुद्रा (करेंसी व बैंक जमा), बाड, व शेयर से सापेक्ष प्रतिफल (relative returns) कितने मिलते हैं तथा

लोगों की रुचियाँ व अभिमान कैसे हैं। व्यावसायिक उपक्रमों के लिए मुद्रा की माँग पर प्रमुखतया निम्न तत्त्वों का प्रभाव पड़ता है। उधार लेकर प्राप्त किये गये कोषों की लागत कितनी है, मुद्रा उनकी उत्पत्ति के मूल्य में उत्पादन के साधन के रूप में क्या योगदान देती है, आदि।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है M^d मुद्रा की (मौद्रिक) माँग का सूचक है, और $\frac{M^d}{P}$ मुद्रा की वास्तविक माँग (real demand for money) का सूचक होगा, क्योंकि यहाँ हमने P, अर्थात् मूल्य स्तर, का भाग दे दिया है, जिससे हमें मुद्रा की वास्तविक माँग ज्ञात हो जाती है। फ्रीडमैन ने मुद्रा का निम्न माँग-फलन प्रस्तुत किया है।[1]

$$\frac{M^d}{P} = f\left(i_m, i_b, i_e, \frac{\dot{P}}{P}, W, n\right)$$

यहाँ i_m = मुद्रा पर प्रतिफल की दर को सूचित करती है,

i_b = बाड पर प्रतिफल की दर (इनके भावों में प्रत्याशित परिवर्तनों सहित) होती है,

i_e = शेयरों पर प्रतिफल की दर (इनके भावों में प्रत्याशित परिवर्तनों सहित) होती है,

P = कीमत स्तर

$\frac{\dot{P}}{P} = \frac{1}{P}\left(\frac{dp}{dt}\right)$ = मुद्रा-स्फीति की दर (rate of inflation) की सूचक है

W = धन की मात्रा तथा

n = गैर-मानवीय धन का मानवीय धन से अनुपात (ratio of non-human wealth to human wealth) तथा $\frac{M^d}{P}$ मुद्रा की वास्तविक माँग को सूचित करते हैं।

मुद्रा के माँग फलन में i_m, i_b, i_e तथा $\frac{\dot{P}}{P}$ मुद्रा की माँग पर विभिन्न प्रतिफल की दरों के प्रभाव को दर्शाते हैं। W धन का माप होता है, जो परिसम्पत्ति के स्वामी के लिए एक प्रतिबन्ध (Constraint) का काम करता है, ठीक उसी प्रकार से जैसे कि उपभोक्ता-माँग-सिद्धान्त में आय का प्रतिबंध काम करता है। n कुल धन में मानवीय पूँजी के अंश का माप होता है। फ्रीडमैन का मत है कि एक व्यक्ति के कुल धन में मानवीय धन का अंश जितना अधिक होगा, उसकी मुद्रा की माँग उतनी ही अधिक होगी। फ्रीडमैन के मुद्रा के माँग के संबंध में कुछ स्पष्टीकरण आगे दिये जाते हैं।[2]

(1) जैसा कि ऊपर बतलाया गया है—फ्रीडमैन के सिद्धान्त के कुल धन एक प्रतिबंध का काम करता है। इसके दो भाग-गैर मानवीय या भौतिक धन व मानवीय धन-होते हैं। मानवीय धन में श्रम की प्रत्याशित आय का वर्तमान मूल्य (present value of expected income of labour) लगाया जाता है। फ्रीडमैन ने चालू आय की जगह "स्थायी आय" (permanent income) की अवधारणा पर बल दिया है।

(2) कुल धन में गैर-मानवीय धन का अनुपात अधिक होने से मुद्रा की माँग कम होती है, क्योंकि मानवीय धन की अपेक्षा गैर-मानवीय या भौतिक धन को खरीदने व बेचने में ज्यादा आसानी होती है।

---

1 Raghbendra Jha, Contemporary Macroeconomic Theory and Policy, 1990, p.182.

2 Suraj B. Gupta, Monetary Economics, 3rd ed; 1994 211 213

(3) केन्स ने केवल बांड के प्रतिफल पर विचार किया था, जब कि फ्रीडमैन ने मुद्रा, बाड व शेयरों सभी के प्रतिफलों की दरो पर विचार किया है। साथ में उसने इनके मूल्यों के प्रत्याशित परिवर्तनों पर भी ध्यान दिया है ताकि इनसे संबंधित पूँजीगत लाभ हानि पर भी विचार किया जा सके।

फ्रीडमैन की मुद्रा की माँग का सिद्धात सामान्यतया स्वीकार किया गया है। लेकिन कुछ अर्थशास्त्रियों ने इसमें चालू आय की जगह "कुल धन" को प्रतिबंध मानने पर आपत्ति उठाई है। इसके अलावा इस सिद्धात में विभिन्न तत्वों या कारकों का सापेक्ष महत्व भी स्पष्ट नहीं किया गया है।

सक्षेप में हम कह सकते हैं कि मुद्रा की माँग पर राष्ट्रीय आय ब्याज की दर मुद्रास्फीति की दर राष्ट्रीय आय में कृषिगत आय के बदलते हुए अश व अन्य कई प्रकार के तत्वों का प्रभाव पडता रहता है जिनके सबध में व्यावहारिक व सांख्यिकीय अध्ययन किये जा रहे हैं। आज मुद्रा की माँग की चर्चा क्लासिकल व केन्सियन दायरों के बाहर निकल कर काफी व्यापक हो गई है। क्लासिकल व नवक्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की माँग पर राष्ट्रीय आय का प्रभाव माना था जब कि केन्स ने इस पर ब्याज की दर का प्रभाव जोड दिया था। लेकिन आधुनिक अर्थशास्त्र में विशेषतया मिल्टन फ्रीडमैन के सिद्धात में मुद्रा की माँग पर मुद्रा की प्रतिफल की दर बाड पर प्रतिफल की दर शेयरों पर प्रतिफल की दर मुद्रास्फीति की दर धन की मात्रा तथा गैर मानवीय व मानवीय धन के परस्पर अनुपात का प्रभाव बतलाया गया है। इस प्रकार मुद्रा की माँग का विश्लेषण काफी विस्तृत हो गया है। यही नहीं बल्कि जो लोग मुद्रा की माँग पर मौद्रिक राष्ट्रीय आय व ब्याज की दर का प्रभाव मानते हैं वे भी इस सबध में समीकरण का स्वरूप दूसरा देते हैं अर्थात् $M^d = f(Y) + f(i)$ के स्थान पर $M^d = f(Y i)$ देते हैं जिससे इसमें बहुत बडा परिवर्तन हो गया है। इन विषयों की चर्चा उच्चतर अध्ययन में सविस्तार की जाती है।

मुद्रा की पूर्ति की अवधारणा

(Concept of Money Supply)

सर्वप्रथम हम मुद्रा की पूर्ति के मुद्रा गुणक सिद्धान्त (money multiplier theory of money supply) अथवा उच्च शक्ति प्राप्त मुद्रा (H) सिद्धान्त का सरल विवेचन करेंगे। इसके अनुसार मुद्रा की पूर्ति दो तत्वों पर निर्भर करती है (i) मुद्रा गुणक जिसे m से सूचित किया जाता है और (ii) उच्च शक्ति प्राप्त मुद्रा (high powered money) या रिजर्व मुद्रा अथवा मौद्रिक आधार (monetary base) जिसे H से सूचित किया जाता है। मुद्रा की पूर्ति का सूत्र $M = mH$ होता है अर्थात् मुद्रा की पूर्ति रिजर्व मुद्रा (H) का मुद्रा-गुणक (m) से गुणा करने से प्राप्त परिणाम के बराबर होती है। अत मुद्रा गुणक (m) की राशि $\frac{M}{H}$ के बराबर होती है। स्पष्ट है कि मुद्रा गुणक को ज्ञात करने के लिए हमें सर्वप्रथम M व H की परिभाषा करनी होगी और इनको प्रभावित करने वाले तत्वों का विवेचन करना होगा। इससे पूर्व हम भारत में प्रचलित मुद्रा की चार अवधारणाओं (M_1, M_2, M_3 व M_4) का स्पष्टीकरण देते हैं। ये मुद्रा के स्टॉक को सूचित करती हैं। आगे मुद्रा गुणक की चर्चा में M_1 व M_3 का विशेष रूप से उपयोग किया जायगा। इसलिए मुद्रा की इन चार

अवधारणाओं से परिचित होना आवश्यक है। M_1 संकीर्ण अर्थ में मुद्रा का सूचक होता है और M_3 विस्तृत अर्थ में मुद्रा को दर्शाता है।

भारत में मुद्रा की चार अवधारणाओं को स्पष्ट करने के बाद मुद्रा की पूर्ति के मुद्रा-गुणक सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन किया जायगा और अन्त में भारत में रिजर्व मुद्रा की अवधारणा को स्पष्ट किया जायगा।

प्राय यह मान लिया जाता है कि मुद्रा की पूर्ति सरकार तथा देश के केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्धारित होती है। लेकिन यह सही नहीं है। हम देखेंगे कि वास्तविक जगत में मुद्रा की पूर्ति के निर्धारण पर देश के मौद्रिक अधिकारी के अलावा बैंकों व जनता का भी प्रभाव पड़ता है। इसमें तो सन्देह नहीं है कि मुद्रा की पूर्ति पर मौद्रिक अधिकारी का प्रमुख रूप से प्रभाव पड़ता है। लेकिन बैंकों व जनता के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता।

भारत में मुद्रा की पूर्ति की चार अवधारणाएँ[1]

(M_1, M_2, M_3 तथा M_4)

(i) M_1 :– इसे 'संकीर्ण मुद्रा' (narrow money) भी कहते हैं। इसमें तीन तत्त्व शामिल होते हैं—(अ) जनता के पास करेंसी, (आ) बैंकों के पास माँग जमाएँ तथा (इ) भारतीय रिजर्व बैंक के पास अन्य जमाएँ (इसमें विदेशी सरकारें, अन्य केन्द्रीय बैंकों व अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष व विश्व बैंक की माँग-जमाएँ शामिल होती हैं)।

मार्च, 1996 के अन्तिम रिपोर्टिंग शुक्रवार को बकाया राशि

(करोड़ रुपयों में)

	M_1 (अ + आ + इ)	2,14,363
(अ)	जनता के पास करेंसी (करेंसी नोट, जनता के पास सिक्के व बैंकों के पास नकद राशि)	1,18,161
(आ)	बैंकों के पास माँग-जमाएँ	92,862
(इ)	रिजर्व बैंक के पास 'अन्य जमाएँ'	3,340

स्पष्ट है कि M_1 में सर्वाधिक अंश जनता के पास करेंसी (currency with the public) का होता है जो मार्च 1996 के अंत में M_1 की कुल बकाया राशि का 55% था, तथा बैंकों के पास माँग-जमाओं (demand deposits) का अंश 43.3% था। इस प्रकार रिजर्व बैंक के पास 'अन्य जमाओं' का अंश 1.7% था, जिसे नगण्य समझकर प्राय विवेचन में छोड़ दिया जाता है, और M_1 की चर्चा में जनता के पास करेंसी + बैंकों के पास माँग-जमाओं पर ही ध्यान केन्द्रित किया जाता है, अर्थात् $M_1 = C + DD$ ही मान लिया जाता है।

(ii) M_2 :– M_1 में पोस्ट ऑफिस बचत बैंक की जमाओं को जोड़ने से M_2 की राशि प्राप्त होती है।

M_1 = 2,14,363 करोड़ रुपये
+ पोस्ट ऑफिस बचत बैंक की जमाएँ = 5,041 करोड़ रुपये
अत: M_2 = 2,19,404 करोड़ रुपये

1 Report on Currency and Finance 1995-96, Volume, II, p. 64

(iii) M_3 :— M_1 में बैंकों की अवधि-जमाओं (time deposits) को शामिल करने से M_3 की राशि प्राप्त होती है, जो मार्च 1996 के अन्तिम रिपोर्टिंग शुक्रवार को इस प्रकार थी।

M_1 = 2,14,363 करोड़ रुपये
+ बैंकों की अवधि-जमाएँ = 3,87,473 करोड़ रुपये
अत: M_3 = 6,01,836 करोड़ रुपये

M_3 को 'व्यापक मुद्रा' (broad money) या समग्र मौद्रिक साधन (aggregate monetary resources) भी कहा जाता है। भारत में मुद्रा की पूर्ति की वार्षिक वृद्धि दर को सूचित करने के लिए प्राय M_3 की वृद्धि दर का ही उपयोग किया जाता है। मार्च 1996 में इसमें अवधि जमाओं का अंश 64.4% था, अर्थात् M_3 का लगभग 2/3 अंश अवधि जमाओं (time deposits) से बना था। दूसरे शब्दों में, M_1 की बकाया राशि M_3 की बकाया राशि का 35.6% या लगभग 1/3 ही थी। इन अनुपातों को समझना मुद्रा की पूर्ति के विवेचन में काफी उपयोगी माना गया है।

(iv) M_4 :— इसमें M_3 की राशि में पोस्ट ऑफिस की कुल जमाएँ (total post office deposits) शामिल की जाती हैं।

M_3 = 6,01,836 करोड़ रुपये
+ कुल पोस्ट ऑफिस जमाएँ = 25,969 करोड़ रुपये
M_4 = 6,27,805 करोड़ रुपये

इस प्रकार भारत में मुद्रा की पूर्ति के सम्बन्ध में चार अवधारणाएँ प्रचलित हैं। इसमें से M_1 व M_3 का ही विशेष रूप से उपयोग किया जाता है। M_1 का उपयोग संकीर्ण अर्थ में मुद्रा की पूर्ति को सूचित करने में तथा M_3 का उपयोग विस्तृत अर्थ में मुद्रा की पूर्ति को सूचित करने में किया जाता है।

भारत में प्रतिवर्ष मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि होती है। 14 मार्च, 1997 को समाप्त होने वाले सप्ताह के अंत में देश में M_3 की मात्रा 683024 करोड़ रुपये हो गयी थी।

1980-81 से 1995-96 की अवधि में M_1 व M_3 के परिवर्तन निम्न तालिका में दर्शाये गये हैं।[1]

(करोड़ रु.) 31 मार्च या अन्तिम शुक्रवार को बकाया राशि (outstanding)

31 मार्च अथवा अन्तिम शुक्रवार (मार्च)	जनता के पास करेंसी	बैंकों के पास माँग जमाएँ	रिजर्व बैंक के पास अन्य जमाएँ	M_1	बैंकों के पास अवधि-जमाएँ (time-deposits)	M_3
अवधि	(1)	(2)	(3)	(4) (1+2+3)	(5)	(6)=(4+5)
1980-81	13426	9,587	411	23,424	32,350	55,774
1995-96	1,18,161	92,862	3,340	2,14,363	3,87,473	6,01,836

1 Report on Currency and Finance 1995-96, Vol. II, pp. 62-63.

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि 1980 81 के अंत में M_1 की मात्रा 23,424 करोड़ रुपये थी, जो 1995-96 के अंत में 2,14,363 करोड़ रुपये हो गई, जो 1980-81 की तुलना में लगभग 9 15 गुना थी। इसी अवधि में M_3 की मात्रा 55,774 करोड़ रुपये से बढ़कर 6,01,836 करोड़ रुपये हो गई जो पहले की तुलना में 10.8 गुनी थी। इस प्रकार M_3 की मात्रा में M_1 की तुलना में अधिक तेज गति से वृद्धि हुई है। 1995-96 में M_3 की मात्रा में पिछले वर्ष की तुलना में *13.2% की वृद्धि हुई। 1994-95 में यह पिछले वर्ष से* 22.3% अधिक रही थी। इस प्रकार M_3 के रूप में मुद्रा की पूर्ति की वृद्धि-दर काफी ऊँची है जिससे देश में मुद्रास्फीति के दबाव बने रहते हैं।

मुद्रा की पूर्ति का मुद्रा-गुणक सिद्धान्त

(Money-multiplier theory of Money Supply)

अब हम मुद्रा की पूर्ति के सम्बन्ध में मुद्रा-गुणक-सिद्धान्त की व्याख्या करेंगे।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, इस सिद्धान्त में $M = mH$ सूत्र का उपयोग किया जाता है। लेकिन यहाँ सर्वप्रथम यह तय करना होगा कि हम M_1 *(संकीर्ण मुद्रा)* को लेते हैं, अथवा M_3 (विस्तृत मुद्रा) को लेते हैं, क्योंकि उसी के अनुरूप मुद्रा-गुणक (money-multiplier) का परिणाम आयेगा।

स्मरण रहे कि $M_1 = m_1H$ तथा $M_3 = m_3H$ में मुद्रा-गुणक की मात्रा एक-सी नहीं होती। आगे के विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि M_1 को लेने पर मुद्रा गुणक (m_1) की मात्रा $= \frac{1+c}{c+r(1+t)}$ आती है, जबकि M_3 को लेने पर इसकी मात्रा $m_3 = \frac{1+c+t}{c+r(1+t)}$ आती है। अब हम इनकी व्युत्पत्ति (derivation) को स्पष्ट करते हैं।[1]

यहाँ हम M_1 की स्थिति से प्रारम्भ करते हैं।

पहले बतलाया जा चुका है कि

$M_1 = C + DD$ .... (1) होता है जहाँ C = जनता के पास करेंसी की मात्रा व DD = माँग-जमाओं को सूचित करते हैं।

उच्च शक्ति प्राप्त मुद्रा (H) भारतीय रिजर्व बैंक व भारत सरकार द्वारा उत्पन्न की जाती है। यह जनता व बैंकों के द्वारा रखी जाती है।

$H = C + R$ .... (2) होती है, जहाँ C = जनता के पास करेंसी की मात्रा तथा R = बैंकों के नकद-रिजर्व (Cash reserves) की राशि होती है।

ऊपर के दो समीकरणों के दायीं तरफ C की राशि कॉमन होती है।

बैंकों के नकद-रिजर्व (R) दो भागों में बाँटे जाते हैं : (i) आवश्यक रिजर्व जो बैंकों को वैधानिक दृष्टि से भारतीय रिजर्व बैंक के पास रखने होते हैं, (ii) अतिरिक्त रिजर्व (excess reserves)।* बैंक अतिरिक्त रिजर्व अपनी इच्छा से रखते हैं। ये जमाकर्ताओं

1 M_1 के मुद्रा-गुणक के सूत्र के लिए देखिए, Suraj B Gupta, Monetary Economics. Institution, Theory and Policy, 3rd., 1994, chapter 15, pp.286-292. and M_3 के मुद्रा-गुणक के सूत्र के लिए देखिए,
Narendra Jadhav, Monetary Economics for India, 1994, Appendix E, p.240 (for derivation) and pp 108-111 (for other details)

* अवधि-जमा व अतिरिक्त रिजर्व न होने पर मुद्रा-गुणक का विवरण इस अध्याय के अंत में एक परिशिष्ट में दिया गया है जिसका आवश्यकतानुसार उपयोग किया जा सकता है।

द्वारा करेंसी निकालने में मदद देने के लिए रखे जाते हैं। ये करेंसी की अप्रत्याशित माँग की पूर्ति के लिए भी रखे जाते हैं।

अब हम तीन व्यवहारमूलक अनुपातों (three behavioural ratios) c, r, व t का उपयोग करते हैं। माँग पक्ष को लेने पर c = करेंसी व माँग-जमा का अनुपात होता है, अत $C = c\,DD$ होता है (3)

r = बैंकों की कुल रिजर्व राशि का उनकी कुल जमा-राशि से अनुपात बतलाता है। कुल जमा राशि में माँग-जमा व अवधि-जमा दोनों शामिल होते हैं, अत $D = DD + TD$ होता है

तथा $R = r.D$ होता है (4)

अत में t = अवधि-जमा का माँग-जमा से अनुपात दर्शाता है।

अत $TD = t.DD$ होता है.... (5)

अब हम $H = C + R$ समीकरण (2) से प्रारम्भ करते हैं

$= c.\,DD + r.\,D$

$= c\,DD + r.\,(DD + TD)$

$= c\,DD + r\,(DD + t.\,DD)$

$= [c + r\,(1 + t)]\,DD$

जिससे $DD = \frac{1}{c + r\,(1+t)}.H$ . . . (6)

प्राप्त होता है जहाँ $\frac{1}{c+r\,(1+t)}$ माँग-जमा गुणक (demand deposit-multiplier) होता है

पुन समीकरण (1) को लेने पर

$M_1 = C + DD$ होता है

$= c.DD + DD$

$= (1 + c)\,DD$

$= \frac{1+c}{c+r\,(1+t)}H$ . ...(7)

[समीकरण (6) में दिया गया DD का मूल्य प्रतिस्थापित करने पर]

अत M_1 के आधार पर चलने पर मुद्रा गुणक $\frac{1+c}{c+r\,(1+t)}$ आयेगा।

यदि हम M_3 के आधार पर चलते तो निम्न अंतर पड़ता—

$M_3 = C + DD + TD$ (करेन्सी + माँग जमा + अवधि-जमा)

$= c.DD + DD + t\,DD = (1 + c + t)\,DD$ . . . (8) (पूर्व व्यवहार-मूलक अनुपातों c व t को प्रतिस्थापित करने पर)

पुन समीकरण (6) में दिया गया DD का मूल्य समीकरण (8) में प्रतिस्थापित करने पर

$m_3 = \frac{1+c+t}{c+r\,(1+t)}H$ . . . . . . (8) होगा जिससे M_3 के आधार पर मुद्रा गुणक (m_3) इस प्रकार होगा.

$$m_3 = \frac{1+c+t}{c+r(1+t)}$$

मान लीजिए, c = 1.2, t = 4.2 तथा r = 0.15 हो तो

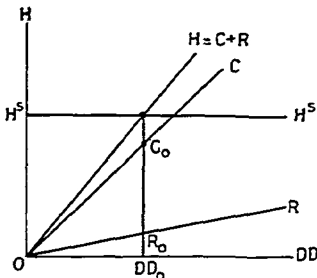
$$m_3 = \frac{1+1.2+4.2}{1.2+0.15(1+4.2)}$$

$$= \frac{6.4}{1.2+0.8} = \frac{6.4}{2.0} = 3.2 \text{ (लगभग)}$$

[ऊपर c, t व r के जो अनुपात लिये गये हैं, वे भारत में हाल के वर्षों में पाये जाने वाले वास्तविक अनुपातों के समतुल्य हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि मुद्रा की पूर्ति के मुद्रा गुणक या उच्च शक्ति प्राप्त मुद्रा (H) सिद्धान्त में तीन व्यवहारमूलक अनुपातों c, t व r की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। करेंसी का माँग-जमा से अनुपात, अर्थात् c के बढ़ने से मुद्रा की पूर्ति में सकुचन (contraction) आता है। अवधि-जमा का माँग-जमा से अनुपात, अर्थात् t के बढ़ने से मुद्रा की पूर्ति में विस्तार (expansion) आता है, तथा बैंक रिज़र्व-राशि का कुल जमाओं से अनुपात, अर्थात् r के बढ़ने से मुद्रा की पूर्ति में सकुचन (contraction) आता है।

हम ऊपर देख चुके हैं कि करेंसी की माँग (C), बैंक-रिज़र्व राशि की माँग (R) तथा उच्च शक्ति प्राप्त मुद्रा (H) की माँग को माँग-जमा (DD) के अनुपात के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। इसलिए उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम H बाजार का सन्तुलन दर्शा सकते हैं जो इस प्रकार होगा। चित्र में क्षैतिज अक्ष पर DD तथा लम्बवत् अक्ष पर H की मात्राएँ ली गई हैं—



उच्च शक्ति प्राप्त मुद्रा (H) बाज़ार का सन्तुलन

चित्र का स्पष्टीकरण[1]

उपर्युक्त चित्र में H सिद्धान्त के आधार पर मुद्रा की पूर्ति का निर्धारण दर्शाया गया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है लम्बवत् अक्ष पर H मापा गया है तथा क्षैतिज अक्ष पर DD यहाँ H की मात्रा बाहर से दी हुई होती है, जो मौद्रिक अधिकारी द्वारा OH^s के बराबर निर्धारित की गई है, जिससे $H^s H^s$ रेखा DD के पूर्णतया बेलोचदार दर्शायी गयी है।

चित्र में H–बाजार में तीन माँग वक्र ऊपर की ओर उठते हुए दर्शाये गये हैं। OC रेखा क्षैतिज अक्ष से c के बराबर ढाल बनाती है। OR रेखा क्षैतिज अक्ष से $r(1+t)$ के बराबर, तथा OH रेखा $c + r(1 + t)$ के बराबर (दोनों के योग के बराबर) ढाल बनाती है। $H^s = H^d$ संतुलन बिन्दु पर माँग जमा का संतुलन $= DD_0$ होता है। अत इस बिन्दु के अनुसार पब्लिक की करेंसी की माँग C_0 तथा बैंकों की रिजर्व राशि R_0 के बराबर होते हैं और ये दोनों मिलकर H की माँग के बराबर होते हैं। इस प्रकार H– बाजार में H की माँग H की पूर्ति के बराबर होती है।

इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति के H–सिद्धान्त में अथवा मुद्रा-गुणक सिद्धान्त में तीन व्यवहारमूलक अनुपातों, यथा c, r व t की भूमिका स्पष्ट हो जाती है।

मुद्रा की पूर्ति के विवेचन में हमने मुद्रा गुणक व रिजर्व मुद्रा या उच्च शक्ति प्राप्त मुद्रा (H) का विवेचन किया है। अब हम भारत में प्रचलित रिजर्व मुद्रा की अवधारणा का स्पष्टीकरण करते हैं। भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा इसके आकडे इसके विभिन्न अंगों (components) के अनुसार तथा इसके विभिन्न स्रोतों (sources) के अनुसार प्रकाशित किये जाते हैं। रिजर्व मुद्रा के बढने से देश में मुद्रा की पूर्ति बढती है। अत इसके अध्ययन का विशेष महत्व माना गया है।

भारत में रिजर्व मुद्रा भारतीय रिजर्व बैंक व भारत सरकार द्वारा उत्पन्न की जाती है, और जनता व बैंकों के द्वारा रखी जाती है। सरकार एक रुपये के नोट, सिक्के व छोटे सिक्के चलाती है, जबकि रिजर्व बैंक एक रुपये के नोट को छोडकर बाकी के सभी करेंसी नोट चलाता है। रिजर्व बैंक की मुद्रा में इसके चलाये गये करेंसी नोट, बैंकों की भारतीय रिजर्व बैंक के पास जमाएँ व रिजर्व बैंक के पास 'अन्य' जमाएँ शामिल होती हैं।

रिजर्व मुद्रा के अंग (Components) इस प्रकार होते हैं—

(1) जनता के पास करेंसी

(2) भारतीय रिजर्व बैंक के पास 'अन्य जमाएँ'

(3) बैंकों के पास नकद राशियाँ

(4) भारतीय रिजर्व बैंक के पास बैंकों की जमा-राशियाँ

1980-81 तथा 1995 96 के लिए इनकी राशियाँ निम्न तालिका में दर्शायी गयी हैं।[2]

1995-96 में कुल रिजर्व मुद्रा में जनता के पास करेंसी का स्थान 60.8% तथा भारतीय रिजर्व बैंक के पास बैंकों की जमा राशियों का अंश 35.3% था। ये रिजर्व मुद्रा के दो प्रमुख अंग माने जाते हैं। लगभग 96% रिजर्व-मुद्रा इन दो से निर्मित हुई है।

---

1 Suraj B Gupta op. cit., p.275

2. Report on Currency and Finance 1995 96 Vol. II, p. 67, स्मरण रहे कि बैंक-रिजर्व-राशि में बैंकों के पास पड़ी नकद-राशियाँ तथा रिजर्व बैंक के पास बैंकों की जमा-राशियाँ (ऊपर वर्णित क्रम-संख्या 3 व 4) शामिल होती हैं।

बकाया राशियाँ (करोड़ रु. में)

31 मार्च अथवा अन्तिम शुक्रवार को बकाया राशि (मार्च)	जनता के पास करेंसी	रिज़र्व बैंक के पास 'अन्य' जमाएँ	बैंकों के पास नकद राशियाँ	रिज़र्व बैंक के पास बैंकों की जमा राशियाँ	रिज़र्व मुद्रा (Reserve Money)
	(1)	(2)	(3)	(4)	(5) = (1+2+3+4)
1980-81	*13,426*	*411*	*881*	*4,734*	*19,452*
1995-96	1,18,161	3,340	4,291	68,544	1,94,336

भारत में रिज़र्व मुद्रा के स्रोत (Sources of Reserve Money In India)

रिज़र्व मुद्रा के स्रोत निम्न होते हैं—

(i) रिज़र्व बैंक द्वारा सरकार को शुद्ध उधार

(ii) रिज़र्व बैंक द्वारा व्यापारिक व सहकारी बैंकों को उधार

(iii) रिज़र्व बैंक द्वारा नाबार्ड (कृषि व ग्रामीण विकास के राष्ट्रीय बैंक) को उधार

(iv) रिज़र्व बैंक द्वारा व्यापारिक क्षेत्र को उधार (वित्तीय संस्थाओं के बांड/शेयर में विनियोग, उनको कर्ज, आन्तरिक बिलों की खरीद, आदि)

(v) शुद्ध विदेशी विनिमय परिसम्पत्तियाँ (रिज़र्व बैंक की)। इनके बढ़ने से रिज़र्व मुद्रा बढ़ती है जैसा कि विदेशी पूँजी के अन्तर्गमन से पिछले वर्षों में हुआ है।

(vi) सरकार की जनता के प्रति करेंसी देयताएँ—सरकार एक के नोट व सिक्के तथा छोटे सिक्के जारी करती है जिससे रिज़र्व मुद्रा का विस्तार होता है।

(vii) रिज़र्व बैंक की शुद्ध गैर-मौद्रिक देयताएँ (net non-monetary liabilities) (इसमें भारतीय रिज़र्व बैंक के स्वयं के कोष जैसे पूँजी + रिज़र्व + राष्ट्रीय कोषों में इसके अंशदान की राशियाँ एवं जनता की अनिवार्य जमाराशियाँ (Compulsory deposits) शामिल होती हैं। इन्हें घटाया जाता है।

रिज़र्व मुद्रा का स्रोतों के अनुसार अनुमान लगाने का सूत्र

रिज़र्व मुद्रा = (i) + (ii) + (iii) + (iv) + (v) + (vi) - (vii), अर्थात् यह (i) से (vi) के जोड़ में से (vii) को घटाने से प्राप्त परिणाम के बराबर होती है। भारतीय रिज़र्व बैंक की शुद्ध गैर-मौद्रिक देयताओं को इसलिये घटाया जाता है कि इनकी मात्रा के अधिक होने पर रिज़र्व बैंक को नई रिज़र्व मुद्रा के सृजन पर कम मात्रा में निर्भर करना पड़ता है। इसलिए (vii) मद ऋणात्मक (Negative) रूप में दिखायी जाती है।

अग्र तालिका में रिज़र्व मुद्रा की मात्रा स्रोतों (Sources) के अनुसार दर्शायी गई है।[1]

अग्र तालिका से स्पष्ट होता है कि रिज़र्व मुद्रा का प्रमुख स्रोत रिज़र्व बैंक के द्वारा सरकार को दी जाने वाली शुद्ध उधार की राशि होती है। 1995-96 में यह रिज़र्व मुद्रा का 62.4% थी। दूसरा स्थान रिज़र्व बैंक की शुद्ध विदेशी विनिमय परिसम्पत्तियों का था, जो रिज़र्व मुद्रा का 38.1% रहा। रिज़र्व बैंक की शुद्ध गैर-मौद्रिक देयताएँ कुल रिज़र्व मुद्रा का 16.6% रहीं। इसे घटाया जाता है। अतः रिज़र्व मुद्रा के सृजन में भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा

1 Report on Currency and Finance, Vol. II, 1995-96, p. 66.

सरकार को दी जाने वाली शुद्ध उधार की राशि प्रमुख स्थान रखता है तथा दूसरा स्थान 1995-96 में शुद्ध विदेशी विनिमय परिसम्पत्तियों का रहा जिससे रिजर्व मुद्रा का बढ़ावा पड़ा। यह 1994-95 के स्तर के समान ही रही।

इस प्रकार हमने रिजर्व मुद्रा का विवेचन दो प्रकार से किया है पहला इसके विभिन्न अंगों के अनुसार, दूसरा इसके उत्पन्न होने के विभिन्न स्रोतों के अनुसार। दोनों के परिणाम एक से होते हैं।

रिजर्व बैंक के दावे (Claims of RBI on)

(करोड़ रु में)

31 मार्च अथवा अन्तिम शुक्रवार को बकाया राशि	सरकार (शुद्ध)	व्यापारिक व सहकारी बैंक	नाबार्ड	व्यापारिक क्षेत्र	रिजर्व बैंक की शुद्ध विदेशी विनिमय परिसम्पत्तियाँ	सरकार की करेंसी देयताएं (जनता के प्रति)	रिजर्व बैंक की शुद्ध गैर-मौद्रिक देयताएं	रिजर्व मुद्रा (RM) (i) से (vi) का जोड़ (–)vii
	(i)	(ii)	(iii)	(iv)	(v)	(vi)	(vii)	(viii)
1980-81	16443	1276	-	1,700*	4,775	619	5,360	19,453
1995-96	1,21,349	16,964	4,991	6,855	74,092	2,386	32,301	1,94,336

मुद्रा की पूर्ति M_1 व M_3 का रिजर्व मुद्रा से सम्बन्ध

मुद्रा की पूर्ति (M_1 अथवा M_3) व रिजर्व मुद्रा (RM) का सम्बन्ध मुद्रा गुणक (Money Multiplier) की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।

M_1 को लेने पर मुद्रा गुणक का सूत्र M_1/RM होगा और M_3 को लेने पर मुद्रा-गुणक $= M_3/RM$ होगा। इसलिए मुद्रा की पूर्ति पर दो तत्व या कारकों का प्रभाव पड़ता है, पहला रिजर्व मुद्रा का तथा दूसरा मुद्रा-गुणक का। यदि मुद्रा गुणक को m से सूचित करें तो निम्न सम्बन्ध स्थापित होंगे—

$m_1 = M_1/RM$, जिससे $M_1 = m_1 \times RM$ होगी

तथा $m_3 = M_3/RM$, जिससे $M_3 = m_3 \times RM$ होगी।

यहाँ m_1 मुद्रा गुणक, M_1 मुद्रा की पूर्ति के संदर्भ में है, तथा m_3 मुद्रा गुणक, M_3 मुद्रा की पूर्ति के सदर्भ में है।

स्मरण रहे कि M_1 व M_3 मुद्रा की पूर्तियों के लिए मुद्रा गुणक की मात्राएँ अलग अलग होंगी। उदाहरण के लिए, (वर्ष में अप्रैल मार्च के महीनों में सभी रिपोर्टिंग शुक्रवारों के औसत लेने पर) 1995-96 में मुद्रा गुणक m_1 की मात्रा 1.107 रही थी, तथा मुद्रा गुणक m_3 की मात्रा 3.112 रही थी। इसका अर्थ यह हुआ कि M_1 के सन्दर्भ में मुद्रा गुणक 1.1 के समीप, तथा M_3 के सन्दर्भ में 3.1 के समीप पाया गया था।

* इसमें 4 करोड़ रु के अन्तर्देशीय बिल शामिल हैं जिन्हें भारतीय रिजर्व बैंक से पुनः बट्टा कराया गया था।

परिशिष्ट

मुद्रा-गुणक का एक और सरल रूप[1]

मुद्रा-गुणक के सरलतम रूप में हम मान लेते हैं कि मुद्रा की पूर्ति में करेंसी और माँग-जमाएँ ही होती हैं, अर्थात् अवधि-जमाएँ (Time-Deposits) नहीं होती हैं। दूसरी मान्यता यह है कि बैंक कानूनी रिजर्व से अधिक मात्रा नहीं रखते हैं (no excess legal reserves) अर्थात् बैंक रिजर्व-राशि केवल वैधानिक रिजर्व (Statutory reserve) के बराबर ही होती है। यदि उच्च शक्ति प्राप्त मुद्रा अथवा मौद्रिक आधार को H से सूचित करें तो यह व्यापारिक बैंकों के कुल रिजर्व (R) व प्रचलन में करेंसी (C) के जोड़ के बराबर होगा।

अतः $H = C + R$ ....(1)

यदि माँग-जमाओं पर RR_d कानूनी रिजर्व माने जाएँ और r माँग-जमाओं पर औसत कानूनी रिजर्व आवश्यकता हो तो

$RR_d = rDD$ होगा ....(2)

लेकिन अतिरिक्त कानूनी रिजर्व न होने पर, $R = RR_d$ होगा।

अत $R = RR_d = rDD$ होगा।

$\therefore H = rDD + C$ ....(3)

समीकरण (3) यह स्पष्ट करता है कि उच्च शक्ति-प्राप्त मुद्रा को मौद्रिक अधिकारी निर्धारित करते हैं, लेकिन इसकी बनावट पर जनता का भी प्रभाव पड़ता है।

समीकरण (3) से $rDD = H - C$ प्राप्त होता है।

$\therefore DD = (1/r)(H - C)$........................ (4)

माँग-जमाओं के परिवर्तनों को उच्च शक्ति प्राप्त मुद्रा (H) व करेंसी (C) के परिवर्तनों से सम्बद्ध करने पर समीकरण (4) से

$$\Delta DD = \frac{1}{r}(\Delta H - \Delta C) \text{ ....(5)}$$

अब हम पहले की भांति करेंसी व माँग-जमा का अनुपात c मान लेते हैं, अर्थात् बैंक में जो प्रत्येक रुपया जमा कराया जाता है उसका c अंश लोग करेंसी के रूप में रखना चाहते हैं।

$\therefore C = cDD$ होगा, अथवा $\Delta C = c\Delta DD$ होगा।

समीकरण (3) इस प्रकार लिखा जा सकता है :

$\Delta H = r\Delta DD + \Delta C$

$= r\Delta DD + c\Delta DD$ ($\because \Delta C = c\Delta DD$ होता है)

$= (r + c)\,\Delta DD$

अथवा $\Delta DD = \left(\frac{1}{r+c}\right)\Delta H$ होगा ....(6)

पुन. $\Delta C = c\Delta DD$ से प्रारम्भ करने पर, समीकरण (5) के अनुसार,

$\Delta C = c\left(\frac{1}{r+c}\right)\Delta H. = \left(\frac{c}{r+c}\right)\Delta H$ होगा ....(7)

1. Raghbendra Jha, Contemporary Macroeconomic Theory and Policy, first edition, 1991, pp 184-186

मुद्रा की पूर्ति की वृद्धि करेंसी की वृद्धि व माग जमाओं की वृद्धि के बराबर होती है, अर्थात्

$\Delta M = \Delta C + \Delta DD$ ($\because M = C + DD$)

समीकरण (6) व (7) के आधार पर

$$\Delta M = \left(\frac{c}{r+c}\right) \Delta H + \left(\frac{1}{r+c}\right)\Delta H \text{ होगा} \qquad (8)$$

$$= \left(\frac{1+c}{r+c}\right) \Delta H$$

इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति M व उच्च शक्ति प्राप्त H में परस्पर सम्बन्ध $\frac{1+c}{r+c}$ के माध्यम से स्थापित होता है। अत इसे मुद्रा गुणक (Money Multiplier) कहा जाता है। समीकरण (8) में इसके दो भाग भी स्पष्ट हो जाते हैं। $\frac{c}{r+c}$ को करेंसी गुणक (currency multiplier) कह सकते हैं, तथा $\frac{1}{r+c}$ को माँग जमा गुणक (demand deposit multiplier) कह सकते हैं। ये परिणाम बहुत महत्वपूर्ण हैं। इनमें r व c के मूल्य प्रतिस्थापित करके जमा गुणक व मुद्रा गुणक निकाले जा सकते हैं।

मान लीजिए, व्यापारिक बैंकों को अपनी माँग जमाओं का 10% (अथवा 0 1) वैधानिक रिजर्व के रूप में रखना होता है तथा करेंसी माँग-जमा अनुपात c = 50% (अथवा 0.5) होता है तो

$$\text{जमा गुणक} = \frac{1}{r+c} = \frac{1}{0 1 + 0.5} = \frac{1}{0 6} = \frac{5}{3} = 1.667 \text{ होगा।}$$

$$\text{तथा मुद्रा गुणक} = \frac{1+c}{r+c} = \frac{1+0.5}{0 1 + 0.5} = \frac{15}{0 6} = \frac{15}{6} = 2.5 \text{ होगा।}$$

ऊपर हमने मुद्रा गुणक प्राप्त करने की जिस विधि का उपयोग किया है उसमें जमा गुणक (deposit multiplier) भी प्राप्त हो जाता है और इन दोनों की परस्पर कड़ी भी स्पष्ट हो जाती है।

मौद्रिक विश्लेषण में मुद्रा गुणक व जमा गुणक दोनों का महत्व होता है।

प्रश्न-यदि व्यापारिक बैंकों की माँग जमाओं के पीछे औसत कानूनी रिजर्व की आवश्यकता 15% हो, तथा करेंसी का माँग जमा से अनुपात 60% हो, तो मुद्रा गुणक व जमा गुणक ज्ञात करें। साथ में यह मान्यता भी स्वीकार की जाती है कि अवधि जमाएँ शून्य हैं तथा, अतिरिक्त कानूनी रिजर्व नहीं रखे जाते।

$$\text{उत्तर—मुद्रा गुणक} = \frac{1+c}{r+c} = \frac{1+0 6}{0 15 + 0 6} = \frac{1 6}{0 75} = 2.133$$

$$\text{जमा गुणक} = \frac{1}{r+c} = \frac{1}{0 15 + 0 6} = \frac{1}{0 75} = \frac{4}{3} = 1.333$$

हम अपनी मान्यताओं में परिवर्तन करके अन्य प्रकार का मुद्रा गुणक भी निकाल सकते हैं, जिसकी राशि पहले से भिन्न होगी। प्रायः माँग-जमाओं के साथ अवधि-जमाओं को शामिल करके (लेकिन अतिरिक्त कानूनी रिजर्व शून्य मानकर) मुद्रा गुणक निकाला जाता है। इसी प्रकार अवधि-जमाओं को शामिल करके तथा अतिरिक्त कानूनी रिजर्व (Excess

Reserves) को मानकर मुद्रा-गुणक निकाला जाता है, जिसका पहले अध्याय में सरल विवेचन किया जा चुका है। यहाँ M_3 के सन्दर्भ में मुद्रा-गुणक की मात्रा $\frac{1+c+t}{c+r(1+t)}$ दर्शायी जा चुकी है।

निष्कर्ष–विभिन्न दशाओं में मुद्रा-गुणकों के सूत्र नीचे दिये जाते हैं–

(1) M_1 के सन्दर्भ में अतिरिक्त रिजर्व (excess reserves) मानने की स्थिति में मुद्रा-गुणक

$m_1 = \frac{1+c}{c+r(1+t)}$ होगा।

(2) M_3 के सन्दर्भ में अतिरिक्त रिजर्व मानने की स्थिति में मुद्रा-गुणक

$m_3 = \frac{1+c+t}{c+r(1+t)}$ होगा।

(3) M_1 के सन्दर्भ में अर्थात् अवधि-जमा न मानने पर, तथा साथ में अतिरिक्त रिजर्व न मानने पर मुद्रा-गुणक

$m = \frac{1+c}{c+r}$ होगा।

प्रश्न

1. भारत के सदर्भ में मुद्रा की पूर्ति की अवधारणाओं M_1, M_2, M_3, M_4 को स्पष्ट कीजिए। मुद्रा की पूर्ति (M) तथा उच्च शक्ति प्राप्त मुद्रा (H) को स्पष्ट कीजिए।
(Raj Iyr. 1993)
2. निम्नांकित पर लगभग 100 शब्दों में संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये–
   (i) मुद्रा की पूर्ति सम्बन्धी M_1 तथा M_3 अवधारणाओं को भारतीय सन्दर्भ में स्पष्ट कीजिये। (Ajmer Iyr. 1993)
3. रिजर्व मुद्रा किसे कहते हैं? इसके विभिन्न अंग कौन से होते हैं? रिजर्व मुद्रा की अवधारणा का मौद्रिक विश्लेषण में क्या महत्त्व है?
4. मुद्रा-गुणक किसे कहते हैं? यह कैसे ज्ञात किया जाता है? इसका मौद्रिक विश्लेषण में क्या योगदान है? समझाकर लिखिए।
5. यदि अवधि जमाएँ शून्य हों तथा अतिरिक्त कानूनी रिजर्व न हों तो कानूनी रिजर्व अनुपात के 10% होने व करेंसी माँग-जमा अनुपात के 55% होने पर मुद्रा-गुणक ज्ञात करें। इस स्थिति में जमा-गुणक का भी आकलन करें।
[मुद्रा-गुणक = 2.385 जमा गुणक = 1.5381]
6. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए–
   (i) भारत में M_1 व M_3 में अतर,
   (ii) मुद्रा-गुणक का अर्थ व महत्त्व,
   (iii) भारत में रिजर्व मुद्रा के स्रोत (Sources),

(iv) भारत में रिजर्व मुद्रा के अंग (Components),

(v) बैंक रिजर्व का अर्थ (*Meaning of Bank Reserves*)

(vi) माँग जमाएँ।

7 मुद्रा की पूर्ति की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए। मुद्रा की पूर्ति और कीमतों के बीच क्या सम्बन्ध है?

(Raj Iyr 1995)

[*मुद्रा की पूर्ति व कीमतों के सम्बन्ध का विवेचन अगले अध्याय में दिया गया है।*]

8 अतिरिक्त रिजर्व की स्थिति की परिकल्पना करते हुए M_3 के सन्दर्भ में मुद्रा गुणक ज्ञात कीजिए।

9 अतिरिक्त रिजर्व की स्थिति में M_1 के सन्दर्भ में मुद्रा गुणक ज्ञात कीजिए।

10 अतिरिक्त रिजर्व को शून्य मान कर तथा अवधि-जमा के नहीं पाये जाने पर मुद्रा गुणक का सूत्र निकालिए।

11 निम्न व्यवहारमूलक अनुपातों का अर्थ लिखिए–

(i) करेन्सी का माँग-जमा से अनुपात

(ii) बैंक रिजर्व राशि का कुल जमा से अनुपात

(iii) अवधि जमा का माँग जमा से अनुपात।

12 मुद्रा की माँग तथा मुद्रा की माँगों को प्रभावित करने वाले कारकों से आपका क्या अभिप्राय है? समीकरणों तथा रेखाचित्रों का प्रयोग करते हुए समझाइये।

(Raj Iyr, 1997)

13 (अ) भारत में प्रयोग में लाए जाने वाली M_1, M_2 M_3, और M_4 अवधारणाओं को परिभाषित कीजिये।

(ब) मुद्रा की पूर्ति तथा उच्च शक्ति प्राप्त मुद्रा के बीच सम्बन्ध समझाइए।

(Raj Iyr, 1997)



मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त तथा मुद्रा की पूर्ति, उत्पत्ति व कीमतों का परस्पर सम्बन्ध
(Quantity Theory of Money & Relation Between Money Supply, Output & Prices)

अर्थशास्त्रियों में मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को लेकर काफी विवाद रहा है। इस सिद्धान्त के समर्थकों ने कीमतों पर मुख्य प्रभाव मुद्रा की पूर्ति का माना है। उनके अनुसार मुद्रा की पूर्ति के परिवर्तन मूल्य-स्तर को प्रभावित करते हैं। केन्स ने आय-व्यय दृष्टिकोण, अथवा बचत-विनियोग दृष्टिकोण (income-expenditure approach or saving-investment approach) प्रस्तुत किया था, जिसमें आय के परिवर्तनों का महत्त्व स्वीकार किया गया था। इस अध्याय में हम मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त के फिशर के रूप व केम्ब्रिज-विचारधारा का विवेचन करने के बाद आधुनिक सिद्धान्त की सरल रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे।

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money)

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने कीमत-स्तर के परिवर्तनों के लिए मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनों को प्रमुख कारण माना था। यही नहीं, बल्कि मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त अपने कठोर रूप में तो यह कहता है कि जिस अनुपात में मुद्रा की मात्रा बढ़ती है उसी अनुपात में कीमत-स्तर भी बढ़ता है। यदि मुद्रा की मात्रा दुगुनी कर दी जाती है, तो कीमत-स्तर भी दुगुना हो जाता है (अर्थात् मुद्रा का मूल्य आधा हो जाता है।) इसके विपरीत यदि मुद्रा की मात्रा आधी कर दी जाती है तो कीमत-स्तर भी आधा हो जाता है (अर्थात् मुद्रा का मूल्य दुगुना हो जाता है)। इस प्रकार क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने कीमत-स्तर के परिवर्तन का कारण मुद्रा की मात्रा के परिवर्तन को माना था।

मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त की चर्चा प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने भी की है। इनमें डेविड ह्यूम का नाम उल्लेखनीय है जिसने 1752 में इसकी व्याख्या की थी। रिकार्डो, जॉन स्टुअर्ट मिल व अन्य क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त का ही समर्थन किया था। लेकिन 1911 में प्रो. इरविंग फिशर ने अपनी पुस्तक—The Purchasing Power of Money में उसके सौदों या लेन-देन के दृष्टिकोण का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया था जो काफी लोकप्रिय माना गया है।

अपने कठोर रूप में, मुद्रा का परिमाण-सिद्धान्त अग्र तालिका की सहायता से व्यक्त किया जा सकता है—

जिस प्रकार गुणक की प्रणाली में क्रम चलता जाता है, उसी प्रकार यहाँ रिजर्व अनुपात के r होने पर नई जमा के $\frac{1}{r}$ गुने (अर्थात् 5 गुने) तक जमा में वृद्धि हो जाती है। सच पूछा जाय तो कॉलम (1) में जमा का क्रम इस प्रकार रखा जा सकता है–

$$= 100 + \frac{4}{5}(100) + \left(\frac{4}{5}\right)^2(100) + \left(\frac{4}{5}\right)^3(100) +$$

$$= 100\left[1 + \frac{4}{5} + \left[\frac{4}{5}\right]^2 + \left[\frac{4}{5}\right]^3 + \left[\frac{4}{5}\right]^4 + \quad\right]$$

यह असीमित ज्यामितीय सिरीज के जोड़ की विधि से हल किया जा सकता है।[1]

$$= 100\left[\frac{1}{1-\frac{4}{5}}\right] = 100\left[\frac{1}{\frac{1}{5}}\right]$$

$$= 100 \times 5 = 500 \text{ रुपये}$$

इस प्रकार इस दूसरी स्थिति में भी 100 रुपये की नकद जमा से 500 रुपये की कुल जमा का निर्माण हो जाता है। यदि रिजर्व अनुपात 10% होता तो साख का निर्माण दस गुना होता।

3 कई बैंक तथा कई जमाएँ (Many Banks and Many Deposits)

रिचर्ड जी लिप्से के अनुसार वास्तविक जगत में कई बैंक व कई जमाओं की स्थिति अधिक व्यावहारिक होती है। यह निम्न विधि से काम करती है। मान लीजिए, समाज में एक से 10 बैंक हैं, और प्रत्येक के पास 100 रु. की नकद राशि जमा के रूप में आती है। इससे प्रत्येक बैंक 100 रु के आधार पर कर्ज देकर साख का विस्तार करने की स्थिति में आ जाता है। चूँकि प्रत्येक बैंक कुल व्यवसाय का $\frac{1}{10}$ व्यवसाय ही करता है इसलिए साख सृजन का औसत 90 प्रतिशत भाग दूसरे बैंकों की ओर चला जाता है। कारण यह है कि ग्राहक अन्य लोगों को चैक से भुगतान करते हैं। इससे नकद राशि उधार देने वाले बैंक से निकल कर अन्य बैंकों की ओर जाती है। लेकिन इसी तर्क के अनुसार प्रत्येक दूसरे बैंक की नई साख सृजन का 10 प्रतिशत नकद राशि का निकास (outflow) ज्यादा नहीं होता और प्रत्येक बैंक अपने रिजर्व-अनुपात के अनुसार साख सृजन करता जाता है। अन्त में प्रत्येक बैंक 100 रुपये की प्रारम्भिक नकद जमा के आधार पर कुल 500 रु की कुल जमा राशि उत्पन्न कर देता है जिसमें से 400 रु की राशि नई साख सृजन की राशि कहलाती है। वास्तविक जगत में "कई बैंक तथा कई जमा" की स्थिति ही पायी जाती है और इसमें भी रिजर्व-अनुपात के 20% होने पर साख सृजन 5 गुना ही होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले बैंक में नकद-जमाएँ (cash deposits) आती हैं जिससे बैंक अपने ग्राहकों को कर्ज देने की स्थिति में आता है अर्थात् नकद जमा से ही कर्ज जन्म लेते हैं, अथवा हम यों यह कह सकते हैं कि कर्ज जमा के बच्चे होते हैं (loans are the children of deposits)। लेकिन आगे चलकर कर्ज की राशि

1 असीमित ज्यामितीय प्रोग्रेशन में जोड़ का फार्मूला $\frac{a}{1-r}$ होता है, जहाँ a प्रथम मद और r सामान्य अनुपात (Common Ratio) होता है।

बैंकों में जमा के रूप में फिर प्रकट हो जाती है, जिससे यह कहा जाने लगता है कि जमाएं कर्ज के बच्चे होती हैं (deposits are the children of loans)। इस प्रकार नकद-जमाओं → कर्ज → नई जमाओं का क्रम निरंतर जारी रहता है। स्मरण रहे कि इस क्रम का प्रारम्भ नकद-जमाओं या प्राथमिक जमाओं (cash deposits or primary deposits) से होता है, फिर कर्ज के माध्यम से नई या द्वितीयक जमाओं (Secondary deposits) के दौर में पहुँच जाता है। यह क्रम आगे जारी रहता है, जब तक कि पूरा साख-सृजन नहीं हो जाता।

साख-सृजन की प्रक्रिया का अधिक विस्तृत व सामान्य रूप[1]–रिचर्ड जी. लिप्से ने साख-सृजन का एक सामान्य सूत्र दिया है जिसमें इस बात का भी समावेश किया गया है कि जनता अपने पास मुद्रा का b अंश नकद रूप में रखना चाहती है (Public wishes to hold a fraction, b, of all its money in cash)

सामान्य सूत्र को निकालने की प्रक्रिया इस प्रकार होती है–

मान लीजिए, बैंकिंग प्रणाली में N नई जमाएँ आती हैं, जिनमें से C राशि नकद रूप में निकल जाती है और R राशि रिजर्व में रह जाती है।

अतः $= C + R = N$ होती है........(1)

अब मान लीजिए, आवश्यक या वांछित रिजर्व-अनुपात (required reserve ratio) x होता है जिससे $xD = R$ ....(2) हो जाता है। यहाँ D कुल जमाओं को सूचित करता है (प्रारंभिक जमा + बैंक द्वारा उत्पन्न नई जमाएँ)

अंत में हम यह मान लेते हैं कि लोग अपनी कुल मुद्रा (Total money) का b अंश नकद (cash) रूप में अपने पास रखना चाहते हैं, ऐसी स्थिति में $C = b\,(C + D)$. (3) होगा।

अब हम समीकरण (2) व (3) को प्रथम समीकरण में प्रतिस्थापित कर देते हैं, जिससे D का मूल्य निकल आता है, जो इस प्रकार दर्शाया जा सकता है;

$b\,(C + D) + xD = N$ (सूत्र एक में C व R के मूल्य रखने पर)

अथवा $b\,[N - R + D] + xD = N$ $(\because C + R = N)$

अथवा $b\,(N - xD + D) + xD = N$ ($R = xD$ रखने पर)

$\therefore bN - xbD + bD + xD = N$

$\therefore D\,(b + x - xb) = N - bN = N\,(1-b)$ (हल करने पर)

$\therefore D = \dfrac{1-b}{b+x-xb}\,N$..........(4) होगा

इस प्रकार जमा-सृजन का नया सामान्य सूत्र निकल आता है जिसमें N, b व x के मूल्य दिये हुए होने पर जमा की राशि ज्ञात की जा सकती है।

मान लीजिए $N = 100$ रुपये है, जो बैंक में प्रारम्भ में नई जमा के रूप में आती है।

स्थिति I : इसमें $b = 0.10$ है, जो कुल मुद्रा का वह अंश है जिसे जनता अपने पास

1. Richard G. Lipsey, and K. Alec Chrystal, An Introduction to Positive Economics, Eighth edition, 1995, pp. 682-683. इसको ध्यान से समझने का प्रयास किया जाना चाहिए ताकि साख-सृजन की आधुनिक प्रक्रिया अधिक स्पष्ट हो सके।

नकद रूप में रखना चाहती है, और x = 0.20 है, जो आवश्यक या वांछित रिजर्व अनुपात (Required reserve ratio) का सूचक होता है।

$$D = \frac{1-0.10}{0.10+0.20-(.20\times.10)} \times 100$$

$$= \frac{0.90}{0.30-0.02}\times 100 = \frac{0.9}{0.28}\times 100 = \frac{90}{28}\times 100 = \frac{2250}{7} = 321.4$$

रु होगा।

स्थिति II

यदि b = 0 होता, अर्थात् जनता कुल मुद्रा का जो अंश अपने पास नकद रूप में रखती वह शून्य होता तो $D = \frac{1}{0.20} \times 100 = 100 \times 5 = 500$ रु होगा। अत दूसरी स्थिति में साख सृजन अधिक हो सका है। इस प्रकार जनता के द्वारा कुल मुद्रा का एक अंश नकद रूप में रखे जाने पर, अर्थात् b के धनात्मक होने पर D की राशि कम हो जाती है जो पूर्व विवेचन के अनुरूप है।

साख-सृजन की मर्यादाएँ
(Limitations of Credit Creation)

हम ऊपर देख चुके हैं कि साख सृजन का कार्य हवा में नहीं होता, अर्थात् यह अपने आप नहीं होता है इसकी अपनी कुछ सीमाएँ भी होती हैं। सेमुअल्सन ने अपनी पुस्तक के पूर्व संस्करण (1976) में साख सृजन के लिए चार तत्व आवश्यक बतलाये थे-'बैंकों के पास किसी तरह से नये रिजर्व आवें, वे नये अतिरिक्त रिजर्व अपने पास रखने की बजाय कर्ज देने अथवा प्रतिभूतियाँ खरीदने को उद्यत हों, कोई व्यक्ति बैंक से कर्ज लेने अथवा उसे अपनी प्रतिभूतियाँ बेचने को उद्यत हो और जनता बैंक में ही अपनी मुद्रा रखने का निर्णय करे, ऐसा न हो कि वह बैंकों से रिजर्व राशियों को कम करवा दे।'

इस प्रकार कई शर्तों के पूरा होने पर ही साख सृजन हो पाता है। सर्वप्रथम यह आवश्यक होता है कि लोग बाग बैंक में नकद राशि जमा कराएँ, फिर बैंक उस राशि के आधार पर ग्राहकों को अवश्य उधार दें, साथ ही यह भी आवश्यक है कि बैंकों से कोई उधार ले एवं जनता अपनी मुद्रा बैंकों में ही रखे, अपने पास नकद रूप में न रखे। इस प्रकार साख सृजन की निम्न मर्यादाएँ मानी जा सकती हैं।

1. जनता किस सीमा तक नकद राशि का उपयोग करती है—पहले (जमाओं के सामान्य सूत्र में) बतलाया जा चुका है कि जनता के पास नकद राशि जितनी अधिक रहेगी, साख सृजन उतना ही कम हो पायेगा। यदि जनता सारा कर्ज नकद रूप में लेना चाहेगी तो साख सृजन शून्य (Zero) हो जायेगा, क्योंकि बैंक तब नकद-जमा के बराबर ही उधार दे सकेंगे। उनके लिए इससे अधिक उधार देना असम्भव हो जायेगा। इसी प्रकार जनता के पास करेंसी या नकद राशि बिल्कुल नहीं रहने पर ही साख सृजन सर्वाधिक होगा। अत यदि किसी अवधि में जनता की तरलता पसंदगी, अर्थात् अपने पास नकद राशि रखने की प्रवृति बढ़ जाती है तो साख सृजन कम हो जाता है।

2. विनियोग के अवसर-यदि विनियोग के लिए वातावरण अनुकूल होता है तो लोग बैंक से ज्यादा मात्रा में उधार लेंगे जिससे साख सृजन ज्यादा होगा। कभी कभी बैंक तो

उधार देने के लिए तैयार रहते हैं, लेकिन उद्योगपतियों व व्यवसायियों को लाभ की सम्भावनाएँ कम प्रतीत होती हैं जिससे वे कर्ज लेने को ज्यादा इच्छुक नहीं होते। परिणामस्वरूप ऐसी दशाओं में साख सृजन कम हो पाता है।

3. बैंकों को कितनी नकद-राशि जमा के रूप में मिल पाती है– यदि बैंकों को जनता से कम नकद-राशि जमा के रूप में मिल पाती है तो साख सृजन कम होगा और यदि उन्हें ज्यादा नकद-राशि जमा के रूप में मिल पाती है तो साख सृजन ज्यादा होगा।

4. ऋण लेने वालों के पास जमानत की मात्रा–बैंक ऋण देते समय जमानत पर ज्यादा जोर देते हैं। अत: जमानत की सहूलियत के अनुसार ही साख सृजन किया जा सकता है। मान लीजिए किसान को भूमि गिरवी रखकर बैंक से कर्ज मिलता है। अत: जितनी अधिक भूमि गिरवी रखने के लिए होगी उसके द्वारा उतना ही अधिक कर्ज लिया जावेगा। परिणामस्वरूप उतना ही अधिक साख सृजन होगा।

5. बैंक अपने पास अतिरिक्त रिजर्व रखता है या नहीं–मान लीजिए, कानूनी रिजर्व-अनुपात 20% है, लेकिन बैंक के पास यह अनुपात 30% हो जाता है और वह इसे 20% पर लाने की कोई चेष्टा नहीं करता। ऐसी स्थिति में भी साख सृजन कम होगा।

6. केन्द्रीय बैंक की नीति–साख सृजन पर केन्द्रीय बैंक की नीति का बहुत प्रभाव पड़ता है। मान लीजिए, केन्द्रीय बैंक सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीद कर बैंकों के पास नकद रिजर्व बढ़ा देते हैं तो साख सृजन अधिक होगा, और यदि वह सरकारी प्रतिभूतियाँ बेचकर बैंकों के नकद रिजर्व घटा देता है तो साख सृजन कम हो पाता है।

अत: साख सृजन की कई सीमाएँ होती हैं। लेकिन यदि जनता के पास करेंसी न रहे **(सारी करेंसी बैंकों में ही रहे) और बैंक अपने पास 'अतिरिक्त रिजर्व' (excess reserves) न रखें और बैंक शीघ्रतापूर्वक उधार देते जायें तो साख-सृजन सबसे ज्यादा मात्रा में हो पायेगा।**

व्यापारिक बैंक, जमा-संग्रह, साख-सृजन व आर्थिक विकास

व्यापारिक बैंक जमा एकत्र करके नियोजित आर्थिक विकास में काफी सहायता पहुँचा सकते हैं। ये ऐच्छिक बचतों को प्रोत्साहन देते हैं, जो साधन बढ़ाने का एक सर्वश्रेष्ठ तरीका माना गया है। वैसे सरकार अपने आर्थिक साधन बढ़ाने के लिए कर लगा सकती है, उधार ले सकती है अथवा नोट छापकर वित्तीय साधनों की व्यवस्था कर सकती है। लेकिन इनसे अर्थव्यवस्था को हानि पहुँचने का भय रहता है। अत: ऐच्छिक बचतों को बढ़ाने का मार्ग ही ज्यादा उपयुक्त माना गया है और बैंक इसमें अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

प्राय: लोग अपनी बचत का उपयोग जेवर व बहुमूल्य धातु खरीदने, भूमि, मकान व वस्तुएँ व असंगठित बाजार में मुद्रा उधार देने में किया करते हैं। बचत के ये उपयोग अनुत्पादक व सामाजिक दृष्टि से कम महत्त्व के माने गये हैं। बैंक जमा के रूप में लोगों की बचतों को जुटाकर आर्थिक विकास में योगदान दे सकते हैं। भारत में कृषिगत क्षेत्र में आमदनी बढ़ने से ग्रामीण क्षेत्रों में बचत की सम्भावनाएँ बढ़ सकती हैं। बैंकों को इस बचत को एकत्र करना चाहिए, अन्यथा इसका अनुत्पादक कार्यों में उपयोग होने लगेगा। व्यापारिक बैंकों के लिए भविष्य में काफी नया कार्य उत्पन्न होगा। बैंक जमा एकत्र करने के अलावा विभिन्न आर्थिक क्रियाओं के लिए कर्ज की सुविधा भी देने लगे हैं, ताकि देश में उत्पादन बढ़ सके। इस प्रकार आर्थिक विकास के संदर्भ में व्यापारिक बैंकों के नये कार्यों पर बल देने की आवश्यकता है। भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के व्यापारिक बैंक आर्थिक विकास में अधिक

महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। ये केन्द्रीय बैंक से मिलकर राष्ट्रीय स्तर पर साख नियोजन (credit planning) में मदद दे सकते हैं, ताकि सीमित साख का उपयोग उत्पादन विनियोग निर्यात आदि को बढाने में किया जा सके। अत व्यापारिक बैंकों द्वारा साख सृजन से आर्थिक क्रियाओं को आगे बढाने में मदद मिलती है।

पिछले वर्षों में व्यापारिक बैंकों का काफी विस्तार हुआ है। आशा है नवीं पचवर्षीय योजना (1997 2002) में आर्थिक विकास में व्यापारिक बैंकों का योगदान बढ़ेगा। भारत में इन्होंने जमा सर्टिफिकेटों की नई स्कीम भी चालू की है जो विनियोगकर्त्ताओं के अल्पकालीन कोषों के उपयोग का एक उत्तम तरीका है।

प्रश्न

1 व्यापारिक बैंकों द्वारा साख सृजन की प्रक्रिया का स्पष्ट कीजिये। इसकी मुख्य सीमाए कौनसी हैं? (Ajmer, Iyr, 1995)

2. साख सृजन किन परिस्थितियों में सर्वाधिक और किन परिस्थितियों में न्यूनतम होता है? समझा कर लिखिए।

3 निम्नांकित पर लगभग 100 शब्दों में संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये—

(i) क्या व्यापारिक बैंक 'असीमित साख' का सृजन कर सकते हैं? (Ajmer, Iyr, 1993)

4 उत्तर दीजिए—

(i) भारत में वर्तमान नकद अनुपात (CRR) क्या है?

(ii) भारत में वर्तमान में वैधानिक तरलता अनुपात (SLR) क्या है?

(iii) भारत में वर्तमान में बैंक-दर (bank rate) क्या है?

[(i) CRR = 18 जनवरी, 1997 से 10% (तरलता-सकट दूर करने के लिए)

(ii) SLR = 31.50% (30 सितम्बर, 1994 को माँग व अवधि देनदारियों की शुद्ध बकाया राशि पर गणना करके) औसत प्रभावी SLR मार्च, 1996 के अत में 28.0 प्रतिशत के स्तर पर।

(iii) बैंक दर = 25 जून, 1997 को 11% से घटाकर 10% घोषित (प्रभावी 26 जून 1997 से)।

5 यदि बैंक में प्रारम्भ में 1000 रुपये की नकद जमा आती है तो (अ) आवश्यक नकद रिज़र्व अनुपात के 10% होने पर साख सृजन कितना होगा? (ब) जनता द्वारा कुल मुद्रा का 10% अपने पास नकद रूप में रखे जाने पर तथा आवश्यक नकद रिज़र्व अनुपात के भी 10% होने पर कुल साख सृजन कितना होगा?

(अ) 10,000 रु

(ब) $\frac{90}{19} \times 1000 = 4736.8$ रु जो प्रथम स्थिति की तुलना में कम होगा।



18

भारतीय बैंकिंग की आधुनिक प्रवृत्तियाँ
(Recent Trends In Indian Banking)

परिचय–बैंकिंग का विकास इन्फ्रास्ट्रक्चर के विकास का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। इसकी विशेषता यह है कि यह कृषि, उद्योग, व्यापार, आदि क्षेत्रों के विकास में सहायक होता है और बाद में विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों से जमाएँ प्राप्त करके स्वयं विकसित होता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय भारतीय बैंकिंग काफी अविकसित अवस्था में थी। उस समय बैंकिंग व्यवसाय निजी क्षेत्र में था। भारतीय रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण भी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद 1949 में हुआ था। देश में इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का 1955 में राष्ट्रीयकरण करके भारतीय स्टेट बैंक की स्थापना की गई थी। 1959 में इसके आठ सहायक बैंक स्थापित हुए थे। 1969 में 14 व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया था तथा 1980 में 6 अन्य व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया। देश में कुल 275 अनुसूचित व्यापारिक बैंकों में 28 सार्वजनिक क्षेत्र के बैंक हैं, 51 निजी क्षेत्र के बैंक (जिनका आकार छोटा है) तथा 196 प्रादेशिक ग्रामीण बैंक हैं। देश में 28 सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों के पास लगभग 90 प्रतिशत बैंकिंग व्यवसाय केन्द्रित है।

हम प्रारम्भ में यह स्पष्ट करना चाहेंगे कि देश में विभिन्न प्रकार के बैंक हैं, जैसे भारतीय रिजर्व बैंक, भारतीय स्टेट बैंक व उसके सहायक बैंक, व्यापारिक बैंक—अनुसूचित व गैर अनुसूचित—(जैसाकि पहले बतलाया जा चुका है अनुसूचित बैंकों को भारतीय रिजर्व बैंक अधिनियम की दूसरी सूची में शामिल किया गया है), कृषि व ग्रामीण विकास का राष्ट्रीय बैंक (NABARD) (नाबार्ड), प्रादेशिक ग्रामीण बैंक, विदेशी बैंक, सहकारी बैंक, भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (IDBI), भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक (SIDBI), राष्ट्रीय आवास बैंक (National Housing Bank), आदि। इस प्रकार देश में कई प्रकार के बैंक पाये जाते हैं, जो अपने-अपने क्षेत्र में वित्तीय संस्थाओं के रूप में विभिन्न प्रकार की सेवाएँ प्रदान करते हैं। इनमें कुछ संस्थाओं को बैंक कहा गया है, जैसे IDBI, SIDBI व NHB को। लेकिन ये मूलतया वित्तीय संस्थाएँ मानी गयी हैं।

नीचे भारतीय रिजर्व बैंक, भारतीय स्टेट बैंक, व्यापारिक बैंकों, विदेशी बैंकों व सहकारी बैंकों के कार्यों व प्रगति का संक्षिप्त परिचय देकर बैंकों के राष्ट्रीयकरण व अन्य गतिविधियों का विवेचन किया जायगा।

(1) भारतीय रिजर्व बैंक

(Reserve Bank of India)

1934 के रिजर्व बैंक अधिनियम के अन्तर्गत भारतीय रिजर्व बैंक की स्थापना एक शेयर होल्डरों के बैंक के रूप में हुई थी। इसने 1 अप्रैल, 1935 से देश के केन्द्रीय बैंक के रूप में कार्यारम्भ किया था। इसने करेंसी का काम सरकार से तथा साख नियन्त्रण का काम भारतीय इम्पीरियल बैंक से लिया था। 1 जनवरी, 1949 से इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया था। मुआवजे के तौर पर शेयरहोल्डरों को 100 रुपये की कीमत के एक शेयर के 118 रुपये 10 आने दिये गये थे। इनकी विभिन्न गतिविधियों पर आगे प्रकाश डाला जाता है—

संगठन (Organisation)

(1) पूँजी-1935 में कार्यारम्भ के समय इसकी शेयर पूँजी 5 करोड रुपये की थी, जिसे 100 100 रुपये के पूर्णत परिदत्त शेयरों में बाँटा गया था। बैंक का सचालन कुछ थोडे से हाथों में केन्द्रित न होने पाये, इसलिए उस समय देश को पाँच क्षेत्रों में बाँटा गया था और दिल्ली, बम्बई, मद्रास, कलकत्ता तथा रगून में प्रत्येक क्षेत्र से प्राप्त की जाने वाली पूँजी की मात्रा को निर्धारित किया गया था।

(2) प्रबन्ध-आजकल भारतीय रिजर्व बैंक के केन्द्रीय सचालन बोर्ड (Central Board of Directors) में 20 सदस्य हैं (अ) एक गवर्नर और चार उप गवर्नर, (आ) चार सचालक, जो चारों स्थायी समितियों में से प्रत्येक में से एक के अनुसार केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते हैं, (इ) दस सचालक केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते हैं (ई) एक सरकारी अफसर होता है। सरकार ने यह आश्वासन दिया था कि राष्ट्रीयकरण से बैंक की सचालन समिति पर विभिन्न हितों के प्रतिनिधित्व में कोई अन्तर नहीं आयेगा और बैंक का सचालन यथासम्भव व्यावसायिक सिद्धान्तों के आधार पर ही किया जायगा।

(3) बैंक के कार्यालय-इसका केन्द्रीय कार्यालय स्थायी रूप से बम्बई में है। इसके स्थानीय कार्यालय एवं शाखाएँ बंगलौर, बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, मद्रास, नागपुर, नई दिल्ली, पटना, अहमदाबाद, जयपुर व अन्य स्थानों में स्थित हैं।

कार्य (Functions)

(1) नोट निर्गमन करना-बैंक ऑफ इंग्लैण्ड की भाँति भारतीय रिजर्व बैंक के भी दो प्रमुख विभाग हैं (1) निर्गम विभाग (Issue Department) और (2) बैंकिंग विभाग (Banking Department)। रिजर्व बैंक को नोट निर्गमन का एकाधिकार प्राप्त है। भारत में नोट निर्गमन की न्यूनतम कोष प्रणाली प्रचलित है। इससे देश में मुद्रास्फीति को प्रोत्साहन मिला है।

(2) विनिमय-दर का नियन्त्रण-जब तक भारत में स्टर्लिंग विनिमय मान था, तब तक कानून के अनुसार रुपये और स्टर्लिंग की निश्चित दर 1 रुपया = 1 शि 6 पें कायम रखने का उत्तरदायित्व रिजर्व बैंक का हुआ करता था। 25 सितम्बर, 1975 से देश की विनिमय दर में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन किया गया। रुपये की विनिमय-दर भारत के साथ व्यापार करने वाले प्रमुख देशों अमेरिका, यू.के., जापान, फ्रांस व जर्मनी की मुद्राओं के भारित औसत (Weighted Average) के परिवर्तन से जोड़ दी गयी है। इस प्रकार भारत में व्यवस्थित

भारतीय रिजर्व बैंक ने 15 अप्रैल, 1997 को व्यवसाय बंद के बाद से बैंक दर 12 प्रतिशत से घटा कर 11 प्रतिशत कर दी है। इसका उद्देश्य ब्याज की अन्य दरों को कम करने का संदेश देना है। बैंक दर की वृद्धि मुद्रास्फीति पर नियंत्रण स्थापित करने के उद्देश्य से की गयी थी। लेकिन इससे ब्याज का भार बढ़ने से लागतजन्य मुद्रास्फीति (Cost-Push Inflation) पर अंकुश नहीं लगेगा, हालांकि बैंकों के साख सृजन पर अंकुश अवश्य लगेगा। ब्याज की दरें बढ़ने से बैंक-कर्ज पर नियंत्रण स्थापित करने में कुछ सीमा तक मदद मिली है।

(2) भारतीय स्टेट बैंक

(State Bank of India)

भारतीय स्टेट बैंक की स्थापना 1 जुलाई, 1955 को इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का राष्ट्रीयकरण करके की गयी थी। इम्पीरियल बैंक का भारतीय मुद्रा बाजार में काफी ऊँचा स्थान था। रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् भी इम्पीरियल बैंक अपने साधनों, सम्बन्धों एवं प्रतिष्ठा के कारण भारतीय मुद्रा बाजार का नेतृत्व करता रहा है। देश में इसकी लगभग 400 शाखाएँ थीं। अतएव इसके प्रयत्नों से ब्याज की दरें नीची रहीं तथा समान भी हो गयी थीं। इससे अन्तर्देशीय व्यापार की वित्तीय व्यवस्था करने में बड़ी सहायता मिली थी, किन्तु इस बैंक ने भी भारतीय व्यापारियों, फर्मों तथा भारतीय बैंकों के विरुद्ध भेदभाव की नीति अपनायी थी, और शिक्षित भारतीय नवयुवकों को उच्च पदों से वंचित रखा गया था। 1949 में रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के साथ ही भारत सरकार ने इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण को भी सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर लिया था। किन्तु वित्त के अभाव में सरकार इसको कार्यान्वित नहीं कर पायी थी। अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण की केन्द्रीय संचालन समिति की सिफारिशों के अनुसार 1 जुलाई, 1955 को भारतीय इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करके भारतीय स्टेट बैंक की स्थापना की गयी थी। अब स्टेट बैंक समूह में निम्नलिखित बैंक शामिल हैं -

(1) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, (2) स्टेट बैंक ऑफ बीकानेर एण्ड जयपुर, (3) स्टेट बैंक ऑफ हैदराबाद, (4) स्टेट बैंक ऑफ इन्दौर, (5) स्टेट बैंक ऑफ मैसूर, (6) स्टेट बैंक ऑफ पटियाला, (7) स्टेट बैंक ऑफ सौराष्ट्र, (8) स्टेट बैंक ऑफ ट्रावनकोर।

भारतीय स्टेट बैंक के कार्य–

(अ) केन्द्रीय बैंक के कार्य–जहाँ पर रिजर्व बैंक की अपनी शाखाएँ नहीं हैं, वहाँ स्टेट बैंक उसके एकमात्र एजेण्ट के रूप में कार्य करता है। स्टेट बैंक सरकार के बैंक के रूप में कार्य करता है और बैंकों के बैंक के रूप में भी कार्य करता है। रिजर्व बैंक की ओर से यह समाशोधन गृह (Clearing house) का कार्य करता है। इसने उद्योग एवं कृषि को साख प्रदान करने के लिए रिजर्व बैंक के साथ अल्पकालीन और दीर्घकालीन ऋणों की व्यवस्था की है तथा खाद्यान्नों के वितरण के लिए इसने सहकारी संस्थाओं एवं निजी व्यापारियों को साख प्रदान करने के लिए उचित कदम उठाये हैं।

(आ) व्यापारिक बैंक के कार्य–भारतीय स्टेट बैंक स्वीकृत प्रतिज्ञा पत्रों, विनिमय बिलों तथा बॉण्डों के आधार पर ऋण प्रदान करता है और अन्य बैंकों की तरह यह भी तैयार माल के अधिकार पत्रों तथा अन्य उपयुक्त प्रपत्रों एवं प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देता है।

भारतीय स्टेट बैंक की प्रगति[1]

(1) शाखाओं में वृद्धि–जून 1955 में स्टेट बैंक की स्थापना के समय 466 कार्यालय थे जो बढ़कर मार्च 1995 के अंत में 8,797 हो गये। इनमें से लगभग तीन चौथाई कार्यालय *ग्रामीण व अर्द्ध शहरी क्षेत्र में थे। स्टेट बैंक की सहायक बैंकों की शाखाएँ मार्च 1995 के* अंत में 4,292 थीं।

(2) जमा में वृद्धि–1995 96 के अंत में इसकी समग्र जमाराशियाँ 90,145 करोड़ रु थी जो पिछले वर्ष से 12.3 प्रतिशत अधिक थी।

(3) उधार का विस्तार–इसकी उधार की मात्रा में विस्तार हुआ है। पिछले वर्षों में कृषि, लघु उद्योग व निर्यात आदि के लिए कर्ज की सुविधा का तेजी से विस्तार किया गया है। इसका परिचय नीचे दिया जाता है।

(i) कृषि के लिए वित्त–1995 96 में कृषिगत उधार की राशि 6,749 करोड़ रु रही जिसका लगभग आधा अंश पिछड़े जिलों को दिया गया था। अधिक सहायता छोटे कृषकों को दी गयी है। इसके सहायक बैंकों ने भी कृषि के लिए कर्ज की व्यवस्था की है।

(ii) लघु उद्योग के लिए वित्त–1995 96 में लघु उद्योगों को दिये गये कर्ज की राशि 7,790 करोड़ रुपये थी, जो पिछले वर्ष से 14 9% अधिक थी।

(iii) निर्यातों की वित्त-व्यवस्था–स्टेट बैंक ने निर्यात साख की भी व्यवस्था की है जो 1995 96 के अंत में 6,955 करोड़ रु के स्तर तक पहुँच गयी थी।

प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों को उधार (Advances to Priority Sectors)–स्टेट बैंक ने प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों को अधिक राशि उधार दी है। लघु उधार वालों की वित्तीय व्यवस्था *पर अधिक ध्यान दिया गया है। प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों को दी गयी साख की मात्रा मार्च* 1993 के अन्त में बैंक द्वारा दी गयी कुल साख का लगभग 36 6 प्रतिशत थी, जबकि जून 1969 के अन्त में यह केवल 17.5% थी। यह मार्च 1990 के अन्त में 42.7 प्रतिशत थी, जो निर्धारित नॉर्म (40%) से अधिक हो गई थी। लेकिन कर्ज राहत स्कीम, 1990 के कारण पिछले वर्षों में यह कम हुई है।

अन्य दिशाओं में प्रगति–1977 से स्टेट बैंक ने समग्र ग्रामीण विकास कार्यों में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया था। इस सम्बन्ध में इसने प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों का निर्देशन किया है। यह बीमार औद्योगिक इकाइयों को भी सहायता देता है। बैंक प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों को साख की सुविधा देकर स्वरोजगार के अवसर बढ़ाने में सक्रिय रहा है। बैंक को अब तक काफी "लीड" जिले आवंटित किये गये हैं। इसने आधारभूत पूँजीगत वस्तुओं तथा उपभोक्ता वस्तुओं के उद्योगों के विकास में मदद की है। इसने *निर्यात-साख प्रदान* की है। इसने प्रवासी भारतीयों के विनियोगों को प्रोत्साहित किया है। इसमें 2 लाख से अधिक कर्मचारी कार्यरत हैं।

इस प्रकार भारतीय स्टेट बैंक कृषि लघु उद्योग, ग्रामीण उद्योग व अन्य प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों के विकास में यथोचित योगदान देता रहा है। बैंक के 'लीड' जिलों में से काफी जिले औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। इस प्रकार इसके कार्यों से पिछड़े जिले लाभान्वित हुए हैं। इसकी विदेशी शाखाओं का व्यवसाय भी काफी बढ़ा है। अब यह भारत के बढ़ते हुए

1 State Bank of India Monthly Review, August 1996 pp 394-401

विदेशी व्यापार व अन्तर्राष्ट्रीय वित्त में भी अधिक योगदान देने की स्थिति में आ गया है। विदेशों में इसके कारोबार का विस्तार किया गया है, जहाँ इसकी शाखाएं बढी हैं। स्टेट बैंक ने 20-सूत्री कार्यक्रम के तहत भी वित्तीय सहायता प्रदान की है। इसकी सहायता से ड्रिप सिंचाई व सूखी खेती का विस्तार किया गया है। यह एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम में भी भाग लेता रहा है।

1986 में इसकी एक स्वतंत्र सहायक कम्पनी एसबीआई कैपीटल मार्केट्स लि (SBI Capital Markets Ltd) (SBICAP) का गठन किया गया था जो मर्चेंट बैंकिंग के कार्य (जैसे कम्पनियों के लिए प्रोजेक्टों के निर्माण व क्रियान्वयन, पूँजी के ढाँचे की स्कीम बनाने, एकीकरण के प्रस्तावों की जाँच करने, आदि) तथा म्यूच्युअल कोष (Mutual fund) के कार्य *(जैसे विनियोगकर्ताओं से धनराशि एकत्र करके उद्योग व अन्य संस्थाओं के शेयर व* डिबेंचर खरीदना, आदि) करता है। अब म्यूच्युअल कोष के काम को करने के लिए भारतीय स्टेट बैंक की एक सहायक इकाई स्थापित की गयी है।

26 फरवरी, 1991 से 'एसबीआई फैक्टर्स एण्ड कॉमर्शियल सर्विसेज प्राइवेट लि. *(SBI Factors and Commercial Services Pvt Ltd) की स्थापना की गई है जो* अपने ग्राहकों के लिए फैक्टरिंग सेवाएँ (उनके कर्ज की बकाया राशि कमीशन पर एकत्र करने का काम) पश्चिम भारत की औद्योगिक इकाइयों को प्रदान करती है। इससे महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, गुजरात, गोआ, आदि प्रदेशों को लाभ पहुँचेगा।

इस समय इसकी शेयर पूँजी में प्राइवेट अश केवल 3 प्रतिशत है, जिसे इसी के नियमानुसार बढा कर 45 प्रतिशत तक किया जा सकता है। अत इस सीमा तक इसके निजीकरण में कोई कानूनी अडचन नहीं है ताकि इसके स्वयं के पूँजीगत साधन बढ सकें। यह एक आधुनिक, प्रगतिशील व प्रतिस्पर्धात्मक भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास में भारी योगदान दे सकने की स्थिति में आ गया है।

(3) भारत मे व्यापारिक बैंको की प्रगति

भारत के *अधिकांश सयुक्त पूँजी वाले व्यापारिक बैंक हैं जो मुख्यत अन्तर्देशीय* व्यापार के लिए अल्पकालीन ऋण प्रदान करते रहे हैं। ये बैंक जमा के रूप में जनता की बचत एकत्र करते हैं, हुण्डियों पर बट्टा काटते हैं, नकद साख (cash credit) के खाते खोलते हैं, खाद्यान्न, कपास, गुड तथा ऋणपत्रों इत्यादि पर ऋण देते हैं, स्टॉक और शेयरों का क्रय विक्रय करते हैं तथा विविध लेन देन के कार्य करते हैं।

व्यापारिक बैंकों का वर्गीकरण

जैसा कि पिछले अध्याय में स्पष्ट किया गया था कि व्यापारिक बैंक दो प्रकार के होते हैं, अनुसूचित (Scheduled) और गैर अनुसूचित (non scheduled)। अनुसूचित बैंक वे होते हैं जिनको भारतीय रिजर्व बैंक अधिनियम की दूसरी सूची में शामिल किया गया है। अनुसूचित बैंकों के लिए यह आवश्यक है कि (1) इनकी प्रदत्त पूँजी और रिजर्व-राशि 5 लाख रुपये से कम न हो, (2) इनके बैंक सम्बन्धी कारोबार जमाकर्ताओं के हितों के विरुद्ध न हों, (3) 1956 के कम्पनी कानून के अनुसार यह एक कम्पनी हो या सरकार द्वारा बनाया गया कोई निगम हो। गैर-अनुसूचित बैंक ऐसे बैंक होते हैं जिनको भारतीय रिजर्व बैंक के अधिनियम की दूसरी सूची में शामिल नहीं किया गया है। अधिकांश गैर अनुसूचित बैंकों

का कार्य क्षेत्र छोटी बस्तियों तक सीमित होता है। साधारणतया इनकी परिदत्त पूँजी और रिजर्व राशि 5 लाख रुपये से कम होती है।

व्यापारिक बैंकों की प्रगति

भारतीय व्यापारिक बैंकों ने योजना काल में अपनी शाखाओं का तेजी से विस्तार किया है। **1955 में इनकी शाखाओं/कार्यालयों की कुल संख्या 2,858 थी जो जून, 1969 के अन्त में 8,262 हो गयी तथा मार्च 1996 के अन्त में 62,849 हो गयी।**

प्रति शाखा जनसंख्या 1955 में 1.37 लाख से घटकर जून 1969 में 65 हजार तथा मार्च, 1996 के अन्त में 15 हजार हो गई। व्यापारिक बैंकों में भारतीय स्टेट बैंक व इसके सहायक बैंक, 20 राष्ट्रीयकृत बैंक, प्रादेशिक ग्रामीण बैंक, अन्य अनुसूचित व्यापारिक बैंक, विदेशी बैंक व गैर-अनुसूचित बैंक शामिल होते हैं।

अनुसूचित व्यापारिक बैंकों की जमाओं व उधार की बकाया राशियों में वृद्धि

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	कुल जमाएँ	कुल उधार की राशियाँ
1951 52	822.0	580 0
1970 71	5,906 0	4 684.0
1980-81	37,988 0	25,371 0
29 मार्च 1996	4,33,819 0	2,54 015 0

जून 1969 में राष्ट्रीयकरण के बाद अनुसूचित व्यापारिक बैंकों की जमाओं व उधार की राशियों में काफी वृद्धि हुई है। 1994-95 में समग्र जमाओं में 22.8% तथा 1995 96 में मात्र 12.1% की वृद्धि हुई। 1994-95 में बैंक उधार की राशि में 28 7% तथा 1995-96 में 20 1% की वृद्धि हुई।[1]

सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों द्वारा प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों को कुल बैंक उधार की राशियों का जून 1969 के अंत में 14 6% दिया गया, जो बढ़कर मार्च 1994 के अंत में 38.2% हो गया तथा मार्च 1995 के अंत में घट कर 36.8% पर आ गया।[2]

ब्याज की दरों में वृद्धि करने से अधिक जमाएँ एकत्र की जा सकती हैं। भारतीय बैंकिंग का ग्रामीण व अर्द्ध शहरी क्षेत्रों में अधिक विकास होने से यह वर्ग विशेष की बैंकिंग न रहकर आम जनता की बैंकिंग बन गयी है (From class banking to mass-banking)।

बैंकिंग की दृष्टि से कम विकसित राज्यों में शाखाओं का विस्तार जून 1969 से मार्च 1996 की अवधि में अधिक तेजी से हुआ है। महाराष्ट्र, गुजरात व केरल की तुलना में 1969 की अवधि में शाखाओं का विस्तार असम, बिहार व उड़ीसा में अधिक तेजी से हो पाया है। मार्च 1996 के अंत में 62,849 बैंक कार्यालयों में से उत्तर प्रदेश में 8,670, महाराष्ट्र में 5854 तथा तमिलनाडु में 4567 कार्यालय थे। राजस्थान में इनकी संख्या 3191, मध्य प्रदेश में 4421 व बिहार में 4934 थी। राजस्थान में व्यापारिक बैंकों के कार्यालय जून 1969 के अंत में 364 से बढ़कर मार्च 1996 के अंत में 3191 हो गये थे।[3]

शाखाओं का तेजी से विस्तार करने से कई प्रकार की कठिनाइयाँ भी उत्पन्न हो गयी हैं, जैसे उचित किस्म के व्यवस्थापकों व कर्मचारियों का अभाव, कई नई शाखाओं का घाटे में

1 Annual Report of RBI for 1995 96 p 130
2 Economic Survey 1996-97, p S-60
3 Report on Currency & Finance Vol. II 1995 96 p 82

चलना, परिवहन व संचार के साधनों के अभाव में विभिन्न शाखाओं के कार्य की देखभाल व नियन्त्रण में कठिनाइयाँ एवं राष्ट्रीयकरण के बाद श्रम संघों के जोर पकड़ने से बैंकिंग सेवाओं के स्तर में गिरावट, आदि। बैंकों द्वारा कृषि व लघु उद्योगों को दिये गये ऋणों में ओवरड्यूज की राशियाँ काफी बढ़ गयी हैं।

(4) विदेशी बैंक (Foreign Banks)–जून 1996 के अंत में भारत में 24 विदेशी बैंकों की कुल शाखाएँ 151 थीं। पाँच चोटी के विदेशी बैंकों के नाम इस प्रकार हैं—**सिटी बैंक (Citi Bank), ग्रिन्डलेज, स्टेण्डर्ड चार्टर्ड, बैंक ऑफ अमेरिका तथा हांगकांग बैंक।** विदेशी बैंक व्यापारिक बैंकों के कार्य करते हैं, लेकिन ये प्रवासी भारतीयों की विदेशी मुद्रा में जमाओं को ज्यादा मात्रा में आकर्षित करने का प्रयास करते हैं तथा विदेशी व्यापार की वित्तीय व्यवस्था में भाग लेते हैं। इन्हें भारतीय रिजर्व बैंक की नीति के अनुसार चलना पड़ता है।

(5) सहकारी बैंक (Cooperative Banks)–ये भी व्यापारिक बैंकों की श्रेणी में आते हैं, लेकिन इनका सम्बन्ध सहकारी संस्थाओं से अधिक होता है। जून 1989 के अंत में राज्य सहकारी बैंकों की संख्या 28 थी। ये शीर्ष बैंक (apex banks) भी कहलाते हैं। ये भारतीय रिजर्व बैंक से अल्पकालीन व मध्यकालीन ऋण प्राप्त करते हैं तथा जिला स्तर पर सहकारी बैंकों को कर्ज देते हैं। 1988 89 में इन्होंने 10 19 करोड़ रु के ऋण दिये तथा इनके ओवरड्यूज का बकाया कर्ज से अनुपात (*overdues as a ratio of outstandings*) 10.2 प्रतिशत रहा जो 1990-91 में 15 0 प्रतिशत हो गया।

जिला स्तर पर केन्द्रीय सहकारी बैंकों की संख्या 1988 89 में 354 थी तथा इन्होंने 7,903 करोड़ रुपये के कर्ज प्रदान किये थे। ये प्राथमिक सहकारी कृषि समितियों को वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं। इन पर ओवरड्यूज का अनुपात 1988 89 में 24.2% रहा जो 1990-91 में 36 0% हो गया।

देश में कृषकों को दीर्घकालीन कर्ज प्रदान करने के लिए 1988 89 में राज्य या केन्द्रीय भूमि विकास बैंकों की संख्या 19 थी, जिन्होंने 676 करोड़ रु के कर्ज प्रदान किये थे और इनमें ओवरड्यूज का अनुपात 19.8 प्रतिशत पाया गया था, जो 1990 91 में भी जारी रहा। भारत में सहकारी बैंकों की स्थिति संतोषजनक नहीं है। ये स्वय के साधनों पर आश्रित न होकर भारतीय रिजर्व बैंक के साधनों पर अधिक आश्रित होते हैं। इनमें ओवरड्यूज की समस्या काफी गम्भीर रूप में पायी जाती है। इनकी प्रबन्ध व्यवस्था में काफी सुधार की आवश्यकता है।

बैंकिंग प्रणाली से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण परिवर्तन

(1) व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण (Nationalization of Commercial banks)

दिसम्बर 1967 से व्यापारिक बैंकों पर "सामाजिक नियन्त्रण" (Social control) की नीति का प्रयोग किया गया था जिसके अन्तर्गत कृषि, लघु उद्योग व निर्यात के लिए *वित्तीय* साधनों की व्यवस्था बढ़ायी गयी थी। *बैंकों के संचालक-मण्डलों के पुनर्गठन* की भी व्यवस्था की गयी थी। रिजर्व बैंक का व्यापारिक बैंकों पर नियन्त्रण अधिक व्यापक कर दिया गया था। बैंकों द्वारा उधार देने के सम्बन्ध में उचित नीति निर्धारित करने के लिए राष्ट्रीय साख परिषद् (*National Credit Council*) स्थापित की गयी थी।

लेकिन प्रारम्भ से ही यह महसूस किया जा रहा था कि बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बिना इनसे अपेक्षित लाभ प्राप्त नहीं किये जा सकेंगे। इसलिए 19 जुलाई, 1969 से 14 बड़े व्यापारिक बैंकों का, जिनकी जमा-राशि 50 करोड़ रुपये से अधिक थी, राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। 14 राष्ट्रीयकृत बैंक इस प्रकार हैं सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया, पंजाब नेशनल बैंक, बैंक ऑफ इण्डिया, बैंक ऑफ बड़ौदा, यूनाइटेड कॉमर्शियल बैंक, सिण्डीकेट बैंक, कनारा बैंक, यूनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया, देना बैंक, इलाहाबाद बैंक, यूनियन बैंक, बैंक ऑफ इण्डिया, बैंक ऑफ महाराष्ट्र, इण्डियन ओवरसीज़ बैंक व इण्डियन बैंक। स्टेट बैंक सहित राष्ट्रीयकृत बैंक कुल जमा और कुल शाखाओं का 80% से अधिक अंश नियन्त्रित करते हैं।

15 अप्रैल, 1980 को छ और बैंकों के राष्ट्रीयकरण का अध्यादेश जारी किया गया जो जून 1980 में एक अधिनियम में परिवर्तित कर दिया गया था। इन बैंकों की माँग व समय देनदारियाँ 14 मार्च, 1980 को 200 करोड़ रुपयों से अधिक हो गयी थी। जून 1969 में 14 बैंकों के राष्ट्रीयकरण के समय यह कहा गया था कि शेष व्यापारिक बैंकों की माँग व समय देनदारियों के 200 करोड़ रुपयों से अधिक होते ही उनका भी राष्ट्रीयकरण कर दिया जायगा। छ बैंक इस प्रकार हैं आन्ध्र बैंक, कॉरपोरेशन बैंक, न्यू बैंक ऑफ इण्डिया, ओरियेण्टल बैंक ऑफ कॉमर्स, पंजाब एण्ड सिंध बैंक और विजया बैंक।

भारत में व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण क्यों किया गया?

भूतकाल में भारत में व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में निम्न तर्क दिये गये थे–

(1) वित्तीय साधनों का कृषि व अन्य उपेक्षित क्षेत्रों के लिए अधिक मात्रा में उपयोग करने हेतु–राष्ट्रीयकरण से पूर्व व्यापारिक बैंकों ने कृषकों को उधार की बहुत कम राशि उपलब्ध की थी। अखिल भारतीय साख सर्वेक्षण समिति की रिपोर्ट के अनुसार 1951-52 की अवधि के लिए व्यापारिक बैंकों द्वारा कृषकों की कुल उधार में केवल 0 9 प्रतिशत (लगभग एक प्रतिशत) योगदान हो पाया था, जो बहुत कम था। 1961-62 में भी यह बहुत नीचा, लगभग 0.6 प्रतिशत ही रहा था। अत राष्ट्रीयकरण का एक उद्देश्य कृषि प्रधान देश में बैंकों के वित्तीय साधनों का अधिक मात्रा में कृषि में उपयोग करना था। साथ में गाँव के कारीगरों व अन्य निर्धन लोगों को वित्तीय साधन प्रदान करके उनका आर्थिक विकास करना भी इसका उद्देश्य था।

(2) जनता का बैंकिंग प्रणाली में विश्वास बढ़ाने के लिए भी इन पर सरकार का नियन्त्रण स्थापित करना जरूरी समझा गया था, ताकि लोग ज्यादा-से-ज्यादा मात्रा में अपनी बचतें बैंकों में जमा करा सकें। निजी क्षेत्र में रहने से इनके प्रति विश्वास की भावना सुदृढ़ नहीं हो पाती थी।

(3) बैंकिंग का विकास बिना बैंक व कम बैंक वाले पिछड़े क्षेत्रों में करने के लिए राष्ट्रीयकरण आवश्यक माना गया था ताकि सरकारी नीति व प्रोत्साहन के जरिए बैंकों का जाल ग्रामीण व अर्द्ध शहरी इलाकों में फैलाया जा सके।

(4) कर्मचारियों को काम की सुरक्षा प्रदान करने व उनकी सेवा शर्तों में सुधार करने के लिए राष्ट्रीयकरण आवश्यक माना गया था।

(5) नियोजन व समाजवाद के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए वित्तीय साधनों के इतने बड़े स्रोत को निजी क्षेत्र में छोड़ना अव्यावहारिक माना गया था।

विभिन्न बैंकों में जिलों का वितरण बैंक के आकार, इसके साधनों की पर्याप्तता, जिलों की परस्पर समीपता एवं बैंकों के प्रादेशिक स्वरूप, आदि के आधार पर किया गया है। 'लीड' बैंक विभिन्न वित्तीय संस्थाओं के कार्यों में परस्पर समन्वय स्थापित करता रहा है।

अक्टूबर 1980 से देश में एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम (IRDP) लागू करने से समस्त लीड बैंकों पर यह जिम्मेदारी आ गयी थी कि वे इस कार्यक्रम की विभिन्न गतिविधियों के लिए कर्ज प्रदान करें। इसके लिए उन्हें पूर्ण विवरण जिला ग्रामीण विकास एजेन्सियों (DRDAs) से प्राप्त होते हैं। उन्हें अपनी वार्षिक कार्य योजनाएँ, (Annual Action Plans AAPs) तैयार करनी होती हैं। जून 1991 के अंत में लीड बैंक स्कीम' देश में 463 जिलों में व्याप्त थी। 1990-91 में सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों पर 5 नये जिलों में इस स्कीम की जिम्मेदारी सौंपी गयी थी। इन योजनाओं के द्वारा ग्रामीण अर्थव्यवस्था में उत्पादन व उत्पादकता में सुधार करने पर बल दिया गया है।

लीड बैंक स्कीम का मूल्यांकन–'लीड' बैंक योजना जनवरी 1970 से प्रारम्भ हुई थी। बाद की अवधि में 'लीड' बैंकों ने लीड जिलों में काफी कार्यालय खोले हैं। आवश्यक सर्वेक्षण कार्य भी किया गया है। 1974 में सर्वेक्षण कार्य पूरा करके 'लीड बैंक स्कीम' का प्रथम चरण समाप्त कर लिया गया था। बैंकों ने विभिन्न जिलों के लिए साख योजनाएँ बनायीं, जिनमें कार्यारम्भ किया गया। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित कठिनाइयाँ सामने आयी है

(1) इस स्कीम को शुरू में बैंकों ने ठीक तरह से नहीं समझा था। कुछ बैंकों ने तो यह समझा कि उनका काम सर्वेक्षण कराना एवं ऐसे स्थानों का पता लगाना है जहाँ बैंकिंग के विकास की सम्भावनाएँ हैं, और फिर उस सूची को सभी बैंकों में प्रसारित करना है, जो वहाँ अपने कार्यालय खोलना चाहते हैं। लीड बैंक वहीं शाखा खोलेगा जहाँ अन्य बैंक नहीं खोलेंगे। एक दृष्टिकोण यह था कि लीड बैंक को ही सभी शाखाएँ खोलनी होंगी। (2) कहीं-कहीं बड़े बैंकों को ऐसे क्षेत्र व जिले दे दिये गये जो उनके प्रधान कार्यालय से बहुत दूर पड़ते थे। इससे उनकी कठिनाइयाँ बढ़ गयी थीं। ऐसी स्थिति में जिलों से उनका व्यक्तिगत सम्पर्क करना कठिन हो गया था। अपरिचित स्थानों में 'लीड' बैंक ठीक से कार्य नहीं कर सकता था। (3) जिला सर्वेक्षण के कार्य में समस्याएँ पायी गयी हैं। कुछ लोगों का मत है कि सर्वेक्षण का कार्य तो सरकार का होता है। बैंक तो साख नियोजन (Credit planning) के समय सामने आता है। (4) जहाँ तक बैंकों की शाखाओं को खोलने का प्रश्न है, इसका सर्वेक्षण से सीधा सम्बन्ध नहीं होता। शाखाओं के लिए स्थान वैसे ही निर्धारित किये जा सकते हैं। अतः बैंकों को केवल साख नियोजन के काम में हाथ बँटाना चाहिए। नियोजन का मूल कार्य जिलाधिकारी को करना चाहिए।

स्मरण रहे कि लीड बैंक को किसी विशेष जिले में जो उसे आवंटित किया गया है, वहाँ के व्यवसाय पर एकाधिकार नहीं होता। अन्य बैंक भी वहाँ कार्य कर सकते हैं।

(3) जमा बीमा व साख गारण्टी निगम (Deposit Insurance and Credit Guarantee Corporation–DICGC)

यह निगम 15 जुलाई, 1978 को पहले के दो निगमों जमा-बीमा निगम व साख गारण्टी निगम को मिलाकर बनाया गया था। जमा बीमा निगम 1 जनवरी, 1962 से चालू किया गया था। इसका उद्देश्य जमाकर्त्ताओं को सुरक्षा प्रदान करना था। 1 जुलाई, 1976 से एक जमाकर्ता की 20 हजार रुपये की जमाराशि की बीमा करने की सीमा रखी गयी थी।

बैंकों द्वारा दिये जाने वाले छोटे ऋणों की जोखिम को उठाने के लिए साख-गारन्टी निगम 1 अप्रैल, 1971 से चालू किया गया था। निगम ने विशेष सीमाओं तक छोटे कर्जों पर जोखिम के सम्बन्ध में गारन्टी देने के कार्यक्रम बनाये थे। ये सीमाएँ परिवहन-चालकों, पेट्रोल स्टेशनों के स्वामियों व खाद के व्यापारियों को दिये जाने वाले अग्रिमों पर बढ़ायी गयी थीं, तथा कृषकों को दिये जाने वाले अग्रिमों पर हटायी गयी थीं। इस स्कीम के अन्तर्गत अग्रिमों पर 75% हानि की पूर्ति निगम करता था, जो अब 90% कर दी गयी है। इस स्कीम से बैंकों को उधार देने के काम में प्रोत्साहन मिला है।

DICGC पर अधिक कार्यभार को देखते हुए इसकी पूँजी 15 जुलाई, 1978 को 2 करोड़ रुपयों से बढ़ाकर 10 करोड़ रुपये कर दी गयी थी। एकीकरण के बाद की प्रगति नीचे दी जाती है।

जमा-बीमा कार्य-मार्च 1994 के अन्त में बीमाकृत व्यापारिक बैंकों की संख्या 80, बीमाकृत प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों की संख्या 196 तथा बीमाकृत सहकारी बैंकों की संख्या 1714 थी (कुल 1990 बीमाकृत बैंक थे)।

31 मार्च 1993 के अंत तक निगम ने लघु कर्ज गारंटी स्कीम के तहत लघु उधार लेने वालों के 1026 करोड़ रु. के दावों का तथा 288 करोड़ रुपये के लघु उद्योगों की इकाइयों के दावों का निपटारा किया।

साख गारंटी कार्य (Credit Guarantee Function)-गारन्टी स्कीमों में ऋण गारन्टी स्कीम, वित्तीय निगम गारन्टी स्कीम, सेवा समिति गारन्टी स्कीम तथा लघु ऋण (सहकारी बैंक) गारन्टी स्कीम शामिल होती है।

(4) भेदात्मक ब्याज की दर की स्कीम

(Differential Rate of Interest Scheme-DRI Scheme)

जुलाई 1972 से सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों ने भेदात्मक ब्याज की दर की स्कीम लागू की थी। इनके अन्तर्गत अनुसूचित जातियों व जन-जातियों को नीची ब्याज की दरों पर कर्ज दिया जाता है ताकि वे उत्पादन बढ़ा सकें। जनवरी 1975 से इस स्कीम में संशोधन किया गया था जिससे अनुसूचित जाति के लोगों को भू-जोतों के आकार पर ध्यान दिये बिना कर्ज की सुविधा दी जाने लगी। आशा है, भेदात्मक ब्याज की दरों का आगे चलकर अधिक उपयोग किया जा सकेगा। 1975 में सार्वजनिक खातों की संख्या 2.30 लाख थी, जिनमें बकाया राशि 10.06 करोड़ रुपये थी, जो दिसम्बर 1993 के अन्त में 27.26 लाख खातों के लिए 690.20 करोड़ रुपये हो गयी थी। DRI स्कीम के अन्तर्गत उधार का लक्ष्य मनम उधार की बकाया के 1/2% से बढ़ाकर 1% कर दिया गया। दिसम्बर 1993 के अंत तक उपलब्धि 0.62% रही जो 1% के लक्ष्य से नीची थी। इस स्कीम से SC/ST के लोगों को काफी लाभ पहुँचा है। 40% के लक्ष्य की तुलना में DRI राशि का लगभग आधा अंश SC/ST को दिया गया है।

(5) बैंकिंग आयोग के सुझाव

(Recommendations of the Banking Commission, 1972)

बैंकिंग आयोग फरवरी 1969 में स्थापित किया गया था। इसने अपनी रिपोर्ट 9 फरवरी, 1972 को पेश की थी। इसके प्रमुख सुझाव निम्नलिखित हैं

(1) सहकारी साख को संघीय सूची अथवा मिली-जुली सूची में लाने के सुझाव-बैंकिंग आयोग ने सिफारिश की थी कि सहकारी साख जो इस समय एक राज्यीय

विषय है, वह केन्द्रीय विषय बना दिया जाय और इसके लिए संविधान में संशोधन करके सहकारी साख एजेन्सियों को संघीय सूची (Union List) अथवा समवर्ती सूची (Concurrent List) में शामिल कर लिया जाय। इसका प्रमुख कारण यह दिया गया कि राज्यों द्वारा सहकारी बैंकों को जो वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है वह ज्यादातर रिजर्व बैंक अथवा केन्द्रीय सरकार से ही मिलती है। सहकारी साख के संघीय सूची में आने से रिजर्व बैंक एक समन्वित मौद्रिक व साख नीति अपना सकेगा, साख प्रदान करने वाली एजेन्सियों के कानूनों में समरूपता आ जायेगी और उच्चकोटि का प्रबन्ध किया जा सकेगा।

(2) प्राथमिक कृषि साख समितियों को ग्रामीण बैंकों में परिवर्तित करने का सुझाव—बैंकिंग आयोग का दूसरा महत्वपूर्ण सुझाव यह था कि गाँवों में प्राथमिक साख समितियों को ग्रामीण बैंकों में बदल दिया जाना चाहिए। ये ग्रामीण बैंक गाँवों में बैंकिंग आदत का विकास कर सकेंगे। इन ग्रामीण बैंकों को केन्द्रीय सहकारी बैंकों अथवा राज्य सहकारी बैंकों से साधन प्राप्त हो सकेंगे।

एक ग्रामीण बैंक मध्यम व छोटे कृषकों की समस्त साख की आवश्यकता की पूर्ति करेगा। अनार्थिक व खराब प्रबन्ध वाली प्राथमिक समितियों को समाप्त कर दिया जाना चाहिए। ग्रामीण बैंक जमा को आकर्षित करने के लिए थोड़ा अधिक ब्याज दे सकते हैं। भारतीय खाद्य निगम भी इन ग्रामीण बैंकों का उपयोग कर सकता है।

ग्रामीण बैंक को भूमि विकास बैंक के एजेण्ट के रूप में दीर्घकालीन ऋण देने का भी अधिकार होना चाहिए।

(3) कृषि पुनर्वित्त निगम एवं कृषि वित्त निगम को मिला दिया जाना चाहिए ताकि नयी संस्था सहकारी व व्यापारिक बैंकों के माध्यम से अधिक वित्तीय सुविधा प्रदान कर सके।

(4) जहाँ एक उधार लेने वाले की आवश्यकताएँ अधिक हों वहाँ उसे एक से अधिक बैंकों से उधार लेने की सुविधा होनी चाहिए।

(5) बैंकों में यथासम्भव यन्त्रीकरण का उपयोग किया जाना चाहिए।

(6) स्टाफ की नियुक्ति के लिए एक राष्ट्रीय बैंकिंग सेवा आयोग स्थापित किया जाना चाहिए। यह क्लर्क ग्रेड व जूनियर अफसर ग्रेड में कर्मचारियों की भर्ती कर सकता है।

(7) देश में राष्ट्रीय व प्रादेशिक बैंक दो श्रेणी के बैंक होने चाहिएँ। राष्ट्रीय बैंकों की शाखाएँ जिला केन्द्रों में हों एवं प्रादेशिक बैंक अन्य स्थानों में हों।

(8) निर्यात साख की वर्तमान व्यवस्था पर्याप्त है इसलिए एक नये निर्यात आयात बैंक के निर्माण का कोई औचित्य नहीं है। लेकिन निर्यात साख के सम्बन्ध में औद्योगिक विकास बैंक को अधिक सूचनाएँ एकत्र करनी चाहिए।

(9) बैंकिंग आयोग ने भवन निर्माण के लिए वित्तीय व्यवस्था बढ़ाने का महत्व स्वीकार किया था। इसके लिए राष्ट्रीय स्तर पर एक वित्तीय संस्था हो एवं जिला या प्रादेशिक स्तर पर भी इसी प्रकार की संस्था हो। सहकारी भवन निर्माण समितियों को सुसंगठित व विकसित किया जाना चाहिए। देश में विशाल पैमाने पर भवन निर्माण के कार्यक्रमों को पूरा करने की आवश्यकता है।

(10) आयोग का सुझाव था कि देशी बैंकरों की क्रियाओं को भी नियन्त्रित किया जाना चाहिए। इनके व्यवसाय पर व्यापारिक बैंकों के माध्यम से नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता

प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों व व्यापारिक बैंकों का भेद

(i) प्रादेशिक ग्रामीण बैंक का कार्य क्षेत्र एक विशिष्ट प्रदेश तक सीमित रहता है जिसमें किसी भी राज्य में एक या अधिक जिले होते हैं।

(ii) ये लघु व सीमान्त कृषकों, ग्रामीण कारीगरों व लघु उद्यमकर्त्ताओं को कर्ज व अग्रिम राशियाँ देते हैं तथा अन्य कम साधन वाले व्यक्तियों की सहायता करते हैं ताकि उस क्षेत्र का आर्थिक विकास हो सके। व्यापारिक बैंकों का कार्य क्षेत्र व्यापक होता है।

(iii) ग्रामीण बैंकों की उधार देने की दरें राज्य में सहकारी समितियों की उधार की दरों से अधिक नहीं होती हैं।

(iv) इन बैंको के कर्मचारियों का वेतन ढाँचा केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित किया गया है और इस सम्बन्ध में राज्य सरकार व अन्य स्थानीय संस्थाओं के कर्मचारियों के वेतन ढाँचे का पूरा ध्यान रखा गया है।

भविष्य में प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों की सफलता कर्मचारियों की कार्यकुशलता पर निर्भर करेगी। यह तो ठीक है कि उत्पादन बढ़ाने के लिए समाज के कमजोर वर्गों को देहातों में ग्रामीण बैंकों की शाखाओं के माध्यम से रियायती शर्तों पर कर्ज उपलब्ध हो, ताकि वे महाजन के चंगुल से मुक्त हो सकें। लेकिन साथ में यह भी देखना होगा कि कर्ज का उपयोग उत्पादन बढ़ाने के लिए किया जाय, अन्यथा ऋणों के दुरुपयोग से समाज को हानि पहुँचने का खतरा भी हो सकता है।

प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों पर जाँच समिति (दांतवाला समिति) की सिफारिशें–रिजर्व बैंक ने प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों के कार्य की समीक्षा करने के लिए प्रोफेसर एम.एल. दांतवाला की अध्यक्षता में जून 1977 में एक समिति नियुक्त की थी, जिसने फरवरी 1978 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की थी।

समिति का यह निश्चित मत था कि प्रादेशिक बैंकों को ग्रामीण साख के ढाँचे का मुख्य अंग बनाया जाना चाहिए। देश के 182 जिलों में केन्द्रीय (जिला स्तर पर) सहकारी बैंक कमजोर स्थिति में हैं। अत इन जिलों में ग्रामीण बैंकों को स्थापित किया जाना चाहिए।

समिति का सुझाव था कि धीरे धीरे व्यापारिक बैंकों की ग्रामीण शाखाओं के स्थान पर RRBs व उनकी शाखाएँ स्थापित की जानी चाहिए। जहाँ प्राथमिक कृषि साख समितियाँ व कृषक सेवा समितियाँ कमजोर हैं, वहाँ ग्रामीण बैंक इस कमी की पूर्ति कर सकते हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि उन स्थानों के सम्बन्ध में क्या नीति अपनायी जाय जहाँ सहकारी ढाँचा जिला स्तर पर काफी सुदृढ़ व सक्षम पाया जाता है? इस बारे में समिति का विचार था कि यदि प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों व केन्द्रीय सहकारी बैंकों में परस्पर सहयोग व समन्वय स्थापित हो सके तो दोनों का सह अस्तित्व हो सकता है। सहकारी बैंक तो फसल ऋण (Crop loans) देने में भाग ले सकते हैं, तथा ग्रामीण बैंक मध्यमकालीन ऋण के क्षेत्र में प्रवेश कर सकते हैं। गाँवों में कृषि के अलावा बागवानी, पशु पालन, वन-उद्योग, लघु-उद्योग, कुटीर उद्योग, मरम्मत की दुकानों आदि का विकास किया जा सकता है, और इसके लिए आवश्यक कर्ज की व्यवस्था RRBs कर सकते हैं।

इस प्रकार दांतवाला समिति ने ग्रामीण बैंकों व सहकारी संस्थाओं के सम्बन्ध में इनके परस्पर सहयोग की कल्पना की दी और प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों को ग्रामीण साख की व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया था।

(7) कृषि व ग्रामीण विकास के लिए राष्ट्रीय बैंक (नाबार्ड)
(National Bank for Agriculture and Rural Development—NABARD)

कृषि व ग्रामीण विकास पर संस्थागत साख की व्यवस्थाओं की समीक्षा के लिए नियुक्त समिति (Committee to Review Arrangements for Institutional Credit for Agriculture and Rural Development—CRAFICARD) ने 1981 में नाबार्ड (NABARD) की स्थापना की सिफारिश की थी, जिसके फलस्वरूप यह 12 जुलाई, 1982 को स्थापित किया गया था। इसने ARDC (कृषि पुनर्वित्त व विकास निगम) के कार्य तथा RBI के पुनर्वित्त के कार्य (SCBs व RRBs के सन्दर्भ में) स्वयं अपने हाथ में ले लिये हैं। इसकी शेयर पूँजी 100 करोड़ रुपये की है जिसमें भारत सरकार व रिजर्व बैंक का बराबर-बराबर का हिस्सा रखा गया है।

नाबार्ड के सात कार्य (Functions)

(i) यह पुनर्वित्त के रूप में कृषि, लघु उद्योगों, कारीगरों, कुटीर व ग्रामीण उद्योगों, दस्तकारियों व अन्य सहायक आर्थिक क्रियाओं के लिए उत्पादन व विनियोग के लिए साख प्रदान करता है,

(ii) कर्ज दे सकने के लिए इसके पास साधन भारत सरकार, विश्व बैंक व अन्य एजेन्सियों, बाजार-ऋण, राष्ट्रीय ग्रामीण साख (दीर्घकालीन कार्य व स्थिरीकरण) कोषों से प्राप्त होते हैं। रिजर्व बैंक इसे अल्पकालीन कार्यों के लिए कर्ज दे सकता है,

(iii) SCBs, RRBs, LDBs (क्रमश सहकारी, प्रादेशिक ग्रामीण व भूमि विकास बैंकों) को कर्ज देने के अलावा यह राज्य सरकारों को 20 वर्ष तक की अवधि के लिए कर्ज दे सकता है ताकि वे सहकारी साख समितियों की शेयर पूँजी में प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में भी भाग ले सकें। केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से यह किसी अन्य संस्था को भी कृषि व ग्रामीण विकास में संलग्न किसी भी संस्था की शेयर पूँजी में भाग लेने के लिए कर्ज दे सकता है,

(iv) यह भारत सरकार, योजना आयोग, राज्य सरकारों आदि के कार्यों में कुटीर व लघु उद्योगों के सम्बन्ध में समन्वय स्थापित करता है,

(v) यह कृषि व ग्रामीण विकास में अनुसन्धान को प्रोत्साहन देने के लिए अनुसन्धान व विकास कोष स्थापित कर सकता है,

(vi) विभिन्न प्रोजेक्टों के क्रियान्वयन की सूचना देने की जिम्मेदारी लेता है तथा अच्छी किस्म के प्रोजेक्टों के विकास का कार्य देखता है, तथा

(vii) नाबार्ड RRBs व सहकारी बैंकों की जाँच की व्यवस्था करता है। ये संस्थाएँ शाखाएँ खोलने के लिए रिजर्व बैंक को अपने आवेदन पत्र नाबार्ड के मार्फत भेजती हैं। इसे बैंकों से सूचना व स्टेटमेण्ट मँगाने का अधिकार भी दिया गया है।

नाबार्ड की प्रगति[1]—नाबार्ड प्रति वर्ष काफी स्कीमों को स्वीकृत करता है जिनका सम्बन्ध लघु सिंचाई, भूमि-विकास/कमाण्ड क्षेत्र विकास, फार्म यन्त्रीकरण, बागान/फलों के उद्यान, मुर्गी पालन, भेड़ पालन व सूअर पालन, मछली पालन, स्टोरेज व बाजारों के निर्माण कार्यों से होता है।

1 Report on Currency and Finance, 1995 96, Vol. I pp. V-49 51

1995-96 में नाबार्ड ने पुनर्वित सहायता के रूप में 3064 करोड रुपये की राशि वितरित की। 1995-96 में कुल वितरित राशि में प्रथम स्थान राज्य सहकारी कृषिगत व ग्रामीण विकास बैंकों का तथा द्वितीय स्थान अनुसूचित व्यापारिक बैंकों का रहा। इस वर्ष सर्वाधिक राशि फार्म पजीकरण के लिए दी गई तथा दूसरा स्थान लघु सिंचाई का रहा।

अतः इसकी अधिक सहायता राज्य सहकारी कृषिगत व ग्रामीण विकास बैंकों तथा अनुसूचित व्यापारिक बैंकों के माध्यम से संचालित की गयी है। नाबार्ड प्राथमिक कृषि साख समितियों के पुनर्गठन का प्रयास भी कर रहा है। यह विदेशी सहायता से सम्बद्ध प्रोजेक्टों के क्रियान्वयन में भाग लेता है। यह कृषि व ग्रामीण विकास के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने लगा है।

भारतीय बैंकिंग की नई दिशाएँ

(New Directions in Indian Banking)

पिछले वर्षों में बैंकिंग के क्षेत्र में कुछ नई प्रवृत्तियाँ या दिशाएँ विकसित हुई हैं जिनकी वजह से व्यापारिक बैंकों ने समाज को नई सेवाएँ प्रदान करना चालू किया है। इससे एक तरफ बैंकों को आर्थिक लाभ प्राप्त करने के अवसर मिले हैं, और दूसरी तरफ समाज को नवीन सेवाओं का लाभ मिलने लगा है।

इस सम्बन्ध में हम साख-कार्ड, परस्पर कोष (mutual funds), मर्चेण्ट-बैंकिंग, लीजिंग, जोखिम-पूँजी (Venture Capital), फैक्टरिंग, आदि का संक्षिप्त विवेचन करने के बाद बैंकिंग व्यवस्था की आवासीय वित्त प्रदान करने, लघु उद्योगों का विकास करने, ग्रामीण विकास में सक्रिय रूप से भाग लेने, रोजगार-संवर्धन व निर्धनता-निवारण में योगदान देने सम्बन्धी क्रियाओं व कार्यक्रमों का परिचय देंगे, जिनसे पता चलेगा कि भारतीय बैंकिंग में कई नये क्षितिज (new horizons) उभर रहे हैं और उचित नीतियाँ अपना कर बैंकिंग का भविष्य काफी उज्ज्वल बनाया जा सकता है। लेकिन साथ में कुछ समस्याओं का समाधान भी जरूरी हो गया है।

(i) साख-कार्ड (Credit cards)—भारत में कुछ बैंकों ने प्रयोग के तौर पर साख-कार्ड चालू किये हैं। ये पहचान कार्ड के रूप में ग्राहकों को दिये जाते हैं। इन साख-कार्डों को दिखाकर बैंक का ग्राहक इसी बैंक की किसी भी शाखा से एक विशिष्ट मुद्रा राशि तक किसी भी दिन चैक का रुपया प्राप्त कर सकता है। इस सुविधा से ग्राहकों को काफी लाभ होता है और उनकी सहूलियत बढ़ गयी हैं।

(ii) परस्पर कोष (Mutual funds)—शुरू में 'परस्पर कोष' की व्यवस्था भारतीय यूनिट ट्रस्ट ने चालू की थी, जिसके माध्यम से लोगों की बचतें एकत्र की जाती हैं, और फिर उनका उपयोग कम्पनियों के शेयर व ऋण पत्र आदि खरीदने में किया जाता है, तथा बचत करने वालों को उचित वार्षिक प्रतिफल दिया जाता है। हाल में कई सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों ने परस्पर कोष स्थापित किये हैं। हम पहले बतला चुके हैं कि भारतीय स्टेट बैंक की एक स्वतंत्र सहायक इकाई (subsidiary) वर्तमान में इस कार्य का संचालन करती है।

(iii) मर्चेण्ट-बैंकिंग—इसके माध्यम से व्यापारिक बैंक प्रोजेक्ट के निर्माण व क्रियान्वयन में अपनी सलाह देते हैं, जिससे कम्पनियों को नये प्रोजेक्टों का चुनाव करने, उनका निर्माण करने व उनको चलाने में मदद मिलती है। इससे वित्तीय सहायता प्राप्त करने

में भी मदद मिलती है, तथा कम्पनी अपनी पूँजी एकत्र करने की स्कीम बनाती है एवं आवश्यकतानुसार अन्य इकाइयों में एकीकरण व विलय पर भी विचार कर सकती है। भारतीय स्टेट बैंक की सहायक इकाई SBI Capital Markets Ltd. (SBICAP) मर्चेन्ट बैंकिंग का कार्य 1986 से देख रही है।

(iv) लीजिंग (Leasing)–इसके माध्यम से बैंक कम्पनियों को मशीनें व उपकरण 'लीज' पर उपलब्ध करते हैं। ये मशीनें बैंकों की सम्पत्ति होती हैं, जिन्हें वे वार्षिक लीज या किराये पर कम्पनियों को उपलब्ध करते हैं। इससे कम्पनियों को उधार की जैसी सुविधा मिल जाती है और उत्पादन बढ़ाने का अवसर मिलता है।

(v) जोखिम-पूँजी (Venture Capital)–भारतीय रिज़र्व बैंक ने 'जोखिम पूँजी' के सम्बन्ध में दिशा-निर्देश 1988 के अंत में जारी किये थे। अभी तक यह काम भारतीय औद्योगिक विकास बैंक व अन्य बड़ी वित्तीय संस्थाओं द्वारा ही किया जाता था। इसके अन्तर्गत जोखिमी परियोजनाओं, जिन्हें 'ग्रीन फील्ड प्रोजेक्ट' (green field projects) कहा जाता है, के लिए वित्तीय व्यवस्था की जाती है। अब यह काम बैंक भी अन्य संस्थाओं के साथ मिल कर या स्वतंत्र रूप से करने के लिए आगे आने लगे हैं। भारतीय स्टेट बैंक के अन्तर्गत SBICAP ने एक 'इक्विटी विकास स्कीम' चालू की है जिसका उद्देश्य जोखिम-पूँजी देना है। कुछ विदेशी बैंक जैसे ग्रिन्डलेज आदि भी इसमें भाग लेने लगे हैं।

(vi) फैक्टरिंग (Factoring)–कल्याण सुन्दरम समिति की सिफारिशों के बाद हाल में व्यापारिक बैंक 'फैक्टरिंग' में भी रुचि लेने लगे हैं। जैसाकि पहले बतलाया गया था, इसके अन्तर्गत एक फैक्टर, अर्थात् बैंक, (जो फैक्टरिंग का काम अपने ऊपर लेता है) अपने ग्राहकों के लिए उनके बकाया कर्जों की वसूली का काम करता है। इससे उत्पादक अपना सम्पूर्ण ध्यान उत्पादन बढ़ाने व बिक्री की व्यवस्था को सुधारने में लगा सकते हैं। बैंक फैक्टरिंग के काम के लिए अपना कमीशन लेते हैं। इससे छोटी व मध्यम इकाइयों को बहुत लाभ होता है क्योंकि भारत में भुगतानों में प्रायः विलम्ब होता है, और फैक्टरिंग-सेवा मिलने से वे कई प्रकार की उलझनों से मुक्त हो सकते हैं। 26 फरवरी, 1991 से *SBI Factors and Commercial Services Private Ltd. (SBIFACS)* की स्थापना महाराष्ट्र, गुजरात, गोआ, दादरा, नगर हवेली व दिव के प्रदेशों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

अभी फैक्टरिंग का काम प्रारम्भिक चरणों में ही है। अतः भविष्य में इसका रूप विकसित हो पायेगा।

(vii) राष्ट्रीय आवास बैंक (National Housing Bank) (NHB)–यह जुलाई *1988 से देश में आवास-वित्त की सुविधा बढ़ाने का कार्य कर रहा है। इसने व्यापारिक बैंकों* व सरकारी बैंकों के सहयोग से 1 जुलाई, 1989 से 'होम लोन एकाउन्ट स्कीम' परिवारों से साधन जुटाने के लिए चालू की थी, जिसके अन्तर्गत मार्च 1993 के अन्त तक 286 करोड़ रु. जमा के रूप में प्राप्त हुए थे। राष्ट्रीय आवास बैंक भवन-निर्माण के लिए उधार देने वाली संस्थाओं को पुनर्वित्त (refinance) की सुविधा देता है। इस प्रकार यह आवास की सुविधाओं में वृद्धि करने का प्रयास कर रहा है। इसकी परिदत्त पूँजी 200 करोड़ रुपये कर दी गयी है। इसे विदेशी कर्ज भी मिलेगा ताकि यह अपने उद्देश्य में सफल हो सके।

(viii) भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक (SIDBI)–इसने 2 अप्रैल, 1990 से 4,200 करोड़ रु. के साधनों से कार्यारम्भ किया था और यह IDBI के लघु उद्योग विकास कोष व

राष्ट्रीय इक्विटी कोष का संचालन करता है, और लघु उद्योगों की स्थापना, आधुनिकीकरण, पुनर्स्थापना, आदि में मदद देता है। इसका मुख्य कार्यालय लखनऊ में है तथा इसके 26 प्रादेशिक व ब्राच कार्यालय हैं।

(ix) सेवा-क्षेत्र-दृष्टिकोण (सा) (Service Area Approach) (SAA)—ग्रामीण विकास के क्षेत्र में यह एक नया दृष्टिकोण है। इसमें बैंक की ग्रामीण या अर्द्ध-शहरी शाखा को 20-25 गाँवों का एक समूह दिया जाता है, जो उन क्षेत्रों की विकास-सम्भावनाओं का सर्वे करके 'साख-योजना' बनाते हैं। यह अप्रैल 1989 से प्रारम्भ की गयी है और पूर्व योजना 'लीड बैंक' के क्रम को जारी रखते हुए बनायी गयी है। इससे स्थानीय नियोजन व विकास में मदद मिल सकती है। इससे कृषिगत साख, उत्पादन तथा उत्पादकता बढाने व कोषों की वसूली में मदद मिलती है।

(x) रोजगार-संवर्धन में योगदान—बैंक निम्न दो स्कीमों के अन्तर्गत स्वरोजगार बढाने के लिए कर्ज देते हैं—

(अ) शिक्षित बेरोजगार युवाओं के लिए स्वरोजगार की स्कीम (SEEUY) तथा (आ) शहरी गरीबों के लिए स्वरोजगार के कार्यक्रम (SEPUP)। इन स्कीमों के द्वारा बेरोजगार व्यक्तियों को कर्ज उपलब्ध किये जाते हैं।

(xi) निर्धनता निवारण में बैंकों का योगदान—समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम के अन्तर्गत चुने हुए निर्धन परिवारों को सरकार सब्सिडी देती है और बैंकों से कर्ज की व्यवस्था की जाती है ताकि गरीबों को कोई परिसम्पत्ति प्राप्त हो सके और वे अपनी आमदनी बढा सकें।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय बैंकिंग विभिन्न प्रकार की नई दिशाओं में प्रवेश कर रही है और इसके लिए विकास के नये क्षितिज उभरे हैं। लेकिन साथ में कई नई समस्याएँ भी उत्पन्न हो गई हैं। हाल में कर्ज राहत (debt relief) ने सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों, प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों व सहकारी बैंकों की वित्तीय दशा पर विपरीत प्रभाव डाला है। 4 मई, 1991 तक कर्ज राहत के रूप में इनके द्वारा 7802 करोड रु दिये जा चुके हैं, जिनमें केन्द्रीय सरकार का दायित्व लगभग 5777 करोड रु व राज्य सरकारों का 2025 करोड रु रहा है। इससे बैंकों की लाभप्रदता व विश्वसनीयता को भारी धक्का पहुँचा है। इससे देश की वित्तीय स्थिति पर भी प्रतिकूल असर पडा है। भविष्य में कर्ज का उपयोग उत्पादन बढाने में करने से ही हालात सुधर सकते हैं।

आशा है सरकार, रिजर्व बैंक, व्यापारिक बैंक व जनता नई चुनौतियों का सामना करने के लिए सही निर्णय लेकर उत्पादन व उत्पादकता बढाने पर जोर देंगे ताकि गाँवों का आर्थिक विकास हो सके। 'लोन मेलों' व 'कर्ज राहत'—स्कीमों का उपयोग राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करना राष्ट्र के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। इससे कृषकों व अन्य वर्गों की कर्ज चुकाने की मानसिकता का भी लोप हो सकता है। अत भारतीय बैंकिंग को उचित दिशा में मोडा जाना चाहिए। सरकार ने एम नरसिम्हम की अध्यक्षता में एक समिति भारत की बैंकिंग व वित्तीय प्रणाली की कमियों को दूर करने के लिए सुझाव देने के लिए नियुक्त की थी, जिसने अपनी रिपोर्ट 16 नवम्बर, 1991 को वित्त मंत्री को पेश की थी। इसकी प्रमुख सिफारिशें आगे दी जाती हैं—

1. समिति ने बैंकिंग क्षेत्र की कार्यकुशलता, उत्पादकता व लाभप्रदता को बढ़ाने के लिये कार्य-पद्धति में लोच (operational flexibility) व आन्तरिक स्वायत्तता (internal autonomy) को पकड़ने का दृष्टिकोण स्वीकार किया है। बैंकों की लाभप्रदता को ऊँचा करने के लिए इसने वैधानिक तरलता अनुपात (SLR) को क्रमबद्ध तरीके से पाँच वर्षों में घटा कर 25 प्रतिशत तक लाने का सुझाव दिया है।
2. नकद रिजर्व अनुपात (CRR) को भी घटाने पर बल दिया है तथा इसके स्थान पर खुले बाजार की क्रियाओं का उपयोग अधिक करने की आवश्यकता बतलाई है।
3. प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्र (priority sector) की नई परिभाषा में लघु व सीमान्त कृषक, उद्योग का छोटा क्षेत्र, लघु व्यवसाय व परिवहन-चालक, ग्रामीण व कुटीर, उद्योग ग्रामीण कारीगर व अन्य कमजोर वर्ग के लोग शामिल किये गये हैं और उनके लिए समग्र साख का 10% अंश ही निर्धारित किया गया है (यह पहले 40% था)। तीन साल बाद पुनः देखना होगा कि इसे जारी रखा जाय या नहीं।
4. ब्याज की दरों का विनियमन किया जाना चाहिए (deregulated) जो बाजार की दशाओं के अनुरूप हो।
5. बैंकों को मार्च 1996 तक पूँजी-पर्याप्तता अनुपात (Capital adequacy ratio) (जोखिमभारित परिसम्पत्तियों के अनुपात के रूप में) 8% प्राप्त करना चाहिए ताकि इनके पास पर्याप्त मात्रा में पूँजी हो सके (बासल स्टैण्डर्ड के अनुसार)। 1993 में यह 4% था। इसे पूँजी का जोखिम परिसम्पत्तियों से अनुपात (Capital to Risk-assets Ratio (CRAR) भी कहा गया है।
6. बैंकों की परिसम्पत्तियों का चार श्रेणियों में वर्गीकरण किया जाना चाहिए, यथा, स्टैण्डर्ड, सब-स्टैण्डर्ड, संदेहास्पद व हानि वाली परिसम्पत्तियाँ। हानि वाली परिसम्पत्तियाँ बट्टे खाते लिख दी जाएँ, अथवा उनके लिए 100% तक की व्यवस्था (provision) की जाए।
7. बैंकों के द्वारा कर्ज की रिकवरी की कठिनाइयाँ दूर की जानी चाहिए। समिति ने एक परिसम्पत्ति-पुनर्निर्माण-कोष (Assets Reconstruction Fund) (ARF) की स्थापना का सुझाव दिया है जो बैंकों व वित्तीय संस्थाओं के कुछ खराब किस्म के व संदेहास्पद कर्ज बट्टे पर ले लेगा और उनकी वसूली में मदद करेगा। यह सुझाव दिया गया है कि ARF की स्वयं की पूँजी में बैंक व वित्तीय संस्थाएँ भाग लेंगे।
8. नई बैंकिंग व्यवस्था के ढाँचे में चार श्रेणियाँ बनाने का सुझाव दिया गया है—(i) तीन या चार बड़े बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के, (ii) 8 या 10 बैंक 'यूनिवर्सल' बैंकिंग स्तर के, जिनकी शाखाएँ देशभर में होनी चाहिए, (iii) स्थानीय बैंक एक क्षेत्र-विशेष तक सीमित होने चाहिएँ तथा (iv) ग्रामीण बैंक (RRB सहित) कृषि व सहायक क्रियाओं से जुड़े होने चाहिएँ।
9. बैंकों के लिए शाखा खोलने के लिए लाइसेंस व्यवस्था समाप्त कर दी जानी चाहिए। विदेशी बैंकों को भारत में शाखाएँ खोलने की इजाजत उदारतापूर्वक दी जानी चाहिए।
10. बैंकों पर केवल भारतीय रिजर्व बैंक का नियंत्रण रहना चाहिए। वित्त-मंत्रालय के बैंकिंग विभाग का दोहरा नियंत्रण हटा देना चाहिए।

11 बैंकों द्वारा अवधि-कर्ज तथा विकास वित्तीय संस्थाओं द्वारा आवश्यक कार्यशील पूँजी देने की व्यवस्था चालू की जानी चाहिए।

12. पूँजी निर्गमन पर कन्ट्रोल हटा दिया जाना चाहिए। अत पूँजी निर्गमन नियंत्रक कार्यालय की आवश्यकता नहीं रह गई है।

पूँजी-बाजार विदेशी विनियोग के लिए खोला जाना चाहिए।

समिति के दो सदस्यों प्रो मृणालदत्ता चौधरी व श्री एम आर श्रोफ ने अपने असहमति नोट में कहा है कि सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों व वित्तीय संस्थाओं के बोर्डों पर सरकार अपने अधिकारी (officials) नियुक्त न करे ताकि समिति की सिफारिशों के क्रियान्वयन में सुविधा रहे।

डॉ जी तिमैय्या ने अपने लेख (The Economic Times, 24 फरवरी, 1992) में बतलाया है कि नरसिम्हम समिति ने वैधानिक-तरलता अनुपात (SLR) को घटाने के प्रभाव की ठीक से जाँच नहीं की है, क्योंकि इससे केन्द्र के पास वित्तीय साधनों की कमी हो जायेगी जिससे वह राज्यों को योजना-कार्यों के लिए पर्याप्त मात्रा में उधार नहीं दे पायेगा और परिणामस्वरूप राज्यों की वित्तीय व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। अतः इससे भारत में नियोजन को क्षति पहुँच सकती है।

उन्होंने परिसम्पत्ति-पुनर्निर्माण कोष (ARF) की उपादेयता पर भी संदेह प्रगट किया है। उनका मत है कि इससे बेहतर यह रहता है कि वसूल न किये जा सकने वाले कर्ज बट्टे खाते डाल दिये जाते क्योंकि उनके प्रबंध पर व्यय करना व्यर्थ होगा।

फिर भी यह कहना होगा कि समिति ने बैंकों व वित्तीय संस्थाओं की कार्यात्मक लोच व आन्तरिक स्वायत्तता पर बल देकर उनकी कार्यकुशलता व लाभप्रदता को सुधारने के जो सुझाव दिये हैं, उन पर उचित ध्यान दिया जाना चाहिए।

बैंकिंग सेवाओं में सुधार पर गोइपोरिया समिति के सुझाव—

भारतीय रिजर्व बैंक ने भारतीय स्टेट बैंक के अध्यक्ष श्री एम एन गोइपोरिया (M N Goiporia) की अध्यक्षता में सितम्बर 1990 में बैंकिंग सेवाओं में सुधार के लिए सुझाव देने के लिए एक समिति नियुक्त की थी जिसने अपनी रिपोर्ट 6 दिसम्बर, 1991 को पेश की थी। इसकी प्रमुख सिफारिशें इस प्रकार हैं—

(i) नकद के अलावा अन्य लेन देनों के लिए बैंकिंग के घंटों को बढ़ाना, (ii) बैंकों के काम को चालू करने के समय में परिवर्तन करना ताकि बैंक-काउन्टर्स समय पर खुल सकें, (iii) 5,000 रुपये तक के आउट स्टेशन चैकों को तुरन्त जमा करना (वर्तमान में 2,500 रुपये तक), (iv) बचत खाते में ब्याज की दर बढ़ाना, (v) बैंक जमाओं पर कर लाभ प्रारम्भ करना, (vi) सभी स्तरों पर बैंक स्टाफ को मिले विवेकशील अधिकारों का पूरा उपयोग करना, (vii) निर्यात वित्त में निर्यात राशियों की समय पर वसूली के लिए प्रपत्रों को शीघ्र भेजना, (viii) बैंकों का आधुनिकीकरण करना, (ix) विभिन्न ग्राहकों के लिए विशिष्ट सेवाओं के लिए शाखाएँ खोलना, (x) बैंकों में प्रतिबन्धित अवकाश (restricted holiday) की व्यवस्था लागू करना तथा (xi) बैंक आर्डर्स के रूप में एक नया इन्स्ट्रूमेन्ट चालू करना। आशा है इन उपायों को लागू करने से बैंकिंग सेवाओं में सुधार आयेगा।

शेयर घोटाले में बैंकों की अवांछित भूमिका–

1991 92 में भारत में हुए प्रतिभूति घोटाले (Securities scam) ने सभी का ध्यान आकर्षित किया है। इस सम्बन्ध में जानकीरमन समिति की प्रथम रिपोर्ट 31 मई, 1992 को, दूसरी रिपोर्ट 5 जुलाई 1992 को, तीसरी रिपोर्ट 23 अगस्त, 1992 को, चौथी रिपोर्ट 4 मार्च 1993 को तथा पाचवीं व अन्तिम रिपोर्ट मई 1993 के मध्य में पेश हुई थी, जिनमें इस घोटाले में बैंकों व सार्वजनिक वित्तीय सस्थाओं की अवाछित भूमिका पर प्रकाश डाला गया था। प्रथम रिपोर्ट में 3,079 करोड रु के अनियमित विनियोग के लेन देन का उल्लेख किया गया था और दूसरी रिपोर्ट में इसे बढा कर 3,544 करोड रुपये किया गया और चौथी व पाचवीं रिपोर्ट में 4,025 करोड रु किया गया था। दूसरी रिपोर्ट में यह पाया गया था कि राष्ट्रीय आवास बैंक (जो भारतीय रिजर्व बैंक की एक सहायक इकाई है) ने 1271.2 करोड रु तक के जो विनियोग के लेन-देन किये, उनके लिए न तो आवश्यक सिक्यूरिटियाँ रखीं, न सब्सिडियरी-जनरल लेजर (SGL) फार्म रखे और न बैंकर्स-रसीदें (BRs) रखीं। इन लेन-देनों से दलालों के विशिष्ट समूहों को विशेष लाभ पहुँचा था। कुछ सौदों में बैंकों ने बैंक ऑफ कराड व मैट्रोपोलीटन सहकारी बैंक द्वारा जारी किये गये SGL ट्रान्सफर फॉर्म रखे थे, जबकि ये दोनों बैंक बाद में समाप्त (liquidate) कर दिये गये। दूसरी रिपोर्ट के अनुसार चार विदेशी बैंकों–सीटी बैंक, स्टेण्डर्ड चार्टर्ड बैंक, बैंक ऑफ अमेरिका तथा ए.एन.जैड. (ANZ) ग्रिन्डलेज बैंक का अश दो तिहाई लेन-देनों (Two-Third Transactions) मे पाया गया है। बैंकों ने अन्य बैंकों को कॉल मनी (Call Money) के तहत काफी बडे भुगतान दिखाये हैं। लेकिन प्राप्तकर्ता बैंकों के खातों में इसका जमा खर्च न दिखाया जाकर ये राशियाँ दलालों के खातों में जमा दिखाई गयी हैं। इस प्रकार बैंकों की वित्तीय अनियमितताओं, भ्रष्टाचार, धोखाधडी व घपलों के कारण काफी बदनामी हुई है और काफी सख्या में छोटे विनियोगकर्ता बर्बाद हुए हैं। कई अधिकारियों को निलम्बित किया गया है, और इस सम्बन्ध में सरकार दोषी व्यक्तियों को कठोर सजा देने के लिए सकल्प व्यक्त कर रही है। प्रतिभूति घोटाले की जाँच के लिए जुलाई 1992 में श्री रामनिवास मिर्धा की अध्यक्षता में नियुक्त सयुक्त समिति (JPC) की रिपोर्ट भी पेश की गयी थी, जिसको लेकर ससद में काफी गर्मागर्मी रही और बाद में सरकार को 'एक्शन रिपोर्ट' भी पेश करनी पडी। लेकिन देश के सासद पूरी तरह सतुष्ट नहीं हो सके। सरकार भविष्य में इस प्रकार के घोटालों को रोकने के लिए बैंकिंग प्रणाली पर कारगर नियत्रण की व्यवस्था करने का प्रयास कर रही है। सरकार ने इसे 'व्यवस्था की विफलता' (System Failure) का मामला बताया है, जबकि विरोधी पक्ष इसे 'सरकार की विफलता' (Failure on the Part of the government) माना है। बहरहाल इस घोटाले से भारत की प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुँचा है और भविष्य में इस प्रकार के घोटाले की पुनरावृत्ति से सम्पूर्ण आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया समाप्त हो सकती है।

अत आगामी दशक में भारत की बैंकिंग प्रणाली को सुदृढ करने के लिए बैंकों की वित्तीय स्थिति, लाभप्रदता, स्वायत्तता व प्रबध व्यवस्था में काफी सुधार करने की आवश्यकता है। इसके लिए ब्याज नकद रूप में प्राप्त होने पर ही उसे बैंक की आय में दिखाया जाना चाहिए। परिसम्पत्तियों का उचित रूप से वर्गीकरण किया जाना चाहिए और घाटे की परिसम्पत्तियों के लिए कोई वित्तीय व्यवस्था की जानी चाहिए। पूँजी का जोखिमी

परिसम्पत्तियों से अनुपात 1993 में 4% से बढ़ा कर जून 1996 तक 8% किया जाना चाहिए। बैंकिंग क्षेत्र में निजी बैंकों की स्थापना को प्रोत्साहन देना चाहिए। बैंकों के कम्प्यूटरीकरण को आगे बढ़ाना चाहिए।

आशा है वित्तीय क्षेत्र में उदारीकरण से जुड़े इन प्रश्नों का हल करने से बैंकिंग क्षेत्र की कार्यकुशलता, उत्पादकता, लाभप्रदता व स्वायत्ता में सुधार होगा, और नई आर्थिक नीति के क्रियान्वयन में बैंक अपना महत्वपूर्ण योगदान दे पायेंगे। किसी भी देश की वित्तीय व्यवस्था को उन्नत करने में बैंकों की प्रमुख भूमिका होती है। अत बैंकिंग जगत की विभिन्न समस्याओं के हल पर समुचित ध्यान देना आवश्यक हो गया है।

प्रश्न

1 भारतीय बैंकों की वर्तमान प्रवृत्तियों की व्याख्या करें। (Ajmer Iyr, 1996)

2 निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
   (i) भारतीय स्टेट बैंक के कार्य व प्रगति,
   (ii) प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्र को व्यापारिक बैंकों द्वारा कर्ज की सुविधा,
   (iii) व्यापारिक बैंकों के कार्यों की नयी दिशाएँ
   (iv) मर्चेण्ट बैंकिंग व 'परस्पर कोष' की स्कीम तथा बैंकों की भूमिका
   (v) राष्ट्रीय आवास बैंक (National Housing Bank)

3 राष्ट्रीयकरण के बाद बैंकिंग की प्रगति व मुख्य उपलब्धियों का परिचय दीजिए। क्या यह प्रगति संतोषजनक मानी जा सकती है? भविष्य में बैंकिंग के विकास के लिए आवश्यक सुझाव दीजिए।

4 संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए–
   (i) बैंकों द्वारा फैक्टरिंग की सेवाएँ
   (ii) सेवा क्षेत्र दृष्टिकोण (Service Area Approach)(SAA)
   (iii) लीड बैंक स्कीम
   (iv) प्रादेशिक ग्रामीण बैंक,
   (v) भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक (SIDBI)
   (vi) नरसिम्हम समिति द्वारा बैंकों व वित्तीय संस्थाओं में सुधार के सुझाव
   (vii) गोइपोरिया समिति द्वारा बैंकिंग सेवाओं में सुधार के सुझाव,
   (viii) शेयर घोटाले में बैंकों की भूमिका।

5 भारत में बैंकों की वर्तमान प्रवृत्तियों का वर्णन कीजिये (Ajmer I yr 1992)

6 आर्थिक उदारीकरण के कार्यक्रम के संदर्भ में बैंकिंग सुधारों की दिशा पर प्रकाश डालिए। इस सम्बन्ध में प्रमुख बाधाओं तथा उनको दूर करने के उपायों पर भी अपने विचार प्रगट करिए।

19

केन्द्रीय बैंक के कार्य—साख-नियंत्रण की विधियाँ
(Functions of a Central Bank—Methods of Credit Control)

प्रत्येक देश में केन्द्रीय बैंक का मुख्य कार्य अर्थव्यवस्था में मुद्रा व साख की मात्रा को नियंत्रित व नियमित करना होता है। सभी देशों के केन्द्रीय बैंक प्रायः तीन प्रमुख कार्य करते हैं, नोट निर्गमित करना, सरकार के बैंक के रूप में कार्य करना एवं बैंकों के बैंक के रूप में कार्य करना। इन कार्यों का क्षेत्र विभिन्न देशों व विभिन्न समयों में भिन्न भिन्न रहा है। यह देश में आर्थिक विकास की अवस्था पर भी निर्भर करता है। साधारणतया एक केन्द्रीय बैंक का उद्देश्य विकास की ऊँची दर, पूर्ण रोजगार, मूल्य स्थिरता एवं सुदृढ़ भुगतान-सन्तुलन की स्थिति प्राप्त करना माना गया है। विकासशील देशों में केन्द्रीय बैंक सरकार को ऐसी आर्थिक नीतियाँ अपनाने में मदद देता है जिनसे विकास की गति तेज हो सके और देश में सभी काम के योग्य व्यक्तियों को काम मिल सके। साथ में केन्द्रीय बैंक देश की मुद्रा का आतंरिक मूल्य व बाह्य मूल्य स्थिर करने का प्रयास भी करता है। केन्द्रीय बैंक इन सभी कार्यों को एक साथ करने की कोशिश करता है। लेकिन व्यवहार में इन विभिन्न उद्देश्यों में परस्पर ताल-मेल बैठाना काफी कठिन होता है। एक विशेष परिस्थिति में एक विशेष कार्य का अधिक महत्त्व हो सकता है, जैसे भारत में हाल के वर्षों में मुद्रास्फीति पर नियंत्रण स्थापित करने का महत्त्व अधिक माना गया है। यह आर्थिक स्थिरता के साथ विकास करने के लिए आवश्यक होता है। केन्द्रीय बैंक आर्थिक विकास के लिए भी नीतियाँ सुझाता है।

केन्द्रीय बैंक के कार्य

केन्द्रीय बैंकिंग के जाने-माने लेखक डी कॉक (De Kock) ने एक केन्द्रीय बैंक के निम्न कार्य बतलाये हैं—

(1) नोट निर्गमन का एकाधिकार,
(2) सरकारी बैंकर, एजेन्ट व सलाहकार,
(3) व्यापारिक बैंकों के नकद कोषों का संरक्षक,
(4) देश के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोषों का संरक्षक,
(5) पुनर्कटौती का बैंक एवं अंतिम ऋणदाता,
(6) केन्द्रीय समाशोधन (Clearance), निपटारा व स्थानान्तरण का बैंक एवं
(7) साख नियंत्रण

इनका संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है।

1. नोट-निर्गमन का एकाधिकार—प्रत्येक देश में केन्द्रीय बैंक को कागजी मुद्रा निर्गमित करने का एकाधिकार प्राप्त होता है। इससे नोट निर्गमन का कार्य अधिक सुचारू रूप से हो सकता है और सरकार इस कार्य को ठीक तरह से नियंत्रित कर सकती है। नोट निर्गमन की विभिन्न प्रणालियाँ होती हैं, जिन्हें एक देश अपनी आवश्यकता के अनुसार अपनाता है। नोट निर्गमन की आनुपातिक कोष प्रणाली (Proportional Reserve System) में निर्गमित मुद्रा के पीछे सोने या सोने के सिक्के, अथवा विदेशी प्रतिभूतियाँ किसी निश्चित अनुपात (जैसे 40% में) रखी जाती हैं। कागजी मुद्रा बढ़ाने के लिए इस पद्धति में आवश्यक कोषों की व्यवस्था करनी होती है। लेकिन न्यूनतम कोष प्रणाली (Minimum Reserve System) में न्यूनतम कोष रखकर आवश्यकतानुसार पत्र मुद्रा निकाली जा सकती है। यह पद्धति अधिक लोचदार होती है। भारत में आजकल यही पद्धति प्रचलित है।

किसी भी देश की करेंसी में सिक्के व पत्र मुद्रा दोनों शामिल होते हैं। केन्द्रीय बैंक का पत्र मुद्रा पर प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण होता है। सिक्के वैसे तो सरकार चलाती है, लेकिन प्रचलन में केन्द्रीय बैंक ही लाता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक का देश की करेंसी पर प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण पाया जाता है।

2. सरकारी बैंकर, एजेन्ट व सलाहकार—केन्द्रीय बैंक सरकार के विभिन्न प्रकार के लेन देन के कार्य करता है। यह सरकार की ओर से कर, सार्वजनिक ऋण, आदि की राशि जमा करता है और समस्त सरकारी भुगतान करने की व्यवस्था करता है। यह आवश्यकता पड़ने पर सरकार को कर्ज भी देता है। सरकार को कर्ज सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर दिया जाता है। डी. कॉक के अनुसार, "केन्द्रीय बैंक सर्वत्र राज्य के बैंकर के रूप में कार्य करते हैं। यह इसलिए नहीं कि राज्य के लिए ऐसा करना सुविधाजनक व सस्ता होता है, बल्कि इसलिए कि सार्वजनिक वित्त एवं मौद्रिक मामलों में परस्पर गहरा संबंध होता है।" केन्द्रीय बैंक सरकार को विभिन्न आर्थिक नीतियों के निर्धारण में मदद देता है, जैसे मौद्रिक नीति, राजकोषीय नीति (सार्वजनिक राजस्व, सार्वजनिक व्यय तथा सार्वजनिक ऋण की नीतियों सहित) विदेशी व्यापार नीति, विनिमय दर सम्बन्धी नीति, आदि। वैसे सरकार की मौद्रिक नीति तो इसी के माध्यम से लागू की जाती है।

3. व्यापारिक बैंकों के नकद-कोषों का संरक्षक—व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक के पास कुछ राशि नकद रूप में रखते हैं, जिससे विभिन्न बैंकों के लेन देन का परस्पर समाशोधन व निपटारा करने में सहूलियत होती है और साख नियंत्रण की दृष्टि से भी इसका काफी महत्त्व होता है। देश का केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को आवश्यकता पड़ने पर कर्ज भी देता है। इस प्रकार वह इनके नकद कोषों का संरक्षक माना गया है। आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय बैंक नकद कोषों की मात्रा बढ़ा या घटा सकता है। नकद कोष अनुपात (cash reserve ratio) बढ़ाने से साख संकुचन होता है और उसको घटाने से साख का विस्तार होता है। नकद-कोष अनुपात व्यापारिक बैंकों की माँग व अवधि जमाराशियों का वह अनुपात होता है जो उन्हें रिजर्व बैंक के पास रखना अनिवार्य होता है।

4. विदेशी विनिमय कोषों का संरक्षक—केन्द्रीय बैंक अपने देश के विदेशी

विनिमय-कोषों का भी संरक्षक होता है। वह प्राप्त विदेशी मुद्रा को जमा करता है और उसके उपयोग के लिए दिशा-निर्देश निर्धारित करता है। देश में मुद्रा की विदेशी विनिमय दर स्थिर रखने के लिए ऐसा करना आवश्यक माना गया है। एक देश के पास जो विदेशी विनिमय कोष होते हैं उनकी उचित देख भाल व सदुपयोग करना आवश्यक होता है। यह कार्य केन्द्रीय बैंक को सौंपा जाता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय की दर को स्थिर रखता है। आवश्यकता पड़ने पर यह सरकार को विनिमय की दर परिवर्तित करने की सलाह भी देता है, जैसा कि जुलाई 1991 में भारत में रुपये का लगभग 20 प्रतिशत अवमूल्यन करते समय किया गया था। लेकिन अवमूल्यन या अतिमूल्यन (devaluation or overvaluation) का निर्णय मुख्यतया सरकार के द्वारा ही लिया जाता है। अवमूल्यन में एक देश की मुद्रा की विनिमय दर अन्य देशों की मुद्राओं में नीची की जाती है, और अतिमूल्यन में यह ऊँची की जाती है। मुद्रा के अवमूल्यन से निर्यात बढ़ाने में मदद मिलती है। लेकिन इससे आयात महँगे हो जाते हैं और विदेशी कर्ज की बकाया राशि भी बढ़ जाती है। भारत की विदेशी कर्ज की राशि अवमूल्यन के बाद काफी बढ़ी है।

भारत में 20 अगस्त, 1994 से रुपये को चालू खाते (current account) में पूर्ण परिवर्तनीय बना दिया गया है। इसकी घोषणा 1994-95 का बजट प्रस्तुत करते समय की गयी थी। इससे पूर्व 1993-94 के बजट में व्यापार-खाते (trade account) में रुपये को परिवर्तनीय कर दिया गया था, जिससे प्राप्त विदेशी मुद्रा का रुपयों में विनिमय खुले बाजार में होने लगा था। बाद में विदेशी मुद्रा का भण्डार बढ़ जाने पर (17 अरब डालर की सीमा से अधिक हो जाने पर) चालू खाते में रुपये को पूर्ण परिवर्तनीय बना दिया गया और देश में एकीकृत विनिमय दर (unified exchange rate) की व्यवस्था लागू कर दी गयी। इसके फलस्वरूप यात्रा, अध्ययन, इलाज, भेंट व सेवाओं के लिए विदेशी मुद्रा अधिक मुक्त रूप से दी जाने लगी है। विदेशी विनियोगों पर अर्जित आमदनी को बाहर ले जाने की (चरणबद्ध तरीके से) अनुमति दे दी गयी है। इससे भारत को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अनुच्छेद आठ में प्रवेश करने का अवसर मिल गया है।

भारतीय रिजर्व बैंक ने डालर की रुपये में विनिमय दर को स्थिर रखने के लिए 1993-94 में कई बार हस्तक्षेप किया और डालर की खरीद की। तभी रुपये की डालर में विनिमय-दर को 31.37 रुपये प्रति डालर के आस-पास स्थिर करना सम्भव हो सका है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक मुद्रा की विनिमय-दर को स्थिरता प्रदान करने में सक्रिय भूमिका निभाता है।

5. पुनर्कटौती का बैंक व अंतिम ऋणदाता—केन्द्रीय बैंक बैंकों के प्रथम श्रेणी के व्यापारिक बिलों (trade bills) की पुनर्कटौती (rediscounting) करके उन्हें वित्त प्रदान करता है। मान लीजिए A ने B को उधार माल बेचा और B ने एक बिल स्वीकार करके A को दे दी, जिसका भुगतान 3 महीने बाद किया जाना है। A चाहे तो किसी बैंक से उस बिल को भुनाकर (after discounting) तुरन्त नकद राशि प्राप्त कर सकता है। वह बैंक केन्द्रीय बैंक से इस बिल की पुनर्कटौती कराकर रुपया प्राप्त कर सकता है। निश्चित अवधि के बाद (B) को इस बिल की राशि का भुगतान करना होगा। वैसे व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक से प्रत्यक्ष रूप में कर्ज भी लेते हैं। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक का मुद्रा-बाजार पर काफी प्रभाव

पड़ता है। यह अंतिम ऋणदाता (Lender of the last resort) माना गया है, क्योंकि देश की कुल मुद्रा की पूर्ति इसके नियंत्रण में होती है। जिस सीमा तक व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक से प्राप्त कर्ज का उपयोग करते हैं, उस सीमा तक केन्द्रीय बैंक का उन पर प्रभाव बढ़ जाता है और वह अपनी मौद्रिक व साख नीति को अधिक आसानी से तथा अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से लागू कर सकता है।

6. समाशोधन, निस्तारा व मुद्रा का हस्तान्तरण—केन्द्रीय बैंक के पास विभिन्न बैंकों के खाते रहते हैं, इसलिए उनके पारस्परिक लेन देन का समाशोधन (Clearance) करने में केन्द्रीय बैंक मदद करता है। यह चैकों के आधार पर एक बैंक के खाते से राशि निकालकर दूसरे बैंक के खाते में जमा कर देता है। यह एक स्थान से दूसरे स्थान में मुद्रा भेजने की सहूलियत भी देता है।

7. साख-नियंत्रण (Credit Control)—यह केन्द्रीय बैंक का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य माना गया है। यह मुद्रास्फीति के समय साख की मात्रा कम करता है और मंदी के समय साख का विस्तार करता है। साख नियंत्रण के कई उपाय होते हैं, जैसे—बैंक-दर में परिवर्तन, खुले बाजार की क्रियाएँ, नकद रिजर्व अनुपात में परिवर्तन, गुणात्मक साख नियंत्रण के उपाय, आदि, जिनका आगे चलकर विस्तार से वर्णन किया गया है।

8. विविध कार्य—केन्द्रीय बैंक विकासशील देशों में विकास को प्रोत्साहन देने वाले कार्य भी करता है। जैसे भारत में यह कृषि साख के क्षेत्र में विशेष रूप से रुचि लेता है। यह सहकारी संगठनों को रियायती शर्तों पर कर्ज देता है। केन्द्रीय बैंक आर्थिक व मौद्रिक विषयों पर आवश्यक अनुसंधान करवाता है और विभिन्न प्रकार के आँकड़े व रिपोर्टें प्रकाशित करता है। यह व्यापारिक बैंकों से मिलकर साख नियोजन की प्रक्रिया को लागू करता है ताकि सीमित साख का उपयोग प्राथमिकता के आधार पर आवश्यक क्षेत्रों में उत्पादन, विनियोग व आमदनी को बढ़ाने में किया जा सके। व्यापारिक बैंकों के मार्फत समाज के कमजोर वर्गों को साख प्रदान करके केन्द्रीय बैंक उनको भी विकास करने के पर्याप्त अवसर उपलब्ध कराता है ताकि वे अन्य वर्गों से पीछे न रहें।

विभिन्न कार्यों का सापेक्ष महत्व—प्राय अर्थशास्त्रियों में यह विवाद का विषय रहा है कि केन्द्रीय बैंक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य कौन सा होता है। हाट्रे के अनुसार, "केन्द्रीय बैंक का मुख्य कार्य अन्तिम ऋणदाता का है। यह व्यापारिक बैंकों को कठिनाई के समय ऋण की सुविधा प्रदान करता है।" किश व एल्किन्स के अनुसार इसका मुख्य कार्य मौद्रिक मान की स्थिरता को कायम रखना होता है और ए.सी.एल.डे के अनुसार "इसका प्रमुख कार्य देश की मौद्रिक एवं बैंकिंग प्रणाली को नियंत्रित करना एवं इसे स्थिर रखना माना गया है।"

सच पूछा जाय तो यह विवाद निरर्थक किस्म का है कि केन्द्रीय बैंक का कौन सा कार्य ज्यादा महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि उसके ऊपर वर्णित सभी कार्य अपनी अपनी दृष्टि से महत्वपूर्ण माने गये हैं। वैसे ज्यादातर विद्वानों द्वारा इसका प्रमुख कार्य देश की मुद्रा व साख को नियंत्रित व नियमित करना ही माना गया है। यह मौद्रिक प्रणाली का मुख्य संचालक होता है।

भारत में नोट निर्गमन की विधि

भारत में एक रुपये के नोट व सभी श्रेणियों के सिक्के केन्द्रीय सरकार के द्वारा जारी किये गये हैं और शेष सभी बैंकनोट भारतीय रिज़र्व बैंक की तरफ से जारी किये गये हैं। आजकल देश में रिज़र्व बैंक के द्वारा चलाये गये दो, पाँच, दस, बीस, पचास, एक सौ रुपये व पाँच सौ रुपये के नोट प्रचलन में हैं। 16 जनवरी 1978 को एक हजार, पाँच हजार व दस हजार रुपये के नोट चलन से हटा दिये गये थे, ताकि गैर-कानूनी सौदों पर नियंत्रण स्थापित किया जा सके।

रिज़र्व बैंक में दो विभाग (two departments) हैं—पहला निर्गम-विभाग (issue-department) होता है, जो नोटों के निर्गम के लिए ज़िम्मेदार होता है। निर्गमित मुद्रा रिज़र्व बैंक की मौद्रिक देनदारी (liability) होती है जिसके पीछे समान मूल्य की परिसम्पत्तियाँ (assets); जैसे सोने के सिक्के, धातु, विदेशी प्रतिभूतियाँ, रुपयों के सिक्के व भारत सरकार की रुपयों की प्रतिभूतियाँ होती हैं। जब कभी निर्गम-विभाग में ये परिसम्पत्तियाँ आती हैं तो उसे मुद्रा निकालनी पड़ती है। यही कारण है कि 1993-94 व बाद में भारत में विदेशी विनिमय कोष बढ़ने से रिज़र्व बैंक को मुद्रा का निर्गम बढ़ाना पड़ा है। इससे उच्चशक्ति प्राप्त मुद्रा या रिज़र्व मुद्रा (H) बढ़ती है जो मुद्रा गुणक के साथ मिलकर देश में मुद्रा की पूर्ति को बढ़ाती है।

दूसरा बैंकिंग विभाग (banking department) होता है जो मुद्रा के विस्तार व संकुचन की देखभाल करता है। यह मुद्रा को चलन में डालता है व चलन से हटाता है। उदाहरण के लिए, केन्द्रीय सरकार के बजट-घाटे के लिए रिज़र्व बैंक ट्रेज़री बिल बेचकर इसकी पूर्ति करता है। ये ट्रेज़री बिल बैंकिंग विभाग को बेचे जाते हैं, और बैंकिंग विभाग इनका भुगतान करेंसी के स्टॉक में से राशि निकालकर करता है, अथवा निर्गम-विभाग से करेंसी प्राप्त करके करता है। इसके लिए निर्गम-विभाग को समान मूल्य की परिसम्पत्तियाँ हस्तान्तरित की जाती हैं। इस प्रकार दोनों विभाग अपना कार्य संचालित करते हैं। सरकार नई मुद्रा व्यय करके उसे प्रचलन में डालती है।

भारत में 6 अक्टूबर, 1956 से पूर्व नोट निर्गमन की आनुपातिक कोष प्रणाली (proportional reserve system) प्रचलित थी, जिसके अन्तर्गत नोटों के पीछे 40% राशि सोने के सिक्कों, धातु व स्टर्लिंग (बाद में विदेशी) प्रतिभूतियों के रूप में रखी जाती थी। लेकिन 1956 में रिज़र्व बैंक अधिनियम में संशोधन करके नोट-निर्गमन की न्यूनतम कोष प्रणाली (minimum reserve system) लागू की गई जिसमें 400 करोड़ रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ व 115 करोड़ रुपये का सोना व सोने के सिक्के रखकर (कुल 515 करोड़ रुपये का रिज़र्व रखकर) चाहे जितनी कागज़ी मुद्रा निकाली जा सकती थी। 31 अक्टूबर, 1957 को न्यूनतम सीमा घटाकर कुल 200 करोड़ रुपये कर दी गई, जिसमें संशोधन के अनुसार रिज़र्व बैंक केन्द्रीय सरकार की सलाह से विदेशी प्रतिभूतियों का भी पूर्णतया परित्याग कर सकती है। लेकिन 115 करोड़ रुपये का सोना तो सदैव रखना होता है। वर्तमान में भारत में प्रबन्धित कागज़ी मुद्रा-मान (managed paper currency standard) पाया जाता है। सम्पूर्ण मुद्रा के पीछे मात्र 115 करोड़ रुपये का सोना है, जो बहुत कम है। शेष राशि के पीछे रुपये की प्रतिभूतियाँ (rupee securities) होती हैं।

भारत सरकार रिजर्व बैंक से जो शुद्ध उधार लेती है उसकी मौद्रिक व्यवस्था के लिए रुपयो की प्रतिभूतियाँ रखी जाती है। नियोजित आर्थिक विकास मे आवश्यकतानुसार नोट छाप सकने के लिए इस प्रणाली का सहारा लेना पड़ा है। इस प्रणाली के अन्तर्गत नोट छापने की कोई अधिकतम सीमा नही होती है।

भारत में नोट चलाने की वर्तमान प्रणाली के कारण महँगाई बढी है, क्योंकि केन्द्रीय सरकार के कहने पर भारतीय रिजर्व बैंक को सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर कागजी मुद्रा का प्रसार करना पड़ा है। इस प्रकार सरकार के द्वारा अधिक व्यय की व्यवस्था करने के लिए काफी मात्रा में नोट छापे गये हैं, और नोट निर्गमन की वर्तमान प्रणाली के कारण रिजर्व बैंक को नोट निकालने में कोई कठिनाई नहीं होती। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार के निर्णयानुसार घाटे के बजटो की वित्तीय व्यवस्था करने के लिए मुद्रा की सप्लाई बढ़ाई गई है। अत इस प्रणाली मे कागजी मुद्रा की मात्रा पर कोई नियत्रण नही रहता। देश में कागजी मुद्रा जनता के द्वारा सरकार में विश्वास के आधार पर चलती रहती है। इसके पीछे सोने व अन्य धातु वगैरा का कोष नही रखा जाता। अत्यधिक मुद्रास्फीति की स्थिति में मुद्रा का मूल्य बहुत नीचा हो जाने से जनता का मुद्रा पर से विश्वास उठ सकता है। अत नोट निर्गमन की वर्तमान प्रणाली लचीली तो है, लेकिन साथ में काफी जोखिम भरी हुई है। इस प्रणाली के कारण भारत में मुद्रास्फीति को बढावा मिला है, जो कभी कभी दो अकों में भी पहुँच जाती है। सितम्बर 1994 में भारत सरकार के वित्त मंत्रालय व भारतीय रिजर्व बैंक के बीच एक समझौता हुआ है जिसके अनुसार तदर्थ ट्रेजरी बिलों (adhoc treasury bills) के जारी करने की मात्रा पर सीमा (cap) लगा दी गयी है। इस समझौते के अनुसार 1994-95 मे ट्रेजरी बिलो के निर्गम पर 6000 करोड़ रु. की सीमा निर्धारित की गयी थी तथा ऐसी ही सीमाएँ 1995-96 व 1996-97 के वर्षों के लिए बाद में घोषित की जायेंगी और 1997-98 से भारत सरकार द्वारा रिजर्व बैंक से उधार लेकर घाटे की वित्त-व्यवस्था की यह विधि पूर्णतया समाप्त कर दी जायगी और सरकार को अपने घाटे की पूर्ति के लिए सीधे बाजार से उधार लेना पड़ेगा। यह एक महत्वपूर्ण समझौता है। इससे भारतीय रिजर्व बैंक की स्वायत्तता (autonomy of RBI) बढी है, और नई मौद्रिक नीति की दिशा में यह एक कारगर कदम माना गया है। भारतीय रिजर्व बैंक के वर्तमान गवर्नर डॉ सी रगराजन ने सितम्बर 1993 में कलकत्ता में अपने एम जी कुट्टी स्मृति व्याख्यान में इस सुझाव का प्रबल समर्थन किया था जिसे एक वर्ष बाद सितम्बर 1994 में लागू किया गया है। अब तदर्थ ट्रेजरी बिलो (ad hoc treasury bills) की बिक्री 1997-98 से पूर्णतया रोक दी जायेगी। इससे मौद्रिक नीति को नई दिशा मिलेगी।

केन्द्रीय बैंक द्वारा साख-नियंत्रण के उपाय

(Methods of Credit Control by a Central Bank)

हम पहले बता चुके हैं कि केन्द्रीय बैंक का एक महत्त्वपूर्ण कार्य साख नियत्रण करना माना गया है। जिन देशों में केन्द्रीय बैंक करेंसी पर नियत्रण नहीं रख सकता वहाँ भी यह साख नियत्रण करने का काम अवश्य करता है। हम ऊपर बतला चुके हैं भारत में इसी तरह की स्थिति पायी जाती है। साख नियत्रण के उपाय अग्र श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं।

साख-नियंत्रण के उपाय

(अ) मात्रात्मक या सामान्य उपाय (Quantitative methods or General Methods)	(आ) गुणात्मक या विशिष्ट उपाय (Qualitative or Selective Methods)	(इ) अन्य उपाय
(i) बैंक-दर	(i) न्यूनतम मार्जिन की आवश्यकताएँ	(i) नैतिक दबाव
(ii) (क) परिवर्तनशील नकद-रिजर्व अनुपात (CRR) (ख) वैधानिक तरलता-अनुपात (SLR)	(ii) न्यूनतम उधार की दरें	(ii) प्रचार
(iii) खुले बाजार की क्रियाएँ	(iii) उधार की अधिकतम सीमाएँ	(iii) प्रत्यक्ष कार्यवाही
(iv) साख-मोनीटरिंग-व्यवस्था (Credit Monitoring Arrangement) (CMA)		

उपर्युक्त तालिका से पता चलता है कि केन्द्रीय बैंक के पास साख नियंत्रण के विविध प्रकार के उपाय होते हैं जिनकी प्रक्रिया व आर्थिक प्रभावों का विवेचन नीचे किया जाता है।

(अ) साख-नियंत्रण के मात्रात्मक या सामान्य उपाय (Quantitative or General Methods of Credit Control)

(i) बैंक-दर (Bank Rate)—बैंक-दर को अमेरिका में बट्टे की दर (discount rate) भी कहते हैं। बैंक-दर केन्द्रीय बैंक की मुद्रा उधार देने की न्यूनतम दर होती है। वैसे इसी दर पर केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों से बिलों की खरीद व पुनर्कटौती भी किया करते है। रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया एक्ट में, 'बैंक-दर वह स्टैण्डर्ड दर मानी गई है जिस पर बैंक उन विनिमय बिलों या अन्य व्यापारिक प्रपत्रों को खरीदने व उनकी पुनर्कटौती के लिए तैयार रहता है जिन्हें वह इस अधिनियम के अंतर्गत खरीद सकता है। लेकिन भारत में बिल-बाजार (bill market) के अभाव में बैंक-दर वह दर मानी गई है जिस पर रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंकों को मुद्रा उधार देता है।' 25 जून 1997 की घोषणा के अनुसार भारत में बैंक दर 11% से घटाकर 10% की गई है। यह एक संदर्भ ब्याज-दर का काम करती है। इसको घटाने का उद्देश्य ब्याज की अन्य दरों में कमी लाने का संकेत है।

बैंक-दर के बढ़ने के आर्थिक प्रभाव

1. साख-संकुचन—बैंक-दर बढ़ने से साख संकुचन होता है, क्योंकि व्यापारिक बैंकों को केन्द्रीय बैंक से प्राप्त कर्ज पर अपेक्षाकृत अधिक ब्याज देना पड़ता है जिससे उनके द्वारा केन्द्रीय बैंक से लिया जाने वाला कर्ज कम हो जाता है। साथ में व्यापारिक बैंक अपनी ब्याज की दरें भी बढ़ा देते हैं, जिससे व्यापारी व अन्य ग्राहक कम मात्रा में उधार लेने लगते हैं। यही नहीं

बल्कि ब्याज की दर के बढने से लोग बैंक में अधिक मात्रा में रुपया जमा करने लगते हैं। इस प्रकार बैंक-दर को मुद्रास्फीति पर नियंत्रण करने के लिए बढाया जाता है।

2. नये विनियोग में कमी—स्वाभाविक है कि बैंक-दर के बढने से एव परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में ब्याज की दरों के बढ़ जाने से नये विनियोगों में कमी आती है जिससे रोजगार व आय घटने लगते हैं।

3. कीमतों मे कमी—जिन व्यवसायियों ने उधार की रकम के आधार पर माल जमा कर रखा है वे ब्याज की दरें बढ जाने पर कुल ब्याज का भार अधिक हो जाने के कारण माल बेचने लगते हैं जिससे कीमतों में गिरावट आती है। इस प्रकार बैंक-दर की वृद्धि मुद्रास्फीति-विरोधी (anti-inflationary) मानी गयी है।

4. विदेशी पूँजी आकर्षित होती है—जिस देश में बैंक-दर बढती है, उसमें विदेशों से ऊँचे ब्याज के कारण पूँजी आकर्षित होती है। इसलिए इसे विदेशी पूँजी आकर्षित करने के लिए भी उपयोग में लाया जा सकता है। वर्तमान में भारत में ब्याज की दर ऊँची होने से विदेशी पूँजी के आगमन को प्रोत्साहन मिल रहा है।

5. बैंक-दर को कम करने के आर्थिक प्रभाव—बैंक-दर में कमी करने से साख का विस्तार होता है, क्योंकि व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंकों से ज्यादा मात्रा में उधार लेते हैं और अपनी ब्याज की दरें कम करके वे व्यवसायियों व उद्यमियों को ज्यादा मात्रा में उधार देते हैं। इससे नया विनियोग बढता है एव उत्पादन व आय बढते हैं। लेकिन सम्भवत एक देश की पूँजी विदेशों में भी जाने लगती है। इस तरह आर्थिक मदी की अवधि में बैंक-दर कम करके कुछ सीमा तक विनियोग बढाये जा सकते हैं। लेकिन जब तक मुद्रास्फीति की वार्षिक दर स्थायी रूप से नहीं घटती तब तक ब्याज की दर को घटाना सम्भव नहीं होता।

बैंक-दर की सफलता की शर्तें—बैंक-दर निम्न परिस्थितियों में ही सफल हो सकती है—

1. देश में सगठित मुद्रा बाजार (Organised money market) हो—बैंक-दर की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि देश में सगठित मुद्रा बाजार हो और अन्य ब्याज की दरें बैंक-दर के परिवर्तन से प्रभावित हों। यदि ऐसा नहीं होता तो बैंक-दर अपना प्रभाव नहीं दिखा पाती। उदाहरण के लिए, भारत में विशाल असंगठित मुद्रा-बाजार पाया जाता है, जिसमें महाजन व देशी बैंकर काफी मात्रा में मुद्रा का लेन देन करते हैं। लेकिन उनकी क्रियाएँ बैंक-दर के परिवर्तनों से बहुत कम प्रभावित होती हैं। उनकी उधार देने की दरें इतनी ऊँची होती हैं कि बैंक-दर का मामूली-सा परिवर्तन तो उन्हें छू भी नहीं पाता। इसलिए बैंक-दर का प्रभाव असंगठित मुद्रा-बाजार की दशाओं में काफी घट जाता है।

2. व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक से पर्याप्त मात्रा में उधार लें—बैंक-दर तभी प्रभावशाली होती है जबकि व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक से काफी मात्रा में कर्ज लेते हैं। यदि वे केन्द्रीय बैंक पर कर्ज के लिए निर्भर नहीं करते तो उस सीमा तक बैंक-दर का प्रभाव कम हो जाता है।

3. यदि विनियोग के अवसर कम होते हैं तो ब्याज की दर कम हो जाने पर भी लोग-बाग ज्यादा मात्रा में उधार नहीं लेंगे—अत आर्थिक मंदी के समय बैंक-दर के घटने मात्र से आर्थिक दशा में सुधार की पूरी आशा नहीं की जा सकती। व्यवहार में विनियोग के सुअवसरों का उत्पन्न होना बहुत आवश्यक होता है। विनियोगकर्त्ताओं को भावी लाभ की आशाएँ होनी चाहिए ताकि वे पूँजी लगाने के निर्णय लें।

इस प्रकार बैंक-दर के परिवर्तनों का जितना प्रभाव अमेरिका व ब्रिटेन में पाया जाता है उतना भारत में नहीं पाया जाता। वैसे भी बैंक-दर के परिवर्तन से स्थिर विनियोग, जैसे प्लान्ट, मशीनरी, फैक्ट्री की इमारत आदि पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। इन्वेन्ट्री-विनियोग या माल के रूप में विनियोग, जैसे कच्चे माल व निर्मित माल, आदि पर बैंक-दर के परिवर्तन से अधिक प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार बैंक-दर की अपनी सीमाएँ होती हैं। लेकिन जब कभी किसी देश में बैंक-दर बदली जाती है तब उस देश में साख-नीति के परिवर्तन की दिशा अवश्य स्पष्ट हो जाती है।

भारत में बैंक दर—भारत में बैंक-दर शुरू में नवम्बर 1951 में 3 से 3.5 प्रतिशत की गई थी। उस समय भी इसका उद्देश्य मुद्रास्फीति के दबाव कम करना ही था। 22 जुलाई, 1974 को रिजर्व बैंक ने बैंक-दर 7 प्रतिशत से बढ़ाकर 9 प्रतिशत कर दी थी। एक साथ 2 प्रतिशत की वृद्धि पहले कभी नहीं की गई थी। साथ में व्यापारिक बैंकों की जमा व उधार की दरों में भी वृद्धि की गई थी। इस वृद्धि का उद्देश्य भी मुद्रास्फीति को कम करना ही था। 11 जुलाई, 1981 में बैंक-दर पुनः बढ़ाकर 9 से 10 प्रतिशत की गई थी। तब से लगभग 10 वर्ष तक यह 10% ही बनी रही। लेकिन बाद में मुद्रास्फीति के दबावों को देखते हुए यह 4 जुलाई, 1991 में 10% से बढ़ाकर 11% कर दी गयी, तथा पुनः 8 अक्टूबर, 1991 को व्यवसाय बन्द होने के बाद 11% से बढ़ाकर 12% कर दी गयी। यह कदम मुद्रास्फीति को रोकने के लिए उठाया गया था। 15 अप्रैल, 1997 को घोषित नई साख-नीति में इसे 12% से घटाकर 11% किया गया तथा 25 जून 1997 को इसे 11% से घटाकर 10% कर दिया गया है।

लेकिन जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि भारत में आज तक बैंक-दर का प्रभाव बहुत सीमित रहा है। इसलिए सरकार को मुद्रास्फीति को रोकने के लिए अन्य उपायों का सहारा लेना पड़ा है। बैंक-दर की वृद्धि कठोर मौद्रिक नीति का अंग मानी जाती है, क्योंकि इसका उद्देश्य ब्याज की अन्य दरों में वृद्धि करके सभी क्षेत्रों में एक साथ साख की मात्रा को घटाना होता है। भारत में कुछ मौद्रिक अर्थशास्त्री मुद्रास्फीति पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए बैंक-दर में काफी वृद्धि का समर्थन करते रहे हैं। भारत के सुप्रसिद्ध मौद्रिक अर्थशास्त्री प्रोफेसर पी. आर. ब्रह्मानन्द ने कुछ वर्ष पूर्व मुद्रास्फीति पर काबू पाने के लिए सुझाये गये उपायों में बैंक-दर को 10% से बढ़ाकर 15% करने का सुझाव दिया था। लेकिन सरकार ने इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया। बैंक-दर को 15% कर देने से देश में आर्थिक मंदी का भय उत्पन्न हो सकता था। वैसे भी आजकल मुद्रास्फीति के स्थान पर 'मंदी के साथ महँगाई' अर्थात् 'स्टेगफ्लेशन (Stagflation) की स्थिति कुछ सीमा तक देखने को मिलती है, जिसमें मुद्रास्फीति के साथ-साथ बेरोजगारी भी पाई जाती है। इसलिए बैंक-दर को बहुत ज्यादा बढ़ाना उचित नहीं माना जा सकता। ब्याज की दरों में वृद्धि को कुछ अर्थशास्त्री उचित नहीं मानते, क्योंकि इससे विनियोग हतोत्साहित हो सकता है। मौद्रिक नीति के जाने-माने लेखक एन. ए. मजुमदार ने ब्याज की नीची दरों, अर्थात् सस्ती मौद्रिक नीति का समर्थन किया है ताकि उत्पादन-लागत कम की जा सके और विनियोग बढ़ाया जा सके। लेकिन इसके लिए मुद्रास्फीति की दर को घटाना भी जरूरी माना जाता है। प्रत्येक अवधि में ब्याज की दर व मुद्रास्फीति की दर में उचित समन्वय व तालमेल बैठाना आवश्यक होता है।

(ii) (क) परिवर्तनशील नकद रिजर्व-अनुपात (Cash Reserve Ratio) (CRR) एवं (ख) बैंकों के लिए वैधानिक तरलता-अनुपात (Statutory Liquidity Ratio) (SLR)

(क) परिवर्तनशील नकद रिजर्व-अनुपात (CRR)—केन्द्रीय बैंक के पास व्यापारिक बैंकों को अपनी शुद्ध माँग व अवधि-देनदारियों (net demand and time liabilities) (Net DTL) का एक निश्चित प्रतिशत नकद जमा के रूप में रखना पड़ता है, जो प्रचलित कानून के अनुसार इन देनदारियों के 3% से 15% के बीच में हो सकता है। इसे 'नकद रिजर्व-अनुपात' (Cash Reserve Ratio or CRR) कहते हैं। एक बैंक की शुद्ध माँग व अवधि-देनदारियाँ निकालने के लिए उसकी कुल माँग व अवधि देनदारियों में से अन्य बैंकों व वित्तीय संस्थाओं की उस बैंक के प्रति देनदारियों को घटा दिया जाता है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए एक व्यापारिक बैंक की कुल माँग व अवधि देनदारियों की राशि (पाक्षिक आधार पर दैनिक औसत लेने पर) 10 लाख रुपये है तथा उस बैंक की अन्य बैंकों में जमाएँ 1 लाख रुपये है तथा अन्य बैंकों की उस बैंक में जमाएँ 2 लाख रुपये हैं तो उस बैंक की शुद्ध माँग व अवधि देनदारियाँ या जमाएँ = 10 + 1 − 2 = 9 लाख रुपये आंकी जायगी। नकद रिजर्व-अनुपात केन्द्रीय बैंक के पास साख नियंत्रण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अस्त्र माना गया है। इस अनुपात को बढ़ाने से व्यापारिक बैंकों को रिजर्व बैंक के पास नकद रिजर्व अधिक मात्रा में रखने पड़ते हैं, जिससे उनकी साख सृजन करने की क्षमता कम हो जाती है। इसके विपरीत नकद रिजर्व अनुपात को घटाने से उनकी साख सृजन करने की क्षमता बढ़ जाती है।

1994-95 में विदेशी पूंजी की भारी मात्रा में आवक से मौद्रिक दबावों को रोकने के लिए CRR को बढ़ाकर 15 प्रतिशत किया गया था। लेकिन बाद में इन दबावों के कम होने से इसे 9 दिसम्बर 1995 से 14%, 11 मई 1996 से 13%, 6 जुलाई 1996 से 12%, 9 नवम्बर 1996 से 11% तथा 18 जनवरी 1997 से 10% किया गया है (प्रत्येक 0.5% बिन्दु दो चरणों में घटाकर)। इससे बैंकों की कर्ज देने की क्षमता बढ़ी है। यह अप्रैल 1997 में 9.3% रहा।

केन्द्रीय बैंक नकद रिजर्व अनुपात में वृद्धि करके व्यापारिक बैंकों की शुद्ध माँग व अवधि देनदारियों का ज्यादा प्रतिशत अपने पास रख सकता है, जिससे देश में साख की मात्रा को घटाने में मदद मिलती है। नकद रिजर्व की राशियों पर रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंकों को ब्याज देता है। वित्तीय क्षेत्र में सुधारों से सम्बन्धित नरसिम्हम समिति की सिफारिशों के आधार पर सरकार की भावी नीति नकद रिजर्व अनुपात (CRR) को घटाने की है ताकि व्यापारिक बैंक अधिक मात्रा में कृषि व उद्योगों को ऋण उपलब्ध करा सकें।

गुण—

(1) इसका प्रभाव शीघ्र होता है। नकद रिजर्व अनुपात को बढ़ाने पर व्यापारिक बैंकों की साख सृजन करने की क्षमता घट जाती है।

(2) यह विधि खुले बाजार की क्रियाओं से ज्यादा अच्छी मानी जाती है, क्योंकि खुले बाजार की क्रियाओं की प्रणाली में सरकारी प्रतिभूतियों की कीमतें घट सकती हैं जिससे वित्तीय संस्थाओं को हानि हो सकती है। लेकिन CRR की विधि में इस प्रकार की हानि का कोई भय नहीं रहता।

(3) जिन देशों में प्रतिभूतियों के लिए बाजार पर्याप्त रूप से विकसित नहीं होता उनमें यह विधि ज्यादा सफल प्रमाणित होती है।

अवगुण—यह विधि बेलोच व कठोर मानी गई है, क्योंकि इसमें उन बैंकों पर ज्यादा प्रतिकूल प्रभाव पडता है जिनकी तरल स्थिति (liquidity) कमजोर होती है। यह सभी क्षेत्रों पर समान रूप से लागू होती है, जिससे यह क्षेत्रीय आवश्यकताओं को ध्यान में नहीं रखती। जिन क्षेत्रों में बैंकों के पास नकद राशि की कमी होती है उनमें इस नीति का बुरा प्रभाव पडता है। अत यह नीति विभिन्न क्षेत्रों व विभिन्न बैंकों में कोई भेद नहीं करती, जिससे इसकी वजह से कई प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

(ख) बैंकों के लिए वैधानिक तरलता-अनुपात (SLR)—व्यापारिक बैंक को वैधानिक दृष्टि से अपनी शुद्ध माँग व अवधि देनदारियो का एक निश्चित अनुपात अपने पास तरल परिसम्पत्तियों के रूप मे रखना पड़ता है। यह वैधानिक तरलता-अनुपात (**Statutory Liquidity Ratio**) अथवा (**SLR**) कहलाता है। भारत में तरल परिसम्पत्तियों में नकद-राशि, सोना या स्वीकृत प्रतिभूतियाँ शामिल की जाती है। नकद-राशि में बैंक के पास पडी नकद-राशि व भारतीय रिजर्व बैंक के पास पडी इसकी बकाया राशि में से उस बैंक की नकद रिजर्व-अनुपात (CRR) वाली राशि घटाने के बाद बची शेष राशि को लेते हैं। साथ में इस बैंक की अन्य बैंकों के पास चालू खाते में पडी बकाया राशि भी शामिल की जाती है। इसके बाद सरकारी प्रतिभूतियों व सोने की मात्रा जोडी जाती है।

उदाहरण—मान लीजिए, एक व्यापारिक बैंक के पास पडी नकद राशि 1 करोड रुपया है, भारतीय रिजर्व बैंक के पास पडी इसकी बकाया राशि 2 करोड रुपया है, बैंक की नकद रिजर्व-अनुपात (CRR) के अतर्गत रिजर्व बैंक के पास पडी राशि 1 करोड रुपया है, इस बैंक की अन्य बैंकों के चालू खातों में पडी राशि 50 लाख रुपया है, बैंक के पास स्वीकृत शुद्ध प्रतिभूतियों की राशि 1.30 करोड रुपया है तथा सोना 20 लाख रुपये का है, एव शुद्ध माँग व समय देनदारियाँ (net DTL) 10 करोड रुपये की है, तो बैंक का वैधानिक-तरलता-अनुपात इस प्रकार आका जायेगा—

$$SLR = \frac{1 + (2 - 1) + 0.50 + 1.30 + 0.20}{10}$$

$$= \frac{4}{10}$$

= 40% होगा (प्रतिशत के रूप में)

SLR के बढने से व्यापार व उद्योग के लिए बैंकों से प्राप्त कर्ज कम हो जाता है। लेकिन सरकार को बैंकों से अधिक राशि ऋण के रूप में मिलने लग जाती है। इस प्रकार यह बैंकों के साधनों का स्वरूप बदल देता है। सरकार ने अपनी नई आर्थिक नीति के अनुसार राजकोषीय समायोजन (fiscal adjustment) व समष्टिमूलक स्थिरीकरण (macro-economic stablisation) की नीति लागू करने के लिए SLR को कम करने का मार्ग अपनाया है। **अक्टूबर, 1994 मे SLR को 33.75% से घटाकर 31.5% किया गया जो 30 सितम्बर, 1994 की बकाया DTL पर लागू किया गया।** 30 सितम्बर के बाद की वर्धमान देनदारियों पर यह 25% जारी रहा तथा कुछ बाह्य देनदारियों पर SLR शून्य

रखा गया जिसके फलस्वरूप प्रभावी औसत SLR की मात्रा मार्च 1996 के अन्त में 28 प्रतिशत पर आ गई थी। यह कदम इसलिए उठाया गया ताकि बैंक कृषि व उद्योगों को अधिक मात्रा में कर्ज दे सकें। पहले की अवधि में वैधानिक-तरलता-अनुपात (SLR) की वृद्धि का उद्देश्य सरकार के उधार-कार्यक्रम को सहारा देना हुआ करता था। सरकारी प्रतिभूतियों की बाजार माँग काफी सीमा तक SLR के द्वारा निर्धारित होती थी। पहले SLR *की मामूली वृद्धि से बैंक सरकारी प्रतिभूतियों में काफी अधिक धनराशि लगाने को बाध्य हो* जाते थे। अतः SLR की वृद्धि से बैंकों को अधिक राशि सरकारी प्रतिभूतियों में लगानी होती थी। चूँकि सरकार उधार ली गई राशि को व्यय करती थी, अतः SLR के बढ़ने से मुद्रा की पूर्ति पर कोई सकुचनकारी प्रभाव नहीं पड़ता था। लेकिन बैंकों की उधार गैर खाद्य व गैर प्राथमिकता वाले क्षेत्रों के लिए कम हो जाती थी, तथा सरकारी प्रतिभूतियों में बैंकों के विनियोग बढ़ जाते थे। इस प्रकार SLR मे प्रायः इसलिए वृद्धि की जाती थी कि पचवर्षीय योजनाओं की वित्तीय व्यवस्था के लिए बैंकों को सरकारी प्रतिभूतियों या बॉण्डो मे विनियोग बढ़ाने के लिए अधिक मात्रा में प्रेरित किया जा सके। इस प्रकार SLR के बढ़ने से सरकार को बैंको से ज्यादा मात्रा में कर्ज मिल पाता था, लेकिन अब SLR में कमी करने की नीति को अपनाने से बैंकों को अपेक्षाकृत कम राशि सरकारी प्रतिभूतियों में (वैधानिक दृष्टि से) *लगाने की आवश्यकता होगी। (हालांकि बैंक स्वयं अपनी इच्छा से प्रतिफल को ध्यान म रखकर सरकारी प्रतिभूतियों में धन लगा रहे है)* जिससे वह राशि सरकारी उधार से खाली होने पर कृषि व उद्योगों को मिल सकती है। *SLR में कमी का सुझाव वित्तीय प्रणाली पर* नरसिम्हम समिति ने दिया है, जो इसे चरणबद्ध रूप में 25% तक घटाने के पक्ष में है।

(iii) खुले बाजार की क्रियाएँ (Open Market Operations)—केन्द्रीय बैंक द्वारा साख नियन्त्रण का यह उपाय बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। साख नियन्त्रण के परम्परागत उपायों में सदैव इसका महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वैसे खुले बाजार की क्रियाएँ केन्द्रीय बैंक के द्वारा विभिन्न प्रकार की परिसम्पत्तियों के क्रय विक्रय के माध्यम से संचालित की जाती हैं जैसे सरकारी प्रतिभूतियाँ, व्यावसायिक विनिमय बिल, विदेशी विनिमय, सोना तथा कम्पनी के शेयर~ लेकिन व्यवहार में यह सरकारी प्रतिभूतियों (ट्रेजरी बिलो सहित) के क्रय विक्रय *तक ही सीमित रहती है।*

खुले बाजार मे सरकारी प्रतिभूतियों की खरीद का प्रभाव

यदि केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों के नकद रिजर्व बढाने चाहें तो यह खुले बाजार में सरकारी प्रतिभूतियों को खरीदने लगता है। कोई भी व्यक्ति या फर्म सरकारी प्रतिभूतियों को बेचते समय केन्द्रीय बैंक से चैक प्राप्त करते हैं, जिसे वे किसी भी व्यापारिक बैंक में जमा कराते हैं। व्यापारिक बैंक इसे केन्द्रीय बैंक के पास भुगतान के लिए भेजते हैं। केन्द्रीय बैंक सम्बन्धित व्यापारिक बैंक के खाते में *उतनी मुद्रा राशि जमा कर देता है। व्यापारिक बैंक* इस जमा के आधार पर किसी को कर्ज देकर साख का निर्माण कर सकता है जिसका विस्तृत विवरण पहले व्यापारिक बैंकों के अध्याय में किया गया है। यदि व्यापारिक बैंक सरकारी प्रतिभूतियों को बेचते तो भी प्रभाव वैसा ही पड़ता। उनके अतिरिक्त रिजर्व कोष बढ़ जाते

(सरकारी प्रतिभूतियाँ कम हो जाती) और वे अधिक ऋण देकर साख की मात्रा में वृद्धि कर सकते थे।

खुले बाजार में सरकारी प्रतिभूतियों की बिक्री का प्रभाव

यदि केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों के नकद रिजर्व कम करना चाहे तो वह खुले बाजार में सरकारी प्रतिभूतियाँ बेचने लगता है। जो व्यक्ति या फर्म सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीदते हैं वे अपने बैंक पर चैक काटकर केन्द्रीय बैंकों को देते हैं। केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को भुगतान के लिए चैक पेश करता है। भुगतान का सुगम तरीका यह है कि केन्द्रीय बैंक के पास व्यापारिक बैंक की जमा-राशि में कमी कर दी जाती है। इससे व्यापारिक बैंक का रिजर्व-कोष कम हो जाता है और यदि बैंक का रिजर्व-अनुपात न्यूनतम वैधानिक सीमा से नीचे आ जाता है तो उसे अपने चालू विनियोगों में से कुछ विनियोगों को बेचकर, अथवा पुराने कर्ज लौटाने पर नये कर्ज न देकर, रिजर्व-अनुपात को वैधानिक स्तर पर वापस लाना पड़ता है।

यहाँ पर एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि यदि जनता सरकारी प्रतिभूतियाँ नहीं खरीदना चाहे तो केन्द्रीय बैंक क्या कर सकता है? उत्तर में यह कहा जायेगा कि प्रत्येक वस्तु की एक कीमत होती है, जिस पर वह बेची जा सकती है। अतः केन्द्रीय बैंक को सरकारी प्रतिभूति बेचने के लिए इनका भाव घटाना पड़ सकता है, जिसका अर्थ होगा ब्याज में वृद्धि। यदि 4 प्रतिशत पर 100 रु. की सरकारी प्रतिभूति का भाव 90 रुपये हो जाता है, तो ब्याज की दर $\frac{4}{90} \times 100 =$ लगभग 4.4 प्रतिशत हो जाती है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक के द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों के बेचने से ब्याज की दर में बढ़ने की सम्भावना होती है, जिससे साख संकुचन या साख में कमी की प्रक्रिया को अधिक प्रोत्साहन मिलता है।

भारत में खुले बाजार की क्रियाएँ

भारतीय रिजर्व बैंक ने खुले बाजार की क्रियाओं का उपयोग सरकार को उसके उधार-कार्यक्रम में सहायता देने के लिए एवं प्रतिभूति-बाजार में व्यवस्था बनाए रखने के लिए किया है। खुले बाजार की क्रियाओं का उपयोग बैंकों को मौसमी साख प्रदान करने के लिए भी किया जाता है। सुस्त मौसम में बैंक अपने अतिरिक्त कोष सरकारी प्रतिभूतियों में लगा देते हैं, और व्यस्त मौसम में उद्योग व व्यापार को साख का विस्तार करने के लिए वे सरकारी प्रतिभूतियाँ बेचते हैं, अथवा इनके आधार पर रिजर्व बैंक से उधार लेते हैं।

भारत में खुले बाजार की क्रियाओं का उपयोग साख-नियन्त्रण के अन्य उपायों के साथ किया गया है। लेकिन यह विधि भी मुद्रास्फीति को रोकने में विशेष सफल प्रमाणित नहीं हुई है। इसका कारण यह है कि यहाँ का मुद्रा-बाजार संगठित नहीं है। इसमें महाजन व सर्राफ आदि शामिल हैं, जो असंगठित मुद्रा-बाजार के अंग माने गये हैं। उनके लेन-देन व ब्याज की दरों के अपने तौर-तरीके होते हैं और इनका मौद्रिक बाजार पर काफी प्रभाव भी होता है।

खुले बाजार की क्रियाओं की सीमाएँ

(1) पूर्व वर्षों में खुले बाजार की क्रियाओं का उपयोग सीमित रूप में पाया गया है इस विधि में सरकारी प्रतिभूतियों की कीमतों के गिरने की सम्भावना होती है, जिससे सरकारी प्रतिभूति रखने वालों को आर्थिक हानि हो सकती है।

(2) सरकारी प्रतिभूतियों की कीमतों के गिरने से सरकार की प्रतिष्ठा को हानि पहुँच सकती है, जिससे इसके उपयोग पर प्रतिकूल असर पडता है।

(3) केवल खुले बाजार की क्रियाओं से सरकार नये विनियोगों को पर्याप्त मात्रा में प्रोत्साहन नही दे सकती। मान लीजिए, केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों से प्रतिभूतियाँ खरीद कर उनको मुद्रा देता है। लेकिन व्यापार व्यवसाय मन्द होने के कारण व्यवसायी लोग बैंकों से उधार नही लेते, जिससे खुले बाजार की क्रियाएँ अपना प्रभाव नहीं दिखा पाती।

अत खुले बाजार की क्रियाएँ भी सगठित मुद्रा बाजारों में ही अधिक सफल हो पाती हैं। भारत जैसे विकासशील देश में भूतकाल में इन्हें सीमित मात्रा में ही सफलता मिल सकी है। लेकिन विदेशी करेंसी कोषों के बढने से मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि के प्रभाव को कुछ सीमा तक कम करने के लिए हाल के वर्षों में रिजर्व बैंक द्वारा खुले बाजार की क्रियाओं का प्रयोग बढाने का प्रयास किया गया है और सम्भवत यह निकट भविष्य में जारी रहेगा।

रिजर्व बैंक की केन्द्रीय सरकार की प्रतिभूतियो म खुले बाजार की क्रियाएँ [1]

1995-96 मे भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा सरकारी प्रतिभूतियो की शुद्ध खरीद (खरीद की मात्रा बिक्री से ज्यादा) 514 करोड़ रु. की हुई। 1994-95 मे शुद्ध बिक्री 748 करोड़ रु तथा 1993-94 मे शुद्ध बिक्री 9,837 करोड़ रु. की हुई थी। इस प्रकार खुले बाजार की क्रियाओ मे अभूतपूर्व वृद्धि हुई है।

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है हाल मे विदेशी मुद्रा कोषों के बढने से मुद्रा की पूर्ति पर जो दबाव आये हैं उनको कम करने के लिए भी सरकार खुले बाजार मे प्रतिभूतियाँ बेचकर मुद्रा को खींचना चाहती है जिससे नई परिस्थितियों मे इस पद्धति का महत्व बढ गया है।

(iv) साख मोनीटरिंग-व्यवस्था (Credit Monitoring Arrangement) (CMA)[2] – यह व्यवस्था 10 अक्टूबर, 1988 से लागू की गई है। इससे पूर्व नवम्बर 1965 से अक्टूबर 1988 तक साख अधिकार स्कीम (Credit-Authorisation-Scheme) (CAS) प्रचलन मे थी जिसके अन्तर्गत बैंकों से वैयक्तिक उधार लेने वालो द्वारा निर्धारित साख की सीमाओ से अधिक राशि लेने पर भारतीय रिजर्व बैंक का सीधा नियन्त्रण होता था। इनके लिए रिजर्व बैंक की स्वीकृति जरूरी होती थी। लेकिन इसमें विलम्ब होने के कारण इसे पसद नही किया गया। अब नई साख-मोनीटरिंग व्यवस्था (CMA) के अन्तर्गत बैंको को पूरी जाँच-पड़ताल के बाद बड़े उधार लेने वालो को साख की स्वीकृति के अधिकार दे दिये गये है। स्वीकृति के बाद की छानबीन के लिए ये मामले रिजर्व बैंक को पेश किये जाते है। इनमें कार्यशील पूँजी (Working Capital) के प्रस्ताव 5 करोड़ रु व अधिक के एव/अथवा अवधि-कर्ज (term loan) के मामले 2 करोड रु से अधिक के हो सकते हैं। जनवरी 1991 से कुछ प्रतिशत मामले ही रिजर्व बैंक की जाँच के

1 Report on Currency And Finance 1995 96, Vol I, p VI-41 (table VI-4)
2. Suraj B Gupta, Monetary Economics, Institutions, Theory and Policy, Fourth edition, 1997, pp 369 370

लिए पेश किये जाते हैं। अत: अब बैंक को साख की मोनीटरिंग के ज्यादा अधिकार दे दिये गये हैं।

(आ) साख-नियत्रण के गुणात्मक या विशिष्ट उपाय

(Qualitative or Selective Methods of Credit Control)

साख नियत्रण के गुणात्मक या विशिष्ट उपायों के अन्तर्गत विशेष उद्देश्यों के लिए साख का नियत्रण किया जाता है। साख-नियत्रण के सामान्य उपाय साख की लागत व साख की कुल मात्रा को प्रभावित करते हैं, जबकि विशिष्ट नियत्रण के उपाय उपलब्ध साख की पूर्ति के वितरण को प्रभावित करते हैं। साख नियत्रण के विशिष्ट उपायों का उद्देश्य ऐसी क्रियाओं को हतोत्साहित करना होता है जो अनावश्यक अथवा कम आवश्यक होती हैं। भारत में इन साधनों का उपयोग खाद्यान्न व आवश्यक कच्चे माल जैसी वस्तुओं में सट्टेबाजी व संग्रह आदि को रोकने के लिए किया गया है। इन्हें सामान्य साख नियत्रणों के उपायों के साथ अपनाया जाता है। अब तक का अनुभव यह बतलाता है कि इनको सामान्य साख-नियत्रण के उपायों के साथ अपनाकर ही अधिक सफल बनाया जा सकता है। इनका उपयोग करके विशेष प्रकार की वस्तुओं की कीमतें स्थिर की जा सकती हैं।

भारत में विशिष्ट साख नियंत्रणों का उपयोग समय-समय पर खाद्यान्नों, तिलहनों, कपास, चीनी, वनस्पति तेल व अन्य वस्तुओं में सट्टेबाजी को रोकने के लिए किया गया है। इसके लिए विशेषतया न्यूनतम मार्जिन की विधि अपनाई जाती है।

(i) न्यूनतम मार्जिन की आवश्यकताएँ (Minimum Margin Requirements)—न्यूनतम मार्जिन को बढ़ाने से उस वस्तु विशेष के लिए साख की मात्रा कम हो जाती है जिससे उस वस्तु में सट्टेबाजी व संग्रह कम होने लगता है। मान लीजिए, किसी वस्तु पर न्यूनतम मार्जिन 40 प्रतिशत है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि बैंक उस वस्तु के आधार पर 60% तक कर्ज दे सकते हैं। शेष 40% राशि स्वयं व्यवसायियों को अपने पास से लगानी होगी। यदि न्यूनतम मार्जिन की राशि 40 प्रतिशत से बढ़ाकर 50 प्रतिशत कर दी जाय तो उधार की राशि 60% से घटकर 50% पर आ जायेगी, जिससे साख की मात्रा कम हो जायेगी। कहने का आशय यह है कि मूल्य बढ़ने पर न्यूनतम मार्जिन बढ़ा दिये जाते हैं और मूल्य घटने की स्थिति में ये घटा दिये जाते हैं।

सप्लाई की स्थिति ठीक होने से 21 अक्टूबर, 1996 से दालें, तिलहन, तेल, चीनी, गुड़, कपास, आदि पर से चयनित साख नियत्रण (न्यूनतम मार्जिन) हटा दिये गये।

(ii) उधार की न्यूनतम दरें (Minimum Lending Rates)—केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों की उधार देने की न्यूनतम दरों को बढ़ाकर भी साख नियत्रण का प्रयास कर सकता है। गुणात्मक साख नियत्रण के अन्तर्गत आने वाली वस्तुओं पर उधार की न्यूनतम दरों को बढ़ाने से उधार की राशि कम हो जाती है, जिससे सम्बन्धित वस्तुओं की कीमतें नियत्रण में आ जाती हैं। प्रायः न्यूनतम मार्जिन व उधार की न्यूनतम दरों को एक साथ प्रयोग में लाया जाता है। उधार की न्यूनतम दरों में वृद्धि का उद्देश्य मुद्रास्फीति पर नियत्रण स्थापित करना होता है। 2 सितम्बर, 1993 के उधार की न्यूनतम दरें (सम्बन्धित वस्तुओं के लिए) 16% से घटाकर 15% की गयी थीं।

(iii) उधार की अधिकतम सीमाएँ (Credit Ceilings)—विभिन्न व्यवसायियों के लिए उधार की सीमा निर्धारित करके भी साख नियत्रण किया जा सकता है। कभी कभी केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को यह भी कह देता है कि वे अमुक अवधि के अमुक कार्यों के लिए अमुक धनराशि से ज्यादा राशि उधार नहीं देंगे। 16 मई, 1994 से साख की अधिकतम सीमाएँ दालों, तिलहन/वनस्पति तेल, तथा कॉटन व कपास के लिए 15% बिन्दु घटाकर 85% की गई थीं। इस प्रकार साख पर सीमा निर्धारण करके भी साख नियत्रण किया जा सकता है। इससे मुद्रास्फीति का भय कम हो जाता है।

साख नियत्रण के गुणात्मक उपाय चुने हुए क्षेत्रों में साख की पूर्ति को बढाते हैं, और अन्य क्षेत्रों में कम करते हैं। इनका मुख्य उद्देश्य उत्पादन बढाने के लिए साख उपलब्ध करना एव सट्टेबाजी व सग्रह के लिए साख की पूर्ति पर रोक लगाना रहा है। इसलिए इन्हें साख नियत्रण के चुने हुए या गुणात्मक उपाय कहा जाता है।

(इ) अन्य उपाय

(i) नैतिक दबाव (Moral Suasion)—साख नियत्रण के मात्रात्मक उपायों के अलावा हमारे देश में केन्द्रीय बैंक के द्वारा अपने नैतिक दबाव या प्रभाव का भी उपयोग किया गया है। समय समय पर व्यापारिक बैंकों को पत्र लिखकर उन पर जोर डाला जाता है ताकि वे साख को नियत्रित करें एव विशेष वस्तुओं पर उधार की राशि को कम करें। बैंकों से इन उद्देश्यों के लिए विचार विमर्श भी किया जाता है। पिछले लगभग 45 वर्षों में रिजर्व बैंक व व्यापारिक बैंकों में ऐसे विचार विमर्श कई बार हुए हैं। विभिन्न बडे अनुसूचित व्यापारिक बैंकों के राष्ट्रीयकरण से सार्वजनिक क्षेत्र में बैंकों की सख्या बढी है, जिससे नैतिक दबाव, जैसे अस्त्र का महत्त्व और बढ गया है।

समय समय पर रिजर्व बैंक के गवर्नरों ने व्यापारिक बैंकों को लिखे गये पत्रों में इस बात पर बल दिया है कि प्रत्येक बैंक के स्तर पर साख नियोजन इस प्रकार का होना चाहिये कि साख का उपयोग राष्ट्रीय उद्देश्यों व प्राथमिकताओं के अनुरूप हो सके। मार्च 1995 के अन्त में प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों के लिए सार्वजनिक बैंकों की अग्रिम राशियों का अनुपात विशुद्ध बैंक-साख का 36.8% रहा, जबकि यह मार्च 1990 के अत में यह 43.1% रहा था, जो 40% के लक्ष्य से अधिक था। इस प्रकार इस अनुपात में कमी आयी है।

(ii) प्रचार—केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को साख नियंत्रण की आवश्यकता पर जोर देने के लिए प्रचार की विधि भी अपना सकता है जिससे वे इसका महत्व समझने लग जाते हैं और आवश्यक कदम उठाने में केन्द्रीय बैंक को सहयोग देते हैं।

(iii) प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct action)—असामान्य परिस्थितियों में साख नियत्रण के लिए प्रत्यक्ष कार्यवाही की विधि भी अपनाई जा सकती है जिसके अतर्गत केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को कुछ कार्यों के लिए ऋण देने से रोक सकता है, अथवा अन्य कडे प्रतिबन्ध लगा सकता है। लेकिन ऐसे कठोर कदमों को लागू करने में कई प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं, और लोकतत्र में इसके अवसर बहुत कम आते हैं।

भारत में साख नियत्रण

भारत में रिजर्व बैंक की नीति नियन्त्रित साख विस्तार (Controlled credit expansion) की रही है। इसके अन्तर्गत बैंक ने देश में उत्पादन बढाने के लिए साख का

विस्तार किया है, लेकिन अनुत्पादक कार्यों, सट्टेबाजी व अनुचित सग्रह व अन्य समाज विरोधी कार्यों के लिए साख को कम करने की नीति अपनाई है। हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि वर्तमान में बैंक-दर 11%, नकद-रिजर्व-अनुपात 10% तथा वैधानिक तरलता-अनुपात 31.5% हैं (प्रभावी दर मार्च 1996 के अन्त में 28%) । 18 जनवरी 1997 से CRR 10% किया गया है। आजकल साख नियत्रण के साधन के रूप में CRR का महत्त्व बढ गया है। भविष्य में CRR व SLR को घटाने के सुझाव दिये गये हैं ताकि कृषि व उद्योगों को उधार की अधिक राशि दी जा सके। इससे तरलता के अभाव को कम करने में भी मदद मिलेगी।

प्राय यह कहा जाता है कि भारत में महँगाई बढी है, जिससे रिजर्व बैंक की मौद्रिक नीति की असफलता प्रकट होती है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि रिजर्व बैंक ने मुद्रास्फीति को नियन्त्रित करने के लिए कुछ मौद्रिक उपाय काम में लिये हैं। लेकिन मुद्रास्फीति की समस्या बहुत जटिल है, जिसे राजकोषीय व मौद्रिक नीतियों के मिले जुले प्रयोग एव अन्य भौतिक नियत्रणों व राशनिंग तथा उत्पादन वृद्धि आदि उपायों के द्वारा ही हल किया जा सकता है। मूल रूप से यह समस्या उत्पादन बढाने से सम्बन्ध रखती है। अत मुद्रास्फीति की समस्या पर केवल मौद्रिक उपायों से ही नियन्त्रण स्थापित नही किया जा सकता। भारतीय रिजर्व बैंक ने मात्रात्मक साख नियत्रण व गुणात्मक साख नियत्रण के उपाय अपनाकर नियत्रित साख विस्तार के कार्यक्रम को आगे बढाने का प्रयत्न किया है जिसमें इसे कुछ सीमा तक सफलता भी मिली है। कुछ क्षेत्रों में यह विश्वास किया जाता है कि यदि रिजर्व बैंक साख नियत्रण के विभिन्न उपाय नहीं अपनाता तो सम्भवत मुद्रास्फीति की स्थिति अधिक गम्भीर हो जाती।

रिजर्व बैंक के वर्तमान गवर्नर डॉ सी रगराजन का मत है कि "प्रतिवर्ष घाटे के बजटों के कारण रिजर्व बैंक को भारत सरकार को उधार देना पड़ता है जिससे रिजर्व मुद्रा बढ़ती है। रिजर्व बैंक रिजर्व मुद्रा के इस प्राथमिक सृजन (primary creation) को तो रोक नही सकता, इसलिए यह तो CRR, SLR आदि के माध्यम से मुद्रा की पूर्ति के द्वितीयक विस्तार (secondary expansion) को ही नियत्रित करने का प्रयास करता है।" अत मुख्य कमी सरकार की राजकोषीय नीति (fiscal policy) की ही मानी जायगी। वास्तव में देखा जाय तो अभी तक भारत मे केन्द्रीय बैंक का करेंसी की पूर्ति पर कोई नियत्रण नही रहा है। यह केन्द्रीय सरकार के कहने पर कागजी मुद्रा का प्रसार करता रहा है। अत केवल साख-नियत्रण के उपायों से ही काम नही चल सकता। सरकार को अपने व्यय पर भी नियत्रण करना चाहिये और घाटे के बजटों का सीमित मात्रा में उपयोग करना चाहिए। हमें भारत में समस्त मुद्रा की सप्लाई को नियन्त्रित व नियमित करने की आवश्यकता स्वीकार करनी होगी। अत मौद्रिक नीति के साथ-साथ राजकोषीय नीति पर भी समुचित रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए। सरकारी व्यय की जरूरतों को पूरा करने के लिए मुद्रा की पूर्ति बढ़ानी होती है, जिससे मुद्रास्फीति होती है। अत सरकारी व्यय पर पर्याप्त अकुश लगाना भी जरूरी है।

सरकार को मौद्रिक नीति पर चक्रवर्ती समिति की सिफारिशों को कार्यान्वित करने का प्रयास करना चाहिए। इसके अनुसार मौद्रिक नियोजन के लिए मौद्रिक लक्ष्य (monetary targeting) निर्धारित करने होंगे जिनके आधार पर मुद्रा की पूर्ति की वार्षिक वृद्धि को नियमित व नियंत्रित किया जा सकता है।

केन्द्रीय बैंको व व्यापारिक बैंको का परस्पर सम्बन्ध

(1) प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रो जैसे कृषि, निर्यात, लघु उद्योगो, स्वरोजगार मे सलग्न *व्यक्तियो व कारीगरों आदि को अधिक कर्ज की सुविधा देना*—केन्द्रीय बैंक देश में करेंसी व साख की पूर्ति को नियत्रित करता है। यह बैंकों का बैंक व सरकार का बैंक होता है। आजकल भारत जैसे विकासशील देशों में केन्द्रीय बैंक का कार्य विकास को प्रोत्साहन देना भी हो गया है। इसलिए बैंक ऐसी नीतियाँ अपनाता है जिससे ऊपरवर्णित प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों के लिए आवश्यक साख की मात्रा उचित लागत पर उपलब्ध की जा सके। साथ में केन्द्रीय बैंक इस बात का भी ध्यान रखता है कि अनुत्पादक कार्यों, सट्टेबाजी व वस्तु सग्रह के लिए साख का उपयोग न होने दिया जाय। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक पर आर्थिक विकास के लिए साख सम्बन्धी निर्णय लेने की पूरी जिम्मेदारी होती है।

(2) व्यापारिक बैको के मार्फत साख नियत्रण—सरकार आर्थिक विकास के लिये घाटे के बजट बनाती है और घाटे की पूर्ति के लिए केन्द्रीय बैंक से उधार लेती है। इस व्यवस्था में मुद्रा प्रसार पर नियन्त्रण रखने के लिए केन्द्रीय बैंक को उचित मौद्रिक नीति अपनानी पडती है। केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों के द्वारा साख सृजन की मात्रा को भी नियत्रित करता है।

(3) केन्द्रीय बैंक व व्यापारिक बैंकों की परस्पर निर्भरता—व्यापारिक बैंक भी साख सृजन करके मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि करते हैं। ये केन्द्रीय बैंक की नीति को कार्यान्वित करने में सहयोग देते हैं। देश की *अर्थव्यवस्था मे केन्द्रीय बैंक व व्यापारिक* **बैको का मिला-जुला योगदान होता है।** केन्द्रीय बैंक के निर्देशन में व्यापारिक बैंक अपने कार्यों का सचालन करते हैं। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों के माध्यम से अपनी विभिन्न मौद्रिक व साख सम्बन्धी तथा बैंकिंग नीतियों को कार्यान्वित करता है। व्यापारिक बैंक आवश्यकता पडने पर कोषों के लिए केन्द्रीय बैंक की तरफ देखते हैं। केन्द्रीय बैंक साख नियत्रण के विभिन्न उपाय अपनाकर व्यापारिक बैंकों के रिजर्व कोषों को प्रभावित करता रहता है।

(4) केन्द्रीय बैंक पर व्यापारिक बैको के विकास की जिम्मेदारी—केन्द्रीय बैंक बैंकिंग प्रणाली के विकास के लिए कई प्रकार के कार्य करता है। इसे व्यापारिक बैंकों की क्रियाओं को नियत्रित करने के लिए व्यापक रूप से अधिकार दिये गये हैं। भारत में बैंकिंग व्यवसाय प्रारम्भ करने से पूर्व प्रत्येक बैंक को रिजर्व बैंक से लाइसेंस लेना पडता है। बैंकों के लिए न्यूनतम परिदत्त पूंजी व रिजर्व अनुपात, नकद व अन्य तरल परिसम्पत्तियों के लिए शर्तें निर्धारित होती हैं। यह बैंकों की जाँच करता है। उनके प्रबन्ध पर नियत्रण रखता है। 19 जुलाई, 1969 को 14 बडे बैंकों के राष्ट्रीयकरण से केन्द्रीय बैंक व व्यापारिक बैंकों के सम्बन्धों में एक नया मोड आ गया है। तब से व्यापारिक बैंक प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों, जैसे कृषि, लघु उद्योग, स्वरोजगार में सलग्न व्यक्तियों, ग्रामीण कारीगरों, आदि को अधिक मात्रा में कर्ज देने लगे हैं। अब सरकार का भारतीय स्टेट बैंक सहित व्यापारिक बैंकों की

जमा राशियों के 90 प्रतिशत पर अधिकार हो गया है। सम्पूर्ण बैंकिंग प्रणाली "सामाजिक उद्देश्यों" से प्रेरित व प्रभावित होने लगी है। जून 1980 में 6 और बैंकों के राष्ट्रीयकरण का अधिनियम पास किया गया था। इस प्रकार भारतीय स्टेट बैंक व उसके सहायक बैंकों सहित सार्वजनिक क्षेत्र में 28 बैंक हो गये हैं। इनके अलावा जून 1996 के अंत में देश के 405 जिलों में 196 प्रादेशिक ग्रामीण बैंक (Regional Rural Banks) (RRBs) अलग से कार्य कर रहे थे। इनकी कुल शाखाएँ 14516 थीं। इस प्रकार बैंकिंग व्यवसाय पर सरकार का प्रभाव काफी सीमा तक बढ़ गया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि केन्द्रीय बैंक व व्यापारिक बैंकों का परस्पर गहरा सम्बन्ध होता है और दोनों मिलकर बैंकिंग जगत की विभिन्न क्रियाओं को प्रभावित करते हैं। **केन्द्रीय बैंक, व्यापारिक बैंकों का मित्र, दार्शनिक व मार्गदर्शक (friend, philosopher and guide) होता है, और व्यापारिक बैंकों को आवश्यक वित्तीय साधन** उपलब्ध कराता है। व्यापारिक बैंक उत्पादन के क्षेत्रों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते हैं और कृषि, उद्योग व व्यापार आदि को निरन्तर प्रभावित करते रहते हैं। **सफल बैंकिंग के लिए केन्द्रीय बैंक व व्यापारिक बैंकों के कार्यों में पूर्ण तालमेल स्थापित होना चाहिए।** भारतीय रिजर्व बैंक को कार्य संचालन की अधिक स्वायत्तता व स्वतंत्रता मिलनी चाहिए, तभी वह अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में अधिक सफल व सक्षम हो सकेगा। साथ में सरकार को भी अपने वित्तीय घाटे व व्यय सीमित करने चाहिए, अन्यथा रिजर्व बैंक मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने में वांछित सफलता प्राप्त नहीं कर सकेगा। सितम्बर 1994 में भारत सरकार के वित्त मंत्रालय व भारतीय रिजर्व बैंक के बीच एक महत्त्वपूर्ण समझौता हुआ था, जिसके तहत 1997-98 से तदर्थ ट्रेजरी बिलों (adhoc treasury bills) की बिक्री से केन्द्रीय सरकार के बजट घाटे की पूर्ति करने की पुरानी प्रक्रिया बन्द कर दी गयी है और इसके स्थान पर 'वेज एण्ड मीन्स एडवान्सेज' की नई व्यवस्था लागू की गयी है। इस कदम से भारतीय रिजर्व बैंक की स्वायत्तता बढ़ी है जिसकी काफी लम्बे समय से चर्चा थी, लेकिन जिसे कार्यान्वित करना कठिन हो रहा था। अब रिजर्व बैंक अपनी मौद्रिक नीति को लागू करने में अधिक कामयाब हो सकेगा।

प्रश्न

1. एक केन्द्रीय बैंक के क्या कार्य हैं? (Ajmer Iyr, 1996)
2. केन्द्रीय बैंक साख नियंत्रण के जिन उपायों को व्यवहार में काम में लेता है, उनको भारतीय रिजर्व बैंक के द्वारा अपनाये गये उपायों को ध्यान में रखते हुए स्पष्ट कीजिए।
3. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
   - (i) भारत में बैंक-दर व उसकी उपयोगिता
   - (ii) खुले बाजार की क्रियाएँ

(iii) नकद रिजर्व अनुपात (Cash Reserve Ratio)
(iv) वैधानिक तरलता अनुपात (Statutory Liquidity Ratio)
(v) गुणात्मक साख नियंत्रण के उपाय
(vi) नैतिक दबाव

4 भारतीय रिजर्व बैंक की साख नियंत्रण की नीतियों का मूल्याकन कीजिए। क्या यह कहना सही है कि यदि रिजर्व बैंक साख नियंत्रण पर ध्यान न देता तो भारत में मुद्रास्फीति अनियंत्रित हो जाती ?

5 साख नियंत्रण के मात्रात्मक व गुणात्मक उपायों में अतर करिए और उनका सापेक्ष महत्त्व बताइए।

6 भारत में बैंक दर के परिवर्तन अर्थव्यवस्था को किस प्रकार प्रभावित करते हैं ? वर्तमान में बैंक दर क्या है ? क्या आप इसे बढाने का समर्थन करेंगे ताकि मुद्रास्फीति पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण किया जा सके।

7 भारत में निम्नलिखित की वर्तमान स्थिति बताइए—
(अ) बैंक दर (Bank rate)
(ब) नकद रिजर्व अनुपात (CRR)
(स) वैधानिक तरलता अनुपात (SLR)
[(अ) 25 जून 1997 की घोषणा के अनुसार 11% से घटाकर 10% (ब) 18 जनवरी 1997 से 10% (स) 31.5% (30 सितम्बर 1994 की बकाया शुद्ध माँग व अवधि देनदारियों (NDTL) पर) लेकिन औसत प्रभावी SLR की दर मार्च 1996 के अत से 28% के स्तर पर]

8 एक केन्द्रीय बैंक के प्रमुख कार्यों का वर्णन कीजिये। (Ajmer Iyr 1993)

9 केन्द्रीय बैंक के साख नियत्रण के उपायों का विवेचन कीजिए और यह बतलाइए कि भारत में इनमें से सबसे ज्यादा कारगर उपाय कौन सा प्रमाणित हुआ है ? इसके लिए कारण भी दीजिए।



20

विनिमय दर का निर्धारण
(Determination of Exchange Rate)

इस अध्याय में हम मुद्रा के आन्तरिक मूल्य व बाह्य मूल्य का परिचय देने के बाद विनिमय दर के निर्धारण पर प्रकाश डालेंगे। आधुनिक युग में विनिमय की दर के उतार-चढ़ाव अर्थव्यवस्थाओं को काफी प्रभावित करने लगे हैं। जब रुपये की विनिमय दर सितम्बर 1995 में 34 रुपये प्रति डालर से गिरकर 6 फरवरी, 1996 को लगभग 38 रुपये प्रति डालर पर जा पहुँची थी तो भारत में विनिमय दर का प्रश्न काफी चर्चा का विषय बन गया था। भारतीय रिजर्व बैंक को विनिमय दर स्थिर करने के लिए कुछ उपायों की घोषणा करनी पड़ी थी। जिनका बाद में अनुकूल प्रभाव पड़ा था। इसलिए यहाँ प्रसंगवश भारत की वर्तमान विनिमय-दर नीति का भी सरल परिचय दिया जायगा।

मुद्रा का आन्तरिक व बाह्य मूल्य

मुद्रा के आन्तरिक मूल्य का अर्थ—मुद्रा के आन्तरिक मूल्य से तात्पर्य मुद्रा की क्रय-शक्ति से लगाया जाता है, अर्थात् मुद्रा की एक इकाई देश में कितनी मात्रा में वस्तुएं व सेवाएं खरीद सकती है। मुद्रा का आन्तरिक मूल्य सामान्य मूल्य-स्तर के विपरीत जाता है। हम पहले बतला चुके हैं कि सामान्य मूल्य स्तर के दुगुना होने पर मुद्रा का मूल्य आधा हो जाता है। यही कारण है कि भारत में 1960 की तुलना में वर्तमान में सामान्य मूल्य स्तर के लगभग16 17गुनाहो जाने पर, मुद्रा का मूल्य, अर्थात् भारतीय रुपये का मूल्य, पहले की तुलना में 1/16 रह गया है। इसी को प्राय यों भी कहा जाता है कि आज भारतीय रुपये का मूल्य 1960 की तुलना में केवल 5 8 पैसे के बराबर रह गया है। भारत में मुद्रा का मूल्य थोक मूल्य सूचकांकों व अखिल भारतीय उपभोक्ता मूल्य-सूचकांकों के आधार पर मापा जाता है। इस प्रकार मुद्रास्फीति के कारण एक देश की मुद्रा का आन्तरिक मूल्य घटता है। इससे समाज के विभिन्न वर्गों पर विभिन्न प्रकार के आर्थिक प्रभाव पड़ते हैं। सामान्यतया निर्धन वर्ग व वेतनभोगी व्यक्तियों को मुद्रास्फीति से भारी हानि होती है। इससे समाज में असमानता बढ़ती है, धनी अधिक धनी हो जाते हैं और गरीब अधिक गरीब हो जाते हैं।

मुद्रा के बाह्य-मूल्य का अर्थ—मुद्रा के बाह्य-मूल्य का अर्थ एक देश की मुद्रा का किसी दूसरे देश की मुद्रा से होने वाली विनिमय-दर (exchange rate) से लगाया जाता है। जैसे यदि 35 रुपये = 1 डालर है, तो 1 रुपये की विनिमय दर 1/35 डालर = 2.8 सेंट (चूंकि एक डालर = 100 सेंट होता है) होगी। इसी प्रकार भारतीय रुपये का मूल्य ब्रिटिश पौंड स्टर्लिंग में, अथवा किसी अन्य देश की मुद्रा में देखा जा सकता है, जिसे विनिमय की दर के आधार पर मापा जाता है।

एक देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य भी घटता बढता रहता है। किसी भी देश की मुद्रा की विनिमय दर के परिवर्तन या तो विदेशी विनिमय बाजार में उस मुद्रा की माँग व पूर्ति के परिवर्तनों से प्रभावित होते हैं अथवा विशेष परिस्थितियों में एक देश की सरकार अपनी मुद्रा की विनिमय दर अन्य देशों की मुद्राओं में गिरा सकती है जिसे उस मुद्रा का अवमूल्यन (devaluation) करना कहा जाता है। भारत ने जुलाई 1991 के प्रारम्भ में दो चरणों में रुपये का लगभग 20% अवमूल्यन घोषित किया था, ताकि निर्यात बढाये जा सकें और *आयात नियन्त्रित किये जा सकें और फलस्वरूप व्यापार का घाटा कम किया जा सके।* अवमूल्यन से पूर्व लगभग 21 रुपये का एक डालर था, जबकि अवमूल्यन के बाद लगभग 26 रुपये का एक डालर हो गया। अत मुद्रा के बाह्य मूल्य का अर्थ एक देश की मुद्रा की अन्य मुद्राओं में विनिमय दर (exchange rate) से लगाया जाता है। एक देश की मुद्रा की विनिमय दर के परिवर्तनों के विदेशी व्यापार, पूँजी के आवागमन, कर्ज की राशि आदि पर व्यापक रूप से प्रभाव पडते हैं। इसलिए मुद्रा के बाह्य मूल्य अथवा विनिमय दर का काफी महत्त्व होता है।

अब हम यह देखेंगे कि एक देश की मुद्रा की विनिमय दर कैसे निर्धारित होती है?

विनिमय की दर का निर्धारण

जिस प्रकार एक वस्तु की कीमत बाजार में उसकी माँग व पूर्ति की शक्तियों के सतुलन से तय होती है, उसी प्रकार **विदेशी विनिमय बाजार (foreign exchange market) मे एक देश की मुद्रा की विनिमय-दर उसकी माँग व पूर्ति की शक्तियो के सघर्ष से निर्धारित होती है।** सतुलन की स्थिति में, मुद्रा की वह विनिमय दर तय होती है जिस पर विदेशी विनिमय बाजार में उस मुद्रा की कुल पूर्ति उसकी कुल माँग के बराबर होती है। यदि किन्हीं कारणों से उस मुद्रा की माँग उसकी कुल पूर्ति की तुलना में अधिक हो जाती है तो उसकी विनिमय दर में बढने की प्रवृत्ति लागू हो जायेगी, और यदि उसकी पूर्ति उसकी माँग से अधिक हो जाती है तो उसकी विनिमय दर में घटने की प्रवृत्ति लागू हो जायेगी।

हम यहाँ भारत और अमेरिका दो देश ले लेते हैं और इनकी मुद्राओं भारतीय रुपया व अमरीकी डालर की विनिमय दर पर विचार करते हैं। स्वाभाविक है कि प्रत्येक देश की फर्म अपने माल का भुगतान अपनी मुद्रा में लेना चाहेगी। मान लीजिए भारत अमेरिका से 100 करोड रुपये का कोई भी साज सामान मँगाना चाहता है तो अमरीकी फर्मों को भुगतान डालर में करने के लिए भारत के विदेशी विनिमय बाजार में डालर की माँग उत्पन्न हो जायेगी। इसी प्रकार जब भारत से अमेरिका को 100 करोड रुपये के माल का निर्यात किया जाता है तो भारत के विदेशी विनिमय बाजार में डालर की पूर्ति बढ जायगी। इस प्रकार एक समय में भारत के विदेशी विनिमय बाजार में डालर की माँग व इसकी पूर्ति के सबध में एक विशेष स्थिति पायी जायेगी, जो रुपये व डालर के बीच विनिमय की दर को प्रभावित करेगी।

इसी प्रकार रुपये की विनिमय दर ब्रिटेन के पौंड स्टर्लिंग जर्मनी के डोयच मार्क (Deutche Mark), फ्रास के फ्रैंक व अन्य देशों की मुद्राओं में माँग और पूर्ति के आधार पर निर्धारित होती है।

दिसम्बर 1996 को प्रति इकाई विदेशी मुद्रा की
विनिमय दर रुपयो मे इस प्रकार रही [1]

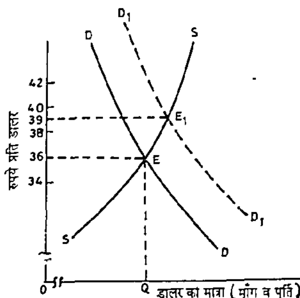
महीना	अमरीकी डालर	पौंड स्टर्लिंग	डोयच मार्क	फ्रास का फ्रैंक
दिसम्बर 1996	35 84	59 67	23 10	6 84

इस प्रकार दिसम्बर 1996 में एक पौंड स्टर्लिंग का भाव रुपयों में लगभग 59 67 रुपये रहा जो डालर, मार्क व फ्रैंक की तुलना में काफी अधिक था। दि.1995 में प्रति डालर 34 96 रु रहा था।

स्मरण रहे कि जब विदेशी विनिमय बाजार में माँग व पूर्ति की शक्तियों के प्रभाव से विनिमय की दर घटती है तो उसे मूल्य ह्रास (depreciation) कहा जाता है। लेकिन जब सरकार स्वय अपनी मुद्रा की विनिमय दर घटाने की घोषणा करती है तो उसे अवमूल्यन (devaluation) कहा जाता है, जैसा कि जुलाई 1991 में दो बार में रुपये की विनिमय-दर अन्य मुद्राओं में 18-20 प्रतिशत घटायी गयी थी।

अब हम एक प्रतिस्पर्धात्मक बाजार (competitive market) में विनिमय दर के निर्धारण का विवेचन करते हैं। एक देश के विदेशी विनिमय बाजार में व्यक्ति, फर्में व सरकारें विदेशी मुद्रा की माँग करती हैं, और ये ही विदेशी मुद्रा की पूर्ति भी करती हैं। इसलिए विदेशी विनिमय बाजार में व्यक्ति, फर्में व सरकारें सभी भाग लेते हैं।

प्रतिस्पर्धात्मक दशाओं में विनिमय की दर का निर्धारण एक अत्यन्त सरल प्रक्रिया होती है जिसे आसानी से समझा जा सकता है



चित्र 1 : प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति में विनिमय की दर का निर्धारण

1 Economic Survey 1996-97, p S-78

स्पष्टीकरण—उपर्युक्त चित्र में DD वक्र डालर की (रुपयों में विभिन्न दरों पर) माँग का सूचक है, तथा SS वक्र डालर की पूर्ति का सूचक है। ऐसी स्थिति में E बिन्दु पर सतुलन होगा, और विनिमय की दर 36 रुपये प्रति डालर निर्धारित होगी, जिस पर डालर की माँग व उसकी पूर्ति OQ के बराबर होगी। अब मान लीजिए विनिमय की दर 38 रुपये प्रति डालर हो जाती है तो उस पर डालर की पूर्ति इसकी माँग से अधिक होगी, जिससे विनिमय की दर में घटने की प्रवृत्ति लागू होगी, और पुन सतुलन में विनिमय की दर 36 रुपये प्रति डालर निर्धारित होगी। यदि विनिमय की दर 34 रुपये प्रति डालर होती तो इस पर डालर की माँग इसकी पूर्ति से अधिक होती, जिससे इसमें बढ़ने की प्रवृत्ति लागू होती और पुन सतुलन में विनिमय की दर 36 रुपये प्रति डालर ही ठहरती।

अब कल्पना कीजिए कि डालर का माँग-वक्र ही दायीं तरफ खिसक जाता है, जैसे यह D_1D_1 हो जाता है, तो पूर्ति-वक्र के समान रहते हुए विनिमय-दर 36 रु प्रति डालर से अधिक निर्धारित होगी, जैसे E_1 पर, जो लगभग 39 रु. प्रति डालर है। सतुलन की स्थिति में विदेशी विनिमय बाजार में विनिमय की दर माँग व पूर्ति की मात्राओं को बराबर कर देती है।

उपर्युक्त दृष्टान्त में यदि डालर के माँग-वक्र के दायीं तरफ खिसकने से विनिमय-दर 39 रुपये प्रति डालर हो जाती है तो रुपये का मूल्य-ह्रास (depreciation of rupee) माना जायगा और डालर की मूल्य वृद्धि (appreciation of dollar) माना जायगा। इस प्रकार जहाँ एक मुद्रा का मूल्य गिरता है वहा साथ में दूसरी मुद्रा का मूल्य बढता है। अब प्रश्न उठता है कि विनिमय की दरों में परिवर्तन किन कारणों से उत्पन्न होते हैं? इसका सरल उत्तर यही होगा जो तत्व विदेशी विनिमय बाजार में माँग व पूर्ति में परिवर्तन उत्पन्न करते हैं वे ही विनिमय की दरों में परिवर्तन लाते हैं।

विनिमय की दरों में प्रमुखतया निम्न कारकों या घटकों का प्रभाव पड़ता है—

(1) दो देशों के बीच मुद्रास्फीति की दरों में अतर,

(2) निर्यातों व आयातों की माँग की लोचें,

(3) पूँजी की गतिशीलताएँ (Capital movements)

(4) एक देश में होने वाले सरचनात्मक परिवर्तन(structural changes)

नीचे इनमें से प्रत्येक घटक का विवेचन मुख्यतया भारत-अमेरिका के सदर्भ में ही किया गया है।

(1) दो देशों में मुद्रास्फीति की दरों में अंतर (differential inflation rates between two countries)—यदि भारत व अमरीका दोनों देशों में मूल्य स्थिरता बनी रहती है, अथवा दोनों देशों में मुद्रास्फीति की दर, मान लीजिए 10% समान बनी रहती है, तो अन्य बातों के समान रहने पर सम्भवत विनिमय की दर में कोई परिवर्तन नहीं आयेगा। लेकिन कल्पना कीजिए कि भारत में मुद्रास्फीति की वार्षिक दर 10% होती है और अमेरिका में यह 5% रहती है, तो विनिमय की दर पर क्या प्रभाव आ सकता है? इससे भारतीय माल अधिक महगा हो जायगा जिससे भारत के निर्यातों पर विपरीत प्रभाव पड सकता है। अमरीकी माल के अपेक्षाकृत सस्ता होने से भारत में अमेरिका से आयात बढ सकते हैं। अत इन दोनों प्रवृत्तियों के फलस्वरूप भारत के विदेशी विनिमय बाजार में डालर की माँग बढेगी और डालर की पूर्ति घटेगी। इससे रुपये का डालर में मूल्य घटेगा अथवा डालर का रुपये में मूल्य बढेगा।

(2) **निर्यातों व आयातों की माँग की लोचें**—मान लीजिए, भारत में अमेरिका से किये गये आयातों की माँग बेलोच (inelastic) है, तो अमरीकी माल के महगा होने पर भी हम उसका आयात बहुत कम नहीं कर पायेंगे। इससे भारत में डालर की माँग बढेगी जिससे रुपये का डालर में मूल्य ह्रास(depreciation) होगा, अथवा डालर का मूल्य रुपयों में बढेगा।

इसी प्रकार यदि अमरीका में भारतीय माल की माँग बेलोच पायी जाती है तो हमारे माल के मूल्य के बढने पर भी उनकी माँग बहुत कम नही होगी, जिससे भारत के लिए डालर की पूर्ति बढेगी और डालर का रुपयों में मूल्य घटेगा अथवा रुपये का डालर में मूल्य बढेगा।

इसी प्रकार भारत में अमरीकी माल की माँग क लोचदार पाये जाने पर रुपये का डालर में मूल्य बढ सकता है, और अमेरिका में भारतीय माल की माँग के लोचदार पाये जाने पर डालर का रुपयों में मूल्य बढ सकता है। अत एक देश के निर्यातों व आयातों की माँग की सापेक्ष लोचें विनिमय की दर को प्रभावित करती हैं।

(3) **पूँजी की गतिशीलताएँ (Capital movements)**—आजकल पूँजी की अल्पकालीन व दीर्घकालीन गतिशीलताओं का भी महत्त्व काफी बढ गया है। यदि भारत की तुलना में अमेरिका में ब्याज की दर ऊची होती है, अथवा भारत में विनिमय की दर के गिरने की सम्भावना होती है, तो भारत से पूँजी का बाह्य प्रवाह अमेरिका की तरफ होने लगेगा, जिससे डालर की माँग बढेगी और फलस्वरूप रुपये का डालर में मूल्य ह्रास होगा, अर्थात् एक डालर के बदले में अधिक रुपये देने होंगे।

इसी प्रकार यदि अमेरिका की तरफ पूँजी की दीर्घकालीन गतिशीलता होती है (ऊचे मुनाफों की आशा में वहाँ पूँजी लगायी जाती है) तो भी डालर की विनिमय दर इसकी माँग के बढने के कारण बढेगी।

(4) एक देश में होने वाले सरचनात्मक परिवर्तन (structural changes)—आजकल विभिन्न देशों में कई कारणों से माँग की दशाओं, उत्पादन की दशाओं तथा लागत की दशाओं, आदि में परिवर्तन होते रहते हैं। इनका भी विनिमय की दर पर प्रभाव पडता है। मान लीजिए भारत में लोगों की माँग की दशाएँ बदल जाती हैं, और वे अमेरिका में बनी वस्तुओं का आयात करना ज्यादा पसद करने लगते हैं। इससे भारत में अमेरिका से किये जाने वाले आयात बढेंगे जिससे यहाँ डालर की माँग बढेगी, और रुपये का डालर में मूल्य ह्रास होगा। इसी प्रकार लागतों के परिवर्तन एक देश में मूल्यों को प्रभावित करते हैं, और उससे विदेशी विनिमय की दरों में परिवर्तन उत्पन्न होते हैं। उत्पादन की मात्रा व लागत की दशाओं में परिवर्तन तुलनात्मक लाभ की दशाओं को बदल देते हैं, जिससे विदेशी व्यापार में परिवर्तन होने लगते हैं, और फलस्वरूप विनिमय की दरें भी प्रभावित होती हैं। नई वस्तुओं के आविष्कार से भी विदेशी व्यापार प्रभावित होता है जिससे अत में विनिमय की दर भी परिवर्तित हो जाती है।

इस प्रकार विनिमय की दर पर विदेशी विनिमय बाजारों में मुद्रा की माँग व पूर्ति का निरतर प्रभाव पडता रहता है। विभिन्न देशों में मुद्रास्फीति की वार्षिक दरों के परिवर्तन विदेशी व्यापार को प्रभावित करते रहते हैं। विकसित देशों की सरक्षणात्मक नीतियों के कारण वे विकासशील देशों से किये जाने वाले आयातों पर प्रतिबध लगा देते हैं जिससे

उनके माल की माँग कम हो जाती है। इससे विकासशील देशों को अपना व्यापार का घाटा कम करने में कठिनाई हो जाती है। अत विदेशी विनिमय दर को प्रभावित करने वाले कई तत्त्व होते हैं। आजकल मुद्राओं की विनिमय दरों (exchange rates) पर मुद्रास्फीति की दशाओं, पूँजी की गतिशीलताओं व अर्द्धव्यवस्था के सरचनात्मक परिवर्तनों का प्रभाव बहुत प्रबल हो गया है। विदेशी कर्जों का भार बढ जाने से विदेशी विनिमय के रिजर्व कोषों पर विपरीत प्रभाव पडता है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व बैंक आदि से कर्ज लेने की आवश्यकता बढ गयी है। आगामी वर्षों में विकासशील देशों को अपनी मुद्राओं की विनिमय दरों को मूल्य ह्रास से बचाने के लिए भारी प्रयास करने होंगे।

विनिमय दरों के प्राय दो रूप बतलाये जाते हैं

(1) स्थिर विनिमय की दरें (Fixed Exchange Rates)—

इस व्यवस्था में विनिमय की दरें स्थिर होती हैं जैसे स्वर्णमान के अतर्गत होती थीं, और बाद में ब्रेटन वुड्स (Bretton Woods) प्रणाली के अतर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा 1944 में अपनायी गयी थी और यह 1971 तक प्रचलन में रही थी।

(2) लचीली विनिमय दरें (Flexible Exchange Rates)—

इसे तैरती विनिमय दर (floating exchange rate) भी कहा जाता है। इसके दो रूप देखने में आये हैं—**(अ) पूर्णतया लचीली या तैरती विनिमय दर-प्रणाली(free or full floating exchange rate system):**—जिसके अतर्गत विनिमय की दर विदेशी मुद्रा की माँग व पूर्ति से निर्धारित होती है, और इसमें सरकार का कोई हस्तक्षेप नहीं होता (no state intervention)*। **(आ) प्रबंधित लचीली या तैरती विनिमय दर प्रणाली (managed floating exchange rate system)**—इसमें विनिमय की दर में सरकार का सामान्यतया हस्तक्षेप पाया जाता है। विनिमय की दर में सरकार का हस्तक्षेप इसलिए आवश्यक हो जाता है कि कई बार सरकार यह महसूस करती है कि विदेशी विनिमय दर सही नही है। जैसे मान लीजिए, भारत सरकार यह मानती है कि किसी समय रुपये की विनिमय दर डालर में नीची है, तो वह विदेशी विनिमय बाजार में प्रवेश करके रुपयों के बदले डालर बेचने लग जाती है। इससे रुपये का मूल्य ऊचा हो जाता है। इस प्रकार विशेष परिस्थितियों में सरकार के हस्तक्षेप से ही एक देश की मुद्रा की विनिमय दर वाछनीय स्तर पर कायम रखी जा सकती है।

अब हम स्थिर विनिमय दर व लचीली विनिमय दर प्रणालियों का विस्तृत विवेचन करते हैं जिससे इनके गुणों व अवगुणों की जानकारी हो सकेगी।

(1) स्थिर विनिमय-दर(Fixed Exchange Rate system)—

(अ) स्वर्णमान के अंतर्गत (Under the gold standard)—

इस प्रणाली के अन्तर्गत (जो अपने शुद्ध रूप में 1880 1913 की अवधि में प्रचलित थी) विभिन्न स्वर्णमान पर आधारित देश अपनी मुद्राओं के मूल्य स्वर्ण की निश्चित मात्रा में

---

* *आजकल भारत में सिद्धान्तत यही पद्धति प्रचलित है। लेकिन जब सरकार यह समझती है कि रुपये की विनिमय दर अवांछित रूप से गिर रही है तो वह उसे स्थिर करने के लिए हस्तक्षेप भी कर सकती है जैसा कि सितम्बर 1995 के बाद रुपये की डालर में विनिमय दर को स्थिर करने के लिए करना पड़ा था। अत इसमें कुछ सीमा तक प्रबंधित विनिमय दर प्रणाली का गुण भी देखने को मिलता है।*

निर्धारित किया करते थे। मान लीजिए ब्रिटेन के पौंड स्टर्लिंग में अमेरिका के डालर की तुलना में पाँच गुना सोना होता तो 5 डालर = 1 पौंड विनिमय की दर मानी जाती।

इस व्यवस्था में सोने के सिक्के प्रचलन में होते थे, और विनिमय की दरें सिक्कों में सोने की मात्राओं के आधार पर निर्धारित होती थीं। सिक्के आवश्यकतानुसार गलाये जा सकते थे।

स्वर्णमान में विदेशी भुगतान की प्रक्रिया—यदि एक देश को किसी दूसरे देश को अपने यहाँ भुगतान सतुलन के विपरीत होने के कारण अतिरिक्त सोने में भुगतान करना पडता तो सोना भेजने के कारण प्रथम देश में मुद्रा की पूर्ति घटती, जिससे वहाँ कीमतें घटतीं और इसके निर्यात बढने लगते व आयात घटने लगते। सोना पाने वाले देश में अतिरिक्त सोना आने से मुद्रा की पूर्ति बढती, जिससे वहाँ कीमतें बढतीं, और उसके निर्यात घटने लगते व आयात बढने लगते। इस प्रकार अत में प्रथम श्रेणी के देश को अपना खोया हुआ सोना वापस प्राप्त हो जाता और बिना प्रशुल्कों, अथवा सरकारी हस्तक्षेप, के स्थिर सतुलन स्थापित हो जाता था। अत स्वर्णमान के अतर्गत स्थिर विनिमय दरों के माध्यम से भुगतान असतुलन में स्वत सुधार की प्रक्रिया लागू हो जाती थी।

स्वर्णमान की विनिमय की दर टकसाली दर (mint par) कहलाती थी। इसमें ज्यादा से ज्यादा विनिमय की दर में अतर स्वर्ण को बाहर भेजने में लगे जहाजरानी व बीमा व्यय के बराबर आ सकता था। लेकिन इसके अतर्गत विनिमय की दर दोनों मुद्राओं के स्वर्ण-तत्व से ही निर्धारित होती थी।

(आ) ब्रेटन वूड्स के अतर्गत स्थिर विनिमय-दर प्रणाली

1930 के दशक की आर्थिक मदी व सकट ने 1940 के दशक में एक नई विनिमय दर प्रणाली को जन्म दिया। लॉर्ड केन्स व एच डी व्हाइट के सुझावों के आधार पर 1944 में ब्रेटन वूड्स न्यू हेम्पशायर में एक सम्मेलन हुआ जिसमें अमेरिका, ब्रिटेन व बडे मित्र राष्ट्रों ने भाग लिया और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) व विश्व बैंक की स्थापना की।

उसी सम्मेलन में विनिमय की दरों को व्यवस्थित करने के लिए ब्रेटन वूड्स प्रणाली अपनायी गयी। इसके अनुसार स्वर्णमान को तो छोड दिया गया, लेकिन इसके स्थान पर प्रत्येक देश की मुद्रा का मूल्य अमरीकी डालर तथा सोने (दोनों में) निर्धारित किया गया। प्रधान या रिजर्व करेंसी (key or reserve currency) के रूप में अमरीकी डालर का मूल्य केवल सोने से जोड दिया गया, जो शुरू में प्रति औंस सोना = 35 डालर रखा गया।

सभी मुद्राओं के भाव स्वर्ण में निर्धारित होने के कारण उनमें आपसी विनिमय दर का निर्धारण आसान हो गया था। जैसे एक औंस सोना = 12.5 पौंड स्टर्लिंग और एक औंस सोना = 35 डालर, तो 12.5 पौंड स्टर्लिंग = 35 डालर हो गया, अर्थात् एक पौंड स्टर्लिंग = 35/12.5 = 2.8 डालर हो गया। **इस प्रकार इस प्रणाली में अन्तर्राष्ट्रीय समझौते से विनिमय-दरें स्थिर की गयी थी।**

इस प्रणाली की मुख्य विशेषता—हालाकि इस प्रणाली में दो देशों के बीच विनिमय की दर स्थिर कर दी गई थी, लेकिन किसी देश के भुगतान खाते में लगातार व आधारभूत असतुलन पाये जाने की स्थिति में इसे परिवर्तित भी किया जा सकता था। इसलिए इसे **"स्थिर लेकिन समायोजनशील विनिमय-दर प्रणाली" (fixed but adjustable**

exchange rate system or adjustable peg system) कहा गया था। इसका मुख्य गुण यह था कि इसमें स्वर्णमान की स्थिरता की विशेषता कायम रही, लेकिन दो देशो के बीच सापेक्ष मूल्यों में लगातार अंतर पाये जाने पर इसमे आवश्यक परिवर्तन की गुञ्जाइश छोड़ी गयी थी। इससे यह परिस्थितियों के अनुसार ढाली जाने लायक बन गयी। स्वर्णमान मे समायोजन बड़ा कष्टदायक होता था। स्वर्ण बाहर भेजने वाले देश मे आर्थिक सकुचन व मंदी तथा बेरोजगारी की दशा उत्पन्न हो जाती थी। लेकिन कुल मिलाकर IMF की यह व्यवस्था अधिक अनुकूल व अधिक व्यावहारिक सिद्ध हुई।

ब्रेटन वूड्स या IMF की स्थिर, लेकिन समायोजनशील, विनिमय-दर व्यवस्था के लाभ—

(1) इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार में मदद मिली क्योंकि विनिमय दर में स्थिरता का गुण कायम रहा। विश्व अर्थव्यवस्था विकसित हुई। व्यापार के प्रतिबंध कम किये गये।

(2) विनिमय दरों में अवांछित उतार चढाव नहीं आने से अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पूँजी की गतिशीलता व विनियोगों पर अनुकूल प्रभाव पड़ा।

(3) किसी देश के समक्ष गम्भीर भुगतान सकट की स्थिति में विनिमय की दर मे परिवर्तन की सुविधा दी गई थी, जिससे यह काफी अनुकूल व लाभकारी सिद्ध हुई। कुछ देशों ने अपनी मुद्रा का पुनर्मूल्यांकन या अतिमूल्यन (revaluation) अथवा अवमूल्यन (devaluation) भी किया था।

(4) IMF भुगतान-असंतुलन की स्थिति में सहायता देकर सम्बन्धित देश को सकट से निकालने में मदद देता रहा। यह मदद उस समय तक जारी रहती जब तक कि वह देश अपना भुगतान असतुलन ठीक न कर लेता। इससे बीमार व रुग्ण अर्थव्यवस्थाओं को स्वस्थ होने में मदद मिलती जिससे अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अर्थव्यवस्थाओं को सुदृढ होने का सुनहरा अवसर मिला।

(5) यह स्वर्णमान के दोषों से मुक्त थी, क्योंकि इसमें मंदी व बेरोजगारी के कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं थी।

अगस्त 1971 में ब्रेटन वूड्स प्रणाली का अंत

द्वितीय महायुद्ध के बाद लगभग तीन दशकों तक विश्व में ब्रेटन वूड्स प्रणाली का एक छत्र राज रहा। एक तरह से सभी देश डालर मान को अपनाये रहे। अमरीकी डालर प्रमुख या रिजर्व करेंसी रही और भुगतान ज्यादातर अमरीकी डालर में किये जाते रहे। लेकिन 1945-1970 की अवधि में विश्व के देशों में डालर की राशियाँ इतनी बढ गई थीं कि लोगों का डालर से विश्वास लडखडाने लगा। अमेरिका में व्यापार घाटे के कारण समस्या जटिल हो गई। अगस्त 1971 में राष्ट्रपति निक्सन ने डालर का स्वर्ण से सबंध समाप्त कर दिया और तब से ब्रेटन वूड्स की व्यवस्था का अंत हो गया।

अमेरिका ने डालर की अन्य मुद्राओं व स्वर्ण में परिवर्तनीयता बद कर दी जिससे विश्व ब्रेटन वूडस प्रणाली का त्याग करके एक आधुनिक व बेहतर विनिमय दर प्रणाली की ओर अग्रसर हुआ। इसे प्रबंधित लचीली या तैरती विनिमय दर प्रणाली (managed floating exchange rate system) कहा गया है। इसे सक्षेप में अंग्रेजी में managed float भी कहते हैं।

प्रबंधित लचीली विनिमय-दर प्रणाली का स्वरूप

IMF की स्थिर विनिमय दर प्रणाली के टूटने के बाद विश्व के विभिन्न देशों में कोई एक-सी नई प्रणाली नही अपनायी जा सकी। अलग अलग देशों में अनियोजित तरीके से विनिमय दरों के सम्बन्ध में कई प्रकार के प्रयोग सामने आये, जिन्हें एक मिश्रित किस्म की *प्रबंधित लचीली विनिमय दर प्रणाली का नाम दिया गया। इसका स्वरूप निम्नलिखित पाया गया—*

(i) पूर्ण लचीली—कुछ देशों ने स्वतंत्र या पूर्ण लचीली **(freely or fully floating)** व्यवस्था अपनायी जिसके अतर्गत करेन्सी का मूल्य बाजार के द्वारा ही निर्धारित किया जाता था। अमेरिका ने पिछले दो दशकों मे कुछ अवधियों के लिए इस पद्धति को अपनाया। मार्च 1993 से भारत पहले वाली दोहरी विनिमय दर प्रणाली से एक बाजार निर्धारित विनिमय दर प्रणाली की ओर अग्रसर हो गया। अब विनिमय की दर विदेशी विनिमय बाजार में माँग व पूर्ति की दशाओ से निर्धारित होती है, लेकिन भारतीय रिजर्व बैंक बाजार को अत्यधिक सट्टेबाजी से बचाने के लिए तथा उचित बाजार-दशाएँ बनाये रखने के लिए हस्तक्षेप करने को तत्पर रहता है।[1]

(ii) प्रबंधित लचीली—कुछ बडे देशों ने प्रबंधित लेकिन लचीली विनिमय दरें अपनायी हैं। इसमें अमेरिका व जापान का नाम लिया जा सकता है। इसके अतर्गत सरकार समय समय पर विनिमय-दर को बदलने के लिए विदेशी विनिमय बाजार में हस्तक्षेप करती है और विनिमय दर को अपनी इच्छानुसार बदलती है।

(iii) सीमाओ मे लचीली—कुछ देशों ने लचीली दरें कुछ सीमाओं सहित **(flexible rates with target zones)** *निर्धारित कर दीं, और विनिमय की दरें उन सीमाओं के भीतर* ही रह सकती थीं। सरकारें आवश्यकता पडने पर विनिमय दरों को उन सीमाओं में रखने के लिए हस्तक्षेप भी करती रही हैं।

(iv) दूसरी करेंसी से जोड़ना—कई छोटे देशों ने अपनी मुद्राओं को किसी बड़े देश की करेंसी अथवा कुछ देशो की करेंसी के टोकरे (basket) से जोड़ लिया और विनिमय दरों को कुछ निर्धारित सीमाओं में गतिशील बनाये रखने का निर्णय किया।

(v) करेंसी ब्लाक बनाना—कुछ देशों ने मिलकर अपने करेंसी ब्लाक या समूह बना लिये ताकि इन समूहों के अदर तो विनिमय की दरें स्थिर रखी जा सकें, लेकिन इनके बाहर शेष ससार के साथ इनकी विनिमय-दरें लचीली रहें, अर्थात् आवश्यकतानुसार सीमाओं के अदर घट-बढ सकें। इन ब्लाकों में योरोपीय मौद्रिक व्यवस्था (European Monetary System) (EMS) का नाम उल्लेखनीय है, जो 1978 में प्रमुखतया जर्मनी, फ्रास व इटली के द्वारा स्वीकार की गई थी। यूरोप के 1992 में आर्थिक एकीकरण की तरफ बढने से एक कॉमन करेंसी क्षेत्र और एक योरोपीय करेंसी के जारी करने की योजना को बल मिला है, जिसके पूर्ण रूप से लागू हो जाने पर स्थिति काफी बदल जायेगी।

इस प्रकार प्रबंधित लचीली विनिमय दर प्रणाली कई प्रकार की विनिमय दर प्रणालियों का सगम होती है।

अब प्रश्न उठता है कि इस व्यवस्था में विनिमय दर को वास्तव में कौन सा तत्व निर्धारित करता है?

1 Economic Survey 1995 96, p 103

इसका उत्तर है कि प्रबंधित लचीली विनिमय दर के निर्धारण में प्रमुख भूमिका क्रय शक्ति समता मूल्यों (*Purchasing power parity or PPP values*) की होती है। इसका विवेचन नीचे किया जाता है।

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त (PPP theory)

इस सिद्धान्त का श्रीगणेश स्वीडन के अर्थशास्त्री गस्टव कैसल (Gustav Cassel) ने स्वतंत्र पत्र मुद्रा की पद्धति में विनिमय दर के निर्धारण के लिए सुझाया था। इसके अनुसार दो देशों के बीच उनकी मुद्राओं की विनिमय दर उनकी क्रय शक्ति की समता के आधार पर निर्धारित होती है। मान लीजिए, अमेरिका में 10 डालर का एक क्विंटल गेहूँ आता है और भारत में 300 रुपये का एक क्विंटल गेहूँ आता है। गेहूँ का दोनों देशों के बीच व्यापार किया जाता है। ऐसी स्थिति, इस सिद्धान्त के सरलतम रूप में

300 रु = $ 10

30 रु = $ 1, अर्थात् 30 रु = 1 डालर विनिमय की दर इन देशों के बीच क्रय शक्ति की समता को सूचित करेगी। कुछ लेखक इस बात में आपत्ति उठाते हैं कि एक वस्तु को लेकर, क्रय शक्ति की समता स्थापित करना सही नहीं है। उनका कहना है कि सही तुलना करने के लिए कई वस्तुओं व सेवाओं की कीमतों पर विचार किया जाना चाहिए। इसका अर्थ है कि कीमत सूचकांकों के आधार पर विनिमय की दर निर्धारित होनी चाहिए।

मान लीजिए मार्च 1993 में रुपये की डालर में विनिमय दर 31 रु = 1 डालर रहती है और मार्च 1996 में भारत में कीमत सूचकांक (1990 = 100 मानने पर) 150 और अमेरिका में 125 हो जाता है, तो नई विनिमय की दर इस प्रकार निर्धारित होगी—

मार्च 1996 में रुपये की डालर में विनिमय दर

$$= \frac{31 \times 150}{125} = 37.2 \text{ रुपये प्रति डालर}$$

$$\text{अथवा 1 रुपया} = \frac{1}{37.2} \text{ डालर} = \frac{100}{37.2} \text{ सेंट} = 2.7 \text{ सेंट होगी}$$

इस प्रकार कीमत-स्तर के परिवर्तन से क्रय-शक्ति बदलती है और उसके साथ विनिमय की दर बदलती है। इससे दोनों देशों की मुद्रास्फीति की दरों के परिवर्तनों का प्रभाव विनिमय की दर के परिवर्तन में प्रगट हो जाता है। मान लीजिए, दो अवधियों के बीच दोनों देशों में मूल्य स्थिरता पायी जाती है, अथवा मूल्य सूचकांक समान मात्रा में घटते-बढ़ते हैं (जैसे दोनों देशों में कीमत स्तर 50% बढ़ता है, अथवा 50% घटता है) तो विनिमय की दर नहीं बदलेगी।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार दीर्घकाल में वास्तविक विनिमय-दरें PPP मूल्यों के बराबर होने की तरफ प्रवृत्ति दर्शाती है, हालांकि अल्पकाल से मध्यम काल में ये PPP से भिन्न हो सकती है।[1]

---

1 PPP governs exchange rate behaviour in the long term buy there often are significant deviations from PPP in the short to medium term. Lipsey & Chrystal, **An Introduction to Positive Economics, Eighth edition, 1995, p-732.**

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त की आलोचनाएँ

यद्यपि क्रय शक्ति समता सिद्धान्त की यह बात मूलत सही है कि दो देशों के बीच विनिमय दर पर उनमें पाये जाने वाले कीमत स्तरों का गहरा प्रभाव पडता है, फिर भी इस सिद्धान्त में निम्न कमियाँ बतलायी गयी हैं—

(1) **क्रय शक्ति व विनिमय-दर मे सीधा सम्बन्ध नही होता**—विनिमय की दर पर आयात करों की दरों, सट्टेबाजी व पूँजी की गतिशीलता आदि का भी गहरा असर पडता है जो इस सिद्धात में शामिल नहीं किया गया है।

(2) **सूचकाकों के निर्माण में कई प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं।** कीमत-सूचकाकों के निर्माण में घरेलू व्यापार की वस्तुओं व अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रवेश करने वाली वस्तुओं में भेद नहीं किया जाता। प्राय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं की कीमतों में समानता स्थापित होने की स्वत प्रवृत्ति पायी जाती है, लेकिन घरेलू व्यापार की वस्तुओं में ऐसा नहीं होता। इसके अलावा दो देशों के मूल्य सूचकाकों में प्राय वस्तुएँ संख्या व क्वालिटी में एक-सी नहीं होतीं। सूचकाक बनाने की विधियों में अंतर हो सकता है। इस प्रकार सूचकाकों को क्रय शक्ति का पूर्णतया सही आधार नहीं माना जा सकता।

(3) **कई बार विनिमय की दर का परिवर्तन स्वयं कीमत-स्तर को बदल देता है जो इस सिद्धान्त में नहीं स्वीकार किया गया है।** यह सिद्धान्त कीमत स्तर के परिवर्तन का प्रभाव तो विनिमय की दर पर मानता है, लेकिन विनिमय की दर के परिवर्तन का प्रभाव कीमत स्तर पर नहीं मानता। व्यवहार में हम जानते हैं कि एक देश की मुद्रा के अवमूल्यन से आयात महँगे होते हैं जिससे देश में कुछ सीमा तक कीमतों में बढने की प्रवृत्ति लागू हो जाती है। अत यह सिद्धान्त विनिमय की दर को कीमत परिवर्तन के केवल परिणाम के रूप में देखता है, जबकि यह कभी कभी कीमत परिवर्तन का कारण भी बन सकता है।

(4) **विनिमय की दर कई तत्त्वो से प्रभावित होती है**—विनिमय की दर पर कीमत स्तरों के अलावा कई अन्य तत्त्वों का प्रभाव भी पडता है, जैसे विभिन्न देशों के बीच पूँजी की अचानक होने वाली गतिशीलताए। यदि भारत से पूँजी विदेशों की ओर जाने लगती है तो रुपये का मूल्य ह्रास होने की प्रवृत्ति होगी, क्योंकि भारत में विदेशी मुद्रा की माँग बढ जायेगी। अत भय, आशका व ऊचे लाभों की तलाश से जब हॉट मुद्रा (hot money) दूसरे देशों की ओर चलायमान होती है तो विनिमय की दर घटती है। आयात कर ऊचे होने व सरकार द्वारा आयातों को सीमित करने के कारण एक देश में विदेशी करेंसी की माँग घट जाती है जिससे आयातक देश की करेंसी की विनिमय दर में बढने की प्रवृत्ति होती है और विदेशी करेंसी के मूल्य में घटने की प्रवृत्ति होती है। अत सरकारी प्रतिबंधों, सरकार की आयात निर्यात नीति पूँजी की गतिशीलताओं, आदि तत्त्वों का विनिमय दरों पर गहरा प्रभाव पडता है।

इन कमियों के बावजूद *PPP* सिद्धान्त मूलरूप में सही है, क्योंकि दीर्घकाल में विनिमय दर पर दो देशों के बीच पायी जाने वाली मुद्रास्फीति की दरों का प्रभाव अवश्य पडता है, और वह प्रभाव बडा कारगर व प्रबल होता है।

प्रबंधित लचीली विनिमय-दर व्यवस्था के अनुभव व कठिनाइयाँ

सत्तर व अस्सी के दशकों में विश्व के विभिन्न देशों ने प्रबंधित लचीली विनिमय-दर प्रणाली का प्रयोग किया है। प्रश्न उठता है कि क्या यह प्रणाली पूर्व प्रणाली से बेहतर सिद्ध हुई है ? इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है, क्योंकि विश्व में पिछले दो दशकों में कई प्रकार के राजनीतिक व आर्थिक उथल पुथल हुए हैं, जिनसे विकसित व विकासशील दोनों प्रकार के देशों की अर्थव्यवस्थाएँ प्रभावित हुई हैं, इन परिवर्तनों के व्यापक प्रभाव उत्पन्न हुए हैं। जैसे 1973 व 1979 में तेल के मूल्यों में भारी वृद्धि होने से एक तरफ तेल के आयातक देशों में व्यापार का घाटा बढ़ गया तो दूसरी तरफ तेल के निर्यातक देशों के पास अतिरिक्त क्रय-शक्ति एकत्र हो गई जो पेट्रोडालर कहलायी। तेल के आयातक देशों के व्यापार घाटे की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (*IMF*) को कर्ज देना पड़ा ताकि अल्पकालीन भुगतान-सतुलन की समस्या का हल निकाला जा सके। अमेरिका में व्यापार का घाटा व बजट-घाटा बढ़ने तथा ब्याज की दरों के बढ़ने से न केवल अमेरिका की अर्थव्यवस्था अस्त व्यस्त हुई, बल्कि इसके विश्व की अन्य अर्थव्यवस्थाओं पर भी व्यापक प्रभाव पड़े।

कुल मिलाकर प्रबंधित लचीली दरों से निम्न समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं—

(1) विसंगतिपूर्ण विनिमय दरें कठिनाई पैदा करती है

मान लीजिए भारत विनिमय की दर 35 रु = 1 डालर निर्धारित करता है, और अमेरिका 2 सेंट = 1 रुपया निर्धारित करता है, तो यह विनिमय की दरों में विसंगति मानी जायेगी। इसका कारण यह है कि 35 रु = 1 डालर का अर्थ है, एक रुपया $= \frac{1}{35}$ डालर

$= \frac{100}{35}$ सेंट

= 2.86 सेंट, जो अमेरिका में निर्धारित 2 सेंट = 1 रु से मेल नहीं खाती।

(2) प्रतिस्पर्द्धात्मक अवमूल्यनों से समस्याएँ हल नहीं होती

मान लीजिए एक देश अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करके निर्यात बढ़ाना चाहता है। यदि अन्य देश भी अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन करने लग जाते हैं तो विनिमय बाजार तो अस्थिर हो जायेंगे और निर्यात बढ़ने का लाभ किसी भी देश को नहीं मिल पायेगा।

(3) सट्टेबाजी से विनिमय बाजारों की स्थिरता में गिरावट

कई बार यह भी देखा गया है कि सट्टेबाजों की क्रियाओं के फलस्वरूप विनिमय बाजारों में अस्थिरताएं बढ़ जाती हैं। मान लीजिए, किसी मुद्रा की विनिमय दर के घटने की आशका हो गई है। ऐसी स्थिति में सट्टेबाजों द्वारा उस मुद्रा को बेचने की जल्दी से उसका मूल्य समय से पूर्व ही गिरने लगेगा। इस प्रकार वर्तमान व्यवस्था भी सर्वोत्तम सिद्ध नहीं हुई है।

अत भविष्य में मुद्रा कोष की सलाह व देख रेख में विभिन्न देशों की विनिमय दरों में उचित समायोजन किया जाना चाहिए तथा विश्व के सभी देशों में परस्पर आर्थिक सहयोग बढ़ाया जाना चाहिए। तभी एक नई व प्रगतिशील अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था व एक नई व अधिक स्थिर विनिमय दर व्यवस्था का विकास सम्भव हो सकेगा। 1971 में ब्रेटन वुड्स विनिमय-दर-व्यवस्था के टूटने के बाद विश्व के देश एक नई मौद्रिक व विनिमय-दर प्रणाली की तलाश में भटक रहे हैं।

भारत में विनिमय-दर की वर्तमान व्यवस्था

(Present System of Exchange-rate in India)

जून 1991 के अन्त में जब नई सरकार ने कार्यभार सम्भाला तब भारत गम्भीर आर्थिक संकट के दौर से गुजर रहा था। देश का विदेशी विनिमय कोष घटकर मात्र 2400 करोड़ रु के समीप आ गया था, जो लगभग दो सप्ताह के आयातों की वित्तीय व्यवस्था कर सकता था। देश के समक्ष भुगतान असन्तुलन की स्थिति बहुत जटिल हो गई थी और भारत विदेशी अल्पकालीन कर्ज के भुगतान की दृष्टि से डिफाल्ट के कगार पर था। ऐसी स्थिति में सरकार ने 1 जुलाई व 3 जुलाई, 1991 को दो बार में रुपये की विनिमय दर पौंड स्टर्लिंग में 17.4 प्रतिशत घटा दी। अन्य मुद्राओं में भी रुपये का लगभग 18-20 प्रतिशत अवमूल्यन किया गया। रुपया डालर नई विनिमय दर 26 रुपये प्रति डालर के समीप निर्धारित की गई।

1992-93 के बजट में उदारीकृत विनिमय दर प्रबंध व्यवस्था (Liberalised Exchange Rate Management System) (LERMS) के तहत 1 मार्च, 1992 से रुपये की आंशिक परिवर्तनीयता (partial convertibility of rupee) की पद्धति लागू की गई इसके अंतर्गत चालू खाते के सौदों से प्राप्त समस्त विदेशी विनिमय प्राप्तियों का 40 प्रतिशत भारतीय रिजर्व बैंक को सरकारी दर पर देना होता था, और शेष 60 प्रतिशत अधिकृत एजेन्टों को खुले बाजार की दर पर बेचा जा सकता था (वैसे व्यवहार से 40 प्रतिशत व 60% दोनों का लेन-देन अधिकृत एजेन्टों के मार्फत ही सम्पन्न किया जाता था)।

इस प्रकार भारत में 1 मार्च, 1992 से दोहरी विनिमय दर प्रणाली (dual exchange rate system) लागू की गई थी (40% विदेशी मुद्रा सरकारी दर पर तथा 60% बाजार दर पर)। इसके अंतर्गत आयातों के लिए विदेशी मुद्रा खुले बाजार से खरीद कर जुटानी पड़ती थी। अतः इस व्यवस्था में निर्यात करके विदेशी मुद्रा जुटानी आवश्यक हो गई थी। 1 मार्च, 1992 से पूर्व भारत में बहुत-कुछ स्थिर विनिमय-दर प्रणाली प्रचलित थी। अतः आंशिक परिवर्तनीयता प्रबंधित लचीली विनिमय-दर प्रणाली के अंतर्गत ही आती है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मार्च 1993 से भारत में एकीकृत बाजार-निर्धारित विनिमय दर प्रणाली लागू कर दी गई है जिसके अन्तर्गत विनिमय की दर विदेशी विनिमय-बाजार में माँग व पूर्ति की दशाओं से निर्धारित होती है। लेकिन अत्यधिक सट्टेबाजी के कारण प्रतिकूल दशाओं में विनिमय-दर को ठीक-ठाक स्तर पर बनाये रखने के लिए भारतीय रिजर्व बैंक हस्तक्षेप करने के लिए तत्पर रहता है।

विनिमय-दर की बाजार-प्रणाली पर जाने के बाद भी मार्च 1993 के बाद दो वर्ष तक सरकार द्वारा रुपये की विनिमय-दर डालर में 31.4 रुपये प्रति डालर पर स्थिर रखी गयी। इसके लिए रिजर्व बैंक डालर निर्धारित दर पर खरीदता गया, अन्यथा रुपये का मूल्य डालर में बढ़ जाता जिससे निर्यातों को क्षति पहुँच सकती थी और आयात बढ़ जाते।

लेकिन मार्च 1993 से अगस्त 1995 के बीच भारत में मुद्रास्फीति की दर उसके ट्रेडिंग-साझेदार-देशों : जैसे-मुख्यतया अमेरिका, जापान, यू. के., जर्मनी व फ्रांस जैसे पाँच देशों की तुलना में ज्यादा बढ़ी। इसलिए रुपये की विनिमय दर को 31.4 रुपये प्रति डालर से घटा कर लगभग 35 रुपये प्रति डालर तक लाना आवश्यक हो गया था ताकि विदेशी बाजारों में भारत की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। इसलिए मई 1996 में

रुपये की विनिमय दर का लगभग 34 50 रुपये प्रति डालर पर आना वांछित माना गया है ताकि मुद्रास्फीति के अतराल (inflation differential) का प्रभाव स्वीकार किया जा सके। लेकिन फिलहाल विनिमय दर का 40 रुपये प्रति डालर की तरफ जाना आर्थिक मूल तत्वों के विपरीत माना जायेगा। अत सरकार का विनिमय दर को स्थिर रखने का प्रयास सही माना जायेगा। वह रुपये की विनिमय दर पर सट्टेबाजी का प्रभाव नहीं पडने देगी।

साराश

इस अध्याय में हमने देखा की बाजार में विनिमय की दर कैसे निर्धारित होती है और इस पर किन किन तत्वों का प्रभाव पडता है। **पिछले दो दशको से विश्व के देश स्थिर विनिमय-दर प्रणाली को छोड़कर प्रबंधित लचीली विनिमय-दर प्रणाली की ओर बढ़े है, जिसके विभिन्न रूप हमारे समक्ष आये है।** अब भारत भी एकीकृत बाजार निर्धारित विनिमय दर प्रणाली को सचालित करने लगा है, जो प्रबधित लचीली विनिमय दर प्रणाली से मूलतया भिन्न है।

प्रश्न

1 बाजार की शक्तियों के आधार पर विनिमय की दर कैसे निर्धारित होती है? चित्र देकर समझाइए।
2 क्रय शक्ति समता सिद्धान्त का विवेचन कीजिए। यह विनिमय की दर को किस प्रकार प्रभावित करता है?
3 स्थिर व लचीली विनिमय दरों में अतर समझाइए। प्रबधित लचीली विनिमय दर प्रणाली (managed floating rate system) की विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
4 सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
   (अ) विनिमय दर का निर्धारण
   (ब) IMF की स्थिर विनिमय दर प्रणाली (समायोजन सहित),
   (स) प्रबधित लचीली विनिमय दर प्रणाली की कठिनाइयाँ,
   (द) भारत में नई एकीकृत विनिमय दर प्रणाली अथवा रुपया पूर्ण फ्लोटिंग रूप में,
   (ए) विनिमय की दर को प्रभावित करने वाले तत्त्व,
   (ऐ) क्रय शक्ति समता सिद्धात
   (ओ) स्वर्णमान के अतर्गत विनिमय की दर।
5 निम्नलिखित की व्याख्या कीजिये—
   (1) मुद्रा का आन्तरिक एव बाह्य मूल्य (Raj Iyr, 1996 Non Coll)

परिशिष्ट

(1) रुपये के मूल्य-ह्रास या अवमूल्यन को मापने की विधि

प्राय रुपये के अवमूल्यन को मापने में त्रुटि पायी जाती है। नीचे एक उदाहरण से इसे स्पष्ट किया जाता है—

मान लीजिए, रुपये की विनिमय दर 17 रुपये प्रति डालर से 34 रुपये प्रति डालर हो जाती है। इस स्थिति में रुपये का मूल्य ह्रास या अवमूल्यन = $\left(\frac{34-17}{34} \times 100\right)$

$= \left(\frac{17}{34} \times 100\right) = 50\%$ होगा।

कुछ व्यक्ति इसे गलती से = $\left(\frac{34-17}{17} \times 100\right) = 100\%$ बतला देते हैं।

रुपये के अवमूल्यन को ज्ञात करने की दूसरी विधि—

पहले 17 रु = एक डालर था

अत 1 रु = $\frac{1}{17}$ डालर था।

बाद में 1 रु = $\frac{1}{34}$ डालर हो गया।

अत गणित के नियमानुसार परिवर्तन की दर

या अवमूल्यन की दर = $\left(\frac{\frac{1}{34}-\frac{1}{17}}{\frac{1}{17}}\right)$ होगी $= \left(\frac{-\frac{1}{34}}{\frac{1}{17}}\right) = -\frac{1}{2}$

$= 50\%$ अवमूल्यन

अत अवमूल्यन की गणना में आवश्यक सावधानी बरतनी चाहिए। कई लोग भूल से यह कह देते हैं कि रुपये का अवमूल्यन 100 प्रतिशत या अधिक हो गया। वास्तव में अवमूल्यन कभी 100% या इससे अधिक हो ही नहीं सकता। पाठक इस पर पूरा ध्यान दें।

(2) पूँजी-खाते में परिवर्तनीयता का अर्थ

इसके अन्तर्गत विदेशों में वित्तीय परिसम्पत्तियों के लेन देन के अधिकार पर कोई प्रतिबंध नहीं होता। भारत में प्रत्यक्ष व पोर्टफोलियो के विनियोग के लिए विदेशी निवेशकों व अनिवासी भारतीयों (NRIs) के लिए पूँजी खाते में परिवर्तनीयता है। कुछ शर्तों को पूरा करने पर रिजर्व बैंक द्वारा भारतीय विनियोग विदेशों में 4 मिलियन डालर तक स्वचालित स्वीकृति के रूप में किया जा सकता है।



21

सांख्यिकी—परिभाषा, प्रकृति, महत्त्व व सीमाएँ
(Statistics—Definition, Nature, Importance and Limitations)

साख्यिकी का जन्म राजाओं के विज्ञान के रूप में हुआ था। इस विज्ञान का उद्देश्य सरकारी प्रशासन की आवश्यकताओं को पूरा करना था, इसलिए इसे शासनकला (Statecraft) का विज्ञान माना जाने लगा। 'साख्यिकी' शब्द लेटिन के 'स्टेटस' (Status) अथवा 'स्टेटिस्टा'(Statista) शब्द से बना है, जिसका अर्थ है एक राजनीतिक राज्य (Political State)। शेक्सपियर व मिल्टन की रचनाओं में 'स्टेटिस्ट'(Statist) शब्द उस व्यक्ति के लिए काम में लिया गया है जो राज्य के मामलों में दक्ष होता है और जो उच्चस्तरीय राजकीय अधिकारियों को सरकारी नीतियाँ निर्धारित करने में मदद पहुँचाता है।

परिभाषा-साख्यिकी शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है, एक तो **आँकड़ों (data)** के अर्थ मे, जैसे एक देश की राष्ट्रीय आय के आँकडे, बचत व विनियोग के आँकडे, आयात निर्यात के आँकडे भारत पर विदेशी कर्ज के आँकडे, जनसख्या के आँकडे, आदि, आदि। आर्थिक नियोजन में प्रत्येक चरण पर नाना प्रकार के आँकडों की आवश्यकता होती है। दूसरे अर्थ में साख्यिकी से तात्पर्य साख्यिकीय विधियों (Statistical methods) से लगाया जाता है। इनका उपयोग करके आंकडों से कई प्रकार के परिणाम निकाले जाते हैं। कुछ साख्यिकीय विधियाँ सरल होती हैं, जैसे आकडों से औसत निकालना, विचलन (deviation) ज्ञात करना, सह सम्बन्ध निकालना, आदि। कुछ विधियाँ जटिल व गणितीय होती हैं, जिनका उपयोग प्राय विशेषज्ञ ही कर पाते हैं।

हम इन दोनों अर्थों को मिलाकर साख्यिकी की एक सरल परिभाषा दे सकते हैं जो इस प्रकार होगी "साख्यिकी में उन सिद्धान्तों व विधियो का वर्णन किया जाता है जो सख्यात्मक आँकड़ों के सम्बन्ध में प्रयुक्त की जाती हैं।"

सच पूछा जाय तो 'साख्यिकी' को साख्यिकीय विधियों के रूप में ही देखा जाना चाहिए। हम नीचे साख्यिकी की इसी प्रकार की परिभाषाओं का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करेंगे।

क्रोक्सटन, काउडेन व क्लाइन (Croxton, Cowden and Klein) ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक Applied General Statistics में साख्यिकी की परिभाषा इस प्रकार दी है 'साख्यिकी को सख्यात्मक आँकड़ो के सग्रहण, प्रस्तुतीकरण, विश्लेषण और निर्वचन

(अर्थ लगाने) के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है।'[1] जिन तथ्यों से हमारा सरोकार होता है वे सख्याओं में प्रस्तुत करने लायक होने चाहिएँ, जैसे खाली यह कहने से काम नहीं चलता कि मकान बनाने में ईंट, पत्थर सीमेंट लकडी व लोहे का इस्तेमाल होता है, बल्कि इसे साख्यिकीय विश्लेषण की दृष्टि से उपयोगी बनाने के लिए हमें यह जानना होगा कि भवनों में इनमें से प्रत्येक सामग्री का कितना कितना उपयोग किया जाता है। तब वह सूचना साख्यिकीय विवेचन का रूप धारण कर पाती है। इनके अलग अलग मिश्रण से मकान की लागत अलग अलग आती है। अत भवन निर्माण के सम्बन्ध में निर्णय लेने में मदद मिलती है।

स्मरण रहे कि साख्यिकी में और अन्य विषयों जैसे भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, अर्थशास्त्र व समाजशास्त्र में एक मूलभूत अन्तर यह है कि ये विषय तो अपने आप में 'विज्ञान' कहला सकते हैं, लेकिन **साख्यिकी एक विज्ञान नही, बल्कि एक वैज्ञानिक विधि है (Statistics in not a science, it is a scientific method)।** साख्यिकी को समझे बिना सामाजिक विज्ञानों में कोई भी अन्वेषक उस अंधे व्यक्ति की भाँति होता है जो अंधेरे कमरे में उस काली बिल्ली को ढूँढता है जो वहाँ है ही नहीं। साख्यिकीय विधियाँ विभिन्न मानवीय कार्य कलापों के अध्ययन में प्रयुक्त होने लगी हैं, लेकिन उनमें सख्यात्मक आँकडों का पाया जाना एक आवश्यक शर्त होती है। अत **उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार साख्यिकीय विधियों में आँकड़ो को एकत्र करना, उनको उचित रूप में प्रस्तुत करना (रेखाचित्रों व सारणियों के रूप में) उनका विश्लेषण करना तथा उनसे सही परिणाम या निष्कर्ष निकालना शामिल किया जाता है।**

वालिस व रोबर्टस (Wallis and Roberts) ने अपनी पुस्तक Statistics A New Approach में साख्यिकी की निम्न परिभाषा दी है

साख्यिकी अनिश्चितता की दशा में बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय लेने में मदद देने वाली विधियों का एक समूह होती है।[2] साख्यिकीय आँकडों से हमें व्यावहारिक कार्यों तथा वैज्ञानिक ज्ञान को प्राप्त करने में मदद मिलती है। हमें अधिकाश समस्याओं के बारे में (चाहे वह व्यापार व्यवसाय से सम्बन्धित हों, सरकारी हों या व्यक्तिगत मामले हों) अपूर्ण सूचना से ही काम चलाना होता है। ऐसी स्थिति में साख्यिकी हमें उन सिद्धान्तों व विधियों के बारे में बतलाती है जिनका उपयोग करके हम आशिक सूचना के आधार पर निर्णय ले सकते हैं। अत अनिश्चितताओं से घिरे जगत में बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय लेने में साख्यिकीय विधियों से भारी मदद मिलती है। **साख्यिकी स्वय कोई स्वतन्त्र या मौलिक ज्ञान का भण्डार नही होती है, बल्कि यह तो ज्ञान प्राप्त करने की विधियों का एक समूह मात्र होती है।** (Statistics is not a body of substantive knowledge, but a body of methods for obtaining knowledge) अत यह एक वैज्ञानिक विधि होती है। एक वैज्ञानिक

---

1 'Statistics may be defined as the collection, presentation analysis and interpretation of numerical data,
—F E. Croxton, D.J Cowden and S Klein, in Applied General Statistics, Third Edition, 1967, p 1

2. 'Statistics is a body of methods for making wise decisions in the face of uncertainty'
—Wallis and Roberts, Statistics A New Approach, P.3

जाँच पडताल की प्रक्रिया में चार चरण होते हैं, यथा, स्वय देख कर समस्या से सम्बन्धित तथ्य सकलित करना, परिकल्पनाएँ निर्धारित करना जो आँकडों में कोई सम्बन्ध दर्शाएँ, तर्क द्वारा कोई निष्कर्ष निकालना (prediction) जो नये तथ्यों के रूप में प्रस्तुत हों एव उनकी सत्यता की जाँच करना। इस प्रकार साख्यिकीय विधि एक वैज्ञानिक विधि होती है जिसमें तथ्य, परिकल्पनाएँ, परिणाम या निष्कर्ष व सत्यता की जाँच निरन्तर चलती रहती है। साख्यिकी का योगदान प्रथम व अन्तिम चरण में विशेषतया देखा जाता है, जहाँ आँकडे एकत्र किये जाते हैं तथा अन्त में उनका सत्यापन किया जाता है (Verification)। द्वितीय चरण में कल्पना शक्ति व दक्षता की अधिक आवश्यकता होती है और निष्कर्ष निकालने में *तर्क शक्ति की आवश्यकता होती है। अत अनिश्चितता की दशाओ मे उचित निर्णय लेने मे* **साख्यिकी का महत्वपूर्ण योगदान माना गया है।**

या लुन चाऊ (YA-LUN-CHOU) ने भी साख्यिकी की वालिस व रोबर्टस की *परिभाषा का ही समर्थन किया है। इसी परिभाषा को स्पष्ट करते हुए उसका कहना है कि कुछ निर्णय मामूली किस्म के होते हैं और कुछ महत्वपूर्ण होते हैं कुछ सरल होते हैं और* कुछ जटिल होते हैं, कुछ बारम्बार लिये जाते हैं और कुछ विशेष परिस्थितियों में, आदि, आदि। या लुन चाऊ का मत है कि निर्णय की प्रक्रिया में हमें कई विकल्पों में से कोई एक विकल्प चुनना पड सकता है जैसे, मान लीजिए, विज्ञापन का साधन चुनना है। इसके लिए अखबार, मैगजीन, रेडियो टेलीविजन, ग्राहकों को सीधे पत्र लिखना, आदि में से एक या कुछ चुनने पड सकते हैं। यदि ज्यादा से ज्यादा लोगों तक शीघ्र पहुँचना हो तो टेलीविजन उपयुक्त हो सकता है, अथवा लागत कम से कम रहे तो उसके लिए सीधे डाक से पत्र व्यवहार करना उचित हो सकता है। निर्णय की प्रक्रिया में भावी परिणाम पर भी नजर रखनी पडती है। इसमें निर्णयों के विरोधी प्रभावों (वाछनीय व अवाछनीय) में तुलना करके वे निर्णय लेने पडते हैं जिनके वाछनीय प्रभाव सर्वाधिक होते हैं।

अत अनिश्चितता, विरोधी प्रभावों व साख्यिकीय निर्णय का परस्पर गहरा सम्बन्ध होता है *"निर्णय लेने मे हमे अनिश्चितता का सामना करना पड़ता है, क्योकि प्रत्येक कार्य का सम्बन्ध वैकल्पिक भविष्य से होता है, तथा साथ मे वाछनीयता के माप से होता है, क्योकि* **प्रत्येक परिणाम का एक साथ वाछनीय व अवाछनीय पहलुओ से सम्बन्ध होता है। इतिहास म अनिश्चितता व निर्णय लेने मे वाछनीयता का मूल्याकन करने में विभिन्न दृष्टिकोण विकसित किये गये है। इनमे से सबसे ज्यादा नवीन दृष्टिकोण है साख्यिकीय निर्णय विधि का, जिसे आधुनिक विज्ञान ने स्वीकार किया है।"**[2]

स्मरण रहे कि बाउले (A L Bowley) ने भी साख्यिकीय की अपनी विभिन्न परिभाषाओं में ज्यादातर 'विधियो' के अर्थ का ही समर्थन किया है, जैसे

(i) *'साख्यिकी को गिनती करने का विज्ञान (science of counting) माना जा सकता है।'*

(ii) *'साख्यिकी को वस्तुत औसतों का विज्ञान कहा जा सकता है।'*

(iii) *'साख्यिकी को सामाजिक रचना के, विभिन्न रूपों के लिए सम्पूर्ण रूप से माप के लिए विज्ञान माना जा सकता है।*[3]

1 Ya Lun Chou Statistical Analysis 2nd ed 1975, pp 49 58
2. Ibid, p 52.
3 A.L. Bowely Elements of Statistics p 3 and p 7

ये परिभाषाएँ सकीर्ण हैं, लेकिन इनमें विधि पक्ष पर जोर दिया गया है।

साख्यिकी की परिभाषा साख्यिकीय आँकड़ो के रूप मे-

साख्यिकीय आकडों के अर्थ में साख्यिकी की व्यापक परिभाषा होरेस सेक्रिस्ट (Horace Secrist) ने दी है जो इस प्रकार है-

"साख्यिकी से आशय तथ्यो के एक समूह से होता है जिस पर अनेक कारको का काफी सीमा तक प्रभाव पड़ता है, ये सख्यात्मक रूप मे व्यक्त किये जाते है, इनका सकलन या अनुमान शुद्धता के उचित स्तर के अनुसार लगाया जाता है, ये एक पूर्वनिर्धारित उद्देश्य के लिए व्यवस्थित रूप मे एकत्र किये जाते है तथा एक दूसरे से सम्बद्ध रूप मे प्रस्तुत किये जाते है।"[1]

इस प्रकार साख्यिकीय आकडों के निम्न लक्षण होते हैं-

(i) ये तथ्यो के समूह होते है-इसका अर्थ है कि अकेले एक तथ्य से साख्यिकी नही बनती। तथ्यों को विभिन्न स्थानों या विभिन्न समयों के अनुसार प्रस्तुत करने से ही वे साख्यिकी कहलाते हैं। जैसे-1991 मे भारत की जनसख्या 84.63 करोड़ व्यक्ति आकी गयी है। *मात्र इसी अक से साख्यिकी नही बन जाती, बल्कि विभिन्न देशो की 1991 को जनसख्या को एक साथ रखने, अथवा भारत की जनसख्या को कई जनगणनाओ के लिए तुलना के लिए एक साथ रखने पर साख्यिकी बनती है।*

(ii) साख्यिकी पर एक साथ कई तत्त्वों का प्रभाव है जैसे कृषिगत उत्पादन पर खेतों के आकार, वर्षा, सिचाई, उर्वरक, श्रम की मात्रा, आदि का प्रभाव पडता है। मुद्रास्फीति पर मुद्रा की पूर्ति, खाद्यान्नों के वसूली-मूल्यों, खाद्यान्नों के सार्वजनिक वितरण की प्रणाली, परोक्ष करों, कीमतों के सम्बन्ध में भावी प्रत्याशाओं (expectations), उत्पत्ति की मात्रा, आदि का प्रभाव पडता है। अत अनेक कारकों की स्थिति का अध्ययन किया जाता है।

(iii) तथ्य सख्यात्मक रूप मे व्यक्त होने पर ही साख्यिकी बनते ह। गुणात्मक रूप में रहने पर इनका साख्यिकीय अध्ययन कठिन होता है।

(iv) आकड़े गिनती से या अनुमान लगा कर प्राप्त होते हे जसे उत्पादन की गुणवत्ता जानने के लिए हम एक छोटा-सा सेम्पल लेकर पता कर लेते हैं।

(v) उनमे शुद्धता का उचित स्तर कायम रखा जाना चाहिए। गणित व लेखा-विधि में तो पूर्ण शुद्धता बरती जाती है, लेकिन साख्यिकी में उतनी शुद्धता न तो सम्भव है और न आवश्यक ही।

(vi) आँकड़े व्यवस्थित रूप मे एकत्र किये जाने चाहिए। वे अस्त-व्यस्त ढग से एकत्र नहीं किये जाने चाहिए। सेम्पल में जो इकाई आती है, उसी पर ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए, इस सम्बन्ध में नियमों का पालन किया जाना चाहिए।

(vii) आँकड़े सार्थक किस्म के होने चाहिए और तुलना के लिए उनको एक दूसरे से सम्बद्ध करके प्रस्तुत किया जाना चाहिए। उनकी परस्पर तुलना की जानी भी आवश्यक होती है।

---

1 By Statistics we mean aggregates of facts affected to a marked extent by multiplicity of causes, numerically expressed enumerated or estimated according to reasonable standard of accuracy, collected in a systematic manner for a pre-determined purpose and placed in relation to each other "—Horace Secrist

इस प्रकार सैक्रिस्ट के अनुसार आँकड़ों के अर्थ में सांख्यिकीय आँकड़ों में कई प्रकार की विशेषताओं का होना आवश्यक माना गया है।

निष्कर्ष-उपर्युक्त चर्चा से यह निष्कर्ष निकलता है कि सांख्यिकी में आँकड़ों के संग्रहण, प्रस्तुतीकरण, विश्लेषण व उनका अर्थ लगाने की विधियों का अध्ययन किया जाता है ताकि अनिश्चितता की दशाओं में हम बुद्धिमतापूर्ण निर्णय ले सकें। सांख्यिकी एक वैज्ञानिक विधि होती है। वस्तुतः यह विज्ञानों का विज्ञान कहलाने की अधिकारी मानी जाती है।

सांख्यिकी की प्रकृति
(Nature of Statistics)

हम ऊपर बतला चुके हैं कि सांख्यिकी एक वैज्ञानिक विधि होती है जिसके माध्यम से किसी भी समस्या का अध्ययन किया जा सकता है। कुछ लोग इसे विज्ञान मानते हैं क्योंकि यह नियमबद्ध ज्ञान का समूह होती है। इसमें प्रायिकता सिद्धान्त (theory of probability) व अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का उपयोग किया जाता है। इसमें कारण परिणाम सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं तथा भावी प्रवृत्तियों के अनुमान प्रस्तुत किये जाते हैं। लेकिन अपनी प्रकृति के कारण यह पूर्ण विज्ञान नहीं होती है क्योंकि इसमें मूलतया औसत के रूप में ही निष्कर्ष निकाले जाते हैं।

कुछ लोग इसे कला के रूप में भी देखते हैं क्योंकि यह हमें बतलाती है कि किस सांख्यिकीय माप, जैसे औसत, मध्यका (median), सहसम्बन्ध गुणांक, आदि का प्रयोग कब उचित रहेगा। कुछ सांख्यिकों ने इसे विज्ञान व कला दोनों माना है, क्योंकि इसमें दोनों की विशेषताएँ विद्यमान होती हैं। इसमें क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है और सुनिश्चित परिणाम निकालने की विधियाँ बतलायी जाती हैं।

लेकिन सांख्यिकी की प्रकृति को समझने के लिए हमें सांख्यिकीय विधि के मुख्य लक्षणों पर ध्यान देना होगा। इसका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।[1]

सांख्यिकीय विधि की प्रकृति

हम पहले बतला चुके हैं कि अर्थशास्त्र में सांख्यिकीय विधि का प्रयोग करके आर्थिक नियम बनाये जाते हैं। सांख्यिकीय विधियों के बिना अर्थशास्त्र की कल्पना करना भी कठिन जान पड़ता है। विभिन्न आर्थिक विषयों के अध्ययन में हम सेम्पल विधि अपनाते हैं और प्रतीपगमन विधि (regression) का उपयोग करके एक चलराशि पर कई चलराशियों के प्रभाव का अध्ययन करते हैं। कार्मेल व पोलासेक (PH Karmel and M Polasek) ने सांख्यिकी की प्रकृति के विवेचन में सेम्पल विधि व प्रतीपगमन विधि के सर्वाधिक उपयोग को स्वीकार किया है।[2]

अर्थशास्त्र में नियन्त्रित प्रयोग के स्थान पर सांख्यिकीय विधि प्रयुक्त होती है। यह एक बड़े अभाव की पूर्ति करती है। सांख्यिकीय विधि का उपयोग तथ्यों के संग्रह, वर्गीकरण विश्लेषण व निष्कर्ष निकालने में किया जाता है। इसमें सेम्पलिंग (न्यादर्श) विधि के आधार पर सम्पूर्ण क्षेत्र के बारे में परिणाम निकाले जाते हैं। जैसे मान लीजिये, हमें दस हजार

1 Lipsey, Steiner, Purvis and Courant, ECONOMICS Ninth Edition 1990 pp 23 28

2 Karmel and Polasek, Applied Statistics for Economists, Fourth Edition, Indian Reprint 1986 pp 1-3

श्रमिकों के उपभोग का अध्ययन करना है तो हम यह कार्य एक हजार श्रमिकों के पारिवारिक बजटों के अध्ययन के आधार पर कर सकते हैं। सैम्पलिंग प्रणाली वैज्ञानिक होती है। इसके परिणाम विश्वसनीय होते हैं और इसमें हम त्रुटि (error) की मात्रा का भी पता लगाते हैं। सैम्पल का [illegible] बढ़ाकर त्रुटि की मात्रा कम की जा सकती है। अर्थशास्त्र में सांख्यिकीय विश्लेषण [illegible] प्रयोग होते हैं–(अ) सिद्धान्तों की जाँच (testing of theories), तथा आ) आर्थिक सम्बन्धों का संख्यात्मक माप (quantitative measurement of economic relationships)। इनका क्रमशः नीचे स्पष्टीकरण किया जाता है–

(अ) सिद्धान्तों की जाँच–मान लीजिए हमें इस परिकल्पना (hypothesis) की जाँच करनी है कि आय के बढ़ने से भोजन पर किया गया व्यय बढ़ता है। हम समस्त देश के उपभोक्ताओं का अध्ययन करने में असमर्थ होते हैं और यह आवश्यक भी नहीं होता। अतः हम उपभोक्ताओं का एक प्रतिनिधि नमूना (representative sample) चुन लेते हैं, और उनकी आय व भोजन पर किये गये व्यय के आँकड़े एकत्र कर लेते हैं। हम जानते हैं कि भोजन पर किये जाने वाले व्यय पर परिवार के सदस्यों की संख्या का भी प्रभाव पड़ता है, इस प्रकार हम तीन चलराशियों (आय, सदस्यों की संख्या, भोजन पर व्यय) का अध्ययन करके उनके सम्बन्धों के बारे में प्रतीपगमन विश्लेषण (regression analysis) की सहायता से निम्न प्रकार के परिणाम निकाल सकते हैं–

(i) परिवार के सदस्यों की संख्या स्थिर मानकर, आय व भोजन पर व्यय में कितना सह सम्बन्ध (correlation) पाया जाता है।

(ii) आय को स्थिर मानने पर, परिवार के सदस्यों की संख्या व भोजन पर व्यय में कितना सह सम्बन्ध पाया जाता है।

(iii) आय व परिवार के सदस्यों की संख्या दोनों मिलकर भोजन पर किये जाने वाले व्यय के परिवर्तनों को किस सीमा तक स्पष्ट करते हैं, और अन्य तत्त्वों का भोजन के व्यय पर क्या प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार विभिन्न तत्त्व एक साथ अपना प्रभाव डालते रहते हैं, लेकिन 'प्रतीपगमन विधि' (regression method) का उपयोग करके उन पर सांख्यिकीय नियन्त्रण (statistical control) स्थापित किया जा सकता है। सांख्यिकीय विधियों में आजकल प्रतीपगमन की विधि सर्वाधिक लोकप्रिय मानी जाती है। इस प्रकार जो काम भौतिक विज्ञान में प्रयोगशालाओं में नियन्त्रित प्रयोग करने से सम्भव हो पाता है, वह अर्थशास्त्र जैसे सामाजिक विज्ञानों में सांख्यिकी का प्रयोग करके सम्भव बना लिया जाता है। हम सांख्यिकीय विधि का प्रयोग करके किसी भी चलराशि को स्थिर कर लेते हैं, और इस प्रकार विभिन्न चलराशियों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने में सफल हो जाते हैं। अतः सांख्यिकीय विधि ने अर्थशास्त्र को काफी लाभ पहुँचाया है।

(आ) आर्थिक सम्बन्धों का संख्यात्मक माप–सांख्यिकीय विश्लेषण के द्वारा हम आँकड़े एकत्र करके विभिन्न चलराशियों में सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं, जैसे प्रति हैक्टेयर उपज पर उर्वरक, सिंचाई की मात्रा, खेत के आकार व मौसम आदि का अलग अलग प्रभाव जाना जा सकता है। इसके लिए भी प्रतीपगमन विश्लेषण (regression analysis) की सहायता ली जाती है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में रिसर्च करने वालों में सांख्यिकीय ज्ञान का महत्त्व काफी बढ़ गया है। आजकल इसमें गणितीय सांख्यिकी का भी प्रयोग बढ़ गया है।

वेसल, विलेट व साइमन (Wessel, Willett and Simone) के अनुसार साख्यिकी वह विज्ञान है जो सख्यात्मक आँकडों के विश्लेषण से सम्बन्ध रखता है। इसका एक अस्त्र के रूप में प्रयोग किया जाता है। यह प्राकृतिक व सामाजिक विज्ञानों दोनों में काम आता है। इनके अनुसार साख्यिकीय विधियों का प्रयोग तीन उद्देश्यों के लिए किया जाता है, यथा, (i) भावी अनुमान लगाने के लिए (*forecasting*), इसमें भूतकाल व वर्तमान की प्रवृत्तियों के आधार पर भावी प्रवृत्ति के अनुमान लगाये जाते हैं। बीमा का व्यवसाय पूर्णतया भावी अनुमानों पर निर्भर करता है। इसमें भावी घटनाओं के अनुमान लगाये जाते हैं। साख्यिक यह तो नही बतला सकते कि वर्ष मे किनकी मृत्यु होगी, लेकिन वे यह अवश्य बतला सकते हैं कि सम्भवतया कितना की मृत्यु होगी 'We do not know who will die but we know how many' यही बीमा व्यवसाय का आधार होता है।

(ii) यह नियत्रण (control) में आमतौर पर प्रयुक्त की जाती है। किस्म नियत्रण के लिए कुछ मानक (standards) तय कर लिये जाते हैं और उत्पादन के दौरान माल की सैम्पलिंग लेकर उसकी गुणवत्ता की साख्यिकीय जाँच की जाती है।

(iii) साख्यिकी का प्रयोग ज्ञान की सीमाओं का विस्तार करने के लिए भी किया जाता है, अर्थात् अनुसधान व खोज के कार्यों में (exploration) भी किया जाता है।

इस प्रकार साख्यिकी का प्रयोग भावी अनुमान लगाने नियत्रण करने व अनुसधान में किया जाता है। इससे साख्यिकीय विधियों की प्रकृति स्पष्ट हो जाती है।

नाइजर्वेगर (Neiswanger) ने भी साख्यिकीय परिणामों की प्रकृति का उल्लेख करते हुए कहा है कि, "साख्यिकीय विधि-आगमन (inductive) किस्म की होती है, क्योंकि इसमे व्यक्तिगत इकाइयो को देखकर परिणाम निकाले जाते है। बाजार मे व्यक्तिगत इकाइयो का व्यवहार बहुधा अव्यवस्थित (*erratic*) किस्म का लगता है, और उसके बारे मे पहले से कुछ नही कहा जा सकता। लेकिन जब इस प्रकार की अनेक पृथक् अप्रत्याशित घटनाओ पर एक साथ विचार किया जाता है तो इनमे प्राय व्यवहार का एक स्थिर प्रारूप (a stable pattern) प्रगट होता है।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से साख्यिकी की प्रकृति स्पष्ट हो जाती है। इसमें सैम्पल लेकर परिणाम निकाले जाते हैं और प्रतीपगमन विधि का प्रयोग करके एक चलराशि पर कई चलराशियों का प्रभाव ज्ञात किया जाता है। प्रतीपगमन विधि आधुनिक साख्यिकी विधियों में सर्वोपरि स्थान रखने लगी है। अनुसधान कार्यों के लिए इसका साख्यिकी में केन्द्रीय स्थान हो गया है। इसका अध्ययन साख्यिकी के अन्तर्गत काफी विस्तार से किया जाने लगा है।

साख्यिकी का महत्त्व

(Importance of Statistics)

साख्यिकीय विधियों का प्रयोग इतना व्यापक हो गया है कि उनको किसी भी रूप में सीमित करना एक दुष्कर कार्य माना जाता है। आजकल सभी विषयों में साख्यिकीय विधियों का उपयोग किया जाता है, चाहे वे भौतिक विज्ञान हों, अथवा सामाजिक विज्ञान हों। हम यहाँ पर साख्यिकी के महत्त्व के सम्बन्ध में अग्र शीर्षकों के अन्तर्गत विचार करेंगे—

1 Neiswanger Elementary Statistical Method Chapter 2 The Nature and Interpretation of Statistical Results

(i) सांख्यिकीय विधियों का अर्थशास्त्र में प्रयोग

(ii) सांख्यिकी व वाणिज्य,

(iii) सांख्यिकी व सार्वजनिक प्रशासन

(iv) सांख्यिकी के अन्य लाभ।

(i) सांख्यिकीय विधियों का अर्थशास्त्र मे प्रयोग

सांख्यिकी व अर्थशास्त्र का परस्पर गहरा सम्बन्ध होता है। सांख्यिकी का अर्थशास्त्र में हर कदम पर उपयोग होता है। अर्थशास्त्र को आज जो प्रतिष्ठा मिली है उसमें सांख्यिकीय विधियों के अधिकाधिक उपयोग ने काफी मदद पहुंचायी है। अर्थशास्त्र में सांख्यिकीय विधियों का महत्त्व निम्न प्रकार से होता है–

1. आर्थिक समस्याओं के हल मे–प्रोफेसर पी सी महलानोबिस का कहना था कि, "**मेरा सदैव यह मत रहा है कि सांख्यिकी एक व्यावहारिक विज्ञान है और इसका मुख्य उद्देश्य व्यावहारिक समस्याओं का हल निकालने में मदद करना है। निर्धनता देश की सर्वाधिक मूलभूत समस्या होती है और सांख्यिकी को इस समस्या के हल मे मदद करनी चाहिए।**"[1]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि सांख्यिकी का उपयोग आर्थिक समस्याओं का हल ढूंढने में किया जाता है। निर्धनता की समस्या काफी जटिल आर्थिक समस्या मानी गयी है। इसका सम्बन्ध करोड़ों नर नारियों के जीवन से होता है। इसलिए सर्वप्रथम हमको यह ज्ञात करना होगा कि देश में कितने व्यक्ति गरीब हैं। इसके लिए भारत में कैलोरी का आधार माना गया है, जैसे गाँवों में प्रति दिन प्रति व्यक्ति 2400 कैलोरी से कम उपभोग करने वाले व्यक्ति गरीब माने जाते हैं, और शहरों में इसका नॉर्म 2100 कैलोरी माना गया है। इस समस्या का अध्ययन राज्यवार भी किया जाता है। निर्धनता की रेखा को प्रति व्यक्ति प्रति माह उपभोग व्यय के अनुसार व्यक्त किया जाता है, जिसे मूल्य वृद्धि के आधार पर निरंतर संशोधित करते रहना पड़ता है। अत अकेले गरीबी के प्रश्न के सम्बन्ध में बहुत से आँकड़ों की आवश्यकता होती है।

इसी प्रकार बेरोजगारी, अल्परोजगार, आय की असमानता, आर्थिक विकास में क्षेत्रीय असमानता, मुद्रास्फीति, मंदी, व्यापार के घाटे भुगतान असंतुलन, सरकार पर विदेशी कर्ज तथा स्वदेशी कर्ज का भार, बजट में घाटा, कृषिगत उत्पादन व औद्योगिक उत्पादन से सम्बन्धित समस्याओं आदि के अध्ययन में काफी आँकड़ों की आवश्यकता होती है। किसी भी आर्थिक समस्या का समाधान निकालने से पूर्व उसके स्वरूप व उसकी तीव्रता का अध्ययन आँकड़ों के आधार पर ही किया जाता है। अत सांख्यिकी अर्थशास्त्र को अनेक बिन्दुओं पर छूती है।

2. आर्थिक नियमों के निर्माण में अर्थशास्त्र में आगमन विधि (inductive) का आर्थिक नियमों के निर्माण में विस्तृत रूप से उपयोग होता है। आगमन विधि में आवश्यक तथ्य एकत्र किये जाते हैं और उनका विश्लेषण करके उनमें परस्पर सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं। आर्थिक सिद्धान्तों की सत्यता की जाँच भी आँकड़ों के आधार पर ही की जाती है। अर्थशास्त्र में माल्थस का जनसंख्या का सिद्धान्त सांख्यिकीय आधार पर ही बना है। मुद्रास्फीति के सिद्धान्त में मुद्रा की पूर्ति, उत्पत्ति की मात्रा व मूल्य-स्तर के परिवर्तनों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया जाता है।

1 P.C. Mahalanobis, The Approach of Operational Research to Planning in India, in SANKHYA, Vol.16 Part 1 & 2 December 1955

3 राष्ट्रीय आय के आँकड़े व राष्ट्रीय लेखा का महत्त्व देश की आर्थिक प्रगति के अध्ययन में स्थिर भावों पर राष्ट्रीय आय की प्रगति का अध्ययन किया जाता है। आजकल राष्ट्रीय लेखे (national accounts) भी तैयार किये जाते हैं जिनके आँकड़ों के आधार पर एक अर्थव्यवस्था के अंदर होने वाले संरचनात्मक परिवर्तनों (structural changes) का अध्ययन किया जा सकता है जैसे विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों—कृषि उद्योग आदि—का राष्ट्रीय आय में अंश किस दिशा में बदल रहा है तथा रोजगार में इनका अंश किस प्रकार बदल रहा है।

4 सांख्यिकी व आर्थिक नियोजन—आर्थिक नियोजन में विभिन्न उद्देश्य रखे जाते हैं जिनके सम्बन्ध में कई प्रकार के आँकड़ों की आवश्यकता होती है। सर्वप्रथम योजना में विकास की वार्षिक दर निर्धारित की जाती है। यह विनियोग की दर और पूँजी उत्पत्ति अनुपात पर निर्भर करती है इसलिए इनको ज्ञात करना जरूरी होता है। विनियोग की दर विनियोग का राष्ट्रीय आय से अनुपात होती है और पूँजी उत्पत्ति अनुपात का अर्थ उत्पत्ति की एक इकाई के लिए आवश्यक पूँजी की मात्रा से लगाया जाता है जैसे इसके 5 : 1 होने का आशय है कि एक इकाई उत्पत्ति के लिए 5 इकाई पूँजी की आवश्यकता होती है। मान लीजिए, विनियोग की दर 25% है और पूँजी उत्पत्ति अनुपात 5 : 1 है तो विकास की वार्षिक दर $\frac{25\%}{5} = 5\%$ होगी। आर्थिक नियोजन के लिए निम्न आँकड़ों की भी आवश्यकता होती है जनसंख्या में वार्षिक वृद्धि दर श्रम शक्ति में वार्षिक वृद्धि की मात्रा घरेलू बचत की दर विदेशी सहायता की आवश्यकता विदेशी व्यापार की स्थिति आदि आदि। इस प्रकार योजना के निर्माण के लिए अनेक प्रकार के आँकड़ों की आवश्यकता होती है। फिर योजना के पूरा हो जाने पर उसकी उपलब्धियों का मूल्यांकन करने के लिए विभिन्न प्रकार के आँकड़ों की आवश्यकता होती है जैसे राष्ट्रीय आय में वृद्धि दर मुद्रास्फीति की वार्षिक दर कृषिगत उत्पादन में वृद्धि दर औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि दर इन्फ्रास्ट्रक्चर जैसे विद्युत परिवहन आदि के विकास की दशा रोजगार में वृद्धि निर्धनता में कमी क्षेत्रीय असमानता में कमी बजट घाटे में कमी इत्यादि।

योजना में वित्तीय नियोजन एक महत्त्वपूर्ण अंग होता है। योजना की वित्तीय व्यवस्था के लिए कर उधार घाटे की अर्थव्यवस्था सार्वजनिक उपक्रमों से लाभ विदेशी सहायता आदि के आँकड़ों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार योजना में उत्पादन वितरण व्यापार कीमतों साधन संग्रह आदि के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के आँकड़ों की आवश्यकता होती है। यह आवश्यकता राष्ट्रीय स्तर पर राज्य स्तर पर जिला-स्तर पर खण्ड स्तर पर तथा ग्राम स्तर पर होती है। इसलिए विकेन्द्रित नियोजन में जिला व खण्ड स्तर पर आँकड़ों का महत्त्व हो गया है। इसमें आँकड़ों का भी विकेन्द्रीकरण हो गया है।

(ii) सांख्यिकी व वाणिज्य

अर्थशास्त्र की भाँति वाणिज्य में भी सांख्यिकी का व्यापक रूप से उपयोग होता है। आज अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का युग है। एक देश में उत्पादन स्वदेशी माँग और विदेशी माँग दोनों की पूर्ति के लिए किया जाता है। इसलिए इनके अलग-अलग अनुमान लगाने की आवश्यकता होती है।

इसके अलावा वाणिज्य व्यवसाय में विभिन्न चरणों में सांख्यिकी की आवश्यकता होती है। उनका उल्लेख आगे किया जाता है

१. उत्पादन के चरण मे–कच्चे माल की खरीद श्रम व पूँजी को जुटाने, श्रम विभाजन करने पावर की समुचित व्यवस्था करने, कर्मचारी प्रबंध आदि में आँकडों की आवश्यकता होती है।

2 *किस्म नियत्रण* (Quality control) के लिए उत्पादन मे सैम्पल आधार पर जाँच की आवश्यकता होती है। इसके लिए 'स्वीकार करो' या 'अस्वीकार करो' के मानक निर्धारित किये जाते हैं।

3 इन्वेण्टरी नियत्रण–फर्म को उत्पादन निर्बाध व निरतर गति से जारी रखने के लिए कच्चे माल को उचित मात्रा में रखने की व्यवस्था करनी होती है। इसके लिए विभिन्न प्रकार के आँकडों व अनुमानों की आवश्यकता होती है।

4. *विपणन के चरण मे–माल की बिक्री के लिए बाजारों के सर्वेक्षण करने होते हैं और* माँग बढाने के प्रयास करने होते हैं। इसके लिए बिक्री सवर्धन के उपायों का चुनाव करना होता है, जैसे विज्ञापन कहाँ किया जाय, किस प्रकार किया जाय और कितना किया जाय, आदि।

5. लेखो की व्यवस्था–सम्पूर्ण लेन देन का हिसाब रखना भी आवश्यक होता है। इसके लिए *परिसम्पत्तियों* (assets) व *देनदारियों (liabilities) का पूरा हिसाब रखा जाता है* और हिसाब का अंकेक्षण (audit) करवाया जाता है।

'6. कार्य-प्रणाली मे अनुसधान–इसके लिए आधुनिक तकनीकों का उपयोग करके लाभ अधिकतमकरण, लागत न्यूनतमकरण व अनुकूलतम इन्वेण्टरी के स्तर, आदि ज्ञात किये जाते हैं। इसके लिए रेखीय प्रोग्रामिंग आदि विधियों का प्रयोग किया जाता है।

व्यापार व्यवसाय में पूँजी-बाजार, शेयर बाजार व मुद्रा बाजार की गतिविधियों की भी आवश्यकता होती है। इसके लिए ब्याज की दरों की जानकारी आवश्यक होती है, और इन बाजारों पर सरकार की कर नीति, आदि के प्रभावों का निरतर मूल्याकन किया जाता है। इस प्रकार साख्यिकी का आन्तरिक व्यापार व विदेशी व्यापार दोनों के सन्दर्भ में व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है।

(iii) *साख्यिकी व सार्वजनिक प्रशासन*

(Statistics and Public Administration)

आधुनिक युग में राज्य आँकडों का सबसे बडा उत्पादक व सबसे बडा उपभोक्ता बन गया है। सरकारी नीतियों के निर्धारण में आँकडों से बडी मदद मिलती है। आज सरकार का कार्यक्षेत्र बहुत बढ गया है। सरकार स्वय कई वस्तुओं के उत्पादन में सक्रिय रूप से भाग लेती है। *सार्वजनिक प्रशासन का दायरा दिन दुगुना व रात चौगुना बढता जा रहा है।* आधुनिक युग में सरकार का आर्थिक जीवन में योगदान निम्न रूपों में देखने को मिलता है–

(अ) प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन में भाग लेना,

(आ) इन्फ्रास्ट्रक्चर की सुविधाओं—सिंचाई, विद्युत, परिवहन, सचार, आदि का विस्तार करना,

(इ) बचत व विनियोग की दरों को बढाना,

(ई) आर्थिक स्थिरता व मूल्य स्थिरता के उपाय करना,

(उ) विदेशों से तकनीकी व आर्थिक सहयोग स्थापित करना,

(ऊ) अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओं से कर्ज लेने की व्यवस्था करना,

(ए) आर्थिक समानता व न्याय की स्थापना करना।

इस प्रकार *आर्थिक विकास करने, आर्थिक स्थायित्व लाने और आर्थिक समानता* के क्षेत्र में सरकार की महत्वपूर्ण भूमिका मानी जाने लगी है। इसके लिए सरकार औद्योगिक नीति, कृषिगत नीति, विदेशी व्यापार नीति, राजकोषीय नीति, मौद्रिक नीति व सम्पूर्ण आर्थिक नीति का निर्धारण करती है। इनके निर्धारण के लिए अनेक प्रकार के आँकडों का उपयोग किया जाता है ताकि नीतियों को सफल बनाया जा सके।

इनमें राजकोषीय नीति (fiscal policy) पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इसमें सरकार द्वारा कर लगाने, व्यय करने, उधार लेने, घाटे की वित्त व्यवस्था करने जैसे निर्णय शामिल किये जाते हैं। इनका देश के उत्पादन, रोजगार, मूल्य स्तर व आय के वितरण पर सीधा प्रभाव पडता है। अत सार्वजनिक प्रशासन में विभिन्न चरणों में देश की समस्याओं को हल करने के लिए आँकडों की आवश्यकता होती है। इनके अभाव में समस्याओं का हल निकालना सम्भव नहीं होता। सरकार को विशाल मात्रा में आर्थिक जानकारी व सूझ बूझ की आवश्यकता होती है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुचारू रूप से चलाने के लिए सरकार के पास माल के स्टॉक की आवश्यकता होती है। निजी अर्थव्यवस्था की तुलना में नियोजित अर्थव्यवस्था में ज्यादा मात्रा में आँकडों की आवश्यकता होती है क्योंकि इसमें कई प्रकार के नियत्रण व नियमन पाये जाते हैं।

इस प्रकार आँकडे प्रशासन की आँखें होते हैं। इनके बिना उचित निर्णय लेना असम्भव होता है।

(iv) साख्यिकी के अन्य लाभ

अर्थशास्त्र, वाणिज्य व सार्वजनिक प्रशासन के अलावा साख्यिकी के अध्ययन से आम आदमी को भी काफी लाभ हो सकता है। यदि सर्वसाधारण को जनसख्या की वृद्धि, साक्षरता की दर, शिशु मृत्यु दर, प्रति व्यक्ति खाद्यान्नों की उपलब्धि, प्रति व्यक्ति वास्तविक आय, वनों की ह्रासमान स्थिति जल की कमी, पर्यावरण की गिरावट, आदि से आँकडों के द्वारा परिचित कराया जाय तो सम्भवत परिवार नियोजन के लिए प्रेरणा स्वत उत्पन्न हो जायेगी। अत साख्यिकी के द्वारा जन चेतना व जन आन्दोलन उत्पन्न किये जा सकते हैं, जो समस्याओं के हल में मदद देते हैं। यही कारण है कि आजकल विभिन्न सस्थाओं के द्वारा समस्याओं की तथ्यात्मक जानकारी को रेखाचित्रों के द्वारा सर्वसाधारण तक पहुँचाने का काफी प्रयास किया जाने लगा है। अब साख्यिकी एक विलासिता का विषय न रह कर व्यवहार में सर्वसाधारण का विषय बनता जा रहा है। चाहे आम नागरिक साख्यिकी की जटिल गणितीय विधियों को न समझे, लेकिन ठीक से प्रस्तुत किये जाने पर वह प्राप्त निष्कर्षों को समझ सकता है, और उनसे लाभ उठा सकता है। अत हमें लोगों को आँकडों में रुचि लेने की प्रेरणा देनी चाहिए, लेकिन इसके लिए आवश्यक है कि आँकडे सही हों और आम आदमी के आसानी से समझ में आ सकें। तभी उसकी विकास में भागीदारी सुनिश्चित की जा सकेगी। जिस प्रकार बोलचाल की सुविधा के लिए सरल भाषा का उपयोग करना जरूरी होता है, उसी प्रकार देश की समस्याओं को समझने के लिए आवश्यक आँकडों को

जानना भी जरूरी होता है। आधुनिक जीवन में आँकड़ों का अभाव दूर करना बहुत आवश्यक हो गया है और इसमें सांख्यिक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। सांख्यिकी को निर्णय का आधार बनाना उचित ही माना जायेगा।

सांख्यिकी की सीमाएँ

(Limitations of Statistics)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आधुनिक युग में सांख्यिकीय विधियों व आकड़ों का महत्त्व काफी बढ़ गया है और यह उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। लेकिन सांख्यिकी की अपनी सीमाएँ भी होती हैं जिन्हें भुलाना नहीं चाहिए। इनका नीचे उल्लेख किया जाता है

1. सांख्यिकी का वैयक्तिक आँकड़ों (Individual data) में सरोकार नहीं होना–

सांख्यिकी वैयक्तिक आकड़ों का अध्ययन नहीं करती। जैसे, मान लीजिए, हमें भारत का 1994 95 का *खाद्यान्नों का उत्पादन दिया हुआ है, अथवा राष्ट्रीय आय या प्रति व्यक्ति* आय दी हुई है। इनका अपने आप में विशेष महत्त्व नहीं होता। इनका महत्त्व तभी होता है जब हम भारत के 1994-95 में खाद्यान्नों के उत्पादन की तुलना किसी अन्य देश में इसी वर्ष के खाद्यान्नों के उत्पादन से करें, अथवा भारत में पिछले वर्षों के खाद्यान्नों के उत्पादन से इसकी तुलना करें। *कहने का आशय यह है कि आँकड़ों की उपयोगिता तुलनात्मक दृष्टि से* ज्यादा मानी जाती है। यही बात राष्ट्रीय आय की तुलना के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

2. सांख्यिकीय परिणाम केवल औसत के रूप में ही सही होते है, जबकि वैयक्तिक इकाइयों के मूल्य काफी भिन्न हो सकते है–

औसत मूल्यों का अर्थ काफी सावधानी से लगाया जाना चाहिए, क्योंकि प्राय औसत मूल्य वैयक्तिक मूल्यों से काफी भिन्न होते हैं। जैसे प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय एक औसत होता है। *व्यवहार में व्यक्तियों की आय इस औसत से काफी अधिक या काफी कम हो* सकती है। इस प्रकार प्रति व्यक्ति आय की राशि वास्तविकता से मेल नहीं खाती। यह कमी विचलन ज्ञात करके दूर की जाती है। कई बार केवल औसत से घातक परिणाम भी निकल सकते हैं, जैसे पानी के एक नाले में एक जगह गहराई 4 फुट, दूसरी जगह 10 फुट व तीसरी जगह 1 फुट हो, तो औसत *गहराई 5 फुट होगी। अब मान लीजिए, लोग इसके औसत को* देख कर इसे पैदल चल कर पार करना चाहें तो 6 फुट लम्बे व्यक्ति भी डूब जायेंगे, क्योंकि रास्ते में 10 फुट गहरा पानी भी आ रहा है। अत केवल औसत के आधार पर निर्णय लेने से संकट खड़ा हो सकता है।

3. सांख्यिकी गुणात्मक विषयों (Qualitative subjects) के अध्ययन में सफल नहीं हो पाती–

सांख्यिकी प्राय संख्यात्मक परिस्थितियों का अध्ययन करती है, जैसे लोगों की आमदनी, व्यय, आयु आदि। यह गुणात्मक मामलों में जैसे ईमानदारी, बुद्धिमत्ता, आदि, में अधिक सफल नहीं हो पाती, हालांकि उनमें गुण सम्बन्ध (association of attributes) के माध्यम से अध्ययन करने का प्रयास अवश्य किया जा सकता है, जैसे व्यक्तियों को दो समूहों में *विभाजित किया जा सकता है यथा, ईमानदार व बेईमान, बुद्धिमान व बुद्धिहीन,* धनी व गरीब, शहरी व ग्रामीण, आदि।

4. सांख्यिकीय परिणाम शत प्रतिशत सुनिश्चित नहीं होते—

अधिकांश सांख्यिकीय परिणाम प्रायिकता सिद्धान्त (theory of probability) पर आधारित होते हैं और इनमें सेम्पलिंग विधि का प्रयोग किया जाता है। इसलिए इनसे प्राप्त परिणाम सही व विश्वसनीय होते हैं, फिर भी उनमें कुछ त्रुटियाँ रह सकती हैं। अत सांख्यिकीय परिणाम पूर्णतया सुनिश्चित नहीं माने जा सकते।

5 *सांख्यिकीय परिणामों से कारण-परिणाम सम्बन्ध (Causal relationship) स्थापित* करना सुगम नहीं होता—

सांख्यिकीय अध्ययन के मार्फत विभिन्न चलराशियों में सह सम्बन्ध तो स्थापित किया जा सकता है, लेकिन यह कहना आसान नहीं होता कि अमुक चलराशि अमुक चलराशि का कारण है। इसके लिए उस विषय के मूलभूत ज्ञान की आवश्यकता होती है। अकेला सांख्यिक इस सम्बन्ध में ज्यादा योगदान नहीं दे सकता।

6. सांख्यिकी के दुरुपयोग की सम्भावना बनी रहती है—

सांख्यिकी का दुरुपयोग होने की सम्भावना बनी रहती है। अशिक्षित व अदक्ष व्यक्ति इनका गलत अर्थ लगा सकते हैं। इसलिए इनका सही प्रयोग ज्यादातर दक्ष व अनुभवी व्यक्ति ही कर पाते हैं। *किंग के अनुसार आँकड़े तो मिट्टी के समान होते है जिनसे हम अपनी इच्छानुसार देवता या दानव बना सकते है।* अत सांख्यिकीय आँकड़ों का उपयोग बड़ी सावधानी से किया जाना चाहिए।

ऊपर सांख्यिकीय विधियों व आँकड़ों दोनों की सीमाओं की तरफ सकेत किया गया है। अत सांख्यिकी के अध्ययन व प्रयोग में इनको ध्यान में रखने की आवश्यकता रहती है। प्राय लोग आँकड़ों को झूठा मानते हैं। यह धारणा भी सही नहीं है। यदि सांख्यिकीय नियमों का पालन करते हुए सावधानीपूर्वक आँकडे एकत्र किये जाएँ तो उनकी काफी उपयोगिता होती है। इसी प्रकार सभी छपे हुए आँकड़ों को आँख मूँद कर स्वीकार करने की आदत भी सही नहीं होती है। हमें इस सम्बन्ध में सतुलित दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। हमें आँकड़ों का उपयोग करने की आदत डालनी चाहिए, लेकिन हमें उनका अंधानुकरण नहीं करना चाहिए (We should be data minded, not data blinded)। स्मरण रहे कि सांख्यिकीय विधियाँ वैज्ञानिक पद्धति का अग होती हैं और इनका सही उपयोग करने पर ये बहुत उपयोगी सिद्ध होती हैं। इनका वैज्ञानिक अस्त्र (Scientific tool) के रूप में उपयोग ही वाछनीय माना जाता है।

प्रश्न

1 सांख्यिकी की परिभाषा दीजिए। उसकी सीमाए क्या हैं? (Ajmer Iyr 199()

2 सांख्यिकीय विधियों की प्रकृति को समझाइए।

3 सांख्यिकी की प्रकृति, महत्व एव सीमाओं की व्याख्या कीजिये। (Ajmer Iyr., 1995)

4 सांख्यिकी की सीमाएँ बतलाइए।

5 'साख्यिकी अनिश्चितता की दशा मं बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय लेने में मदद देने वाली विधियो का एक ममूह होती है।' वालिस व रोबर्टस
इस कथन की विवेचना कीजिए।

6 सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए-
   (i) साख्यिकीय विधियों की मुख्य विशेषताएँ
   (ii) साख्यिकी का आर्थिक योजना के निर्माण व मूल्याकन म महत्त्व
   (iii) साख्यिकीय परिणाम केवल औसत रूप से ही सही होत हैं
   (iv) साख्यिकी प्रशासन की आँखें होती हैं एव
   (v) साख्यिकी का महत्त्व (Importance of Statistics)।

7 भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्था में साख्यिकी क अध्ययन का विशेष महत्त्व होता है। क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? विस्तारपूर्वक लिखिए।



आँकड़ों का संकलन व प्रस्तुतीकरण
(Collection and Presentation of Data)

इस अध्याय में हम आँकड़ों के सकलन व प्रस्तुतीकरण का विवेचन करने के बाद आवृति वटन या वितरण (frequency distribution) का उल्लेख करेंगे।

आँकड़ो का सकलन (Collection of Data)

आँकडों का सकलन जाँच के विषय व उसकी प्रकृति व उद्देश्यों पर निर्भर किया करता है। आँकडे दो प्रकार के होते हैं प्राथमिक (primary) और द्वितीयक (Secondary)। प्राथमिक आँकड़े जाँच के दौरान स्वय जाँचकर्ता द्वारा एकत्र किये जाते हैं, जैसे जनगणना के समय अनुसूचियों (Schedules) मे जनसख्या सम्बन्धी सूचनाएँ भरी जाती है। द्वितीयक आँकडें वे आँकडे होते हैं जो स्वय अनुसधानकर्ता एकत्र नहीं करता, बल्कि वह पहले से एकत्र प्रकाशित या अप्रकाशित आँकडों का ही उपयोग करके आवश्यक परिणाम निकालता है। आजकल द्वितीयक आँकडों का महत्त्व बहुत बढ गया है। रिसर्च करने वाले लोग भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा प्रकाशित करेन्सी व फाइनेन्स रिपोर्ट, केन्द्रीय साख्यिकीय सगठन द्वारा प्रकाशित राष्ट्रीय लेखा साख्यिकी (National Accounts Statistics), उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण (Annual Survey of Industries), वार्षिक आर्थिक सर्वेक्षण (Economic Survey), आदि के आकडों का उपयोग करके आवश्यक परिणाम निकालते हैं। अनुसधानकर्ताओं के लिए इन स्रोतों से प्राप्त आँकडें द्वितीयक आँकडें (secondary data) कहलाते हैं। लेकिन स्मरण रहे कि जो सस्थाएँ इन आँकडों को एकत्र करती हैं उनके लिए ये प्राथमिक आकडे होते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय आय के आँकडे केन्द्रीय साख्यिकीय सगठन (C.S O) के लिए प्राथमिक आँकडे होते हैं, जबकि इस विषय पर रिसर्च करने वाले के लिए ये द्वितीयक आँकडें होते हैं। प्राय प्राथमिक आँकडों को एकत्र करना आँकडों का सग्रहण (Collection) कहलाता है, जबकि प्रकाशित आँकडों का उपयोग करना या जुटाना इनका सकलन करना (Compilation) कहलाता है।

प्राथमिक व द्वितीयक आँकडों का अतर एक अश का अतर (difference of degree) कहलाता है, क्योंकि एक सस्था के लिए जो आँकडे प्राथमिक होते हैं वे दूसरों के लिए द्वितीयक हो सकते हैं। यदि अनुसधानकर्त्ता का काम प्रकाशित आँकडों से चल सकता है तो उसे इन्ही का, अर्थात् द्वितीयक आँकडों का ही उपयोग करना चाहिए, क्योंकि इससे उनके समय व व्यय की बचत होगी और काम शीघ्रतापूर्वक हो जायगा। लेकिन यदि

अनुसधान के लिए स्वय अनुसधानकर्ता को आँकडे एकत्र करने पडें तो इससे पीछे नही हटना चाहिए, और उचित प्रश्नावली या अनुसूची का उपयोग करके ताजा आँकडे एकत्र करने चाहिए। अत प्राथमिक व द्वितीयक आँकडों के बीच चुनाव जाँच की प्रकृति व क्षेत्र वित्तीय साधन समय, आवश्यक शुद्धता या सुनिश्चितता के अश आदि पर निर्भर करता है।

प्राथमिक आँकडे कई तरह से एकत्र किये जा सकते हैं जैसे

(i) **प्रत्यक्ष व्यक्तिगत साक्षात्कार से**–इसमें जिनमे सूचना लेनी होती है उनमे मिलना पडता है। उनसे सर्वेक्षण से सम्बन्धित प्रश्न पूछे जाते हैं।

(ii) **परोक्ष मौखिक साक्षात्कार से**–इसमें अन्य व्यक्तियों से पूछ-ताछ करके सूचना एकत्र की जाती है, क्योंकि सम्भवत प्रत्यक्ष रूप से सूचना एकत्र करना मुश्किल होता है जैसे मादक पदार्थों के सेवनकर्त्ताओं से सीधे सूचना प्राप्त करना कठिन होता है इसलिए उनके मित्र सम्बन्धी व पडौसियों से आवश्यक सूचना एकत्र की जाती है।

(iii) सवाददाताओं के माध्यम से सूचना एकत्र की जा सकती है जैसा कि अखबार वाले करते हैं।

(iv) डाक से प्रश्नावली (mail questionnaire) भेज कर सूचना एकत्र की जा सकती है, और

(v) प्रगणकों (enumerators) द्वारा अनुसूचियाँ भरवा कर सूचना एकत्र की जा सकती है।

प्रश्नावली व अनुसूची में प्रत्येक के गुण दोष पाये जाते हैं। इनमें से चुनाव करने के लिए कई बातों पर ध्यान देना होता है। अनुसूचियाँ भरवाने में प्रगणकों पर व्यय करना होता है। अत यह विधि खर्चीली होती है। लेकिन प्रगणकों को आवश्यक प्रशिक्षण देकर इस विधि के माध्यम से काफी गहन व विस्तृत प्रकार की सूचना एकत्र की जा सकती है।

प्रश्नावली का निर्माण सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए। इसके लिए काफी अनुभव व दक्षता की आवश्यकता होती है। प्रश्नावली के साथ एक सक्षिप्त पत्र भी भेजा जाना चाहिए जिसमें सर्वेक्षण का उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए। उत्तर देने वाले को यह विश्वास दिलाया जाना चाहिए कि उसकी सूचना गुप्त रखी जायगी। उसे प्रश्नावली को भरकर भेजने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए।

प्रश्नावली में प्रश्नों के सम्बन्ध में निम्न नियमों का पालन करने से काफी लाभ होगा—

1 **प्रश्नो की सख्या यथासम्भव न्यूनतम रखी जानी चाहिए।**

2. उन्हें क्रमबद्ध जँचाया जाना चाहिए। जैसे रोजगार के बारे में पूछने से पूर्व शिक्षा दीक्षा के बारे में पूछा जाना चाहिए। इस क्रम के विपरीत प्रश्न पूछना उचित नही माना जाता।

3 प्रश्न छोटे व सरल होने चाहिए। वे अस्पष्ट न हों जैसे पूँजी के बारे में प्रश्न करते समय यह स्पष्ट करना चाहिए कि आशय स्थिर पूँजी (fixed capital) से है या कार्यशील पूँजी (*working capital*) से। इसी प्रकार यह प्रश्न भ्रमात्मक है कि आपके मकान का आकार क्या है? इसका कोई तो प्लाट की साइज में उत्तर देगा और कोई कमरों की सख्या में।

4 प्रश्नों के उत्तर के लिए श्रेणियाँ (categories) स्पष्टतया व पूर्णरूप से दी जानी चाहिए जैसे ये श्रेणियाँ काफी नहीं हैं

क्या आप विवाहित हैं ? ☐

क्या आप अविवाहित है ? ☐

इनकी जगह निम्न श्रेणियाँ दी जानी चाहिए, जो पूर्ण मानी जायेंगी

क्या आप विवाहित हैं ? ☐

पति का देहात/पत्नी का देहात (Widowed) हैं ? ☐

तलाकशुदा हैं (divorced) ? ☐

अलग रहते हैं (separated) ? ☐

कभी शादी नहीं हुई (never married) ? ☐

इसी प्रकार ये दो प्रश्न भी पर्याप्त नहीं हैं

क्या आपकी उत्पादन की इकाई सार्वजनिक क्षेत्र में है ? ☐

निजी क्षेत्र में है ? ☐

इसकी जगह निम्न श्रेणियाँ दी जानी चाहिए

क्या आपकी उत्पादन की इकाई सार्वजनिक क्षेत्र में है ? ☐

निजी क्षेत्र में है ? ☐

सयुक्त क्षेत्र में है ? ☐

सहकारी क्षेत्र में है ? ☐

कहने का आशय है कि उत्तर के लिए स्पष्ट, व्यापक व पूर्ण क्षेत्र दिया जाना चाहिए।

5 प्रश्न इस तरह रखा जाना चाहिए ताकि आवश्यक सूचना मिल सके, जैसे—आयु वितरण के सम्बन्ध में सीधा सवाल 'वर्तमान आयु क्या है ?' होना चाहिए, न कि 'जन्म तिथि क्या है ?' क्योंकि बहुत कम लोग अपनी जन्म तिथि याद रख पाते हैं।

6 राय से सम्बन्धित प्रश्न न पूछ कर तथ्य से सम्बन्धित प्रश्न पूछना ज्यादा उपयुक्त रहता है, जैसे क्या आप अपने वर्तमान काम से सन्तुष्ट हैं ? की बजाय यह पूछना चाहिए कि 'क्या आप अपना काम बदलना चाहेंगे यदि हाँ तो किस तरह का काम करना चाहेंगे ?

7 प्रश्नावली को भरने के लिए सुनिश्चित हिदायतें दी जानी चाहिए। सभी प्रश्नों में शब्दों को ठीक से समझा दिया जाना चाहिए।

8 उत्तरो के लिए यथेष्ट स्थान दिया जाना चाहिए।

9. प्रश्नावली को अन्तिम रूप देने से पूर्व उसकी जाँच कर लेनी चाहिए, इसके लिए एक बार स्वय भर कर देख लना चाहिए ताकि किसी प्रकार की कमी न रह जाए।

इस प्रकार प्रश्नावली तैयार करने में व्यावहारिक सूझबूझ व सावधानी की ज्यादा आवश्यकता होती है। इसके लिए कोई सुनिश्चित रूपरेखा नहीं होती। जाँच का उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए ताकि उसके अनुरूप प्रश्नावली या अनुसूची बनायी जा सके।

6 वित्त (दीर्घकालीन)

6 1 क्या आपकी इकाई को किसी राज्य वित्त निगम/ अन्य सरकारी एजेन्सी से दीर्घकालीन वित्त मिल रहा है ? हाँ/नहीं

6 2 उस पर ब्याज की दर क्या है ?

6 3 क्या आप उस वित के बिना इकाई चालू कर पाते ? हाँ/नहीं

6 4 यदि हाँ तो आप को किस स्रोत से किस ब्याज पर वित्त मिलता ?

ब्याज की दर

मित्र/सम्बन्धी
स्वदेशी बैंक
व्यापारिक बैंक
अन्य

7 वित्त (अल्पकालीन) -

7 1 क्या इकाई को व्यापारिक बैंक से (अन्य सरकारी माध्यम से) अल्पकालीन वित्त मिल रहा है ? हाँ/नहीं

7 2 उस पर ब्याज की दर क्या है ?

7 3 क्या आप इस वित के अभाव में इकाई चालू कर पाते ?

7 4 यदि हाँ, तो किस स्रोत से किस ब्याज की दर पर वित जुटा पाते ?

ब्याज की दर

मित्र/सम्बन्धी
स्वदेशी बैंकर
अन्य

8 मशीनरी

8 1 क्या आपको स्वदेशी या आयातित मशीनरी सरकार से किस्तों पर मिली है ?

हाँ/नहीं

(i) स्वदेशी
(ii) आयातित
(iii) दोनों

8 2 यदि हाँ तो क्या आप इस सहायता के बिना अपनी इकाई चालू कर पाते

हाँ/नहीं

8.3 यदि हाँ तो इस सहायता से आपकी इकाई को किन अर्थों में मदद मिली ?

(i) माल की बेहतर किस्म
(ii) अधिक मात्रा में माल
(iii) कम मरम्मत की लागत
(iv) अन्य

9 कच्चा माल

9 1 क्या आपको सरकार से स्वदेशी कच्चे माल की सहायता मिलती है ? हाँ/नहीं

9 2 क्या आपको सरकार से विदेशी कच्चे माल की सहायता मिलती है ? हाँ/नहीं

9 3 यदि हाँ (तो प्रत्येक मामले में) इस सहायता से आपकी इकाई को किस प्रकार की मदद मिली ?

(i) पर्याप्त मात्रा

(ii) आसान उपलब्धि

(iii) ठीक समय पर

(iv) ठीक कीमतों पर

(v) रियायती कीमतों पर

9 4 सरकारी कच्चे माल के अभाव में क्या आप यह इकाई शुरू कर पाते ? हाँ/नहीं

9 5 यदि नहीं तो आपको इकाई चालू करने में विशेष योगदान किन तत्वों से मिला ?

10 अन्य प्रेरणाएँ

क्या आपने निम्न प्रेरणाओं से लाभ उठाया है ?

मद	हाँ/नहीं	प्रेरणा के बतौर कितनी प्रतिशत छूट या कटौती मिली ?
(i) बिक्री कर की एवज में ऋण		
(ii) विद्युत टैरिफ		
(iii) चुंगी		
(iv) केन्द्रीय/राज्य पूंजी सब्सिडी		
(v) ब्याज की रियायती दर		

11 अन्य कोई प्रेरणा और उसने आपकी इकाई को किस प्रकार प्रभावित किया ?

यहाँ हम चाहें तो प्रेरणाओं में बिक्री की प्रेरणाएँ व तकनीकी सहायता आदि को भी शामिल कर सकते हैं। लेकिन प्रश्नावली को सरल रखने के लिए संकेत के रूप में चुनी हुई प्रेरणाएँ ही ली गयी हैं। इसके अध्ययन से किसी अन्य समस्या के बारे में प्रश्नावली बनाने में मदद मिल सकती है। प्रश्नावली स्पष्ट सरल व सुनिश्चित किस्म की तैयार की जानी चाहिए। व्यावहारिक अनुभव से इसके निर्माण में सहूलियत होती है।

आँकड़ो का प्रस्तुतीकरण
(Presentation of Data)

आँकडों को प्राय तालिकाओं, चित्रों व रेखाचित्रों (Graphs) के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। इनका अपना अपना महत्त्व होता है। आजकल नाना प्रकार के चित्रों व ग्राफों का प्रयोग होने लगा है। हम यहाँ पर कुछ बहु प्रचलित चित्रों व ग्राफों का उल्लेख करेंगे। आगे चल कर चित्रों व रेखाचित्रों का विस्तृत विवरण सांख्यिकी की पाठयपुस्तकों में पढने को मिलेगा। यहाँ केवल मुख्य बातों पर ही प्रकाश डाला गया है जिनको जानना अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों के लिए लाभकारी होता है।

तालिका का निर्माण करना

संकलित आँकडों को तालिका के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। आर्थिक विषयों से सम्बन्धित किसी भी प्रकाशन में अनेक प्रकार की तालिकाएँ या सारणियाँ देखने को मिलेंगी। यद्यपि तालिकाओं का प्रचलन तो बहुत बढ गया है, तथापि इनको प्रस्तुत करने में पूरी सावधानी न बरतने से कई बार इनको समझने में कठिनाई होती है। अत एक तालिका के सम्बन्ध में निम्न बातों पर ध्यान दिया जाना अत्यन्त आवश्यक होता है।

(i) **तालिका का शीर्षक पूर्णतया स्पष्ट होना चाहिए।** इसको पढते ही पाठक को यह पता लग जाना चाहिए कि इसमें किन तथ्यों का उल्लेख किया गया है।

(ii) इसमें विभिन्न **वर्गीकरण स्पष्ट रूप से दर्शाये जाने चाहिएँ।**

(iii) इसमें **माप की इकाइयाँ** साफ तौर से बतायी जानी चाहिए, जैसे करोडों में, मिलियन में, लाखों में, रुपयों में, प्रतिशत में, आदि, आदि।

(iv) यदि तालिका में **कोई अपरिचित शब्द या अवधारणा** काम में ली जाती है, तो फुटनोट में उसको समझाया जाना चाहिए, अन्यथा पाठकों के लिए तालिका का विशेष अर्थ नही निकलेगा।

(v) यदि एक तालिका किसी दूसरी तालिका से प्राप्त की गई है तो उसका स्रोत भी फुटनोट में दिया जाना चाहिए।

(vi) यदि तालिका में किसी कॉलम या पंक्ति का जोड कुल योग से मेल नही खाता तो उसका कारण फुटनोट में बताया जाना चाहिए।

उपर्युक्त चर्चा से स्पष्ट होता है कि एक तालिका के प्रस्तुतीकरण में पूरी सावधानी बरतने से ही उसे उपयोगी बनाया जा सकता है। बहुधा इस सम्बन्ध में लापरवाही देखी जाती है जिससे तालिकाएँ लाभप्रद होने के बजाय भ्रमात्मक सिद्ध होती हैं। कभी कभी इस सम्बन्ध में उन क्षेत्रों में भी असावधानी देखी जाती है जहाँ सामान्यतया पूर्ण सावधानी की आशा की जाती है। हम आगे राजस्थान में बेरोजगारी के सम्बन्ध में एक तालिका देते हैं जिसमें सभी बातों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया गया है

राजस्थान मे एन.एम.एस. के 1987-88 के 43 दौर के आधार पर भागीदारी की दरें, बेरोजगारी की दरें (प्रति 1,000) तथा श्रमिकों व बेरोजगारों की अनुमानित सख्याएँ (सामान्य स्टेट्स, समायोजित के आधार पर) *

(5+ वर्ष के आयु-समूह के लिए)

	ग्रामीण		शहरी	
	पुरुष	महिलाएँ	पुरुष	महिलाएँ
क्रूड श्रमिक-भागीदारी की दर **	512	450	471	191
अनुमानित सख्या (मिलियन मे)	8 2	6.8	2 4	0 9
श्रम-शक्ति में बेरोजगारी की दर (प्रति हजार)	19	13	41	10
बेरोजगारों की अनुमानित सख्या (हजारों मे)	161	91	104	9
श्रम-शक्ति में भागीदारी की दर **	522	455	491	193
श्रम-शक्ति की अनुमानित सख्या (मिलियन में)	8.3	6 9	2.5	1 0

यदि उपर्युक्त तालिका में कोई भी एक या अधिक बात न दर्शायी जाती है तो तालिका का सही उपयोग करना कठिन हो जाता है। मान लीजिए, इसके शीर्षक में सामान्य स्टेटस *(समायोजित) नहीं दिया जाता है तो पाठक यह नहीं जान पायेंगे कि यह साप्ताहिक स्टेटस* वाली बेरोजगारी है, अथवा चालू दैनिक स्टेटस के आधार वाली बेरोजगारी है। इसी प्रकार 5+ वर्ष के आयु-समूह का अपना महत्त्व होता है। प्राय यह 15+ वर्ष के आयु-समूह के लिए, अथवा 15-59 वर्ष के लिए भी दी जाती है। हमने फुटनोट में श्रमिक-भागीदारी दर तथा श्रम-शक्ति मे भागीदारी की दरें भी स्पष्ट कर दी हैं, जो अन्यथा स्पष्ट नहीं होती हैं। अत पूरे विवरण देने से ही तालिकाओं को अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है।

कुछ महत्त्वपूर्ण किस्म के रेखाचित्र (ग्राफ व चार्ट)

1. बार-चार्ट (दण्ड-रेखाचित्र) —सबसे सरल किस्म का ग्राफ बार-चार्ट होता है। इस पर एक चलराशि दिखाने पर यह सरल (Simple) बार-चार्ट होता है और एक से अधिक चलराशि दिखाने पर यह बहुगुणा (Multiple) बार-चार्ट होता है।

एक सरल बार-चार्ट बनाने के लिए हम अग्र तालिका का प्रयोग करते हैं.

* सामान्य स्टेट्स समायोजित में दीर्घकालीन बेरोजगार या वर्ष भर के बेरोजगार व्यक्ति आते हैं, और इनमें सहायक स्टेट्स वाले हटा दिये जाते हैं। मुख्य स्टेट्स में ज्यादा समय तक काम किया जाता है और सहायक स्टेट्स में कम समय तक काम किया जाता है।

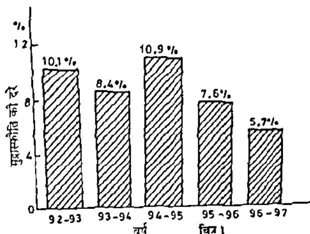
** क्रूड श्रमिक-भागीदारी की दर-कुल जनसख्या में काम में सलग्न व्यक्तियों का अनुपात बतलाती है, तथा श्रम-शक्ति में भागीदारी की दर कुल जनसख्या में काम में सलग्न व्यक्तियों व बेरोजगार व्यक्तियों के अनुपात को बतलाती है। श्रम-शक्ति में काम में सलग्न व्यक्ति व बेरोजगार

तालिका -1

भारत में थोक मूल्यों के आधार पर मुद्रास्फीति की वार्षिक दरें (पिछले वर्ष की तुलना में) [1]

वर्ष	(52 सप्ताहों का औसत) (प्रतिशत में)
1992 93	10 1
1993 94	8 4
1994 95	10 9
1995 96	7 9
1996 97 (जनवरी 11, 1997)	5 7

इन आँकड़ों का बार चार्ट नीचे दर्शाया जाता है–



चित्र 1

स्पष्टीकरण–चित्र 1 में हमने भारत में 1992 93 से 1996 97 (11 जनवरी, 97 तक) की अवधि के लिए वार्षिक मुद्रास्फीति की दरें दिखलायी हैं। क्षैतिज अक्ष पर वर्ष लिये गये है और लम्बवत् अक्ष पर मुद्रास्फीति की दरें (प्रतिशत में)। क्षैतिज अक्ष पर हम थोडी दूरी छोड कर लम्बवत् अक्ष पर 1992 93 के लिए 10 1% का एक बार बनाते हैं, फिर कुछ दूरी छोड कर 1993 94 के लिए 8 4% का दूसरा बार बनाते हैं, और यही क्रम अन्य वर्षों के लिए दोहराया जाता है। इस प्रकार कुल पाँच बार बनाये जाते है जो पाँच वर्षों के लिए मुद्रास्फीति की वार्षिक दरों को प्रगट करते हैं। प्रत्येक बार के ऊपर मुद्रास्फीति की दर दिखाने से स्थिति ज्यादा स्पष्ट हो जाती है, लेकिन इनका दिखाया जाना आवश्यक नहीं होता।

प्रत्येक बार की क्षैतिज दूरी सुविधानुसार ली जाती है, लेकिन वह प्रत्येक वर्ष के लिए समान रखनी होती है। लम्बवत् अक्ष का पैमाना ठीक से लिया जाना चाहिए। मान लीजिए उस पर मूल्य 110 से 130 के बीच ही दिखाये जाने हैं, तो मिथ्या या कृत्रिम आधार-रेखा (false base line) का प्रयोग करना होगा। हम लम्बवत् दूरी पर 100 से प्रारम्भ कर सकते

1 Economic Survey 1996 97, p 69

हैं और उस पर 110, 120, 130 दूरियाँ अंकित करके बार खड़े कर सकते हैं। इसके लिए आधार-रेखा व लम्बवत् रेखा पर आवश्यक निशान लगाना पड़ता है। यदि एक से अधिक चलराशि दिखानी हो तो प्रत्येक वर्ष के लिए साथ साथ दो या अधिक बार खड़े किये जा सकते हैं जिससे बहुविध बार-चार्ट (multiple bar charts) बनते हैं।

2. समय-शृंखला को वक्र द्वारा दर्शाना (Plotting time-series curve)

विभिन्न वर्षों के लिए राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय (प्रचलित व स्थिर मूल्यों पर), आयात व निर्यात, मुद्रा की पूर्ति (M_1 व M_3) आदि चलराशियों को वक्र द्वारा दर्शाया जा सकता है। यह भी अर्थशास्त्र में काफी लोकप्रिय माना गया है।

नीचे भारत की प्रतिव्यक्ति आय (प्रचलित भावों व 1980-81 के भावों पर) तालिका में दी गई है जिसे आगे चित्र द्वारा दर्शाया गया है। इसे कालिक रेखाचित्र (Historigram) कहा जाता है।

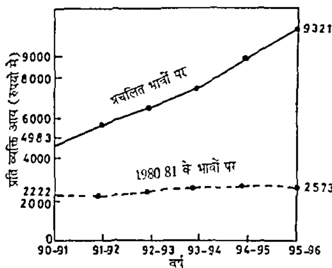
तालिका—2

भारत की प्रतिव्यक्ति आय (प्रचलित भावों व 1980-81 के भावों पर)

(1990-91 से 1995-96 तक)

वर्ष	प्रचलित भावों पर (रुपयों में)	1980-81 के भावों पर (रुपयों में)
1990 91	4983	2222
1991 92	5603	2175
1992-93	6262	2244
1993-94	7185	2334
1994-95	8282	2449
1995-96	9321	2573

स्रोत . Economic Survey 1996-97, p S 3

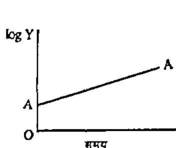


चित्र 2

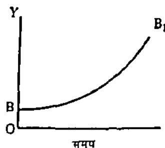
निम्न दृष्टान्त में हम लम्बवत् अक्ष पर निरपेक्ष मूल्य व लॉग मूल्य अंकित करने का अंतर स्पष्ट करते हैं—

समय	चलराशि का निरपेक्ष मूल्य (Y)	चलराशि का लॉग मूल्य (log Y)
1	100	2.0000
2	110	2.0414
3	121	2.0828
4	133.1	2.1242
5	146.41	2.1656

यहाँ Y चलराशि में प्रत्येक अवधि में 10% की दर से वृद्धि हो रही है।* इसके लॉग मूल्यों को लम्बवत् अक्ष पर अंकित करने से एक सरल रेखा बनेगी, जबकि केवल Y मूल्यों को अंकित करने पर एक वक्र बनेगा। नीचे के दो चित्रों में ये दोनों स्थितियाँ दर्शायी गयी हैं–



चित्र 3



चित्र 4

स्पष्टीकरण—चित्र 3 में लम्बवत् अक्ष पर log Y की मात्राएँ अंकित की गयी हैं जो प्रत्येक अवधि में लॉग में 0.0414 मात्रा से बढ़ती हैं। इसलिए इससे एक सरल रेखा AA बनती है। चित्र 4 में लम्बवत् अक्ष पर केवल Y की मात्राएँ अंकित की गयी हैं। इनसे एक ऊपर की ओर जाने वाला वक्र BB^1 बनता है, क्योंकि परिवर्तन की मात्राएँ 10, 11, 12.1 तथा 13.31 निरपेक्ष रूप में बढ़ती जा रही हैं।

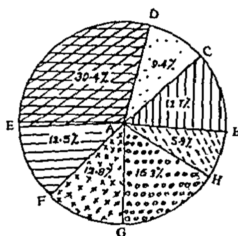
अतः जब हमें लम्बवत् अक्ष पर सापेक्ष परिवर्तन या प्रतिशत परिवर्तन दिखाने हों तो उस पर चलराशि के लॉग अंकित करने होंगे।

* 100 से 110 तक जाने पर परिवर्तन की दर 10% है तथा 110 से 121 पर जाने से भी परिवर्तन की दर $\frac{11}{110} \times 100 = 10\%$ ही रहता है।

4. वृत चित्र (Pie Chart)—आजकल अर्थशास्त्र में विभिन्न विषयों की चर्चा में पाई चार्ट का उपयोग बहुत लोकप्रिय हो गया है। इसे निम्न उदाहरण की सहायता से समझाया गया है। इसमें एक वृत्त (Circle) खीच कर कुल 360° को विभिन्न मदों के प्रतिशतों के अनुपात में विभाजित करके चित्र में दर्शाया जाता है।

नीचे भारत की सातवी पचवर्षीय योजना (1985-90) के लिए सार्वजनिक परिव्यय का विभिन्न मदों पर प्रस्तावित आवटन दर्शाया गया है। इसे पाई-चित्र की सहायता से व्यक्त किया गया है।

	विकास का शीर्षक (1)	(करोड़ रु) (2)	प्रतिशत (3)	कोण में परिवर्तन (डिग्रियों में) (4)		कोण (लगभग)
I	कृषि, ग्रामीण विकास व विशिष्ट क्षेत्रीय कार्यक्रम	22,793	12 7	45 7	=	46
II	सिचाई व बाढ़ नियत्रण	16,979	9 4	33 8	=	34
III	ऊर्जा	54,821	30 4	109 4	=	109
IV	उद्योग व खनन	22,461	12 5	45 0	=	45
V	परिवहन	22,971	12 8	46 1	=	46
VI	सामाजिक सेवाएँ	29,350	16 3	58 7	=	59
VII	अन्य	10,625	5 9	21.3	=	21
	कुल योग	1,80,000	100 0	360°	=	360°



चित्र 5

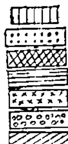
स्पष्टीकरण—विभिन्न शीर्षकों के मूल्यों को हम सर्वप्रथम प्रतिशतों में बदल लेते हैं। इसके लिए एक मद के अन्तर्गत मूल्य का कुल से प्रतिशत निकाला जाता है, जैसे ऊपर मद सख्या I के लिए यह 12 7% आता है, चूंकि यह ($\frac{22793}{180000} \times 100$) के बराबर है। इसी प्रकार अन्य मदों के प्रतिशत निकाले जाते हैं।

चूंकि हम इन मूल्यों को एक वृत्त के खण्डों के रूप में दिखायेंगे, इसलिए कुल 360° को विभिन्न मदों पर विभाजित करना होगा। इसका एक सरल उपाय यह है कि विभिन्न प्रतिशतों को क्रमश 3 6 से गुणा कर दिया जाय। उससे कॉलम (4) प्राप्त हो जायगा, जिसका उपयोग पाई चित्र बनाने में किया जायेगा।

पाइ-चित्र बनाने की विधि—हम पहले अदाज से एक वृत्त खीच लेते हैं। फिर उसके केन्द्र A से एक रेखा AB लेते हैं। इस पर 46° पर AC खींचते हैं, फिर AC को आधार मान कर 34° पर AD खींचते हैं, फिर AD को आधार लेकर 109° पर AE खींचते हैं। तत्पश्चात् इसी तरह अन्य कोणों पर रेखाएँ बना कर चार्ट पूरा करते हैं।

उपर्युक्त चित्र के संकेत इस प्रकार हैं—

1. कृषि, ग्रामीण विकास व विशिष्ट क्षेत्रीय कार्यक्रम
2. सिंचाई व बाढ नियंत्रण
3. ऊर्जा
4. उद्योग व खनन
5. परिवहन
6. सामाजिक सेवाएँ
7. अन्य



जैसा कि ऊपर सकेत दिया गया था, आजकल पाई-चित्रों का उपयोग बहुत बढ गया है। भारत के आयात निर्यात किसी भी वर्ष के लिए मदवार व देशों के अनुसार पाई-चित्रों द्वारा व्यक्त किये जा सकते हैं। प्रति वर्ष आर्थिक सर्वेक्षण में कई प्रकार के पाई चित्र दिये जाते हैं। उपर्युक्त विवरण के आधार पर उनको समझना सुगम हो जायगा।

कई बार ऐसा प्रतीत होता है कि जब प्रतिशत अलग से दिखाये जाते हैं तो वृत्त बनाकर उसका खण्ड बनाने से कोई विशेष लाभ नहीं होता। अत कभी-कभी पाई-चार्ट अनावश्यक से लगते हैं, फिर भी चित्र रूप में इसकी खूबसूरती से इन्कार नहीं किया जा सकता।

अब हम आवृत्ति वितरण (Frequency distribution) का विवेचन करेंगे और इससे जुड़े रेखाचित्रों का भी विवरण देंगे। वे भी आर्थिक विश्लेषण में बहुत ज्यादा प्रयुक्त किये जाते हैं।

आवृत्ति-तालिका का निर्माण

(Construction of A Frequency Table)

साख्यिकी में आवृत्ति बटन या वितरण का विषय बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है, क्योंकि प्राय. इसके बाद ही आँकड़ों का विश्लेषण प्रारम्भ हो पाता है।

आवृत्ति वितरण में दो कॉलम होते हैं, पहले कॉलम में चलराशि के विभिन्न मूल्य (Different values of the variable) दर्शाये जाते हैं और दूसरे कॉलम में उनसे सम्बन्धित आवृत्तियाँ दर्शायी जाती हैं।

मान लीजिए, एक कक्षा में 10 विद्यार्थियों को किसी टेस्ट में 10 अकों में से निम्न अक प्राप्त हुए– 0, 4, 4, 4, 8, 8, 9, 9, 9, 10

तो इनकी आवृत्ति तालिका इस प्रकार होगी

अक	आवृत्तियाँ (Frequencies)
0	1
4	3
8	2
9	3
10	1
कुल	10

तालिका में यह सूचना स्पष्ट रूप में प्रस्तुत की गयी है। इसे इस प्रकार पढा जायेगा 4 अक प्राप्त करने वाले विद्यार्थी 3 हैं, इसी प्रकार 8 अक प्राप्त करने वाले विद्यार्थी 2 हैं, 9 अक प्राप्त करने वाले 3 हैं, आदि।

आगे बढने से पूर्व हमें दो प्रकार की चलराशियों में अतर करना होगा, प्रथम,

खण्डित चलराशि (discrete variable) – इसमें चलराशि कोई निश्चित मूल्य ही ले सकती है, जैसे परिवार में बच्चों की सख्या 1, 2, 3, आदि, एव मकान में कमरों की सख्या 1, 2, 3, आदि। यहाँ 1 से 2 के बीच में कोई मूल्य नहीं होता।

द्वितीय, अखण्डित या सतत चलराशि (Continuous variable) – इसमें चलराशि कई मूल्य ले सकती है, आयु, आमदनी, आदि सतत चलराशि के उदाहरण माने जाते हैं। आमदनी छोटे अशों में भी प्रगट की जा सकती है, इसलिए यह सतत चलराशि मानी जाती है।

स्मरण रहे कि एक खण्डित चलराशि को भी सतत आवृत्ति वितरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। जैसे 100 मकानों में कमरों की सख्या के अनुसार अध्ययन में निम्न प्रकार की तालिका दी जा सकती है—

कमरों की सख्या	मकान
1-2	25
3-4	50
5-6	15
7-8	10
कुल	100

इसमे प्रत्येक वर्ग में जो सीमाएँ दी गयी है उनके अनुसार गणना में निचली सीमा व उपरी सीमा दोनों शामिल है, जैसे प्रथम वर्ग-समूह में वे मकान गिने गये हैं जिनमें 1 या 2 कमरे हैं, इसी प्रकार दूसरे वर्ग समूह में वे मकान गिने गये है जिनमें 3 या 4 कमरे हैं, आदि।

आवृत्ति-वितरण के सम्बन्ध में कुछ आवश्यक बाते–

1. कितने वर्ग-समूह बनाये जाएँ–इस सम्बन्ध में कोई कठोर नियम नहीं बनाया जा

सकता, फिर भी यह कहा जा सकता है कि वर्गों (classes) की संख्या न तो बहुत ज्यादा हो और न बहुत कम हो। बहुत ज्यादा संख्या होने से परिणाम निकालने मे कठिनाई हो जायगी, और बहुत कम संख्या होने से परिणाम कम निश्चित हो जायेंगे। इसलिए व्यवहार में 6 से 15 वर्ग उचित माने जाते हैं।

2. वर्गान्तर कितना रखा जाय? (Size of the class interval) – वर्ग की ऊपरी सीमा व निचली सीमा का अन्तर वर्गान्तर कहलाता है। प्राय सभी वर्गों में वर्गान्तर समान रखना वाछनीय होता है, लेकिन आवश्यकता पडने पर वर्गान्तर असमान भी रखा जाता है।

मान लीजिए, अधिकाश मूल्य 10, 15, 20 आदि के पास केन्द्रित हैं, तो वर्गों की सीमाएँ व वर्गान्तर इस प्रकार रखा जाना चाहिए कि वर्गों के मध्य बिन्दु 10, 15, 20 आदि आ सकें। इसके लिए 7 5–12.5, 12 5–17 5, आदि वर्ग बनाना उचित रहेगा ताकि इनके मध्य-बिन्दु क्रमश 10, 15 आगे गणना की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध हो सकें।

यह ध्यान रहे कि प्रत्येक वर्ग का मध्य-बिन्दु उसका प्रतिनिधि मूल्य होता है जो आगे की गणना मे काम मे लिया जाता है। इसलिए वर्गान्तर व वर्ग की सीमाएँ काफी सावधानी से चुननी चाहिएँ। वर्गान्तर का चुनाव करने के लिए स्टर्जेज का नियम (Sturge's rule) प्रयुक्त किया जाता है, जो इस प्रकार होता है

वर्गान्तर $= \dfrac{\text{सर्वोच्च मूल्य} - \text{न्यूनतम मूल्य}}{1 + 3.322 \log N}$, यहाँ N कुल इकाइयों (observations) का सूचक होता है। मान लीजिए सर्वोच्च मूल्य = 170, व न्यूनतम मूल्य 30 है और N = 50 है, तो वर्गान्तर $= \dfrac{170-30}{1 + 3.322 \log 50} = \dfrac{140}{1 + 3.322\,(1\,699)} = \dfrac{140}{6\,04} = 21$, सुविधा के लिए 20 ले सकते हैं।

3. वर्ग की सीमाओं के बारे में स्पष्टीकरण–

(i) ऊपरी सीमा को छोड़ते हुए (Exclusive type) –

जैसे 0-10

10 20

20-30 में प्रथम वर्ग में निचली सीमा 0 शामिल है, लेकिन ऊपरी सीमा 10 शामिल नहीं है। 10 मूल्य द्वितीय वर्ग-समूह 10-20 में जायगा जहाँ 20 शामिल नहीं है।

(ii) दोनो सीमाओं को शामिल करते हुए (inclusive type) –

जैसे 0 9

10-19

20-29 में प्रथम वर्ग में निचली सीमा 0 है और ऊपरी सीमा 9 है और द्वितीय वर्ग में 10 व 19 दोनों शामिल हैं, इत्यादि। लेकिन यदि सभी मूल्य पूर्णांकों में न होकर दशमलव के एक या दो स्थानों तक जाते हैं तो वर्ग-सीमाएँ इस प्रकार होंगी–

0–9 9	10–19 9	20–29 9
अथवा 0–9 99	10–19 99	20–29.99 इत्यादि।

(iii) खुले छोर के वर्ग *(open end classes)*—

जैसे 10 से नीचे

10 – 20

20 – 30

30 से ऊपर में प्रथम व अन्तिम वर्ग के छोर खुले हैं। साख्यिकीय हिसाब लगाते समय इनके लिए मध्य बिन्दु लेने के लिए कोई मान्यता स्वीकार करनी होगी। व्यवहार में खुले वर्ग समूह का वर्गान्तर उसके समीप के वर्ग के बराबर लेकर साख्यिकीय गणनाएँ कर ली जाती हैं, हालाकि इसके लिए आवश्यकतानुसार और मान्यताएँ भी ली जा सकती हैं जिनको स्पष्टतया बतला देना चाहिए।

(iv) पूर्णतया स्पष्ट वर्ग सीमाएँ

0 तथा 10 से कम

10 तथा 20 से कम

20 तथा 30 से कम में सर्वाधिक स्पष्टता है। इसमें 20 का मूल्य तीसरे वर्ग में रखा जायगा, 19 9 द्वितीय वर्ग में आयेगा।

4 आवृत्ति-घनत्व (Frequency density)—जब विभिन्न वर्गों में अतर असमान हो तो गणना के लिए आवृत्ति घनत्व निकाला जा सकता है। इसके लिए प्रत्येक वर्ग की आवृत्ति में वर्गान्तर का भाग देकर प्रति इकाई वर्गान्तर पर आवृत्ति ज्ञात की जाती है। जैसे,

मूल्य	आवृत्ति	आवृत्ति-घनत्व
0–5	10	$\frac{10}{5} = 2$
5–15	30	$\frac{30}{10} = 3$
15–30	15	$\frac{15}{15} = 1$

अत आवृति घनत्व क्रमश 2, 3 व 1 होगा।

हम आगे इसका उपयोग असमान वर्गान्तर की दशाओं में आवृति वक्र बनाने में करेंगे।

5. सापेक्ष आवृत्ति (relative frequency)—कई बार साधारण आवृत्तियों को सापेक्ष आवृत्तियों में बदलने की आवश्यकता होती है। इसमें प्रत्येक वर्ग की आवृत्तियों को प्रतिशतों में परिवर्तित कर लिया जाता है। यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा—

मूल्य	साधारण आवृत्तियाँ	सापेक्ष आवृत्तियाँ (प्रतिशत में आवृत्तियाँ) (%)
0–10	10	20
10–30	20	40
30–60	15	30
60–100	5	10
कुल	50	100

इस तालिका में वर्गान्तर असमान है। सापेक्ष आवृत्तियों को प्रतिशत रूप में दर्शाया जाता है जो अन्तिम कॉलम में दर्शायी गयी हैं। इससे स्पष्ट होता है कि 20% आवृत्तियाँ

0–10 वर्ग में हैं, 40% आवृत्तियाँ 10–30 वर्ग में हैं, आदि, आदि।

अब हम आवृत्तियों से सम्बन्धित सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्न हल कर सकते हैं जैसे एक चलराशि के विभिन्न दिये हुए मूल्यों के आधार पर एक आवृत्ति तालिका की रचना करना एवं आवृत्तियों के आधार पर विभिन्न प्रकार के रेखा चित्र बनाना, जैसे आवृत्ति चित्र (histogram), आवृत्ति बहुभुज (frequency polygon), आवृत्ति वक्र (frequency curve), सचयी आवृत्ति वक्र (cumulative frequency curve) या ओजाइव (ogive), लॉरेन्ज वक्र (Lorenz curve) व असमान वर्गान्तरों की दशा में आवृत्ति वक्र बनाना आदि। इनका नीचे क्रमश विवेचन किया जाता है।

(1) दिये हुए आँकड़ों के आधार पर आवृत्ति-तालिका का निर्माण करना

50 विद्यार्थियों को एक परीक्षा में 200 अकों में से निम्न अक प्राप्त हुए। इनको आवृत्ति-तालिका में दिखाइए—

100	165	151	147	145	98	154	118	104	168
155	123	185	141	61	84	77	32	20	52
120	146	157	114	154	136	106	139	94	131
93	194	152	139	69	103	59	111	83	133
130	134	135	174	187	77	30	112	193	138

हल—स्टर्जेज के नियम के अनुसार

$$\text{वर्गान्तर का आकार} = \frac{\text{सर्वोच्च मूल्य} - \text{न्यूनतम मूल्य}}{1 + 3.322 \log N}$$

$$= \frac{194-20}{1+3.322(1.6990)} = \frac{174}{1+5.64}$$

$$= \frac{174}{6.64} = 26$$

(सुविधा के लिए 25 वर्गान्तर लेना उचित होगा)

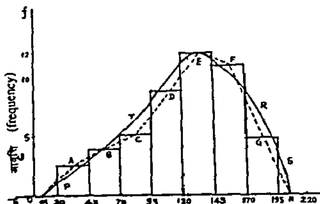
नीचे विभिन्न वर्गों में इनको टैली-बार्स (Tally Bars) के अनुसार रख कर आवृत्ति तालिका बनायी गयी है—

विभिन्न वर्ग (अक)	टैली-बार्स (tally bars)	आवृत्ति (विद्यार्थियों की सख्या)
20-45	III	3
45-70	IIII	4
70-95	~~IIII~~ I	6
95-120	~~IIII~~ IIII	9
120-145	~~IIII~~ ~~IIII~~ II	12
145 170	~~IIII~~ ~~IIII~~ I	11
170-195	~~IIII~~	5
	कुल योग	50

उपर्युक्त तालिका में प्रथम वर्ग में 20 से लेकर 45 से नीचे तक के अक आयेंगे। 45 अक को द्वितीय वर्ग मे दिखाया गया है। अत: प्रत्येक वर्ग म ऊपरी सीमा को छोड़ा गया है। प्रत्येक विद्यार्थी के अक क्रमानुसार टैली बार्स के कॉल्म में एक एक 'बार' से अकित किये गये हैं। चार के बाद पाँचवाँ आने पर आडी रेखा से सूचित किया गया है। इस प्रकार 5-5 के सेट बनते जाते हैं। उनकी गिनती करके अन्तिम कॉलम में रख देते हैं, जिससे आवृत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यदि वर्गों को क्रमश 20 व 45 से कम, 45 व 70 से कम, 70 व 95 से कम के रूप में दर्शाते तो और भी स्पष्ट रहता। उसमें अकों को टैली शीट पर भरने में किसी प्रकार की असुविधा नही रहती। स्मरण रहे कि हमने 120 अक को 120-145 के वर्ग में दिखाया है। इसी प्रकार सभी वर्गों में ऊपरी सीमा को छोडा गया है।

(ii) आवृत्ति-चित्र (histogram), आवृत्ति-बहुभुज व आवृत्ति वक्र बनाना

उपर्युक्त आवृति तालिका को चित्र पर नीचे दिखाया गया है–



चित्र 6 : हिस्टोग्राम (histogram), आवृत्ति-बहुभुज (frequency polygon) तथा आवृत्ति-वक्र (frequency curve)

स्पष्टीकरण–उपर्युक्त चित्र में एक साथ हिस्टोग्राम, आवृत्ति बहुभुज व आवृत्ति वक्र बनाये गये हैं। हिस्टोग्राम चित्र में आयतों के रूप में दर्शाये गये हैं। क्षैतिज अक्ष पर अक लिये गये हैं जिसके सात वर्गों के लिए सात आयत (rectangles) दर्शाये गये हैं। प्रत्येक आयत की ऊँचाई आवृत्ति को सूचित करती है, जैसे 20-45 वर्ग के आयत की ऊँचाई 3 इकाई है, आदि, आदि। अत में 170-195 वर्ग के आयत की ऊँचाई 5 है। इस प्रकार हिस्टोग्राम में चित्र पर केवल आयत ही दिखाये जायेंगे। चूँकि वर्गान्तर समान है, इसलिए सभी आयतों की चौडाई समान रखी गयी है।

आवृत्ति-बहुभुज (frequency polygon) बनाने के लिए प्रत्येक आयत की ऊपरी क्षैतिज रेखा का मध्य बिन्दु अकित कर लेते हैं, जैसे A, B, C, D, आदि। फिर क्षैतिज अक्ष पर भी बहुभुज को बद करने के लिए आगे पीछे के वर्ग मान कर उनके मध्य बिन्दु अकित कर लेते हैं। ये बिन्दु क्रमश. M व N बनते हैं। इन सबको मिलाने से M A B C D E F G N आवृत्ति-बहुभुज (frequency polygon) बनता है। इसका कुल क्षेत्रफल हिस्टोग्राम के कुल क्षेत्रफल के बराबर होता है। ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि आवृत्ति बहुभुज को बनाने

समय हिस्टोग्राम का जो हिस्सा कटता है उतना ही हिस्सा इनमें जुड़ता जाता है।

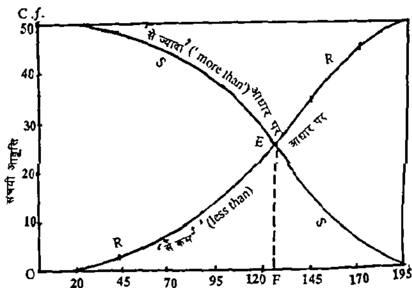
इस प्रकार दोनों का क्षेत्रफल अंत में बराबर हो जाता है। आवृत्ति वक्र बनाने के लिए बहुभुज पर एक सरल वक्र बनाया जाता है जो इसके काफी समीप चलता जाता है। हमने चित्र 6 में हिस्टोग्राम बना कर आवृत्ति बहुभुज बनाया है, और अंत में हाथ से स्वतंत्र रूप से एक वक्र PTRS खींचा है। इससे पता चलता है कि पहले वक्र ऊपर जाता है, फिर अधिकतम बिन्दु पर पहुँच कर नीचे आता है।

(iii) संचयी आवृत्ति-वक्र या ओजाइव (Cumulative frequency curve or ogive)

यह दो आधारों पर बनाया जाता है, एक तो 'से कम' (less than) आधार पर तथा दूसरा 'से अधिक'(more than) आधार पर।

50 विद्यार्थियों के अंकों वाली पिछली तालिका को इन दोनों आधारों पर नीचे दर्शाया गया है—

'से कम' (less than)(1)	संचयी आवृत्ति (2)	'से ज्यादा' (more than)(3)	संचयी आवृत्ति (4)
20	0	20	50
45	3	45	47
70	7	70	43
95	13	95	37
120	22	120	28
145	34	145	16
170	45	170	5
195	50	195	0



चित्र 7 संचयी आवृत्ति-वक्र-दो आधारों पर—'से कम' व 'से अधिक'

इनको पीछे दिये चित्र पर दर्शाने से दो ओजाइव बनेंगे। ये नीचे दिखाये गये हैं—

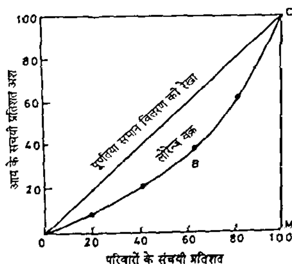
स्पष्टीकरण-चित्र 7 में दो सचयी आवृत्ति वक्र खींचे गये हैं। ऊपर तालिका के कॉलम 1 व कॉलम 2 को अंकित करने से RR सचयी वक्र 'से कम' (less than) आधार वाला ओजाइव बनता है और कॉलम 3 व कॉलम 4 को अंकित करने से से ज्यादा' (*more than*) आधार वाला SS ओजाइव बनता है। ये दोनों एक दूसरे को E बिन्दु पर काटते हैं जो मध्यका (Median) का मूल्य निर्धारित करने में मदद देता है। चित्र में यह लगभग 126 आता है।

(iv) लॉरेंज वक्र (Lorenz curve)

यह असमानता को जानने के लिए बनाया जाता है। इसमें दोनों अक्षों पर सचयी प्रतिशतों का उपयोग किया जाता है। यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा—

भारत म 1992 म परिवारों क प्रतिशत समूहा के अनुसार पारिवारिक आय का प्रतिशत अश इस प्रकार रहा (विश्व विकास रिपोर्ट 1996 पृ 196 क अनुसार)

परिवारो क समूह	पारिवारिक आय क प्रतिशत अश	परिवारा क सचयी प्रतिशत	आय के सचयी प्रतिशत अश
(1)	(2)	(3)	(4)
न्यूनतम 20%	8 5	20	8 5
अगला 20%	12.1	40	20 6
अगला 20%	15 8	60	36 4
अगला 20%	21 1	80	57 4
सर्वोच्च 20%	42 6	100	100 0



चित्र 8 लॉरेन्ज वक्र

तालिका में कॉलम (3) में परिवारों के क्रमश सचयी प्रतिशत दर्शाये गये हैं, तथा कॉलम (4) में आय के सचयी प्रतिशत अश दर्शाये गये हैं। कॉलम (3) व कॉलम (4) को चित्र में अंकित करने से लॉरेन्ज वक्र बनेगा जो चित्र 8 पर दिखाया गया है—

स्पष्टीकरण—क्षैतिज अक्ष पर परिवारों के सचयी प्रतिशत तथा लम्बवत् अक्ष पर आय के सचयी प्रतिशत अश मापे गये हैं। OC रेखा पूर्णतया समान वितरण की रेखा है, अर्थात् यह 20% परिवारों के पास 20% आय, 40% परिवारों के पास 40% आय, आदि को सूचित करती है। OMC पूर्णतया असमान वितरण को सूचित करती है, अर्थात् केवल 1 परिवार के पास सम्पूर्ण आमदनी है। तालिका में कॉलम (3) व (4) को चित्र पर अंकित करने से OBC वक्र बनता है, जो लॉरेन्ज वक्र कहलाता है।

यह OC के समीप जायगा तो समानता बढेगी, और यह जितना OMC की तरफ जायगा उतनी ही असमानता बढेगी।

दो देशों के लॉरेन्ज वक्र खींचकर उनके बीच असमानता की तुलना की जा सकती है। इसी प्रकार दो समयों में एक ही देश में लॉरेन्ज वक्र खींचकर असमानता की दशाओं की तुलना की जा सकती है।

लॉरेन्ज वक्र का उपयोग भूमि के वितरण की असमानता को जानने के लिए भी किया जा सकता है। यह विचलन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माप माना गया है। क्षेत्रफल OBC में क्षेत्रफल OMC का भाग देने से असमानता का अश आ जाता है। आगे उच्चतर अध्ययन में जिनी-अनुपात (Gini-ratio) का उपयोग किया जाता है जो असमानता का महत्त्वपूर्ण माप होता है।

(v) असमान वर्गान्तरों में आवृत्ति-वक्र बनाने की विधि व अर्थ

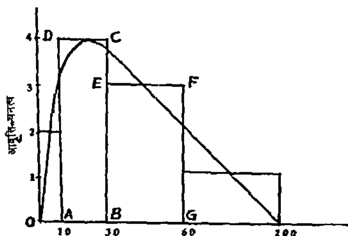
जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है असमान वर्गान्तरों (unequal class-intervals) में आवृत्ति-वक्र बनाने के लिए लम्बवत् अक्ष पर आवृत्ति-घनत्व (frequency density) (वर्गान्तर की प्रति इकाई पर आवृत्ति) को अंकित किया जाता है, तथा क्षैतिज अक्ष पर मूल्य दूरियों के अनुसार अंकित किये जाते हैं।

यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा—

मूल्य (वर्ग)	आवृत्ति	आवृत्ति-घनत्व (वर्गान्तर से भाग देने पर)
0-10	20	2
10-30	80	4
30-60	90	3
60-100	40	1
100 से अधिक	20	0

इन आँकड़ों के आधार पर आगे आवृत्ति वक्र बनाया गया है–

स्पष्टीकरण—यहाँ भी क्षैतिज अक्ष पर मूल्यों को सूचित करने वाले वर्ग 0-10, 10-30, 30-60 आदि मापे गये हैं। स्मरण रहे कि यहाँ 30-60 की दूरी 10-30 की तुलना में ड्योढ़ी



चित्र 9. असमान वर्गान्तरों की दशा में आवृत्ति वक्र

रहेगी। इसी प्रकार 60 100 के बीच की क्षैतिज दूरी 10-30 की तुलना में दुगुनी रहेगी। यहाँ लम्बवत् अक्ष पर आवृत्ति घनत्व (frequency density) मापा गया है, न कि साधारण आवृत्तियाँ।

चित्र की मुख्य बात यह है कि यहाँ आयतों का क्षेत्रफल आवृत्ति का सूचक है, जैसे आयत ABCD का क्षेत्रफल 20 × 4 = 80 है, जो इसकी (वर्ग 10 30 तक के लिए) की साधारण आवृत्ति है। इसी प्रकार आयत BEFG का क्षेत्रफल 30 × 3 = 90 है, जो वर्ग 30-60 की आवृत्ति 90 के बराबर है। इस प्रकार असमान वर्गान्तर की स्थिति में आवृत्ति वक्र बनाने के लिए आवृत्ति घनत्व अकित किये जाते हैं। उसके बाद आयतों के ऊपर की क्षैतिज रेखा के मध्य बिन्दु में से एक स्वतत्र रूप से वक्र खीचा जाता है, जो इसका आवृत्ति वक्र कहलाता है। स्मरण रहे कि तालिका में अन्तिम वर्ग 100 से अधिक की आवृत्ति 20 दी हुई है लेकिन इसका आवृत्ति घनत्व 0 होगा, क्योंकि 100 से अधिक की ऊपरी सीमा नहीं बतायी गयी है। इसलिए यह $\frac{20}{\text{असीमित मात्रा}}$ है, जो शून्य की ओर ले जाता है।

इस प्रकार हमने आवृत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न बातों का विवेचन किया है, और आवृत्तियों को दर्शाने वाले प्रमुख चित्रों का भी उल्लेख किया है। चूंकि आवृत्ति की जानकारी आगे के सांख्यिकीय अध्ययन में केन्द्रीय स्थान रखती है, इसलिए इसके विभिन्न पहलुओं पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है।

प्रश्न

1 प्राथमिक तथा द्वितीयक समक कैसे एकत्रित किये जाते हैं?

(Ajmer Iyr., 1996, ऐसा ही प्रश्न 1993)

2 "समक सकलन में सामान्य बुद्धि मुख्य आवश्यकता और अनुभव मुख्य शिक्षक है।" इस कथन का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।

3 एक उत्तम तालिका की विशेषताएँ बतलाइए। निम्न तालिका में क्या कमी रह गई है?

राजस्थान में अतिरिक्त/वैकल्पिक कार्य के लिए उपलब्धि

		अतिरिक्त कार्य	वैकल्पिक कार्य
ग्रामीण	पुरुष	10 0	2 7
	महिलाएँ	2 4	0 7
शहरी	पुरुष	4.5	3 4
	महिलाएँ	6 0	2.2

[संकेत–दिये हुए आँकड़े श्रम शक्ति के प्रतिशत हैं, इनको शीर्षक में सूचित करना था।]

4 निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(i) एक काल्पनिक 'प्रतिशत दण्ड-चित्र' बनाइये। (Ajmer Iyr. 1993)

(ii) आवृत्ति बटन (Ajmer Iyr , 1995)

(iii) अनुपात चार्ट या रेखाचित्र (ratio chart)

(iv) पाई-चार्ट या वृत्त-चित्र

(v) आयत चित्र (*histogram*)

(vi) ओजाइव (Ajmer Iyr 1995, V व VI)

5 पाकिस्तान में 1991 में विभिन्न परिवार-समूहों के अनुसार पारिवारिक व्यय का वितरण निम्न तालिका में दर्शाया गया है। इनको लॉरेन्ज वक्र पर दिखाइए—

परिवारों के समूह	निम्नतम 20%	द्वितीय 20%	तृतीय 20%	चतुर्थ 20%	सर्वोच्च 20%
पारिवारिक व्यय के अंश	8 4%	12.9%	16 9%	22.2%	39 7%

(विश्व विकास रिपोर्ट, 1995, पृ. 220)

6 निम्न तालिका में प्रति व्यक्ति मासिक व्यय के अनुसार 450 परिवारों का आवृत्ति-वितरण दर्शाया गया है। इस आवृत्ति वितरण की क्या विशेषता है? इसका आवृत्ति-वक्र खींचिए—

23

संगणना व सेम्पल-विधियाँ
(Census and Sample Methods)

इस अध्याय में हम समंक या आँकडे एकत्र करने की विधियों का अध्ययन करेंगे। इन विधियों में चुनाव कई बातों पर निर्भर करता है, जैसे अध्ययन का उद्देश्य क्या है, लागत कितनी लगायी जा सकती है, परिणामों में सुनिश्चितता कितनी आवश्यक है, आदि।

आँकडे एकत्र करने की दो विधियाँ होती हैं, एक तो संगणना विधि या पूर्ण गणना (census method or complete enumeration) जिसमें प्रत्येक इकाई के बारे में आवश्यक सूचना एकत्र की जाती है, जैसे प्रति दस वर्ष में एक बार भारत में जनगणना की जाती है (1991 की जनगणना का कार्य सम्पन्न किया गया था) तथा दूसरी विधि प्रतिचयन या निदर्शन (sampling) की होती है जिसमें कुल इकाइयों में से कुछ प्रतिनिधि इकाइयों को नमूने के बतौर चुन कर उनके बारे में आवश्यक सूचना एकत्र की जाती है। सेम्पल लेने के कई तरीके होते हैं जिनके गुण दोषों पर आगे चल कर विचार किया जायगा। संगणना विधि में किसी विषय से सम्बन्धित सभी इकाइयों को शामिल किया जाता है।

संगणना विधि उस समय अपनायी जाती है जब अमुक क्षेत्र के विषय में विस्तृत सूचना प्राप्त करनी हो, जैसे दस वर्षीय जनगणना में न केवल लोगों की गिनती की जाती है, बल्कि उनके सम्बन्ध में अन्य आवश्यक सूचनाएँ भी एकत्र करनी होती हैं जैसे लिंग, आयु, शिक्षा व्यवसाय, आदि। यही नहीं बल्कि देश के कोने कोने से प्रत्येक राज्य, प्रत्येक जिले प्रत्येक खण्ड, शहर, गाँव, मोहल्ले व परिवार से इन तथ्यों की पूरी जानकारी आवश्यक होती है, तब जनगणना जरूरी हो जाती है। इससे हमें सभी क्षेत्रों की जनसख्या की पूरी पूरी व विस्तृत जानकारी हो पाती है। संगणना उस स्थिति में भी आवश्यक होती है जब जिन इकाइयों का अध्ययन किया जाना है, उनकी संख्या थोडी होती है और उनका आकार बडा होता है, जैसे भारत में इस्पात के एकीकृत कारखाने (integrated steel plants)–निजी क्षेत्र में टाटा का लोहे व इस्पात का कारखाना तथा सार्वजनिक क्षेत्र में इस्पात के कारखाने जैसे बोकारो, राउरकेला, भिलाई, दुर्गापुर, आदि। इनमें इस्पात की उत्पादन लागत के अध्ययन में सभी को लेना उचित रहेगा।

संगणना विधि के निम्न गुण दोष होते हैं–

गुण–

(1) इसके परिणाम अधिक सही व विश्वसनीय होते है क्योंकि इसमें प्रत्येक इकाई से सूचना एकत्र की जाती है।

सेम्पल आधार पर ही हो सकती है, सभी इकाइयों की जाँच असम्भव होती है और कभी कभी जब उत्पादित इकाइयों को तोड कर देखना पडे तो सेम्पल विधि के अलावा दूसरा कोई चारा भी नहीं होता। दूसरा गुण यह है कि कुछ दशाओं में **यही एक मात्र व्यावहारिक विधि (The only practical method)** होती है जैसे भारत में ग्रामीण बचतों का अध्ययन करना हो तो करोडों परिवारों तक पहुँचना कठिन होने से सेम्पल लेना ही व्यावहारिक होता है। तीसरा गुण यह है कि यह **सबसे ज्यादा कार्यकुशल विधि (The most efficient method)** होती है, क्योंकि इसमें कम व्यय व पूर्वनिर्धारित विश्वसनीयता व शुद्धता के गुण पाये जाते हैं। इस प्रकार कुछ दशाओं में यह एक मात्र सम्भव विधि, एक मात्र व्यावहारिक विधि व सर्वाधिक कार्यकुशल एव श्रेष्ठ विधि होती है।

(vi) गहन अध्ययन के लिए उपयुक्त—सेम्पल-विधि के द्वारा किसी विषय का अधिक गहन अध्ययन किया जा सकता है, जो सगणना विधि के द्वारा सम्भव नही होता। जैसे परिवार नियोजन सम्बन्धी अध्ययन में धर्म, जाति, आयु, साक्षरता, शिक्षा के स्तर, व्यवसाय, वर्तमान, आयु शादी के समय की आयु, जन्मे बच्चों की सख्या, बच्चों के बीच अतराल (spacing) आदि, आदि सवालों के उत्तर जाने जा सकते हैं, जिन्हें सगणना आधार पर जानना प्राय कठिन होता है। इन्हीं विविध गुणों के कारण आज प्रतिचयन विधि बहुत लोकप्रिय हो गई है। अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र राजनीति, आदि विभिन्न विषयों के अध्ययन में *इसका महत्व बढ रहा है।*

अवगुण या कमियाँ—प्रतिचयन विधि का प्रयोग असावधानी से करने पर कई प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसकी मुख्य कमियाँ निम्नाकित हैं—

(i) यदि सेम्पल मूल इकाइयों का सही प्रतिनिधित्व नहीं करता है तो परिणाम दोषपूर्ण व भ्रमात्मक निकल सकते हैं।

(ii) इसमें गैर प्रतिचयन त्रुटियाँ तो कम होती हैं (जो सगणना में अधिक होती हैं), लेकिन प्रतिचयन की त्रुटियाँ (sampling errors) अधिक हो सकती हैं जिससे शुद्धता पर विपरीत प्रभाव पड सकता है। सेम्पल सम्बन्धी त्रुटियाँ जान या अनजान में प्रवेश कर जाती हैं। उदाहरण के लिए, अनुसधानकर्त्ता या अन्वेषक जानबूझकर कोई प्रतिनिधि सेम्पल ऐसा ले लेता है जो वास्तव में सही नहीं होता, अथवा एक सेम्पल की किसी एक इकाई की जगह दूसरी इकाई स्वेच्छा से बदल लेता है, जो सही प्रतिनिधित्व नहीं करती।

(iii) इसके लिए विशेष ज्ञान व विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है जो अनुभवी व्यक्तियों में ही पाया जाता है।

(iv) यदि कुल इकाइयाँ बहुत ज्यादा न हो, तथा समय व व्यय का बधन न हो और प्रत्येक इकाई का ज्यादा गहन अध्ययन नही करना हो तो सगणना या सम्पूर्ण गणना विधि अधिक उपयुक्त जान पडती है।

इस प्रकार प्रत्येक विधि के अपने गुण दोष होते हैं। कुछ दशाओं में सगणना विधि उपयुक्त रहती है और कुछ में सेम्पल विधि। भारत में दस वर्षीय जनगणना, उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण (सगणना वाले अश के लिए), पचवर्षीय कृषिगत सगणना के अन्तर्गत कार्यशील जोतों (operational holdings) के अध्ययन के लिए, राज्य स्तर पर पशु सगणना, (livestock or cattle census) के अध्ययन के लिए एव अन्य कार्यों के लिए सगणना विधि प्रयुक्त की जाती है। लेकिन जनगणना की शुद्धता की जाँच करने के लिए व देश में कृषि, उद्योग, व्यापार, बैंकिंग, बीमा, सेवा, प्रशासन, सुरक्षा, आदि से जुडे

विभिन्न विषयों की जानकारी प्राप्त करने के लिए समय समय पर सेम्पल आधार पर सर्वेक्षण आयोजित किये जाते हैं। भारत में राष्ट्रीय सेम्पल सर्वेक्षण सगठन (NSSO) नियमित रूप से सेम्पल आधार पर आँकडे एकत्र करके देश में बरोजगारी निर्धनता उपभोग व्यय आदि के बारे में आवश्यक जानकारी देता रहता है। फसल कटाई प्रयोगों (crop cutting experiments) के आधार पर देश में विभिन्न फसलों की प्रति हैक्टेयर उपज का ज्ञान प्राप्त किया जाता है और तत्पश्चात् समस्त भारत में उनके कुल उत्पादन के अनुमान लगाये जाते हैं। अतः आधुनिक युग को 'सेम्पलिंग का युग' कहे तो गलत न होगा।

प्रतिचयन या सेम्पलिंग के भेद

(Types of Sampling)

1. रेण्डम सेम्पलिंग विधियाँ

(अ) सरल रेण्डम सेम्पलिंग या निर्बाध (unrestricted) रेण्डम सेम्पलिंग,

(आ) सीमित रेण्डम सेम्पलिंग (restricted random sampling)

(i) स्तरित सेम्पलिंग (*stratified sampling*)

(ii) व्यवस्थित सेम्पलिंग (systematic sampling)

(iii) बहु स्तरीय सेम्पलिंग (multi stage sampling)

इसके अन्तर्गत दो स्तर (two-stage) या दो से अधिक स्तर लिये जा सकते हैं।

2 गैर-रेण्डम सेम्पलिंग विधियाँ

(i) निर्णय या उद्देश्य आधारित सेम्पलिंग (judgement sampling),

(ii) अभ्यश (quota) सेम्पलिंग

(iii) सुविधा पर आधारित (convenience) सेम्पलिंग,

(iv) समूह (cluster) सेम्पलिंग,

(v) क्रमबद्ध (sequential) सेम्पलिंग इसके अन्तर्गत दोहरी सेम्पलिंग (double sampling) बहु-क्रमबद्ध सेम्पलिंग (multiple sequential sampling) तथा एक-एक मदवार क्रमबद्ध सेम्पलिंग (item by item sequential sampling) शामिल होती हैं।

इनका नीचे सक्षिप्त व सरल परिचय दिया जाता है–

1. रेण्डम सेम्पलिंग विधियाँ (यदृच्छिक या दैव प्रतिचयन) —

(अ) सरल रेण्डम सेम्पलिंग-प्रतिचयन को उस स्थिति में रेण्डम कहा जाता है जब प्रत्येक सम्भव सेम्पल (मदों के एक समूह) के चुने जाने की समान सम्भावना पायी जाती है। एक सेम्पल कुछ मदों से बनता है। अत यह कहना पर्याप्त नहीं है कि प्रत्येक सम्भव मद के चुने जाने की समान सम्भावना पायी जाती है।[1]

मान लीजिए, हमें निम्न छ मदों में से तीन तीन के सेम्पल चुनने हैं तो बताइए कितने सेम्पल बनेंगे और टिपेट सख्याओं (Tippet's random numbers) के आधार पर सेम्पल चुनकर बताएं।

1. Croxton, Cowden and Bolch, Practical Business Statistics Fourth Edition, 1969 p 116

प्रश्न	क्रम	इकाई
	1	A
	2	B
	3	C
	4	D
	5	E
	6	F

रेण्डम सख्याओं की तालिका का एक अश नीचे दिया जाता है–

4	1	9	2	0
9	6	9	7	4
2	0	0	7	9
4	5	8	4	7
3	8	4	0	1

हल–छ मदों में से तीन तीन के सेम्पल $6c_3 = \frac{6 \times 5 \times 4}{3 \times 2 \times 1} = 20$ बनेंगे।

ऊपर रेण्डम अकों की तालिका को प्रथम पक्तिवार पढने पर एक सेम्पल 4 1 2 का बनता है, अर्थात् D A B का बनता है। इसी प्रकार इसे प्रथम कॉलम वार पढने पर, तथा एक अक दोबारा न लेने पर, *दूसरा सेम्पल 4 2 3 का बनता है, अर्थात् D B C का बनता है।*

हमने ऊपर सरल या निर्बाध या अप्रतिबन्धित रेण्डम सेम्पलिंग (simple or unrestricted random sampling) का उदाहरण लिया है जिसमें प्रत्येक सेम्पल के चुने *जाने की सम्भावना होती है। इसमें इकाइयाँ समरूप किस्म की मानी जाती हैं, जैसे पुरुष अथवा स्त्रियाँ, कॉलेज के विद्यार्थी, आदि।*

यहाँ सेम्पल चुनने के लिए निम्न विधियों में से कोई भी विधि अपनायी जा सकती है–

(i) **पर्चियाँ निकाल कर**–प्रत्येक इकाई को एक अक दिया जाता है और लॉटरी विधि *से पर्ची निकाल कर सेम्पल बनाया जा सकता है।*

(ii) **ढोल घुमा कर** सेम्पल बनाया जा सकता है। इसमें ढोल घुमाने पर जहाँ निशान ठहरता है उसी के अनुसार सेम्पल की इकाई का चुनाव कर लिया जाता है।

(iii) रेण्डम संख्याओं की तालिका का उपयोग करके (जैसा कि ऊपर दिखाया गया **है)** सेम्पल बनाया जा सकता है। स्मरण रहे कि इस तालिका का उपयोग किसी भी दिशा से व कहीं से भी प्रारम्भ किया जा सकता है।

(आ) सीमित रेण्डम सेम्पलिंग (Restricted random sampling)–इसमें कुछ कारणों से सेम्पलों की सख्या सीमित कर दी जाती है। ऐसा इसलिये किया जाता है कि जिस क्षेत्र का अध्ययन किया जाता है उसकी सभी इकाइयाँ एक सी नहीं होतीं, जैसे अध्ययन के किसी क्षेत्र में पुरुष व स्त्रियाँ हो सकती हैं, अत कुछ इकाइयाँ पुरुषों में से और कुछ स्त्रियों में से लेनी पड सकती हैं। इसी प्रकार शहरी व ग्रामीण क्षेत्रों में से थोडी थोडी इकाइयाँ लेनी

पड सकती हैं। इस विधि में किसी भी कारण से सेम्पलों की सख्या सीमित करनी पड सकती है। इसके विभिन्न रूप इस प्रकार होते हैं–

(i) स्तरित (Stratified) सेम्पलिंग–इसमें समस्त इकाइयों को किन्हीं विशेष गुणों लिंग, आयु, शिक्षा आदि के अनुसार विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जाता है और प्रत्येक वर्ग में से इकाइयाँ चुनी जाती हैं। यदि समान अनुपात (proportionate) में चुनाव किया जाता है तो वह आनुपातिक स्तरित विधि कहलाती है, जैसे 10%, आदि। इसमें प्रत्येक वर्ग में से एक ही अनुपात में इकाइयों का चुनाव किया जाता है, चाहे प्रत्येक वर्ग में कुल सख्याएँ अलग अलग हों। मान लीजिए, पुरुषों की सख्या 100 और स्त्रियों की 50 है, तो 10% आनुपातिक स्तरित सेम्पलिंग में एक सम्पल में 10 पुरुष व 5 स्त्रियाँ होंगी। यदि अलग अलग वर्गों में स अलग अलग अनुपातों में इकाइयाँ चुनी जाती हैं, जैसे पुरुषों में से 10% व स्त्रियों में से 5% तो उसे गैर आनुपातिक स्तरित विधि (disproportionate stratified sampling) कहते हैं। ऐसा करने पर उपर्युक्त उदाहरण में एक सेम्पल में 10 पुरुष व 3 स्त्रियाँ शामिल किये जायेंगे। यह भेद सर्वेक्षण की आवश्यकता के मुताबिक किया जा सकता है।

स्मरण रहे कि प्रत्येक स्तर (stratum) की इकाइयाँ समरूप होती हैं, लेकिन दो स्तरों (Two strata) में परस्पर भेद पाया जाता है। प्रत्येक वर्ग में से इकाइयों का चुनाव पूर्ववर्णित रैण्डम विधि से किया जाता है।

स्तरित सेम्पलिंग विधि को और छोटे छोटे स्तरों में भी विभाजित किया जा सकता है, जैसे पुरुषों व स्त्रियों को शिक्षित व अशिक्षित वर्गों में अथवा शहरी व ग्रामीण, अथवा निर्धन व धनी वर्गों में आवश्यकतानुसार बाटा जा सकता है। इस प्रकार कई स्तर, उप-स्तर, उप-उपस्तर बनाये जा सकते हैं।

इस विधि के परिणाम ज्यादा शुद्ध होते हैं क्योंकि सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व भली-भाँति किया जा सकता है।

(ii) व्यवस्थित (Systematic) सेम्पलिंग–इसमें Kवीं मद सेम्पल में शामिल की जाती है। K सेम्पलिंग-अनुपात होता है, जैसे मान लीजिए 100 में से 10 इकाई लेनी हो, और उनको क्रमवार अकित किया गया हो तो प्रत्येक $\frac{100}{10} = 10$वीं इकाई चुनने से सेम्पल बन जायगा। ऐसा प्राय = 100 परिवारों या मकानों में से 10 परिवार या मकान चुनने में किया जा सकता है। इसमें यह मान्यता होती है कि पास पास की इकाइयाँ एक-सी और दूर की भिन्न होती हैं। इसलिए इस विधि से प्रतिनिधि सेम्पल मिल सकता है। यदि सभी इकाइयों को क्रमबद्ध रूप में जँचाया जा सके तो यह विधि उत्तम परिणाम दे सकती है।

इसका उपयोग किसी शहर में औसत पारिवारिक आमदनी ज्ञात करने में किया जा सकता है। लेकिन कहीं ऐसा न हो कि प्रत्येक दसवाँ परिवार केवल धनी श्रेणी का, अथवा गरीब श्रेणी का परिवार ही निकल आये। इसलिए व्यवस्थित सेम्पलिंग में इस प्रकार की छिपी हुई नियतता (periodicity) नहीं होनी चाहिए। किसी कोलोनी में कोने के प्लाट प्राय सम्पन्न परिवारों के होते हैं। इसलिए व्यवस्थित सेम्पलिंग में कहीं कोने वाले सारे प्लाट ही न आ जाएँ। इससे परिणामों पर विपरीत असर पडेगा। एक निश्चित दूरी पर यदि एक-सी इकाइयाँ आती हैं तो व्यवस्थित सेम्पलिंग का उपयोग ठीक नहीं माना जाता क्योंकि किस्म का नहीं बन पाता है। वैसे यह विधि बडी सरल मानी गयी है।

(iii) बहुस्तरीय (Multi-stage) सेम्पलिंग—यदि अंतिम सेम्पल दो से अधिक चरणों या स्तरों के बाद चुना जाता है तो उसे *बहुस्तरीय सेम्पलिंग कहते हैं। यह बहुत लोकप्रिय व* अत्यधिक प्रचलित विधि मानी जाती है। यह क्षेत्र-सेम्पलिंग (area sampling) में ज्यादा प्रयुक्त की जाती है। भारत में यह फसल कटाई प्रयोगों में काम में ली जाती है। इसके लिए *प्रथम चरण में जिले चुनते हैं, द्वितीय चरण में गाँव, तृतीय में खेत व अत में प्लाट जिन पर* फसल कटाई की जाती है और प्रति हैक्टेयर औसत उपज ज्ञात की जाती है। यदि केवल दो स्तर लिये जाते है, जैसे गाँव व खेत, तो यह द्वि-स्तरीय (two-stage) सेम्पलिंग विधि कहलाती है।

प्राय इस विधि का प्रयोग स्तरित (stratified) सेम्पलिंग के साथ किया जाता है। तब इसे स्तरित बहुस्तरीय सेम्पलिंग (stratified multi-stage sampling) कहा जाता है। इसके परिणाम काफी सुनिश्चित होते हैं।

2. गैर-रेण्डम सेम्पलिंग विधियाँ (Non-random sampling methods)

(i) निर्णय- पर आधारित (judgement) सेम्पलिंग—

गैर रेण्डम सेम्पलिंग विधियों में इकाइयों का चुनाव 'अवसर' (chance) पर नही छोडा *जाता। उदाहरण के लिए, निर्णय पर आधारित सेम्पलिंग में हम जानबूझकर अपने सेम्पल में* कुछ इकाइयों को अवश्य लेते हैं, जैसे भारत में इस्पात उद्योग के अध्ययन में टाटा का इस्पात का कारखाना, बोकारो का सार्वजनिक क्षेत्र का इस्पात का कारखाना, आदि अवश्य लिये जायेंगे। इनको शामिल किये बिना इस्पात उद्योग का अध्ययन सम्भव नहीं होगा। इसी प्रकार मुद्रास्फीति का प्रभाव मध्यम वर्ग पर जानने के लिए हमें अपने सेम्पल में केवल मध्यम श्रेणी के परिवार ही शामिल करने होंगे, तभी हमारे निष्कर्ष सार्थक होंगे।

यह विधि छोटे सेम्पल के लिए व शीघ्र परिणाम देने में लाभकारी सिद्ध होती है। प्रारम्भिक सर्वेक्षणों में भी इसका इस्तेमाल किया जाता है।

(ii) अभ्यंश (Quota) सेम्पलिंग—इस विधि में प्रगणक उनको दिये गये निर्देशों के अनुसार जवाब देने वालों को चुनते हैं, जैसे 10 शहरी व्यक्ति, 20 ग्रामीण व्यक्ति, 5 शिक्षित *शहरी व्यक्ति व 5 अशिक्षित ग्रामीण व्यक्ति, आदि।* ऐसा बहुधा मार्केटिंग-सर्वेक्षणों (marketing surveys) में लोगों की राय जानने के लिए किया जाता है। यदि कोई उत्तर नहीं दे पाता है तो उसके स्थान पर उसी तरह की दूसरी इकाई प्रतिस्थापित कर ली जाती है, *और इस प्रकार अभ्यंश (quota)* पूरा करने पर ध्यान दिया जाता है। इस विधि में कम लागत पर स्तरित (stratified) सेम्पलिंग के लाभ मिल जाते हैं। इस विधि के द्वारा अधिक शिक्षित तथा साफ-सुथरे व्यक्तियों व बडे परिवारों से साक्षात्कार के अवसर बढ जाते हैं। चुनाव से पूर्व किये जाने वाले सर्वेक्षणों में लोगों के राजनीतिक रुझान जानने के लिए इस विधि का उपयोग किया जा सकता है।

(iii) सुविधा पर आधारित सेम्पलिंग—इसमें सेम्पलिंग की इकाइयों का चुनाव न तो *प्रायिकता (probability)* के आधार पर होता है और न निर्णय के आधार पर, बल्कि सुविधा के आधार पर होता है, जैसे टेलिफोन डाइरेक्टरी या मोटर गाड़ियों के रजिस्ट्रेशन नम्बरों के आधार पर सेम्पल चुन लिया जाता है। लेखाकार खातों का अंकेक्षण करने के लिए किसी अक्षर जैसे 'P' के सारे खाते चेक कर लेते हैं। प्रारम्भिक अध्ययनों में भी इसका

उपयोग करके प्रश्नों की जाँच की जा सकती है। यह विधि काफी उपयोगी होती है, लेकिन इसमें शुद्धता का अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

(iv) समूह (cluster) सेम्पलिंग—एक बड़े शहर में एक मकान में कई परिवार रहते हैं, अत एक मकान कई परिवारों का एक समूह होता है। एक कक्षा विद्यार्थियों का समूह होती है। अत एक समूह में हमें कई प्रकार की इकाइयाँ (heterogeneous units) मिलने की सम्भावना रहती है। लेकिन विभिन्न समूहों में परस्पर अतर कम पाये जाते हैं। इसलिए लागत कम रखने के लिए एक मकान के 7 परिवारों का अध्ययन करना ज्यादा आसान होता है, बनिस्बत सात मकानों से एक-एक परिवार लेकर अध्ययन करना।

इसी प्रकार होटल सम्बन्धी अध्ययन में एक शहर के पचास होटलों का अध्ययन 50 शहरों में से प्रत्येक के एक-एक होटल से ज्यादा सुगम व कम खर्चीला सिद्ध होगा।

अत समूह सेम्पलिंग का अपना महत्त्व होता है। इसमें प्रति इकाई लागत कम आती है। यह कुछ दशाओं में कार्यकुशल पद्धति साबित होती है जैसा कि ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट होता है। यह कम व्यय से काफी लाभकारी परिणाम दे सकती है।

(v) क्रमबद्ध सेम्पलिंग (Sequential sampling)—कुछ दशाओं में कच्चे माल व निर्मित माल की जाँच करने के लिए उनको नष्ट करना पड़ता है। ऐसी दशाओं में थोड़ी-सी इकाइयों की जाँच से काम चलाना पड़ता है। यहाँ कई रूप हो सकते हैं, जैसे दोहरी सेम्पलिंग (double sampling) में पहले एक छोटे सेम्पल की जाँच की जाती है। यदि सेम्पल बहुत अच्छा निकला तो उस माल को स्वीकार कर लिया जाता है और बहुत खराब निकला तो उस माल को अस्वीकार कर दिया जाता है। यदि बीच का लगे तो दूसरा सेम्पल लिया जाता है, और वस्तु को दो सयुक्त सेम्पलों के आधार पर स्वीकार या अस्वीकार किया जाता है। इसे दोहरी सेम्पलिंग विधि कहा जाता है। इसमें दो से अधिक सेम्पल (पूर्वनिर्धारित सख्या) के आधार पर निर्णय लेने को बहुक्रमबद्ध सेम्पलिंग (multiple sequential sampling) कहते हैं, तथा एक-एक करके क्रमबद्ध सेम्पलिंग (item-by-item sequential sampling) में एक बड़े सेम्पल में से उप सेम्पल लिये जाते हैं। यह काफी खर्चीली विधि होती है। आज सेम्पलिंग का युग है और इसका उपयोग सर्वव्यापी हो गया है। इसका विस्तृत अध्ययन स्नातकोत्तर स्तर पर 'सेम्पल सर्वे' नामक पाठ्यक्रम में किया जाने लगा है। सेम्पलिंग की विधि वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित होने के कारण विशेषज्ञों द्वारा ही प्रयुक्त की जानी चाहिए, अन्यथा इनके द्वारा गलत परिणाम निकाले जाने का भय बना रहता है।

प्रश्न

1 सगणना-विधि किसे कहते हैं? इसके गुण-दोषों की विवेचना कीजिए। भारत में सगणना-विधि के प्रयोग के कुछ दृष्टान्त दीजिए।
2 निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए–

(i) सरल रेण्डम सेम्पलिंग,
(ii) सीमित रेण्डम सेम्पलिंग,
(iii) स्तरित सेम्पलिंग
(iv) बहुस्तरीय या बहुचरणीय सेम्पलिंग (multistage sampling)
(v) प्रतिचयन के लाभ।

3 प्रतिचयन की विभिन्न रीतियों का वर्णन कीजिए। उदाहरण देते हुए प्रत्येक रीति के गुण दोषों का विवेचन कीजिए।

4 साख्यिकीय अनुसन्धानों में निदर्शन क्यों आवश्यक है? निदर्शन की महत्वपूर्ण रीतियों को समझाइये।

5 सगणना विधि व सेम्पल विधि में अतर करिये। आजकल सेम्पल विधि इतनी अधिक लोकप्रिय क्यों हो गई है?

6 सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखें–
(i) रेण्डम प्रतिचयन,
(ii) स्तरित प्रतिचयन
(iii) बहुस्तरीय प्रतिचयन,
(iv) क्रमबद्ध (sequential) प्रतिचयन,
(v) द्विस्तरीय व दोहरे प्रतिचयन में अतर (difference between two stage sampling and double sampling)
[सकेत–द्विस्तरीय प्रतिचयन में अन्तिम सेम्पल की इकाई दूसरे स्तर (second stage) पर आती है, जैसे पहले गाँव चुनें, फिर खेत चुनें। दोहरा प्रतिचयन (double sampling) क्रमबद्ध प्रतिचयन का एक रूप होता है जहाँ दो सेम्पल लेकर माल की जाँच की जाती है।]
(vi) निर्णय पर आधारित प्रतिचयन
(vii) अभ्यश प्रतिचयन
(viii) प्रतिचयन की आवश्यकता।

7 निम्न परिस्थितियों में सगणना विधि व प्रतिचयन विधि में से किसका उपयोग ज्यादा उपयुक्त होगा? कारण दीजिए।
(अ) जनगणना करने में
(ब) जनगणना के परिणामों की शुद्धता की जाँच करने में
(स) गाँव में कार्यशील जोतों के आकार का अध्ययन करने में,
(द) चावल की प्रति हैक्टेयर उपज ज्ञात करने के लिए,
(ए) विभिन्न प्रकार के पशुओं की सख्या जानने के लिए (राज्य स्तर पर)
(ऐ) भारत में लोगों के उपभोग व्यय का अध्ययन करने के लिए
(ओ) चुनाव से पूर्व चुनाव परिणामों का अनुमान लगाने के लिए,
(य) निर्धन व्यक्तियों की सख्या जानने के लिए,

(र) बेरोजगार व्यक्तियों की सख्या व श्रम शक्ति में अनुपात जानने के लिए।

उत्तर– [(अ) सगणना (ब) प्रतिचयन (सेम्पलिग) (स) कृषिगत सगणना (द) बहुस्तरीय प्रतिचयन (multistage sampling) जिला गाँव व खेत। (ए) पशु सगणना (प्रति पाँच वर्ष में राज्यवार) (ऐ) प्रतिचयन विधि के आधार पर (राष्ट्रीय सेम्पल सर्वेक्षण सगठन द्वारा) (ओ) अभ्यश सम्पलिग (quota sampling), (य) प्रतिचयन विधि (आधार उपभोग व्यय का अध्ययन) (र) प्रतिचयन विधि।

8 आधुनिक युग में प्रतिचयन का महत्त्व समझाइए।

9 भारत में सगणना विधि व प्रतिचयन विधि के उपयोग के चार चार उदाहरण दीजिए।

10 आर ए फिशर के अनुसार सेम्पलिग के निम्न चार लाभ समझाइए–

(i) अनुकूलन (ii) गति (iii) मितव्ययिता तथा (iv) सुनिश्चित परिणाम या परिशुद्धता (precision)।

11 निम्नलिखित का कारण बतलाइए–

(अ) प्रति दस वर्ष में एक बार जनगणना क्यों की जाती है?

(ब) प्रति हैक्टेयर उपज जानने के लिए सेम्पल आधार पर फसल कटाई प्रयोग क्यों किये जाते हैं?

(स) माल की गुणवत्ता जानने के लिए क्रमबद्ध सेम्पलिग क्यों उपयुक्त मानी जाती है?

(द) गाँवों में कार्यशील जोतों की सख्या व उनके अन्तर्गत क्षेत्रफल की जानकारी के लिए प्रतिचयन विधि उपयुक्त क्यों नही रहती?

(ए) पशु गणना में सगणना विधि ही क्यों अपनायी जाती है?

इकाई-V
Unit-V

24

औसतों की अवधारणा : I–समान्तर माध्य
(Concept of Averages : I-Mean or Arithmetic Average)

हमने पहले एक अध्याय में आँकड़ों को तालिका के रूप में प्रस्तुत करने व उनका उपयोग करके कई प्रकार के रेखाचित्र बनाने का विवेचन किया था। इनसे हमें आँकड़ों के बारे में तो कुछ जानकारी होती है, लेकिन वह पर्याप्त नहीं मानी जाती। आँकड़ों के सम्बन्ध में सर्वप्रथम महत्वपूर्ण जानकारी उनमें पाई जाने वाली केन्द्रीय प्रवृत्ति (central tendency) या औसतों (averages) के बारे में होती है। मान लीजिए हमें 100 विद्यार्थियों के किसी विषय के अंक दिये हुए हैं। उनके विषय में हमारे मन में पहली जिज्ञासा यह होगी कि विद्यार्थियों को औसत अंक कितने मिले? इसी प्रकार हम औसत आमदनी, औसत व्यय, आदि जानने में रुचि रख सकते हैं। बहुधा एक कम पढ़ा लिखा व्यक्ति भी औसत के विचार को थोड़ा-बहुत अवश्य समझता है और उसका आसानी से उपयोग कर सकता है। वैसे केन्द्रीय प्रवृत्ति के कई माप प्रचलित है, जैसे समान्तर माध्य (mean), मध्यका (median), बहुलक या भूयिष्ठक (mode), गुणोत्तर माध्य (geometric mean), हरात्मक माध्य (harmonic mean), आदि। हम इस अध्याय में समान्तर माध्य (mean) का वर्णन करेंगे और आगामी दो अध्यायों में क्रमश: मध्यका (median) व बहुलक (mode) का विवेचन किया जायगा।

केन्द्रीय प्रवृत्ति के विभिन्न मापों का अलग अलग परिस्थितियों में उपयोग किया जाता है। प्रत्येक औसत के माप की अपनी अपनी विशेषताएँ होती हैं जिनका यथास्थान वर्णन किया जायगा।

यहाँ सर्वप्रथम एक उत्तम औसत के लक्षणों का वर्णन करेंगे। ये इस प्रकार होते हैं—

(1) इसकी परिभाषा पूर्णतया स्पष्ट होनी चाहिए ताकि उसके अर्थ के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का भ्रम न रहे। जैसे समान्तर माध्य से यह स्पष्ट होता। कि यह कुल मूल्यों में उनकी संख्याओं का भाग देने से प्राप्त राशि के बराबर होता है। जैसे 50 छात्रों को कुल

2500 अंक मिले, तो अंकों का औसत $\frac{2500}{50} = 50$ रहा।

(2) यह सभी मदों पर आधारित होना चाहिए, तभी यह उनका सच्चा प्रतिनिधि बन सकता है। अपूर्ण आँकड़ों से प्राप्त औसत कभी सही नहीं माना जाता।

(3) इसकी गणना गणितीय सूत्र के आधार पर आसानी से होनी चाहिए। इसके अलावा इसमें बीजगणितीय रूप में आगे बढ़ाये जा सकने की भी विशेषता होनी चाहिए। जैसे समान्तर माध्य में हम दो अलग-अलग भागों के औसतों व उनकी संख्याओं के दिए हुए होने पर उनका इकट्ठा समान्तर माध्य निकाल सकते हैं। यह आगे चलकर स्पष्ट हो जायेगा। यह गुण सभी केन्द्रीय प्रवृत्ति के मापों में नहीं पाया जाता है।

(4) इस पर समूह की कुछेक मदों का अत्यधिक प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए, अन्यथा एक बहुत बड़ी मद उसको ऊपर की ओर खींच लेगी अथवा, एक बहुत छोटी मद उसको नीचे की ओर ढकेल देगी। हम आगे चलकर देखेंगे कि समान्तर माध्य इस दृष्टि से कमजोर पाया जाता है क्योंकि इसके मूल्य पर अत्यधिक बड़ी व अत्यधिक छोटी मदों का अलग-अलग किस्म का प्रभाव पड़ता है।

(5) औसत ऐसा होना चाहिए जो आगे के सांख्यिकीय मापों में भी काम आ सके, जैसे समान्तर माध्य का उपयोग प्रमाप विचलन (standard deviation) को ज्ञात करने में किया जाता है। इसलिए समान्तर माध्य अपने आप तक सीमित नहीं रहता, बल्कि इसका अन्य सांख्यिकीय मापों में भी उपयोग जारी रहता है।

(6) **औसत ऐसा होना चाहिए जिसमें प्रतिचयन (सेम्पलिंग) की स्थिरता हो,** *अर्थात् कुल इकाइयों में से जितने भी सेम्पल लिये जाएँ, उनके औसतों में बहुत कुछ समानता होनी* चाहिए। ऐसा नहीं कि एक सेम्पल बहुत नीचा औसत दे, दूसरा सेम्पल बहुत ऊँचा औसत दे, आदि, आदि।

इस प्रकार एक आदर्श औसत की उपर्युक्त विशेषताएँ होती हैं, हालाँकि ऐसा सर्वगुण सम्पन्न आदर्श औसत आसानी से नहीं मिलता। फिर भी हमें इन विशेषताओं पर सदैव ध्यान देना चाहिए।

अब हम समान्तर माध्य (mean or arithmetic average) **का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करेंगे।**

समान्तर माध्य की मूल बात—जैसा कि पहले संकेत दिया जा चुका है, समान्तर माध्य में व्यक्तिगत मूल्यों के योग में उनकी संख्या का भाग दिया जाता है। मान लीजिए, व्यक्तिगत मूल्य $X_1, X_2, X_3 \ldots X_N$ होते हैं तो समान्तर माध्य, अर्थात्

$$\bar{X} = \frac{X_1 + X_2 + X_3 + \ldots X_N}{N} = \frac{\Sigma X}{N}$$ होगा। यहाँ $\bar{X}$ समान्तर माध्य का सूचक होता है।

जहाँ आवृत्तियों का प्रयोग होता है, वहाँ

समान्तर माध्य, या $\bar{X} = \frac{\Sigma fX}{N}$ होगा। हम नीचे तीन दशाओं में—व्यक्तिगत मूल्यों (individual observations), खण्डित सिरीज (discrete series) व सतत सिरीज (continuous series) में प्रत्यक्ष (direct) व लघु (short cut) विधियों का उपयोग करके समान्तर माध्य की गणना करेंगे।

(अ) व्यक्तिगत मूल्यों के दिये होने पर समान्तर माध्य ज्ञात करना

उदाहरण 1—पाँच विद्यार्थियों को एक टेस्ट में दस अंकों में से निम्न अंक प्राप्त हुए—5, 7, 8, 0, 10, इनके लिए समान्तर माध्य ज्ञात कीजिए।

हल— (i) प्रत्यक्ष विधि— $\overline{X} = \frac{\Sigma X}{N} = \frac{5+7+8+0+10}{5} = \frac{30}{5} = 6$

(ii) लघु विधि-इसमें किसी भी कल्पित समान्तर माध्य (assumed arithmetic mean) से प्रारम्भ करके दिये हुए मूल्यों से उसका विचलन ज्ञात करते हैं। फिर उसमें विचलनों का औसत जोड़कर वास्तविक माध्य ज्ञात करते हैं।

सूत्र रूप में $X = A + \frac{\Sigma d}{N}$

जहाँ A = कल्पित समान्तर माध्य है, तथा Σd = विचलनों का योग तथा N = मदों की संख्या है।

X	कल्पित माध्य A = 8 से विचलन d
5	–3
7	–1
8	0
0	–8
10	+2
	$\Sigma d = -12 + 2 = -10$

$$\overline{X} = A + \frac{\Sigma d}{N} = 8 - \frac{10}{5} = 8 - 2 = 6$$

हम 8 के अलावा किसी अन्य कल्पित माध्य को लेकर भी चल सकते थे। दिये हुए मूल्यों में से यथासम्भव किसी बीच के मूल्य को लेकर चलने से गणना में आसानी रहती है।

(आ) खण्डित सिरीज में (discrete series) समान्तर माध्य ज्ञात करना—

खण्डित सिरीज में कुछ निश्चित मूल्यों के लिए उनकी आवृत्तियाँ दी हुई होती हैं जैसे—

(i) प्रत्यक्ष विधि—

हल—

मूल्य (X)	आवृत्तियाँ (f)	fX
5	10	50
7	20	140
8	15	120
10	5	50
	N = 50	ΣfX = 360

$\overline{X} = \frac{\Sigma fX}{N} = \frac{360}{50} = 7.2$ यहाँ fX = व्यक्तिगत मूल्यों का आवृत्तियों से गुणा करने का योग है, और N = कुल आवृत्तियाँ हैं।

(ii) लघु विधि-

X	f	कल्पित माध्य A = 7 से विचलन d = X–A	fd
5	10	−2	−20
7	20	0	0
8	15	+1	+15
10	5	+3	+15
	N = 50		Σfd = −20 + 30 = 10

$$\overline{X} = A + \frac{\Sigma fd}{N}$$

$$= 7 + \frac{10}{50} = 7.2$$

यहाँ भी कल्पित माध्य 7 की बजाय और कुछ लिया जा सकता था।

(इ) सतत या अखण्डित श्रेणी (continuous series) में समान्तर माध्य ज्ञात करना–
निम्न श्रेणी की सहायता से समान्तर माध्य ज्ञात कीजिए—

(i) प्रत्यक्ष विधि		मध्य-बिन्दु (mid point)	
X	f	X	fX
0-10	2	5	10,
10-20	5	15	75
20-30	10	25	250
30-40	8	35	280
40 50	5	45	225
	N = 30		ΣfX = 840

प्रत्येक वर्ग का प्रतिनिधित्व उसके मध्य-बिन्दु (mid point) द्वारा किया जाता है।

$$\therefore \overline{X} = \frac{\Sigma fX}{N} = \frac{840}{30} = 28$$

(ii) लघु-विधि (short-cut method) (प्रथम)

X	f	मध्य-बिन्दु X	कल्पित माध्य A = 25 से विचलन अथवा d	fd
0 10	2	5	−20	−40
10-20	5	15	−10	−50
20-30	10	25	0	0
30-40	8	35	+10	+80
40-50	5	45	+20	+100
	N = 30		∴	Σfd = − 90 + 180 = + 90

$$\overline{X} = A + \frac{\Sigma fd}{N} = 25 + \frac{90}{30} = 25 + 3 = 28$$

लघु-विधि

(द्वितीय) —सतत श्रेणी में द्वितीय लघु विधि में पद विचलन (step deviation) लिये जाते हैं। इसमें साधारण विचलनों में किसी अंतराल (interval) का भाग देकर d^1 ज्ञात किया जाता है। उनको क्रमश आवृत्ति से गुणा करके उसका औसत ज्ञात करके पुन अन्तराल से गुणा करके आवश्यक समायोजन किया जाता है। यह प्रक्रिया निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी।

वर्गान्तर	आवृत्ति	मध्य बिन्दु	कल्पित माध्य A = 25 से विचलन	पद विचलन लेने पर i = 10	
(X)	f	X	d	$d^1 = \frac{d}{10}$	fd^1
0–10	2	5	–20	–2	–4
10–20	5	15	–10	–1	–5
20–30	10	25	0	0	0
30–40	8	35	10	1	8
40–50	5	45	20	2	10
	N = 30				Σfd^1 = –9 +18 = 9

$\overline{X} = A + \frac{\Sigma fd^1}{N} \times i$ (यहाँ i = 10 लिया गया है।)

$= 25 + \frac{9}{30} \times 10 = 25 + 3 = 28$

इस प्रकार प्रत्यक्ष विधि से तथा लघु विधि (साधारण विचलन = d) तथा लघु विधि (पद विचलन) (step deviation $\left(\text{step–deviation} = d^1 + \frac{d}{i}\right)$ से $\overline{X}$ = 28 प्राप्त होता है। इसमें गणना की दृष्टि से पद विचलन की विधि सबसे ज्यादा आसान मानी जाती है। यहाँ अन्तराल (i) कोई कॉमन अक लिया जाता है, जैसा कि ऊपर स्पष्टतया 10 है। हम i = 5 भी ले सकते थे, लेकिन उससे गणना उतनी आसान नहीं हो पाती। इसलिए i = 10 लेना ही उपयुक्त रहेगा।

हमने ऊपर समान्तर माध्य की गणना के लिए विभिन्न दशाओं का वर्णन किया है जिससे इस औसत की प्रकृति व विशेषताओं की काफी जानकारी हो जाती है। केन्द्रीय प्रवृत्ति के इस माप के सम्बन्ध में अन्य उदाहरण देने से पूर्व इसकी प्रमुख विशेषताओं (main properties) पर ध्यान देना लाभकारी होगा।

समान्तर माध्य की प्रमुख विशेषताएँ—

(1) इसमें मूल्यों का योग उनके समान्तर माध्य व मूल्यों की सख्या के गुणा के बराबर

होता है। चूँकि $\overline{X} = \frac{\Sigma X}{N}$ होता है, इसलिए $\Sigma X = N\overline{X}$ होता है। (तिरछा गुणा करने पर)

(2) वास्तविक समान्तर माध्य (A.M.) से सभी दिये हुए मूल्यों के विचलनों का बीजगणितीय जोड़ शून्य के बराबर होता है। दूसरे शब्दों में, वास्तविक समान्तर माध्य से $\Sigma d = 0$ होता है।

(3) जब वास्तविक समान्तर माध्य से दिये हुए मूल्यों के विचलनों के वर्ग (squares) लेकर इनका योग लिया जाता है तो वह न्यूनतम होता है। इस हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि Σd^2 न्यूनतम होता है।

इस प्रकार समान्तर माध्य में कुछ गणितीय विशेषताएँ होती हैं जो इसे एक महत्वपूर्ण सांख्यिकीय माप बनाती है इसका आगे चलकर अन्य सांख्यिकीय भागों में भी उपयोग किया जाता है।

अब हम समान्तर माध्य से सम्बन्धित विविध प्रकार के प्रश्नों को हल करते हैं।

प्रश्न 1 100 इकाइयों का समान्तर माध्य 30 है। इसमें गणना के समय 20 को गलती से 2 तथा 21 को 12 मान लिया गया तो सही समान्तर माध्य ज्ञात कीजिए।

हल– $\overline{X} = \frac{\Sigma X}{N}$, अथवा $= \Sigma X = N\overline{X}$

यहाँ $\overline{X} = 30$, $N = 100$ है

जिससे $\Sigma X = 100 \times 30$	=	3000
दो गलत मदों को घटाइए	=	14
		2986
दो सही मदों को जोड़िए	=	41
सही ΣX	=	3027

∴ सही $\overline{X} = \frac{3027}{100} = 30.27$

प्रश्न 2 निम्न आँकड़ों का उपयोग करके समान्तर माध्य (mean) निकालिए—

अंक	विद्यार्थियों की संख्या
5 से कम	6
5-15	12
15-30	22
30-50	16
50 व अधिक	4
	60

हल– चूँकि दोनों किनारे खुले हैं और अन्य वर्गों में अंतराल क्रमश: 10, 15 व 20 पाया गया है, इसलिये उचित यह होगा कि प्रथम वर्ग को 0-5 मान लिया जाय, और अन्तिम वर्ग को 50-75 मान लिया जाय। इन मान्यताओं के आधार पर पद-विचलन की लघु विधि

10 विद्यार्थियों के कुल अक (250–232) = 18

फेल होने वालों के औसत अक $\frac{18}{10} = 1 8$

प्रश्न 5 निम्न श्रेणी समान्तर माध्य (Arithmetic mean) ज्ञात कीजिए।

मूल्य (रु.)	आवृत्ति
10 90	150
10-80	146
10 70	137
10-60	124
10-50	97
10-40	56
10 30	16
10-20	4

(Raj Final yr II Paper, Elements of Statistics, 1991)

[इस प्रश्न में मध्यका व भूयिष्ठक भी पूछे गये थे जिनकी गणना इन विषयों के साथ आगे चलकर की जायगी।]

हल—इसमें सर्वप्रथम हमको वर्गों (classes) और उनकी आवृत्तियों को ठीक से जँचाना होगा। जैसे नीचे से 10-20 वर्ग के लिए आवृत्ति 4 है और 20-30 के लिए आवृत्ति (16–4) = 12 है, आदि, आदि। इन्हें नीचे की तालिका में दिखाया जाता है।

X	f	मध्य बिन्दु (mid-point)	कल्पित माध्य A = 45 से विचलन (d)	पद-विचलन $d^1 = \frac{d}{10}$	fd^1
10 20	4	15	−30	−3	−12
20-30	12	25	−20	−2	−24
30-40	40	35	−10	−1	−40
40 50	41	45	0	0	0
50-60	27	55	10	1	27
60-70	13	65	20	2	26
70-80	9	75	30	3	27
80-90	4	85	40	4	16
	N = 150				$\Sigma fd^1 = -76 + 96 = 20$

$$\overline{X} = A + \frac{\Sigma fd^1}{N} \times i$$

$$= 45 + \frac{20}{150} \times 10 = 45 + 1.33 = 46.33$$

प्रश्न 6. निम्नलिखित आवृत्ति बटन से समान्तर माध्य ज्ञात कीजिए

वर्गान्तर	1 5	6-10	11-15	16 20	21-25	26-30	31 35
आवृत्ति	5	7	18	25	20	4	1

[Raj , Final yr 1988]

[इसके साथ प्रमाप-विचलन तथा उसका गुणाक भी पूछे गये थे, जिनकी गणना आगे प्रमाप विचलन (standard deviation) के अध्याय में की जायगी।]

हल—

वर्गान्तर (X)	आवृत्ति (f)	मध्य-बिन्दु	कल्पित माध्य A = 18 से विचलन d	पद-विचलन $d^1 = \frac{d}{5}$	fd^1
1–5	5	3	–15	–3	–15
6-10	7	8	–10	–2	–14
11-15	18	13	–5	–1	–18
16-20	25	18	0	0	0
21-25	20	23	5	1	20
26-30	4	28	10	2	8
31-35	1	33	15	3	3
	N = 80				$\Sigma fd^1 = -47$ $+ 31 = -16$

$$\overline{X} = A + \frac{\Sigma fd^1}{N} \times i = 18 + \left(\frac{-16}{80} \times 5\right)$$

$$= 18 - 1 = 17$$

प्रश्न 7. निम्नलिखित आँकड़ों से माध्य परिकलित कीजिए—

अक (से अधिक)	0	10	20	30	40	50	60	70	80	90
विद्यार्थियों की संख्या	100	90	78	55	36	25	12	6	3	1

(Ajmer Final yr II Paper, 1988 अशत)

[इसमें प्रमाप विचलन तथा उसका गुणाक भी पूछे गये थे, जिनकी गणना आगे एक स्वतन्त्र अध्याय में की जायगी।]

हल—पहले इनको विभिन्न वर्गों में जंचाया जायगा जो 0-10 के बीच (100-90) = 10 तथा 10-20 के बीच (90–78) = 12 होगा, आदि।

कमियाँ (Shortcomings)

1 यह अधिक ऊँचे या अधिक नीचे मूल्यों से प्रभावित होता है। उदाहरण के लिए, 5 विद्यार्थियों के अंक 0, 1, 2, 2, 10 होने पर औसत अंक $= \frac{15}{5} = 3$ होंगे जो अकेले 10 की वजह से ऊपर की ओर खिंच गये हैं।

2. वर्गों के किनारे खुले (open-end classes) होने पर इसकी गणना में कठिनाई होती है। उनके सम्बन्ध में कोई मान्यता स्वीकार करनी होती है।

3 प्राय माध्य का मूल्य किसी व्यक्तिगत मूल्य से मेल नहीं खाता इसलिए यह एक कृत्रिम सा मूल्य प्रतीत होता है।

4 दो सिरीज का माध्य एक हो सकता है, लेकिन उनकी बनावट अलग-अलग हो सकती है। इसलिए केवल माध्यों के आधार पर निकाले गये परिणाम भ्रमात्मक हो सकते हैं।

उदाहरण के लिए, दो सिरीज लीजिए

A	B
5	0
5	0
5	15
$\overline{X} = 5$	$\overline{X} = 5$

यहाँ दोनों के माध्य = 5 हैं, लेकिन इनकी बनावट एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न है।

5 यह गुणात्मक दशाओं जैसे बुद्धिमत्ता, ईमानदारी, सुन्दरता, आदि के अध्ययन में प्रत्यक्षतया प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। इनको संख्या के रूप में प्रस्तुत करने की व्यवस्था करनी होती है, जैसे बुद्धिमत्ता की जाँच करके अंक देकर उसका अध्ययन किया जाता है।

इस प्रकार समान्तर माध्य के अपने गुण दोष होते हैं। फिर भी अपनी गणितीय विशेषताओं के कारण यह सर्वाधिक लोकप्रिय माना गया है।

प्रश्न

1 'समान्तर माध्य केन्द्रीय प्रवृत्ति के मापों में सर्वोत्तम माना जाता है।' क्या आप इस मत से सहमत हैं? विवेचना कीजिए।

अथवा

किसी सन्तोषजनक माध्य के लिए क्या-क्या विशेषताएँ होती हैं? समान्तर माध्य इन्हें कहाँ तक पूर्ण करता है?

2. समान्तर माध्य की प्रमुख विशेषताएँ स्पष्ट कीजिए।

3 निम्नलिखित अंकों से माध्य ज्ञात कीजिए—

प्राप्तांक	विद्यार्थियों की सख्या
5 10	5
10 15	6
15 20	15
20 25	10
25 30	5
30 35	4
35-40	2
40-45	*2*

(Raj Final yr 1985) [$\overline{X}$ = 20.97 = 21]

4 निम्न अकों का प्रयाग करक माध्य ज्ञात करें।

मजदूरी (रु में)	मजदूरों की सख्या
16 20	2
21 25	7
26 30	12
31 35	23
36-40	31
41-45	11
46 50	8
50 55	5
56-60	1
	कुल 100

[$\overline{X}$ = 36.5]

5 निम्न श्रेणी के लिए माध्य ज्ञात कीजिए—

अक (सख्या से ऊपर)	0	10	20	0	40	50	60	70
छात्रों की सख्या	100	90	75	0	25	25	5	0

सकेत पहले वर्ग बनाइए, जैसे 0 10 के लिए आवृत्ति 10, 10 20 के लिए 15 आदि $\overline{X}$ =32 होगा]

6 निम्न आँकडों से गायब आवृत्ति ज्ञात कीजिए—

आकार	10	12	14	16	18	20
आवृत्ति	3	7	—	20	8	5

यहसमान्तर माध्य 15.38 है।

[सकेत गायब आवृत्ति को x मानिए, फिर ΣfX ज्ञात करके आगे गणना कीजिए, $\overline{X} = \frac{\Sigma fX}{N}$ लेने पर गायब आवृत्ति = 12 होगी, यहाँ ΣfX = 678 + 14 x तथा N = 43 + x है।]

7 यदि एक सेम्पल का आकार 50 व उसका माध्य 54 4 हो तथा दूसरे सेम्पल का आकार 100 व उसका माध्य 50.3 हो तो दोनों सेम्पलों का इकट्ठा माध्य ज्ञात कीजिए। [$\overline{X}_{12}$ = 51 7]

8 निम्न तालिका में 90 विद्यार्थियों के अकों के आवृत्ति वितरण के आधार पर माध्य ज्ञात कीजिए—

अक	विद्यार्थियों की सख्या
15 19	6
20 24	14
25 29	12
30-34	10
35 39	10
40-44	9
45-49	9
50-54	10
55 59	5
60-64	4
65-69	1
	कुल 90

[$\overline{X}$ = 37 17]

9 निम्न आकडों से माध्य की गणना कीजिए—

अंक (संख्या से नीचे)	10	20	30	40	50	60	70
विद्यार्थियों की सख्या	15	35	60	84	96	127	200

[X = 44 15]

[सकेत—वर्ग इस प्रकार होंगे—

अंक	0 10	10 20	20 30	30-40	40-50	50-60	60-70
विद्यार्थियों की सख्या	15	20	25	24	12	31	73]

10 15 छात्रों का औसत भार 110 पौंडस है। उनमें से 5 छात्रों का 100 पौंडस और अन्य 5 छात्रों का 125 पौंडस औसत भार है। शेष छात्रों का औसत भार बताइये।
[शेष 5 छात्रों का औसत भार 105 पौंडस होगा।

यह $\frac{1650-1125}{5} = \frac{525}{5} = 105$ पौंडस होगा।]

11 नीचे झरिया की खानों में कर्मचारियों के अनुसार वर्गीकरण दिया हुआ है। प्रति खान औसत कर्मचारियों की सख्या ज्ञात कीजिए

कर्मचारियों की सख्या	खानों की सख्या
50 से कम	3
50 100	12
100 200	18
200 300	16
300-400	14
400 500	6
500 1000	19
1000 व ऊपर	13
	101

[$\bar{X}$ = 453 2 इसलिए 453 कर्मचारी प्रति खान]

12 निम्न आकडों की सहायता से समान्तर माध्य, मध्यका तथा बहुलक ज्ञात कीजिए —

अक,	15 25	25-35	35-45	45-55	55-65	65-75	75-85
छात्र सख्या	10	18	22	30	22	15	3

(मध्यका व बहुलक की विधिया आगे के अध्ययों में दी गई हैं।)

$\bar{X}$ = 47 75 (Raj Iyr, 1997)

मध्यका = 48.33

Z = बहुलक = 50



25

II–मध्यका
(MEDIAN)

अर्थ–जैसा कि इसके नाम से पता चलता है, मध्यका (median) किसी भी सिरीज में बीच के मद का मूल्य (value of the central item) होता है। इसके लिए मदों को क्रमवार जँचाना पड़ता है जो ज्यादातर सुविधा के लिए बढ़ते हुए क्रम में होता है। यह एक स्थिति पर आधारित औसत होता है, और प्राय एक सिरीज को दो भागों में बाँटता है जिससे आधी मदें इसके एक तरफ होती हैं।

मान लीजिए, 5 मदें इस प्रकार हैं–1, 2, 4, 5 व 6 इनमें बीच की मद 4 है जो मध्यका कहलायेगी। जहाँ सम सख्याएँ (even numbers) हों, वहाँ बीच की दो सख्याओं का औसत मध्यका होगा, जैसे 1, 2, 4, 5, 6, व 7 में मध्यका $\frac{n+1}{2}$ वें मद का मूल्य होगा, अर्थात् $\frac{6+1}{2}$ = 3.5वें मद का मूल्य होगा जो $\frac{\text{तीसरे के मूल्य} + \text{चौथे के मूल्य}}{2}$ के बराबर होगा, अथवा $\frac{4+5}{2} = \frac{9}{2} = 4.5$ होगा।

हालांकि आम तौर पर यह कहना सही है कि मध्यका एक सिरीज में बीच के मद का मूल्य होता है, लेकिन आजकल मध्यका की एक अधिक परिष्कृत व परिमार्जित परिभाषा दी जाने लगी है जो इस प्रकार है–

क्रोक्सटन, काउडेन तथा बोल्च के अनुसार, "मध्यका वह मूल्य होता है जो एक सिरीज को इस प्रकार विभाजित करता है कि कम से कम आधी मदें इसके बराबर बड़ी या इससे अधिक बड़ी होती हैं, और कम से कम आधी मद इसके जितनी छोटी या इससे भी ज्यादा छोटी होती है।"[1]

निम्न स्थिति पर विचार करें– 12, 13, 14, 14, 14, 15 व 16

यहाँ मध्यका का मूल्य 14 है इसमें 5 मदें ऐसी हैं जो इसके बराबर हैं, अथवा इससे बड़ी हैं (14, 14, 14 तो बराबर हैं तथा 15 व 16 इससे बड़ी हैं, इस प्रकार यहाँ कम से कम

1 'The median is defined as a value that divides a series so that at best one half of the items are as large as or larger than it is and at least one half the items are as small as or smaller than it is.
–Croxton Cowden and Bolch, Practical Business Statistics, 4th ed, 1969 p 26

आधी मदें "इसके बराबर बडी या इससे अधिक बडी" की शर्त को पूरा करती हैं। **या-लुन-चाऊ (Ya-Lun-Chou)** ने भी मध्यका की इसी प्रकार की परिभाषा दी है।[1] इस प्रकार आजकल मध्यका को केवल बीच की मद कहकर इसकी परिभाषा समाप्त नहीं कर दी जाती। इससे थोडा अधिक व्यापक अर्थ लगाया जाने लगा है।

मध्यका की विशेषताएँ (Characteristics or properties of median)

1 इसकी परिभाषा भी सुनिश्चित होती है। यह भी लोगों के समझ में आ जाता है हालाकि यह शब्द थोडा अपरिचित जान पडता है।

2 इसके लिए मदों को क्रमवार जँचाना पडता है।

3 इस पर अधिक बडी या अधिक छोटी मदों का असर नही पडता, क्योंकि यह एक स्थिति को सूचित करने वाला औसत (positional average) होता है। यह बात आगे के उदाहरणों से अधिक स्पष्ट हो जायेगी।

4 इसमें एक सेम्पल से दूसरे सेम्पल में मूल्य की स्थिरता कम होती है, जबकि माध्य (mean) में सेम्पलिंग की स्थिरता (sampling stability) पायी जाती है।

5 यह खुले किनारों वाले वर्गों में भी आसानी से ज्ञात किया जा सकता है, क्योंकि यह स्थितिगत औसत होता है।

6 मध्यका की सबसे महत्त्वपूर्ण गणितीय विशेषता यह है कि इससे व्यक्तिगत मूल्यों के विचलनों का योग (निशान छोडते हुए, अर्थात् जोड व बाकी के निशान पर ध्यान न देते हुए) न्यूनतम होता है। इसे $\Sigma|d|$ = न्यूनतम राशि के द्वारा सूचित किया जाता है। इसमें *$\Sigma|d|$ का अर्थ है कि विचलनों का योग निशान पर ध्यान न देते हुए प्राप्त किया गया है।*

मान लीजिए, हम 1, 2, 3 मूल्य लेते हैं। इनमें मध्यका = 2 है। इसके विचलन (निशान छोडते हुए) क्रमश 1, 0, 1 हैं, जिनका जोड 2 है, अर्थात् $\Sigma|d| = 2$ है, जो न्यूनतम होता है। यदि किसी और राशि से विचलन निकाले गये तो वे 2 से अधिक ही होंगे। वे किसी हालत में 2 से कम नही हो सकते।

मध्यका की गणना की विधि—

पहले बतलाया जा चुका है कि मध्यका की गणना के पूर्व इसकी मदों को क्रमवार (array) जँचाना जरूरी होता है।

खण्डित सिरीज में इसकी गणना इस प्रकार की जाती है—

मध्यका $\frac{N+1}{2}$वीं मद के मूल्य के बराबर होता है। गणना के लिये सचयी आवृत्ति निकालना आवश्यक होता है।

---

1 " The median may now formally be defined as that value which divides a series in such a fashion that at least 50 percent of the items are equal to or less than it and at least 50 percent of the items are equal to or greater than it."
—Ya-Lun-Chou, Statistical Analysis, 2nd ed 1975, p 165

उदाहरण—निम्नलिखित खण्डित सिरीज में मध्यका निकालिए–

X	f
2	5
4	8
5	7
7	5

हल–

X	f	सचयी आवृत्ति (Cf)
2	5	5
4	8	13
5	7	20
7	5	25
	कुल 25	

मध्यका $\frac{N+1}{2} = \frac{25+1}{2} = \frac{26}{2} = 13$वीं मद के मूल्य के बराबर होगा जो यहाँ 4 है।

व्यावहारिक रूप—यहाँ 2 वाला मूल्य 5 बार आता है, और 4 वाला मूल्य 8 बार आता है। *अत 2 2 2 2 2 4 4 4 4 4 4 4 4 में 13वीं मद का मूल्य = 4 है। इसलिए यहाँ* 4 को मध्यका कहा जायगा। सचयी आवृत्ति के कॉलम में 6 से 13 तक की आवृत्तियाँ मूल्य 4 से ही सम्बद्ध हैं।

सतत सिरीज (continuous series) में मध्यका की गणना—

सूत्र (formula) - Median $= L_1 + \left(\frac{\frac{N}{2} - c_o}{f}\right) \times i$

यहाँ L_1 मध्यका के वर्ग की निचली सीमा है, $\frac{N}{2}$ आवृत्ति का आधा है, C_o = मध्यका वर्ग से पहले के वर्गों तक की सचयी आवृत्ति (cumulative frequency) है, f = मध्यका वर्ग की आवृत्ति एव i = मध्यका वाले वर्ग का वर्गान्तर (size of the class-interval of the median class) है।

उदाहरण—निम्न आँकड़ों का सहायता से मध्यका निकालिए—

(प्रथम विधि)	मजदूरी (रु. में) (X)	मजदूरों की संख्या f	संचयी आवृत्ति (cf)
	20-30	5	5
	30-40	15	$20 = C_o$
	40 50	8 = f	28
	50- 60	15	43
	60-70	5	48
		कुल N = 48	

यहां मध्यका $\frac{N}{2}$ = 24वें मद के मूल्य के बराबर है। मध्यका 40-50 वर्ग में स्थित है। अत $L_1 = 40$ है।

मध्यका (median)

$$= L_1 + \left(\frac{\frac{N}{2} - C_o}{f}\right) \times i = 40 + \left(\frac{24-20}{8}\right) \times 10 = 40 + 5 = 45 \text{ होगा।}$$

[यहाँ वर्गान्तर (मध्यका के वर्ग में) 10 हैं]

द्वितीय विधि—हम चाहें तो मध्यका-वर्ग की ऊपरी सीमा L_2 का प्रयोग करके भी मध्यका का मूल्य निकाल सकते हैं। इसका सूत्र थोड़ा बदल जायगा।

$$\text{मध्यका (median)} = L_2 - \left(\frac{\frac{N}{2} - C_o}{f}\right) \times i$$

अब सचयी आवृत्ति नीचे के छोर से देखनी होगी।

मजदूरी (रु. में)	मजदूरों की सख्या	सचयी आवृत्ति (नीचे से ऊपर)
X	f	Cf
20-30	5	48
30-40	15	43
40-50	8 = f	28
50-60	15	20 = C_o
60-70	5	5
	N = 48	

$M = L_2 - \left(\frac{\frac{N}{2} - C_o}{f}\right) \times i$, यहाँ भी मध्यका $\frac{N}{2}$वीं मद के मूल्य के अर्थात् 24वीं मद के मूल्य के है।

$$= 50 - \left(\frac{24-20}{8}\right) \times 10 = 50 - 5 = 45 \text{ जो पहले के समान है।}$$

आगे मध्यका से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के प्रश्न हल किये गये हैं।

प्रश्न 1. निम्न श्रेणी से मध्यका (median) ज्ञात कीजिए—

मूल्य (₹)	आवृत्ति
10-90	150
10-80	146
10 70	137
10-60	124
10 50	97
10 40	56
10 30	16
10 20	4

(Raj Final yr. II paper 1991)
(इसका माध्य पिछले अध्याय में दिया गया था)

हल-आवृत्तियों को सही मूल्यों में बदलने पर—

		f	संचयी आवृत्ति (cf)
	10 20	4	4
	20 30	12	16
	30-40	40	$56 = C_o$
मध्यका वर्ग	40-40	$41 = f$	97
	50-60	27	124
	60 70	13	137
	70 80	9	146
	80-90	4	150
		कुल 150 = N	

गणना की विधि—

मध्यका = $\frac{N}{2}$वीं मद के मूल्य में = 75 मद के मूल्य में।

मध्यका 40 50 के वर्ग में है।

$$M = l_1 + \left(\frac{\frac{N}{2} - C_o}{f}\right) \times i$$

$$= 40 + \left(\frac{75-56}{41}\right) \times 10$$

$$= 40 + \frac{190}{41} \approx 40 + 4.6 = 44.6$$

प्रश्न 2. निम्न समकों की सहायता से मध्यका निर्धारित कीजिये।

क्रम सख्या	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10
मूल्य	21	22	22 5	22 5	22 5	23 5	24	25	27	28

(Raj Final yr 1989) (आशिक प्रश्न)

हल–ये व्यक्तिगत मूल्य हैं और पहले से बढ़ते हुए क्रम में रखे गये हैं।

मध्यका = $\frac{N+1}{2}$ वीं मद के मूल्य के

= $\frac{10+1}{2}$ = 5 5 वी मद के मूल्य के = $\frac{22\,5 + 23\,5}{2}$ = 23 उत्तर

प्रश्न 3. निम्न सतत सिरीज में मध्यका का मूल्य 50 है। दिये हुए आँकड़ों के आधार पर गायब आवृत्ति ज्ञात कीजिये।

व्यय	10 20	20-40	40-60	60-80	80-100
परिवारों की सख्या	14	23	27	-	15

हल–

	व्यय (रुपयों में)	परिवारों की सख्या f	सचयी आवृत्ति (cf)
	0 20	14	14
	20-40	23	37 = C_o
मध्यका वर्ग	40-60	27 = f	64
	60-80	x	64 + x
	80-100	15	79 + x
		N = 79 + x	

$$M = L_1 + \left(\frac{\frac{N}{2} - C_o}{f}\right) \times i$$

दिये हुए मूल्य प्रतिस्थापित करने पर,

$$50 = 40 + \left(\frac{\frac{79+x}{2} - 37}{27}\right) \times 20$$

$$10 = \left(\frac{\frac{79+x}{2} - 37}{27}\right) \times 20$$

दोनों तरफ 10 का भाग देने पर

$$1 = \left(\frac{\frac{79+x}{2} - 37}{27}\right) \times 2$$

$$\therefore \quad 1 = \frac{79 + x - 74}{27}$$ (हल करने पर)

तिरछा गुणा करने पर

$5 + x = 27$

$x = 27-5 = 22$

अत गायब आवृत्ति = 22 होगी।

प्रश्न 4 निम्नांकित सारणी से मध्यका (median) का निर्धारण कीजिये–

मजदूरी (रु.)	मजदूरों की संख्या
100 200	11
100 300	28
100-400	60
100 500	88
100-600	100

(Raj Final yr, 1988, आंशिक प्रश्न)

हल–पहले इसको विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जायेगा।

	मजदूरी (रु.)	मजदूरों की संख्या f	सचयी आवृत्ति cf
	100 200	11	11
	200 300	17	$28 = C_o$
मध्यका-वर्ग←	300-400	$32 = f$	60
	400 500	28	88
	500-600	12	100
		N = 100	

मध्यका = $\frac{N}{2}$ वीं मद का मूल्य, अर्थात् 50वीं मद का मूल्य

$$M = L_1 + \left(\frac{\frac{N}{2} - C_o}{f}\right) \times i$$

$$= 300 + \left(\frac{50-28}{32}\right) \times 100$$

$$= 300 + \left(\frac{11}{16}\right) \times 100$$

$$= 300 + 68.75 = 368.75$$

प्रश्न 5 निम्नलिखित सारणी से मध्यका ज्ञात कीजिए–

केन्द्रीय आकार	5	15	25	35	45	55	65	75	85	95
आवृत्ति	5	9	12	21	20	13	10	5	3	2

(Ajmer, Final yr 1988, आंशिक प्रश्न)

हल-पहले इनको वर्गों में परिवर्तित करना होगा। चूँकि मध्य बिन्दुओं में 10 का अन्तराल है, इसलिए वर्गान्तर 10 होगा। अत प्रथम वर्ग 0–10, द्वितीय-वर्ग 10 20 होगा, और यही क्रम आगे भी दोहराया जायेगा।

	वर्ग	f	सचयी आवृत्ति (cf)
	0-10	5	5
	10-20	9	14
	20-30	12	26
	30-40	21	47 = C_o
मध्यका-वर्ग ←	40 50	20 = f	67
	50-60	13	80
	60-70	10	90
	70-80	5	95
	80 90	3	98
	90 100	2	100
		कुल 100 = N	

मध्यका = 50वीं मद का मूल्य

$$M = L_1 + \left(\frac{\frac{N}{2} - C_o}{f}\right) \times i = 40 + \left(\frac{50-47}{20}\right) \times 10$$

$= 40 + 1.5 = 41.5$

प्रश्न 6. मध्यका और बहुलक को परिभाषित कीजिए।

निम्नलिखित अकों से मध्यका, बहुलक और माध्य की गणना कीजिए।

चीनी का उत्पादन (टनों में)	कारखानों की संख्या
0-60	6
60-120	54
120-180	58
180-240	41
240-300	26
300-360	18
360-420	6
420-480	5
480-540	2
	216

(Raj Iyr., TDC 1995)

[इसका माध्य पिछले अध्याय में दिया गया है।]

हल–	चीनी उत्पादन (टनों में)	कारखानो की सख्या (f)	सचयी आवृत्ति (cf)
	0-60	6	6
	60 120	54	60 = C_o
मध्यका-वर्ग ←——	120 180	58 = f	118
	180 240	41	159
	240 300	26	185
	300 360	18	203
	360-420	6	209
	420-480	5	214
	480 540	2	216
		N = 216	

मध्यका $= \frac{216}{2} = 108$ वीं मद का मूल्य यह 120 180 वर्ग में है।

$$\text{अत मध्यका} = L_1 + \left(\frac{\frac{N}{2} - C_o}{f}\right) \times i = 120 + \left(\frac{108-60}{58}\right) \times 60$$

$= 120 + \frac{48}{58} \times 60 = 120 + 49\ 7 = 169\ 7$ टन प्रति फैक्ट्री

प्रश्न 7 निम्नलिखित समकों से मध्यका की गणना कीजिये—

प्राप्ताक (से कम)	10	20	30	40	50	60	70	80
विद्यार्थियों की संख्याएँ	3	7	10	16	30	40	45	50

हल	प्राप्तांक	विद्यार्थियों की संख्या f	संचयी आवृत्ति (cf)
	0-10	3	3
	10 20	4	7
	20-30	3	10
	30-40	6	16 = C_o
मध्यका वर्ग ←——	40-50	14 = f	30
	50-60	10	40
	60-70	5	45
	70-80	5	50
		N = 50	

मध्यका $\frac{50}{2}$ = 25वी मद का मूल्य

मध्यका = $\frac{50}{2}$= 25वी मद का मूल्य

मध्यका की गणना

$$\text{मध्यका } L_1 + \left(\frac{\frac{N}{2} \quad C_o}{f}\right) i = 40 + \left(\frac{25-16}{14}\right) \times 10 = 40 + \frac{90}{14}$$

$$= 40 + 6\,4 = 46\,4$$

प्रश्न 8. निम्न आँकड़ों से मध्यका (median) ज्ञात कीजिए—

केन्द्रीय आकार	2.5	7 5	12 5	17 5	22.5
आवृत्ति	*7*	*18*	*25*	*30*	*20*

हल-यहाँ मध्य बिन्दु दिये हुए हैं। इसलिए पहले वर्गान्तर = 5 लेते हुए वर्ग बनाने होंगे, जो नीचे दिये जाते हैं—

वर्ग	f	cf
0-5	7	7
5-10	18	25 = C_o
10-15	25	50
15-20	30	80
20-25	20	100
	N = 100	

मध्यका = $\frac{N}{2} = \frac{100}{2}$ = 50वीं मद का मूल्य होगा।

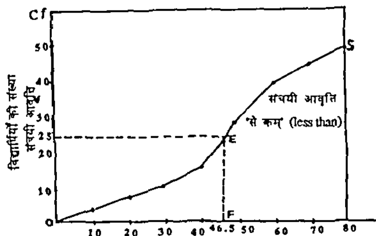
यहाँ सचयी आवृत्ति के कॉलम से पता चलता है कि जब 50 मदें पूरी होती हैं तो मदों का आकार 15 मूल्य पर पहुँचता है। अत यहाँ बिना सूत्र लगाये ही मध्यका का मूल्य = 15 प्राप्त हो जाता है। सूत्र लगाने पर भी

$$L_1 + \left(\frac{\frac{N}{2} - C_o}{f}\right) \times i = 10 + \left(\frac{50-25}{25}\right) \times 5 = 10 + 5 = 15 \text{ आ जायेगा।}$$

प्रश्न 9. प्रश्न 6 के आँकडों के आधार पर, 'से कम' (less then) आधार पर सचयी आवृत्ति वक्र (ओजाइव) बना कर मध्यका ज्ञात कीजिए

हल—

प्राप्तांक 'से कम' (less than)	विद्यार्थियों की संख्या
10	3
20	7
30	10
40	16
50	30
60	40
70	45
80	50



प्राप्तांक मध्यका = 46.5

चित्र 1 संचयी आवृत्ति वक्र (Cumulative frequency curve) की सहायता से मध्यका (median) ज्ञात करना (ओजाइव)

स्पष्टीकरण-ऊपर चित्र में 'से कम' आधार पर एक संचयी आवृत्ति वक्र OS खींचा गया है। OS एक ओजाइव है। लम्बवत् अक्ष पर आवृत्ति के बिन्दु से वक्र पर एक क्षैतिज अक्ष के समान्तर रेखा डालते हैं, जो ओजाइव को E पर काटती है। E से एक लम्ब EF क्षैतिज अक्ष या मूल्यों के अक्ष पर डालते हैं जो इसे F पर काटता है। अत OF मध्यका (median) का माप है, जो लगभग 46.5 है।

'से अधिक' ओजाइव से भी मध्यका ज्ञात किया जा सकता है। हम अध्याय 20 के चित्र में दो संचयी वक्रों के कटान बिन्दु से नीचे क्षैतिज अक्ष पर लम्ब डाल कर भी मध्यका ज्ञात करने की विधि पर प्रकाश डाल चुके हैं। इस प्रकार मध्यका का मूल्य ओजाइव नामक माफ की सहायता से जाना जा सकता है। इसके लिए किसी भी एक ओजाइव, अथवा दोनों संचयी आवृत्ति वक्रों का उपयोग किया जा सकता है।

प्रश्न 10 निम्न आँकड़ों से मध्यका आय ज्ञात कीजिए।

आमदनी	आवृत्ति
0-1	13
1-2	90
2-3	81
3-5	117
5-10	66
10-25	27
25-50	6
50-100	2
100-1000	2
	N = 404

हल-

	आमदनी	f	cf
	0-1	13	13
	1-2	90	103
	2-3	81	184 = C_o
मध्यका वर्ग ←	3-5	117	301
	5-10	66	367
	10-25	27	394
	25-50	6	400
	50-100	2	402
	100-1000	2	404
		N = 404	

मध्यका $= \frac{N}{2} = \frac{404}{2} = 202$वीं मद का मूल्य जो वर्ग 3-5 में स्थित है।

$$= L_1 + \left(\frac{\frac{N}{2} - C_o}{f}\right) \times i = 3 + \left(\frac{202-184}{117}\right) \times 2$$

$$= 3 + \frac{18}{117} \times 2 = 3 + 0.3 = 3.3$$

मध्यका के गुण—अब तक के विवेचन से मध्यका के निम्न गुण सामने आ पाये हैं।

1 यह भी समान्तर माध्य की भाँति आम व्यक्ति के समझ में आ जाता है और व्यक्तिगत मूल्यों व खण्डित श्रेणी में इसका ज्ञात करना बहुत आसान होता है।

2 यह एक स्थितिगत औसत (positional average) होता है और इस पर बहुत अधिक या बहुत नीचे मूल्यों (extreme values) का असर नही पडता जैसाकि माध्य पर पडा करता है।

3 यह वर्गों के खुले किनारे पर भी ज्ञात किया जा सकता है (प्रारम्भ व अत में) क्योंकि इसके लिए मध्य बिन्दु मान्यता की आवश्यकता नही रहती है।

4 यह असमान वर्गान्तर में भी आसानी से मालूम किया जा सकता है।

5 यह माफ पर भी ज्ञात किया जा सकता है। इसके लिए दो प्रकार के सचयी आवृत्ति वक्रों (ogives) का प्रयोग किया जाता है।

6 यह माध्य विचलन (mean deviation) की गणना में प्रयुक्त किया जाता है तथा विषमता के गुणाक (coefficient of skewness) को जानने में भी मदद देता है। इस प्रकार आगे भी इसका साख्यिकीय विश्लेषण में उपयोग होता है।

7 यह गुणात्मक दशाओ के अध्ययन मे भी काम आता है जैसे बीच का रग (Medium Colour) औसत बुद्धिमत्ता आदि।

8 मध्यका से व्यक्तिगत मूल्यों के विचलनों का योग (निशान छोड कर) अर्थात् Σ|d| न्यूनतम होता है।

मध्यका की कमियाँ

1 इसमें साख्यिकीय विश्लेषण में आगे उतने प्रयोग नहीं होते जितने समान्तर माध्य के होते हैं।

2 मध्यका एक स्थितिगत औसत होता है, इसलिए यह सिरीज के सभी मूल्यो पर आधारित नही होता। उदाहरण के लए, 10 15 20 का मध्यका 15 है तो 5 15 35 का मध्यका भी 15 है और 15 15 15 का मध्यका भी 15 ही है। यह दायें बायें के मूल्यों के प्रति प्रभावशून्य सा बना रहता है।

3 इसमें माध्य की तुलना में सेम्पल से सेम्पल के बीच अतर ज्यादा पाये जाते हैं। अत इसमें सेम्पलिंग स्थिरता का गुण नही होता है।

4 जहाँ बडे मूल्यों या छोटे मूल्यों को महत्त्व देना हो वहाँ यह काम नहीं देता।

5 व्यक्तिगत मूल्यों व खण्डित सिरीज में इसको ज्ञात करने के लिए $\frac{N+1}{2}$ वी मद का मूल्य जाना जाता है तथा सतत सिरीज में $\frac{N}{2}$वी मद का मूल्य जाना जाता है। अत माध्य की भाँति इसका सूत्र सभी दशाओं में एक सा नही होता।

इन कमियों के बावजूद मध्यका का काफी प्रयोग किया जाता है और यह केन्द्रीय प्रवृत्ति का एक लोकप्रिय माप माना गया है।

प्रश्न

1 केन्द्रीय प्रवृति के माप के रूप में मध्यका का अर्थ व गुण दोष स्पष्ट कीजिये।

2 निम्न सारणी में एक-एक मिनट के अतराल से एक टेलीफोन एक्सचेंज में प्राप्त टेलिफोन कालों (calls) की सख्याएँ दी गई हैं।

इनके आधार पर मध्यका ज्ञात करें–

कालों की सख्या	0	1	2	3	4	5	6	7
आवृत्ति	14	21	25	43	51	40	39	12

[मध्यका = 4]

3 निम्नाकित लम्बाई के आँकडों के आधार पर मध्यका ज्ञात करें–

लम्बाई (मिलिमीटर में)	आवृत्ति
118 126	3
127 135	5
136 144	9
145 153	12
154 162	5
163 171	4
172 180	2
	कुल 40

[स्रोत Schaum's Outline Series Theory and Problems of Statistics p 57]

[मध्यका वर्ग की वास्तविक सीमाऐं 144.5–153.5 हैं वर्गान्तर = 9 है, मध्यका = 146.8 मिलिमीटर होगा।]

4 मध्यका ज्ञात कीजिए—

मध्य-बिंदु	5	15	25	35	45
आवृत्ति	3	9	8	5	3

[मध्यका = 22 5]

5 एक टेस्ट में 15 विद्यार्थियों में से 5 विद्यार्थी फेल हो गये और जो 10 पास हुए उनके अक इस प्रकार हैं—

9, 6, 7, 8, 8, 9, 6, 5, 4, 7, तो 15 विद्यार्थियों के अकों का मध्यका ज्ञात कीजिए।

[सकेत—मध्यका = $\left(\frac{15+1}{2}\right)$वीं मद का मूल्य = 8वें मद का मूल्य होगा। अक इस क्रम में जँचाये जायेंगे 5 फेल होने वालों के क्रमश अक (जो भी हों)

फिर 4, 5, 6, 6, 7, 7, 8, 8, 9 तथा 9, इनमें 5वी मद 6 आयेगी, अत यहाँ मध्यका = 6 है।]

6 एक टेस्ट में 50 विद्यार्थियों को निम्न प्रकार से अक प्राप्त हुए, इनके आधार पर ग्राफ बना कर मध्यका ज्ञात कीजिए। फार्मूला लगाकर चैक करिए।

अंक	विद्यार्थियों की सख्या
10 अक या कम	4
20 अक या कम	10
30 अक या कम	30
40 अक या कम	40
50 अक या कम	47
60 अक या कम	50

[मध्यका 27.5 या लगभग 28]

7 *निम्न आकडों का उपयोग करके गायब आवृत्तियाँ निकालिए—*

अंक	विद्यार्थियों की संख्या
0 10	20
10 20	-
20-30	50
30-40	60
40-50	-
50-60	20
	कुल 200

मान लीजिए मध्यका का मूल्य 30 है।

[आवृत्ति 10-20 में 30, तथा 40-50 में 20 होगी]उत्तर

[संकेत—माना कि वर्ग 10-20 में आवृत्ति x है तो 40 50 वर्ग में 50–x होगी, चूँकि मूल्य 30 वर्ग 30-40 में है, इसलिए $30 = 30 + \left(\frac{100 - 70 - x}{60}\right) \times 10$ को हल करने पर x = 30 आयेगा]

8 निम्न तालिका में 80 सेबों में भार का आवृति वितरण दिया है। इनसे मध्यका ज्ञात करें। इसके लिए सचयी आवृति वक्र का प्रयोग करें।

भार (ग्राम में)	आवृत्ति
110 119	5
120-129	7
130-139	12
140 149	20
150 159	16
160 169	10
170 179	7
180 189	3
	कुल 80

[मध्यका 147 5 ग्राम, प्रथम वर्ग-सीमाएं 109.5–119.5 लें।]

9 निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(i) केन्द्रीय प्रवृत्ति के माप के रूप में माध्य व मध्यका की तुलना,

(ii) मध्यका की गणितीय विशेषताएँ

10 निम्न आँकडों की सहायता से मध्यका ज्ञात करें—

अंक	विद्यार्थियों की संख्या
10 से कम	3
20 " "	8
30 " "	17
40 " "	20
50 " "	22

[मध्यका = 23.33 उत्तर]

11 नीचे दी गई तालिका में दिये गये आँकडों से 'माध्य' (Mean) तथा 'मध्यका' (Median) ज्ञात कीजिये—

अंक	विद्यार्थियों की संख्या	अंक	विद्यार्थियों की संख्या
10 से नीचे	4	60 से नीचे	86
20 से नीचे	6	70 से नीचे	96
30 से नीचे	24	80 से नीचे	99
40 से नीचे	46	90 से नीचे	100
50 से नीचे	67		

(Ajmer Iyr 1993)

[माध्य = 42 2]
[मध्यका = 41 9]
अतः दोनों 42 अंक उत्तर

12 निम्न आँकड़ों से मध्यका ज्ञात कीजिए–

मूल्य	आवृत्ति
7-10 99	5
11 14 99	9
15 18 99	13
19 22.99	21
23-26 99	17
27-30 99	15

[संकेत–गणना के लिए वर्ग इस प्रकार लें 7-11, 11-15, आदि, मध्यका = M = 24 6 होगा ।]

13 निम्न आंकड़ों की सहायता से मध्यका निकालिए–

पिछले जन्म-दिन पर आयु (वर्ष)	आवृत्ति
15-19	8
20-24	40
25-29	76
30-34	48
35-39	20
40-44	8

[मध्यका = 28 4 वर्ष]

[संकेत–यहाँ पिछले जन्म-दिन पर आयु दी हुई है। इसलिए मध्यका वर्ग 25-29 की जगह 25-30 लिया जायेगा, जिससे वर्गान्तर = 5 माना जायेगा।]

14 निम्नलिखित श्रेणी से समान्तर माध्य और मध्यका ज्ञात कीजिये–

अक	विद्यार्थियों की सख्या
10 से कम	25
20 से कम	40
30 से कम	60
40 से कम	75
50 से कम	95
60 से कम	125
70 से कम	190
80 से कम	240

(Raj Iyr., 1996, Non-Coll)

($\bar{X}$ = 49 6 तथा मध्यका = 58.3)



III–बहुलक (MODE)

अर्थ—बहुलक या भूयिष्ठक एक सिरीज में सबसे ज्यादा पायी जाने वाली मद होती है। यह एक सिरीज में अन्य मदों की तुलना में अधिक बार आती है। इसलिए इसका विशेष महत्त्व होता है। उदाहरण के लिए, जब हम कहते हैं कि अमुक गाँव में खेतों का बहुलक आकार (modal size) 5 हैक्टेयर है, तो इसका अर्थ यह है कि उस गाँव में ज्यादा खेत 5 हैक्टेयर आकार के हैं, और थोड़े खेत इससे अधिक या इससे कम आकार वाले हैं। अत बहुलक के पीछे मूल धारणा यह है कि यह मद विशेष किस्म की होती है, और सबसे ज्यादा बार सिरीज में आती है।

वाग (Waugh) के अनुसार, 'बहुलक वह मूल्य है जो सबसे ज्यादा बार आता है।' क्रोक्सटन, काउडेन व क्लाइन के शब्दों में, 'एक वितरण में बहुलक उस बिन्दु पर पाया जाता है जिसके इर्द-गिर्द मदों का सर्वाधिक सकेन्द्रण पाया जाता है। यह एक सिरीज के मूल्यों में सबसे ज्यादा विशिष्ट (typical) होता है।'[1]

बहुलक की अवधारणा भी लोगों के आसानी से समझ में आ जाती है। लोग व्यवहार में प्राय इसका प्रयोग करते हुए पाये जाते हैं, जैसे जब एक ग्राहक किसी दूकानदार को कहता है कि मुझे पेंट पीस में ऐसी 'आइटम' दो जिसे ज्यादा से ज्यादा ग्राहक पसद करते हैं, तो वह बहुलक (mode) की बात कर रहा होता है। इसी प्रकार 100 श्रमिकों की आमदनी में बहुलक आमदनी वह होती है जिसे सर्वाधिक श्रमिक प्राप्त करते हैं, मान लीजिए यह 500 रुपये मासिक है, तो इसका अर्थ यह है कि अधिक श्रमिक 500 रुपये मासिक पाते हैं, और कम श्रमिक इससे अधिक या इससे कम आमदनी प्राप्त करते हैं। इस प्रकार माध्य और मध्यका की भाँति बहुलक भी समझने में तो आसान होता है, लेकिन इसकी गणना में कई प्रकार की कठिनाइयाँ आती हैं, विशेषतया सतत सिरीज में।

बहुलक की गणना करने की विधि

(1) व्यक्तिगत मूल्यों के दिये होने पर—यदि व्यक्तिगत मूल्य थोड़े से होते हैं तो उनको देखकर बहुलक बताया जा सकता है, जैसे निम्न दस मूल्यों में बहुलक ज्ञात करना आसान होता है।

1. 'The mode of a distribution is the value of the point around which the items tend to be most heavily concentrated. It may be regarded as the most typical of a series of values.'
—Croxton, Cowden and Klein Applied General Statistics, 3rd. ed 1967 p 169

1, 2, 3 3, 3, 3, 7, 8, 8, 10 में बहुलक 3 है क्योंकि यह चार बार आया है। अन्य कोई सख्या इतनी बार नही आयी है। लेकिन कुछ दशाओं में बहुलक नही होता जैसे यदि दस मूल्य ऊपर की बजाय

1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10 होते तो प्रत्येक मूल्य के केवल एक बार आने के कारण इसमें कोई बहुलक नहीं है। इसी प्रकार किसी सिरीज में दो या तीन बहुलक भी हो सकते हैं।

(ii) खण्डित सिरीज (discrete series) मे बहुलक ज्ञात करना–प्राय खण्डित सिरीज में बहुलक का देखते ही पता चल जाता है। यह सर्वोच्च आवृत्ति को दर्शाने वाला मूल्य होता है, जैसे निम्न सिरीज में बहुलक 4 है, क्योंकि इस पर आवृत्ति 30 है जो सर्वाधिक है।

मूल्य	आवृत्ति
X	(f)
2	10
4	30
5	15
8	5

लेकिन कभी कभी आगे पीछे की आवृत्तियों को जोड कर बहुलक का निर्णय किया जाता है, जैसे निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है–

X	f
5	5
6	7
7	8
8	18
9	15
10	12
11	7
12	5

यहाँ सारणी को देखते ही ऐसा लगता है कि बहुलक 18 आवृत्ति (frequency) वाले मूल्य 8 के बराबर होगा। लेकिन जरा 18 आवृत्ति व 15 आवृत्ति के आस पास के दबावों को देखें तो स्थिति बदल जायगी।

18 के पीछे आवृत्ति 8 है तथा आगे 15 है, जिससे तीनों का योग 18 + 8 + 15 = 41 बनता है जबकि 15 आवृत्ति के पीछे 18 व आगे 12 है जिससे तीनों का योग 15 + 18 + 12 = 45 बनता है। अत आवृत्ति 15 के आगे पीछे का दबाव ज्यादा होने से बहुलक 9 हो जाता है। अत समूह बनाकर निर्णय लेना पड सकता है।

(iii) सतत-सिरीज मे बहुलक ज्ञात करने की विधि–

(अ) जब बहुलक वर्ग (modal class) के सम्बन्ध में कोई सदेह न हो, जैसा कि निम्न उदाहरण में दर्शाया गया है। ऐसी दशा में सर्वोच्च आवृत्ति स्पष्टतया दिखायी देती है।

निर्णय करना होगा कि बहुलक या भूयिष्ठक वर्ग 30-40 है, या 40-50 है। इसके लिए समूह विधि' का प्रयोग करना होगा, जो तालिका में कॉलम (1) से कॉलम (6) तक के आँकडो के आधार पर तय की जायगी। नीचे विश्लेषण तालिका दी जाती है—

विश्लेषण-तालिका

कॉलम	वर्ग जो अधिकतम आवृत्ति से सम्बन्धित हैं				
1			40 50		
2		30-40	40 50		
3			40 50	50-60	
4			40 50	50-60	60-70
5	20 30	30-40	40 50		
6		30-40	40 50	50-60	
कितनी बार	(1)	(3)	(6)	(3)	(1)

समूह की विधि में हम किस प्रकार जोड लगाते हैं–

(i) कॉलम (2) में दो-दो को जोडते हैं।

(ii) कॉलम (3) में प्रथम आवृत्ति को छोड कर दो-दो को जोडते हैं।

(iii) कॉलम (4) में तीन तीन आवृत्तियों को जोडते हैं।

(iv) कॉलम (5) में प्रथम आवृत्ति को छोडकर तीन तीन को जोडते हैं।

(v) कॉलम (6) में प्रथम दो आवृत्तियों को छोडकर तीन तीन को जोडते हैं।

फिर विश्लेषण तालिका में कॉलमवार सर्वाधिक आवृत्तियों को दर्शाने वाले वर्ग लिख लेते हैं। इनमें से जो वर्ग सबसे ज्यादा बार आता है वही बहुलक वर्ग कहलाता है।

अत उपर्युक्त तालिका में 40 50 का वर्ग छ बार आया है, अत यह बहुलक-वर्ग है।

सूत्र के अनुसार,—

$$Z = L_1 + \frac{f_1 - f_o}{2f_1 - f_o - f_2} \times i$$

$$= 40 + \frac{41 - 40}{82 - 40 - 27} \times 10$$

$$= 40 + \frac{1}{15} \times 10 = 40.7$$

नीचे बहुलक से सम्बन्धित कुछ और प्रश्न हल किये जाते हैं।

प्रश्न 1. निम्नलिखित सारणी से बहुलक ज्ञात कीजिये–

केन्द्रीय आकार	5	15	25	35	45	55	65	75	85	95
आवृत्ति	5	9	12	21	20	13	10	5	3	2

(Ajmer, Final yr 1988, आंशिक प्रश्न)

हल सरल आवृत्ति के रूप में बदलने पर–

X	f (1)	दो-दो जोड़ कर (2)	एक छोड़ कर दो-दो जोड़ कर (3)	तीन तीन जोड़कर (4)	एक छोड़कर तीन-तीन (5)	दो छोड़कर तीन-तीन का जोड़ (6)
0-10	5					
		14				
10 20	9			26		
			21			
20 30	12				42	
		33				
30-40	21					53
			41			
40-50	20			54		
		33				
50-60	13				43	
			23			
60-70	10					28
		15				
70-80	5			18		
			8			
80 90	3				10	
		5				
90 100	2					
	कुल = 100					

यहाँ भी पहले समूह विधि से बहुलक वर्ग ज्ञात करना होगा।

विश्लेषण—तालिका

कॉलम	सर्वाधिक आवृति के वर्ग				
1		30-40			
2	20 30	30-40	40 50	50-60	
3		30-40	40 50	[illegible]	[illegible]
4		30-40	40 5[illegible]	[illegible]	[illegible]
5			40 [illegible]	[illegible]	[illegible]
6	20-30	30-40	40 5[illegible]	[illegible]	[illegible]
एक वर्ग कितनी बार आया?	(2)	(5)	(5)	[illegible]	[illegible]

यहाँ 30-40 व 40 50 वर्गों के पाँच पाँच बार आने से बहुलक वर्ग का निर्णय करने के लिए हम पुन निम्न प्रकार से तीन आवृत्तियों का योग लेते हैं—

	30 40	40 50
f_0	12	21
f_1	21	20
f_2	20	13
	53	54

अत बहुलक-वर्ग 40-50 होगा।

यहाँ पूर्व सूत्र $Z = L_1 + \frac{f_1 - f_0}{2f_1 - f_0 - f_2} \times i$ लागू नहीं होने से दूसरा सूत्र काम में लिया जायगा

$$Z = L_1 + \frac{f_2}{f_0 + f_2} \times i$$

$$= 40 + \frac{13}{21 + 13} \times 10$$

$$= 40 + \frac{130}{34} = 40 + 3\ 82 = 43\ 82$$

दूसरी वैकल्पिक विधि–क्रोक्सटन, काउडेन व क्लाइन ने बहुलक ज्ञात करने का निम्न सूत्र सुझाया है–

$$Z = L_1 + \frac{\Delta_1}{\Delta_1 + \Delta_2} \times i$$

यहाँ Δ_1 बहुलक-वर्ग की आवृति व इससे पिछली आवृत्ति का अतर होता है

(निशान पर ध्यान नहीं)

तथा Δ_2 बहुलक-वर्ग की आवृति व इससे अगली आवृति का अतर होता है।

(निशान पर ध्यान नहीं)

यदि उपर्युक्त प्रश्न में यह सूत्र लगाया जाय तो

$Z = 40 + \frac{1}{1 + 7} \times 10 = 40 + 1\ 25 = 41\ 25$ आयेगा, जो पिछले परिणाम से भिन्न होता है, लेकिन 40 से अधिक होने के कारण स्वीकार किया जा सकता है।

अत यहाँ $Z = 43\ 82$ व $Z = 41\ 25$ दोनों उत्तर स्वीकार्य माने जा सकते हैं।

प्रश्न 2. निम्न आँकड़ों से बहुलक की गणना कीजिए–

अक (सख्या से नीचे)	10	20	30	40	50	60	70	80
विद्यार्थियों की सख्या	15	35	60	84	96	127	198	250

(Raj Final year 1984)

हल– इसको पहले सरल आवृत्ति में परिवर्तित करना होगा।

अंक	आवृत्ति f	
0 10	15	
10 20	20	
20 30	25	
30-40	24	
40 50	12	
50-60	31	f_0
बहुलक-वर्ग 60 70	71	f_1
70-80	52	f_2

यहाँ बहुलक-वर्ग 60-70 पूर्णतया स्पष्ट है, क्योंकि इसमें आवृत्ति 71 है जो सर्वाधिक है और इस प्रश्न में 'समूह विधि' लगाने की कोई आवश्यकता नही है।

$$Z = L_1 + \frac{f_1 - f_0}{2f_1 - f_0 - f_2} \times i$$
$$= 60 + \frac{71 - 31}{142 - 31 - 52} \times 10$$
$$= 60 + \frac{40}{59} \times 10$$
$$= 60 + 6\ 78 = 66\ 78 = 67 \text{ अंक}$$

प्रश्न 3. मध्यका और बहुलक को परिभाषित कीजिए। निम्नलिखित अंकों से मध्यका, बहुलक और माध्य की गणना कीजिए।

चीनी का उत्पादन (टनों में)	कारखानों की संख्या
0-60	6
60-120	54
120-180	58
180-240	41
240-300	26
300-360	18
360-420	6
420-480	5
480-540	2

(Raj Iyr TDC 1995)

हल–यहाँ पहले बहुलक वर्ग ज्ञात करने के लिए समूह विधि (Grouping method) का प्रयोग करना होगा जो आगे दी जाती है–

X	f (1)	दो-दो को जोड़कर (2)	एक छोड़कर दो-दो जोड़कर (3)	तीन-तीन जोड़कर (4)	एक छोड़कर तीन-तीन जोड़कर (5)	दो छोड़कर तीन-तीन जोड़कर (6)
0-60	6	60				
60-120	54		112	118		
120-180	58	99			153	
180-240	41		67			125
240-300	26	44		85		
300-360	18		24		50	
360-420	6	11				29
420-480	5		7	13		
480-540	2					

विश्लेषण-तालिका

कालम	अधिकतम आवृत्ति के वर्ग				
(1)			120-180		
(2)			120-180	180-240	
(3)		60-120	120-180		
(4)	0-60	60-120	120-180		
(5)		60-120	120-180	180-240	
(6)			120-180	180-240	240-300
एक वर्ग कितने बार आया?	1	3	6	3	1

अतः 120-180 वर्ग सबसे ज्यादा बार (6 बार) आया है। अतः यह बहुलक-वर्ग माना जाएगा।

$$Z = L_1 + \frac{f_1 - f_0}{2f_1 - f_0 - f_2} \times i$$

$$= 120 + \frac{58 - 54}{116 - 54 - 41} \times 60$$

$$= 120 + \frac{4}{21} \times 60$$

बहुलक = 120 + 11.4 = 131.4 टन

इस प्रश्न के माध्य व माध्यिका पूर्व अध्यायों में निकाले जा चुके हैं।

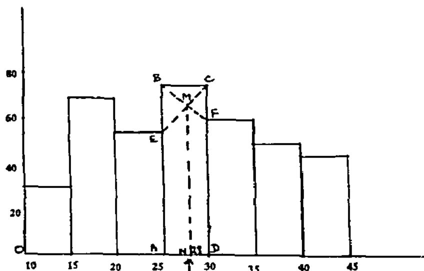
प्रश्न 4. एक साधारण असममित वितरण में माध्यिका का मूल्य 34 और समान्तर माध्य का मूल्य 35 है तो बहुलक का मूल्य ज्ञात कीजिए।

हल— बहुलक = 3 मध्यका– 2 माध्य (3 Median–2 mean) होता है।
= (3 × 34) –2 (35)
= 102–70 = 32 होगा।

प्रश्न 5 निम्न आँकडों की सहायता से ग्राफ खींचकर बहुलक या भूयिष्ठक ज्ञात कीजिए—

मजदूरी (रु मे)	10 15	15 20	20-25	25 30	30-35	35-40	40-45
श्रमिकों की सख्या	30	70	55	75	60	50	45

हल— इन आकडों से हिस्टोग्राम बनाना होगा।



बहुलक = Z = 28
चित्र 1 · ग्राफ पर बहुलक का निर्धारण

स्पष्टीकरण—चित्र में ABCD आयत सबसे ऊँचा है। इसके दोनों किनारों, B व C को सामने के आयतों के किनारों क्रमश F व E से मिलाने पर ये एक दूसरे को M पर काटते हैं। M से क्षैतिज अक्ष (मजदूरी अक्ष) पर लम्ब डालने से यह उसे N पर काटता है। अत बहुलक का मूल्य ON के बराबर है, जो लगभग 28 है।

यदि हमें आवृत्ति वक्र (frequency curve) दिया हुआ हो तो उसके सर्वोच्च बिन्दु से एक लम्ब डालने पर क्षैतिज अक्ष पर बहुलक का मूल्य निकल आता है।

अत ग्राफ के द्वारा भी बहुलक ज्ञात किया जा सकता है।

सारांश–

(i) $$Z = L_1 + \frac{f_1 - f_0}{2f_1 - f_0 - f_2} \times i$$

(ii) Z = 3 मध्यका – 2 माध्य (3 median–2 mean)

(iii) Z को ग्राफ पर एक हिस्टोग्राम खीच कर भी ज्ञात किया जा सकता है।

बहुलक के गुण–

1. इसका व्यवहार में काफी प्रयोग होता है और लोग आम इसे आसानी से समझ सकते हैं, जैसे परिवार का बहुलक आकार (modal size), खेत का बहुलक आकार, जूतों का बहुलक आकार, आदि। *यह सिरीज में सबसे ज्यादा बार आने वाली मद होती है,* और सिरीज का उत्तम प्रतिनिधित्व कर सकती है। इस अवधारणा में हमारी विशेष रुचि का होना स्वाभाविक है।
2. यह भी बहुत ऊँचे व बहुत नीचे मूल्यों से प्रभावित *नहीं होता, बल्कि यह तो सिर्फ* इस बात से प्रभावित होता है कि एक सिरीज में कौन सा मूल्य सबसे ज्यादा बार आ रहा है। जैसे 1, 5, 7, 7, 7, 27, 50, 51, 54, 55 में बहुलक 7 है, क्योंकि यही मूल्य *तीन बार आया है, बाकी सब एक-एक बार ही आये हैं।*
3. इसका मूल्य भी खुले किनारे वाले वर्ग-वितरणों में ज्ञात किया जा सकता है और इसके लिए मध्य बिन्दु जानने की आवश्यकता नही पडती।
4. *यह गुणात्मक दशाओ मे काम मे लिया जा सकता है,* जैसे ग्राहक की सर्वाधिक पसद के मुताबिक माल बनाने में बहुलक की अवधारणा का प्रयोग किया जा सकता है। विज्ञापन की विधि का चुनाव करने में यह देखा जा सकता है कि उपभोक्ता विज्ञापन के किस साधन का सबसे ज्यादा उपयोग करते हैं।
5. इसका मूल्य भी ग्राफ पर हिस्टोग्राम बना कर ज्ञात किया जा सकता है।

कमियाँ–वाग (waugh) का कहना है कि 'यह दुर्भाग्य है कि बहुलक जैसा औसत जो बौद्धिक दृष्टि से इतना उत्तम लगता है, गणना मे मुश्किल होता है, और गणना के बाद इतना अविश्वसनीय बना रहता है।'[1]

इस कथन से बहुलक की कमियाँ प्रगट होती हैं। ये इस प्रकार हैं–

1. जैसा कि उपर्युक्त कथन में बतलाया गया है, बहुलक की गणना जटिल होती है। कभी कभी $Z = L_1 + \frac{f_1 - f_0}{2f_1 - f_0 - f_2} \times i$ सूत्र से परिणाम नहीं निकलता तब हमें वैकल्पिक सूत्र लगाना होता है। माध्य व मध्यका में यह कठिनाई नहीं आती।
2. वैसे तो बहुलक सभी मदों पर विचार करता है, लेकिन इस पर केवल किसी मद के कितनी बार आने का ही विशेष प्रभाव पडता है, जिससे कभी-कभी परिणाम पूर्णतया सत्य नहीं माना जा सकता।

1 'It is unfortunate that an average which has such an intellectual appeal as the mode has to be so difficult to compute and so unreliable after it is computed'— Waugh

$\frac{40-2x}{5} = -2$ अथवा $40-2x = -10$

$-2x = -50 \quad x = 25$

इसलिए पहली गायब आवृत्ति = 25 है और दूसरी गायब आवृत्ति

= 40-x = 40-25 = 15 है।

अब पूरा सिरीज रख कर बहुलक ज्ञात करना होगा।

वर्ग	f
40 59	5
60 79	25 f_0
80 99	50 f_1
100 119	15 f_2
120 139	5
	N = 100

यहाँ बहुलक स्पष्टतया 80 99 के वर्ग में है जिसकी वास्तविक वर्ग सीमाएँ 79.5-99.5 ली जा सकती हैं।

अत $Z = L_1 + \frac{f_1 - f_0}{2f_1 - f_0 - f_2} \times i$

$= 79.5 + \frac{50-25}{100-25-15} \times 20$

बहुलक $= 79.5 + \frac{25}{60} \times 20 = 79.5 + 8.33 = 87.33$ होगा।

प्रश्न 2 निम्न सिरीज में बहुलक (mode) 24 है, कुल छात्र 22 हैं, दिये हुए अक-वर्गों के आधार पर दोनों गायब आवृत्तियाँ निकालिए—

अक	विद्यार्थियों की संख्या
0 10	3
10 20	5 f_0
20 30	$-f_1$
30-40	$-f_2$
40 50	2
	N = 22

मान लीजिए, बहुलक वर्ग में गायब आवृत्ति x है तो दूसरी गायब आवृत्ति =22–10–x =12–x होगी।

अब बहुलक का सूत्र लगाने पर

$Z = L_1 + \frac{f_1 - f_0}{2f_1 - f_0 - f_2} \times i$, बहुलक 20–30 वर्ग में है, अत

$24 = 20 + \frac{x-5}{2x-5-(12-x)} \times 10 = 20 + \left(\frac{x-5}{3x-17} \times 10\right)$

(ii) बहुलक तथा (Mode) = 3 मध्यका −2 माध्य सूत्र लगाने पर यह 50.04 आयेगा मध्यका = 49.52 तथा माध्य = 49.26 होंगे।

(iii) $Z = L_1 + \frac{\Delta}{\Delta_1 + \Delta_2} \times i$ लगाने पर $Z = 50 + \frac{1}{1+5} \times 10$

$= 50 + \frac{10}{6} = 51.7$ आयेगा

5 निम्न सचयी आवृत्ति वितरण से अकों की साधारण आवृत्ति तालिका बनाइए और (i) माध्य, (ii) मध्यका व (iii) बहुलक ज्ञात कीजिए।

अक (से नीचे)	विद्यार्थियों की सख्या
10	3
20	8
30	17
40	20
50	22

[X = 23.2, अथवा लगभग 23 अक, मध्यका = 23.3 अथवा लगभग 23]

6 केन्द्रीय प्रवृत्ति के विभिन्न माप कौन कौन से होते हैं ? निम्न वितरण के लिए उपयुक्त माप लागू कीजिये—

मासिक आय (रु. में)	परिवारों की सख्या
100 से कम	50
100 200	500
200-300	555
300-400	100
400-500	3
500 से ऊपर	2
	कुल 1210

[मध्यका (Median) = 209.9 रु = लगभग 210 रु]

(Raj Iyr 1994)

7 निम्न आँकडों से एक हिस्टोग्राम बना कर बहुलक ज्ञात कीजिए

अक	0 10	10-20	20 30	30-40	40-50
विद्यार्थियों की सख्या	8	20	36	15	6

(बहुलक = Z = 24.3)

8 *निम्नलिखित टेबल में 120 देशों का सैनिक व्यय सकल आय के प्रतिशत के रूप में,* आवृत्ति सहित दिया हुआ है, जो इस प्रकार है—

सैनिक व्यय सकल आय के % में	0-2	2-4	4-6	6-8	8-10
देशों की सख्या	19	32	44	14	11 = 120
					कुल योग

(i) उपर्युक्त टेबल से हिस्टोग्राम और आवृत्ति वक्र बनाइए।

(ii) औसत सैनिक व्यय निकालने के लिए केन्द्रीय प्रवृत्ति के किस माप को (समान्तर माध्य, मध्यका और बहुलक में से) आप अधिक पसंद करेंगे ?

(Raj Iyr 1992)

[उत्तर बहुलक = 4.57%]

[ज्यादा देश अपनी GDP का 4.57% सेना पर व्यय करते हैं।]

9 निम्न आँकडों की सहायता से माध्य के 44.5 होने पर मध्यका निकालिए।

अंक	विद्यार्थियों की संख्या
70-80	10
60-70	10
50-60	20
40-50	—
30-40	12
20-30	9
10-20	8
0-10	5

[संकेत—पहले माध्य का सूत्र लगा कर गायब आवृत्ति ज्ञात करें जो 6 होगी, फिर मध्यका ज्ञात करें जो 50 होगा।] संकेत:—$44.5 = 45 + \frac{-4}{x + 74} \times 10$]

10 निम्न सिरीज में मध्यका मजदूरी (median wage) 103.75 रुपये है तथा बहुलक मजदूरी (model wage) 98.75 रुपये है। गायब आवृत्तियाँ मालूम करें।*

मजदूरी (रु. में)	व्यक्तियों की संख्या
60-65	2
65-70	5
70-75	9
75-80	13
80-85	16
85-90	21
90-95	—
95-100	80
100-105	—
105-110	55
110-115	48
115-120	39
120-125	34
125-130	22
130-135	7

* इस प्रश्न के हल के लिए बीजगणित का अच्छा अभ्यास आवश्यक है। अत: इसे प्रथम प्रयास में छोड़ा जा सकता है।

[संकेत—प्रश्न में 15 वर्ग हैं, अत थोड़ा जटिल किस्म का है, लेकिन अभ्यास होने पर इसे करने का प्रयास करें, 90 95 वर्ग में गायब आवृत्ति x मानें तथा 100-105 वर्ग में y मानें। फिर मध्यका व बहुलक के सूत्र लगाकर दो समीकरण बनाएँ जो इस प्रकार होंगे—

$$103\ 75 = 100 + \left[\frac{\left(\frac{351 + x + y}{2}\right) - (146 + x)}{y}\right] \times 5 \qquad (\text{i})$$

$$98\ 75 = 95 + \frac{80 - x}{160 - x - y} \times 5 \qquad (\text{ii})$$

हल करने पर $x + \frac{1}{2}y = 59$ व

$-x + 3y = 160$ आयेंग,

जिससे $x = 28$

$y = 63$ लगभग]

11 (a) संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(i) सर्वश्रेष्ठ औसत के गुण

(ii) बहुलक की कमियाँ

(iii) मध्यका व बहुलक में कौन सा ज्यादा श्रेष्ठ है ?

(b) निम्न दशाओं में कौन-सा औसत चुना जायगा ?

(i) राष्ट्र की औसत आय जानने के लिए,

(ii) गाँव में खेत का औसत आकार जानने के लिए,

(iii) एक चप्पल निर्माता द्वारा चप्पल की औसत साइज का पता लगाने के लिए ताकि उस आकार को निर्माण में प्राथमिकता दी जा सके।

(iv) भवन के लिए कलर चुनने के लिए तथा

(v) विद्यार्थियों के अकों का औसत जानने के लिए।

[(i) समान्तर माध्य, (ii) बहुलक, (iii) बहुलक तथा (iv) मध्यका तथा (v) समान्तर माध्य, मध्यका व बहुलक में कोई भी चुना जा सकता है, लेकिन प्रत्येक का अर्थ भिन्न होगा, जैसे माध्य अक का अर्थ होगा समस्त विद्यार्थियों के अक जोड कर उनकी सख्या का भाग देना, मध्यका अक का अर्थ होगा आधे विद्यार्थियों को इससे कम अक मिले व आधों को इससे ज्यादा मिले, तथा बहुलक-अकों का अर्थ होगा ज्यादा विद्यार्थियों को अमुक अक मिले ।]

12 निम्न आँकडों की सहायता से गायब आवृत्ति ज्ञात कीजिए

अक	0 5	5 10	10-15	15 20	20 25	25 30	30-35
आवृत्ति	10	12	16	-	14	10	8

औसत अक (average Marks) 16 82 है।

[18 235 अथवा 18]

13 निम्न आँकडों की सहायता से बहुलक ज्ञात कीजिए—

आयु	20 25	25 30	30 35	35-40	40 45	45 50	50 55	55-60
व्यक्तियों की सख्या	50	70	80	180	150	120	70	50

[Z – 42 वर्ष होगा]

[सकेत—पहले समूह विधि लगाकर बहुलक वर्ग निकालिए जो 40 50 आयेगा। इसमें सूत्र $Z = L_1 + \frac{f_1 - f_0}{2f_1 - f_0 - f_2} \times i$ नहीं लगेगा जिससे वकल्पिक सूत्र $Z = L_1 + \frac{f_2}{f_0 + f_2} \times i$ लगा कर Z = 42 ज्ञात किया जायेगा।]

14 निम्नलिखित आँकडों से बहुलक ज्ञात कीजिए

X	10 20	20 30	30-40	40 50	50 60	60 70	70-80	80 90
f	5	9	13	21	20	15	8	3

[सकेत- समूह विधि से बहुलक वर्ग के दावेदार 40 50 व 50-60 दो वर्ग होते हैं जिनमें पास की आवृत्तियों को जोडन पर 50 60 वर्ग बहुलक वर्ग बनता है (इसके लिए आवृत्तियों का योग = 56 तथा 40 50 वर्ग के लिए यह 54 होता है) $Z = L_1 + \frac{f_2}{f_0 + f_2} \times i$ सूत्र लगाना होगा जिससे Z = 54 2 आयेगा।]

14 नीचे दिये गये समकों से माध्य मध्यका तथा बहुलक की गणना कीजिये—

आकार (प्राप्ताक)	आवृत्ति
30—40	12
40—50	16
50—60	24
60—70	21
70—80	13
80—90	4

(Ajmer Iyr, 19
[माध्य = 5
(मध्यक = 5
(बहुलक = 5

15 निम्नलिखित आकडों से माध्य एव बहुलक ज्ञात कीजिए—

0 10	10 20	20 30	30-40	40 50	50-60	60 70	70-80	80 90	90 100
3	4	8	10	15	35	20	16	8	6

(Raj Iyr, 1996)

[$\overline{X}$ = 55 8 बहुलक = z = 55 7]

16 निम्न समकों से माध्य मध्यका एव बहुलक की गणना करें—

प्राप्ताक	0 10	upto 20	upto 30	30-40	40-50	upto 60	60 70
आवृत्ति	8	8	30	15	10	67	18

(Ajmer Iyr, 1996)

[$\overline{X}$ = 38 8, मध्यका = 38 3 तथा सिरीज बाई मोडल (वर्ग 50-60 व 60 70 में) होने से Mode = 3 median 2mean सूत्र से mode ~ 37 3 होगा)



27

अर्थशास्त्र में फलनात्मक सम्बन्ध
(Functional Relationships in Economics)

'एक चित्र एक हजार शब्दों के बराबर होता है'

—एक चीनी कहावत

अर्थशास्त्र में सांख्यिकी व गणित का व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है। व्यष्टि अर्थशास्त्र में उपभोग, उत्पादन विनिमय व वितरण में कई प्रकार के रेखाचित्रों व वक्रों की सहायता से विभिन्न विषय स्पष्ट किये जाते हैं। इसी प्रकार समष्टि अर्थशास्त्र में उपभोग फलन, बचत व विनियोग फलनों आदि का उपयोग आवश्यक माना जाता है। इस अध्याय में हम फलनात्मक सम्बन्ध (Functional relationships), ग्राफ के प्रयोग, वक्रों के ढाल व माँग की लोच, आदि के विचारों को स्पष्ट करेंगे ताकि आगे चलकर माँग व पूर्ति वक्र, लागत वक्र, उत्पत्ति वक्र, तटस्थता वक्र, उत्पादन सम्भावना वक्र, समोत्पत्ति वक्र, माँग की कीमत लोच, आदि का वर्णन अधिक सुगमतापूर्वक समझ में आ सके। प्राय यह देखा गया है कि आवश्यक गणित की जानकारी नहीं होने से विद्यार्थी समीकरणों, रेखाचित्रों व वक्रों का सही अर्थ नहीं लगा पाते, जिससे उनको उच्चस्तरीय आर्थिक सिद्धान्तों को समझने में भारी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

अर्थशास्त्र में कई स्थलों पर कुल, सीमान्त व औसत से जुड़ी अवधारणाएँ सामने आती हैं। हम लागत, आय व उत्पादन के संदर्भ में चित्रों की सहायता से इनका विवेचन प्रस्तुत करेंगे जिससे कुल लागत, सीमान्त लागत व औसत लागत, कुल आय या कुल आगम, सीमान्त आय व औसत आय तथा कुल उत्पत्ति, सीमान्त उत्पत्ति व औसत उत्पत्ति की अवधारणाएँ स्पष्ट हो सकेंगी।

फलनात्मक संबंध

(Functional Relationships)

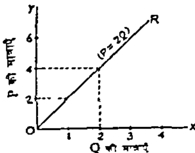
(1) फलनात्मक सम्बन्ध तथा वक्र (Functional relationships and curves)— अर्थशास्त्र में बहुधा यह देखा जाता है कि दो चलराशियों या चरों (Variables) का आपस में सम्बन्ध होता है, और एक चलराशि दूसरे पर निर्भर करती है। ऐसा दो से अधिक चलराशियों के लिए भी पाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, एक वस्तु की माँग की मात्रा, अन्य बातों के समान रहने पर, उसकी कीमत पर निर्भर करती है। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि एक वस्तु की माँग उसकी कीमत का फलन होती है (Demand is a function of price)। इसे $D = f(p)$ के रूप में लिख सकते हैं, जहाँ D माँग की मात्रा, f फलन तथा p

कीमत के सूचक होते हैं। यहाँ f केवल सम्बन्ध का सूचक मात्र है, f को p से गुणा नहीं किया गया है। अतः हम यहाँ दो चलराशियों माँग व कीमत के सम्बन्ध पर विचार कर रहे हैं। दाहिनी तरफ की चलराशि स्वतन्त्र मानी जाती है, जो यहाँ कीमत है, और बायीं तरफ की चलराशि आश्रित मानी जाती है जो यहाँ माँग की मात्रा है। प्रायः एक आश्रित चलराशि कई स्वतन्त्र चलराशियों पर भी निर्भर कर सकती है, जैसे एक वस्तु की माँग (D_1) उसकी स्वयं की कीमत (p_1), उपभोक्ता वर्ग की आमदनी (y) तथा अन्य वस्तुओं की कीमतें जैसे—p_2 p_3, ... , p_{n-1} पर निर्भर कर सकती है। इसे निम्न प्रकार से लिखा जा सकता है—

$$D_1 = f(p_1, y, p_2, p_3, \ldots p_{n-1})$$

फलनात्मक सम्बन्ध का केवल यह अर्थ है कि एक चलराशि दूसरी चलराशि पर निर्भर करती है अर्थात् एक स्वतन्त्र चलराशि की दी हुई मात्रा से दूसरी आश्रित चलराशि की मात्रा ज्ञात की जा सकती है। दो चलराशियों में एक चलराशि दूसरे का कारण हो सकती है और नहीं भी। जैसे, माँग फलन में माँग के बदलने में उस वस्तु की कीमत कारण हो सकती है। इसी प्रकार उपभोक्ता की आमदनी भी माँग की मात्रा में परिवर्तन का कारण बन सकती है। लेकिन फलनीय सम्बन्ध में प्रमुख बल केवल दोनों चलराशियों के परस्पर 'सम्बन्ध' पर ही दिया जाता है, ताकि एक स्वतन्त्र चलराशि के दिये हुए होने पर आश्रित चलराशि की गणना आसानी से की जा सके। उदाहरण के लिए $Y=2X$ में Y चलराशि X पर आश्रित है, और $X=2$ पर $Y=4$ होगी। यहाँ यह आवश्यक नहीं कि X का परिवर्तन Y के परिवर्तन का कारण हो।

फलनात्मक सम्बन्ध के रूप—फलनात्मक सम्बन्ध (i) धनात्मक (Positive) हो सकता है अथवा (ii) ऋणात्मक (negative)। (iii) यह रैखिक (linear) हो सकता है या (iv) अरैखिक या वक्रीय (non linear)। इनका स्पष्टीकरण नीचे दिया जाता है। (i) धनात्मक फलन सम्बन्ध तब कहा जाता है जब स्वतन्त्र चलराशि के बढ़ने से आश्रित चलराशि भी बढ़ती जाती है, अथवा स्वतन्त्र चलराशि के घटने पर आश्रित चलराशि भी घटती जाती है। इस प्रकार दोनों चलराशियाँ एक ही दिशा में चलती जाती हैं।



चित्र 1 धनात्मक फलन

उदाहरण के लिए, P = 2Q धनात्मक फलन का द्योतक है। यहाँ Q के बढ़ने से P की मात्रा भी बढ़ती जाती है, जो निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है–

स्वतन्त्र चलराशि Q की मात्राएँ	1	2	3	4	5
आश्रित चलराशि P की मात्राएँ	2	4	6	8	10

इसको उपर्युक्त रेखाचित्र की सहायता से दर्शाया जा सकता है–

स्मरण रहे कि स्वतन्त्र चलराशि को क्षैतिज अक्ष अर्थात् OX अक्ष पर दर्शाया जाता है, और आश्रित चलराशि को लम्बवत् अक्ष अर्थात OY अक्ष पर। यहाँ OX अक्ष पर Q की मात्राएँ अंकित की गई हैं और OY अक्ष पर P की मात्राएँ। OR रेखा धनात्मक फलन सम्बन्ध की सूचक है। Q के बढ़ने से P में वृद्धि हो रही है। इसलिए OR रेखा ऊपर की ओर जा रही है। Q के 1 होने पर P = 2 है, तथा Q के 2 होने पर P = 4 है, आदि, आदि।

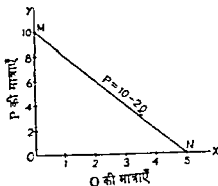
साधारणतया स्वतन्त्र चलराशि को OX अक्ष पर तथा आश्रित चलराशि को OY-अक्ष पर दर्शाते हैं। लेकिन एल्फ्रेड मार्शल का अनुसरण करते हुए अर्थशास्त्री माँग व पूर्ति वक्रों को खींचते समय स्वतन्त्र चलराशि कीमत (P) को लम्बवत् अक्ष या OY-अक्ष पर तथा माँग व पूर्ति की मात्राओं (आश्रित चलराशियों को) क्षैतिज अक्ष या OX-अक्ष पर दिखाने की परम्परा का पालन करते हैं। इसलिए इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का भ्रम नहीं होना चाहिए।

(ii) **ऋणात्मक फलन-सम्बन्ध में स्वतन्त्र चलराशि के बढ़ने से आश्रित चलराशि घटती जाती है**–इस प्रकार इनमें परस्पर विलोम सम्बन्ध पाया जाता है। माँग-फलन इसी प्रकार का होता है। कीमत के बढ़ने से माँग की मात्रा घटती जाती है। चित्र में ऐसा सम्बन्ध नीचे की ओर जाने वाली रेखा से सूचित किया जाता है।

उदाहरण P = 10-2Q ऋणात्मक सम्बन्ध का सूचक है जो निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है।

स्वतन्त्र चलराशि Q की मात्रा	1	2	3	4	5
आश्रित चलराशि P की मात्रा	8	6	4	2	0

इसे निम्न रेखाचित्र की सहायता से स्पष्ट किया जाता है



चित्र 2 · ऋणात्मक फलन

यहाँ Q की मात्रा के बढ़ने से P की मात्रा घटती है जो MN रेखा की आकृति से स्पष्ट होती है। यह नीचे की ओर जाता है। यहाँ Q व P में परस्पर विलोम या विपरीत सम्बन्ध पाया जाता है। इसलिए यह ऋणात्मक सम्बन्ध (negative relation) को दर्शाता है।

(iii) रैखिक फलन (linear function)—जब फलन का रेखाचित्र पर अंकित करने पर एक सरल रेखा बनता है तो उसे रैखिक फलन कहा जाता है जैसाकि ऊपर चित्र 1 चित्र 2 में दर्शाया गया है। अत ये दोनों रैखिक फलन के दृष्टान्त हैं। इसी प्रकार निम्न फलन भी रैखिक फलन ही हैं—

(i) $y = 1 + 4x$

(ii) $y = 50 - x$

हालांकि इनमें (i) धनात्मक है और (ii) ऋणात्मक है। आर्थिक विश्लेषण में काफी सीमा तक रैखिक फलनों का प्रयोग किया जाता है।

(iv) अरैखिक या वक्रीय फलन (non linear or curvilinear function)—जब दो चलराशियों को रेखाचित्र पर अंकित करने पर एक वक्र बनता है तो उसे अरैखिक या वक्रीय फलन कहा जाता है जैसे $y = x^2 + 2$ व $y = 4x - x^2$ को रेखाचित्र पर दर्शाने से वक्र बनते हैं।

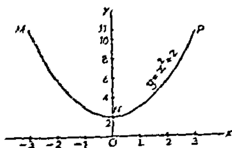
इनको ग्राफ पर दिखाने से वक्र की आकृति x^2 के चिह्न (धनात्मक या ऋणात्मक) आदि से प्रभावित होगा।

यहाँ हम $y = x^2 + 2$ का रेखाचित्र बनाते हैं।

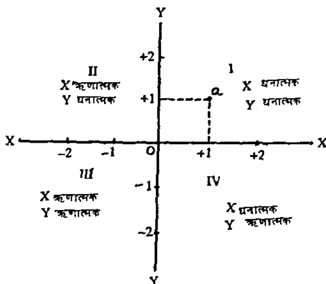
पहले इसकी तालिका बनानी होगी—

x	−3	−2	−1	0	1	2	3
y	11	6	3	2	3	6	11

इसका रेखाचित्र नीचे दिया जाता है—



चित्र 3 $y = x^2 + 2$ फलन का ग्राफ



चित्र 4 ग्राफ के चार खाने (Four quadrants)

चलराशियाँ धनात्मक थीं। चित्र 3 में खाने I व खाने II का प्रयाग किया गया है क्योंकि *यहाँ X की ऋणात्मक राशियों के साथ Y की धनात्मक राशियाँ आने से खाना II भी काम* में लेना पड़ा है।

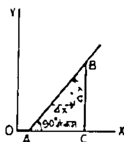
चित्र 4 में a बिन्दु X = 1 व Y = 1 का सूचक है जो खाने I में आया है। व्यवहार में अर्थशास्त्र की अधिकांश चलराशियों के धनात्मक मूल्य होने से, जैसे कीमत, माँग, पूर्ति, लागत, उत्पत्ति की मात्रा, आय या आगम (revenue) आदि के, धनात्मक मूल्य होने से *खाना I का ही उपयोग किया जाता है।*

ढाल (*Slope*) —

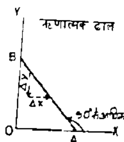
(2) ढाल का अर्थ व माप (Meaning and Measurement of Slope)– अर्थशास्त्र में रेखा या वक्र के ढाल के माप का बड़ा महत्त्व होता है।

(i) एक सरल रेखा का ढाल—एक सरल रेखा का ढाल उस कोण (angle) से निर्धारित होता है जो वह रेखा x अक्ष को काटते समय बनाती है। त्रिकोणमिति (*Trigonometry*) के अनुसार AB रेखा का ढाल $\tan\theta$ के मूल्य के बराबर होता है जो $\frac{BC}{AC}$ के बराबर होता है।

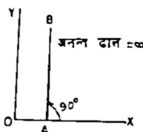
निम्न चित्रों पर ध्यान दीजिए–



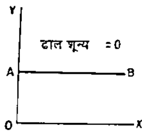
चित्र 5 (अ)



चित्र 5 (आ)



चित्र 5 (इ)



चित्र 5 (ई)

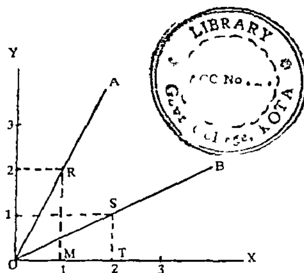
चित्र 5 (अ) में रेखा का ढाल निकालने के लिए रेखा पर कोई भी बिन्दु लें जैसे B, उससे OX-अक्ष पर लम्ब (Perpendicular) डालें, जो इसे C पर काटे। अत रेखा का ढाल BC/AC के बराबर होगा। यह स्पष्टतया धनात्मक है, क्योंकि रेखा ऊपर की ओर जा रही है। चूंकि A पर रेखा 90° से कम का कोण बनाती है, अत $\tan\theta$ का मूल्य (90° से कम के लिए) त्रिकोणमिति के अनुसार धनात्मक होगा। जैसे $\tan 45° = 1$ होता है। इसी प्रकार 90° से कम के लिए $\tan\theta$ का मूल्य सदैव धनात्मक होता है। स्मरण रहे कि त्रिकोणमिति में $\tan 0° = 0$ होता है, तथा $\tan 90° = \infty$ (अनंत) होता है, और 90° से ऊपर तथा 180° से नीचे के लिए यह ऋणात्मक होता है, इसलिए चित्र 5 (आ) में AB का ढाल ऋणात्मक होगा, क्योंकि यहाँ $\tan\theta$ = 90° से अधिक है, लेकिन साथ में 180° से नीचा है। वैसे भी चित्र 5 (आ) में ढाल ऋणात्मक ही होगा, क्योंकि रेखा नीचे की ओर जा रही है, अर्थात् y व x में परस्पर विलोम सम्बन्ध पाया जाता है, जैसा कि माँग रेखा में हुआ करता है। चित्र 5 (इ) में $\tan\theta = \tan 90° = \infty$ होता है। अत रेखा का ढाल अनन्त हो जाता है। चित्र 5 (ई) में AB रेखा OX-अक्ष के समानान्तर है और यहाँ A बिन्दु पर कोण

(angle) का मूल्य 0° है एव tan 0° = 0 होता है। इसलिए AB रेखा का ढाल शून्य है। अत एक सरल रेखा का ढाल निकालने के लिए $\tan\theta$ का मूल्य उस बिन्दु पर देखना होता है जहाँ रेखा OX अक्ष को काटती है और इसके लिए कोण का माप घडी के उल्टे क्रम में (anti clockwise) देखना होता है। इसमें कोई त्रुटि नही होनी चाहिए।

किसी भी रेखा पर ढाल ज्ञात करना बहुत आसान होता है। यह रेखा पर कोई दो बिन्दुओं के बीच $\frac{\text{लम्बवत् दूरी}}{\text{क्षैतिज दूरी}} = \frac{\Delta Y}{\Delta X}$ के बराबर होता है जैसा की चित्र 5 (अ) व चित्र 5 (आ) में दर्शाया गया है। यह X के एक इकाई परिवर्तन से Y के परिवर्तन की मात्रा को दर्शाता है।

दो सरल रेखाओ पर विभिन्न ढालो का उदाहरण

नीचे चित्र में दो सरल रेखाएँ खीची गयी हैं जिन पर ढाल भिन्न भिन्न हैं।



चित्र 5 (इ)

चित्र 5 (इ) में OA व OB दो सरल रेखाए हैं जिनका ढाल धनात्मक है क्योंकि ये ऊपर की ओर जाती हैं। लेकिन OA रेखा का ढाल $\frac{RM}{OM} = \frac{2}{1} = 2$ है तथा OB रेखा का ढाल $\frac{ST}{OT} = \frac{1}{2}$ है। इन रेखाओं पर कोई भी बिन्दु लेकर OX अक्ष पर लम्ब डाल कर

$\frac{\text{लम्बवत् दूरी}}{\text{क्षैतिज दूरी}}$ को माप कर रेखा का ढाल ज्ञात किया जा सकता है। अत OA व OB का ढाल भिन्न-भिन्न है।

वैसे रेखा का समीकरण दिये होने पर उसका ढाल आसानी से बतलाया जा सकता है, जैसे $y = 2x$ रेखा के लिए ढाल $= 2$ होगा। इसी प्रकार $y = 1 - 2X$ के लिए ढाल -2 होगा, आदि

अभ्यासार्थ . निम्न समीकरणों में ढाल ज्ञात कीजिए—

(i) $y = 1 + 4x \qquad = [4]$

(ii) $y = 20 - \frac{1}{2}x \qquad = \left[-\frac{1}{2}\right]$

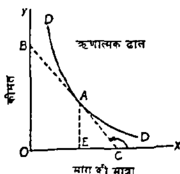
(iii) $y = 2x - 30 \qquad = [2]$

(iv) $y = 50 - x \qquad = [-1]$

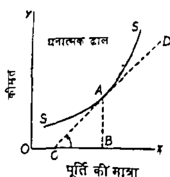
इस प्रकार एक सरल रेखा का ढाल समीकरण को देखकर सुगमतापूर्वक बतलाया जा सकता है। यह स्वतन्त्र चलराशि x का गुणाक (Coefficient) ही होता है।

(ii) एक वक्र के किसी बिन्दु पर ढाल का माप (Slope at a point on a curve)— एक वक्र के किसी भी बिन्दु पर ढाल का माप करने के लिए उस बिन्दु पर एक स्पर्श-रेखा (tangent) डाली जाती है जो दोनों अक्षों OX व OY को काटती है। उसके पश्चात् स्पर्श रेखा का ढाल ही वक्र के उस बिन्दु पर उसका ढाल बन जाता है।

अत वक्र के किसी भी बिन्दु पर ढाल को जानना बहुत सरल होता है। इसे निम्न चित्रों की सहायता से जाना जा सकता है।



चित्र 6 (अ)



चित्र 6 (आ)

स्पष्टीकरण—चित्र 6 (अ) में माँग-वक्र के A बिन्दु पर BC स्पर्श-रेखा डाली गयी है जो OX-अक्ष के C बिन्दु पर कोण बनाती है, जहाँ $\tan\theta = 90^\circ$ से अधिक व 180° से कम होने के कारण ऋणात्मक मूल्य देता है। अत वक्र का A बिन्दु पर ढाल $(-)\frac{OB}{OC}$ होता

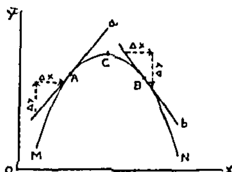
है। इसे $(-)\frac{AE}{EC}$ भी कहा जा सकता है क्योंकि त्रिकोण (triangle) BOC व AEC एक-से (similar) हैं।

चित्र 6 (आ) में पूर्ति वक्र के A बिन्दु पर CD स्पर्श रेखा डाली गयी है जो OX अक्ष के C बिन्दु पर कोण बनाती है जहाँ tan θ = 90° से कम है अत ढाल धनात्मक होगा तथा यह $\frac{AB}{BC}$ के बराबर होगा। इस प्रकार एक सरल रेखा अथवा वक्र के किसी बिन्दु पर ढाल निकालने के लिए त्रिकोणमिति के tan θ कोण के मूल्य के अनुसार चलना पडता है।

स्मरण रहे कि चित्र 6 (अ) में A बिन्दु पर ऋणात्मक ढाल या माप करने के लिए एक दूसरी विधि भी अपनायी जा सकती है। हम A से एक लम्ब OX अक्ष पर डालते हैं जैसे AE, जो इसे E पर काटता है। अत जैसाकि पहले बतलाया गया है A पर वक्र का ढाल $(-)\frac{AE}{CE}$ भी कहा जा सकता है। यह $(-)\frac{OB}{OC}$ के समान होता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि अर्थशास्त्र में ढाल के माप का उपयोग लोच के माप आदि में भी किया जाता है। अर्थशास्त्र में इसका उपयोग व्यापक रूप से किया जाता है। वस्तुत यह वक्र के एक बिन्दु पर फलन के परिवर्तन की दर (rate of change) का सूचक होता है। व्यष्टि अर्थशास्त्र में सीमान्त विश्लेषण (Marginal analysis) में इसका उपयोग काफी लाभदायक माना गया है। चलन कलन (Differential Calculus) में भी इसका उपयोग होता है जिसकी जानकारी उच्चस्तरीय अध्ययन में सम्भव हो सकेगी। लेकिन उसके लिए ये प्रारम्भिक व सरल बातें हैं तथा नींव के पत्थर हैं जिनका ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाना चाहिए।

वक्र पर ढाल को मापने की एक और सरल विधि

एक वक्र के किसी बिन्दु पर ढाल (slope) को मापने के लिए उस बिन्दु पर स्पर्श रेखा (tangent) डाल कर उस पर $\frac{\Delta Y}{\Delta X}$ को माप पर ढाल जाना जा सकता है। यह निम्न चित्र में स्पष्ट किया गया है



चित्र 6 (इ) वक्र पर ढाल ज्ञात करना

स्पष्टीकरण- चित्र 6 (इ) में MN वक्र पहले ऊपर जाता है, फिर C बिन्दु पर अधिकतम होने के बाद नीचे की ओर आता है।

इस पर A, C व B पर वक्र का ढाल ज्ञात करना है। A बिन्दु पर ढाल जानने के लिए एक स्पर्श रेखा a खींची गयी है जिस पर ढाल का माप $= \frac{\Delta Y}{\Delta X} = \frac{\text{लम्बवत् दूरी}}{\text{क्षैतिज दूरी}}$ है। चूंकि वक्र ऊपर की ओर जा रहा है, इसलिए यह धनात्मक होता है। C बिन्दु पर स्पर्श-रेखा डाले तो वह OX-अक्ष के समानान्तर जाने के कारण (चित्र 5 ई के अनुसार) शून्य ढाल बनाती है (पाठक स्वयं स्पर्श-रेखा खींचकर देख सकते हैं)। वक्र के B बिन्दु पर स्पर्श-रेखा b पर पुन $= \frac{\Delta Y}{\Delta X}$ ढाल का माप है। यह ऋणात्मक (negative) है, क्योंकि वक्र नीचे की ओर जा रहा है। अत किसी भी वक्र पर एक बिन्दु पर ढाल जानने के लिए स्पर्श रेखा डालकर $\frac{\Delta Y}{\Delta X}$ दूरी का माप लिया जाता है। यह चित्र 6 (इ) में वक्र के दाहिनी तरफ व बायीं तरफ दिखाया गया है। पाठक स्पर्श-रेखाओं पर तीर के निशानों को ध्यान से देखें। A बिन्दु पर स्पर्श रेखा a पर ΔY व ΔX दोनों धनात्मक हैं, इसलिए ढाल भी धनात्मक है। B बिन्दु पर स्पर्श-रेखा b पर ΔY ऋणात्मक (नीचे की ओर तीर) है, तथा ΔX दायी तरफ होने के कारण धनात्मक है, अत $\frac{\Delta Y}{\Delta X}$ ऋणात्मक होगा।

स्मरण रहे कि एक सरल रेखा पर ढाल सर्वत्र समान रहता है, लेकिन वक्र पर अलग-अलग बिन्दुओं पर ढाल अलग अलग होते हैं और विभिन्न बिन्दुओं पर स्पर्श-रेखाएँ खीच कर उनके ढालों को जाना जा सकता है।

लोच (Elasticity)

(3) लोच की अवधारणा (Concept of elasticity) तथा इसका माप (विशेषतया माँग की कीमत-लोच के संदर्भ में) —अर्थशास्त्र में लोच की अवधारणा अपना केन्द्रीय स्थान रखती है। किन्हीं दो चलराशियों के प्रतिशत या आनुपातिक परिवर्तनों की सहायता से उनके बीच लोच का अनुमान लगाया जा सकता है। जैसे, एक वस्तु की माँग की कीमत-लोच$= \frac{\text{माँग का प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{कीमत का प्रतिशत परिवर्तन}}$ होती है, जो इनके बीच विलोम सम्बन्ध के कारण ऋणात्मक होती है।

माँग की लोच का सूत्र इस प्रकार होता है: $ed = \frac{\frac{\Delta Q}{Q}}{\frac{\Delta P}{P}} = \frac{P}{Q}\frac{\Delta Q}{\Delta P}$

यहाँ P प्रारम्भिक कीमत, ΔP कीमत के परिवर्तन, Q प्रारम्भिक माँग की मात्रा व ΔQ माँग के परिवर्तन की मात्रा को सूचित करते हैं। माग की मात्रा व कीमत में विलोम सम्बन्ध होने से माँग की कीमत-लोच ऋणात्मक होती है।

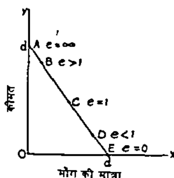
एक सरल दृष्टांत

कीमत (P)	40 रु	35 रु
माँग की मात्रा (Q)	80 इकाई	100 इकाई

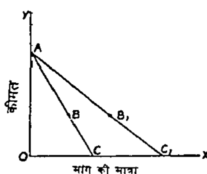
अत उपर्युक्त सूत्र के अनुसार माँग की लोच $= \frac{P}{Q} \times \frac{\Delta Q}{\Delta P}$

$= \frac{40}{80} \times \frac{20}{-5} = -2$ होगी ($\Delta Q = 20$ है तथा $\Delta P = -5$ रु है।)

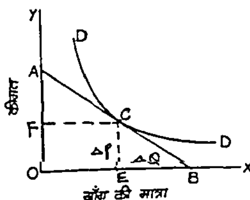
यदि माँग-रेखा के विभिन्न बिन्दुओ पर लोच का माप—प्रारम्भ में यह बात स्मरण रखनी होगी कि एक माँग रेखा या माँग वक्र के विभिन्न बिन्दुओं पर माँग की लोच प्राय अलग अलग हुआ करती है। इसके माप की ज्यामितीय विधि बडी सरल होती है जो निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है।



चित्र 7 (अ)



चित्र 7 (आ)



चित्र 7 (इ)

यदि माँग वक्र के एक बिन्दु पर माँग की लोच ज्ञात करनी हो तो उस बिन्दु से एक स्पर्श रेखा (tangent) डाली जाती है जो दोनों अक्षों को काटती है। चित्र 7 (इ) में C बिन्दु पर एक स्पर्श रेखा AB डाली गयी है। चित्र 7 (अ) व (आ) में सीधे माँग रेखाओं के विभिन्न बिन्दुओं पर लोच का माप बतलाया गया है।

एक माँग रेखा के किसी भी बिन्दु पर लोच का माप जानने के लिए उस बिन्दु से नीचे के टुकड़े में उसके ऊपर के टुकड़े का भाग देना चाहिए, जो परिणाम आयेगा वह लोच का गुणांक (Coefficient of elasticity) अथवा लोच का माप कहलायेगा।

जैसे चित्र 7 (अ) में C बिन्दु पर लोच = $\frac{CE}{AC} = 1$ होगी, अत इस बिन्दु पर माँग की लोच एक के बराबर है। B पर यह $\frac{BE}{AB}$ है जो एक से अधिक होने पर लोचदार (elastic) है, अर्थात् यहाँ $e > 1$ है। स्वय A बिन्दु पर यह $\frac{AE}{\text{शून्य}}$ है, जो अनत (∞) के बराबर परिणाम देती है। इसी प्रकार D पर $\frac{DE}{AD}$ होने पर एक से कम है, अर्थात् बेलोच (inelastic) है, जो $e < 1$ को दर्शाती है तथा स्वय E पर यह $\frac{0\,(\text{शून्य})}{AE} = 0$ हो जाती है इस प्रकार एक माँग-रेखा के विभिन्न बिन्दुओं पर माँग की लोच 0 से ∞ तक दर्शायी जा सकती है।

चित्र 7 (आ) में दो माँग की रेखाएँ हैं AC व AC_1 और AC रेखा के B बिन्दु पर माँग की लोच $\frac{BC}{AB}$ है, तथा AC_1 रेखा के B_1 बिन्दु पर माँग की लोच $\frac{B_1C_1}{AB_1}$ है। अत इनका अतर भी ठीक से समझना चाहिए।

चित्र 7 (इ) में माँग वक्र के C बिन्दु पर माँग की लोच $\frac{CB}{AC}$ होती है।

ढाल व लोच में अतर (Difference between slope and elasticity)—कुछ लोग भूल से ढाल व लोच को एक ही मान बैठते हैं, जो सही नहीं होता। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि इनमें माप की दृष्टि से स्पष्टतया भारी अतर होता है, जैसे चित्र 7 (इ) पर विचार करने से स्पष्ट होगा कि C बिन्दु पर ढाल (slope) तो $\frac{CE}{EB}$ अथवा $\frac{\Delta P}{\Delta Q}$ अथवा $\frac{OA}{OB}$ है (त्रिकोण AOB व CEB एक से हैं) (चित्र 7 इ)। हम माँग की लोच के सूत्र में देख चुके हैं कि

$e_d = \frac{P}{Q} \cdot \frac{\Delta Q}{\Delta P}$ होती है।

यहाँ $\frac{\Delta Q}{\Delta p}$ = C बिन्दु पर ढाल का विलोम (inverse) होता है (∵ यहाँ ढाल $= \frac{\Delta P}{\;}$ होता है)

अत माँग की लोच = ढाल का विलोम × $\frac{P}{Q}$ होगी। लेकिन निशान ऋणात्मक होगा।

इसको थोडा और आगे बढाया जा सकता है। चित्र 7 (इ) पर

C बिन्दु पर ढाल $\frac{CE}{EB}$ है अत ढाल का विलोम = $\frac{EB}{CE}$ है। $\frac{P}{Q} = \frac{OF}{OE} = \frac{CE}{OE}$ है।

अत माँग की लोच = $\frac{EB}{CE} \cdot \frac{CE}{OE} = \frac{EB}{OE}$ है।[1]

चूँकि चित्र 7 (इ) में त्रिकोण AOB, AFC व CEB एक से (similar) त्रिकोण हैं इसलिए हमें माँग की लोच के कुल तीन माप प्राप्त हो जाते हैं जो इस प्रकार होते हैं

$e_d = \frac{CB}{AC} = \frac{EB}{OE} = \frac{FO}{AF}$ जो आगे व्यष्टि अर्थशास्त्र में काफी प्रयुक्त किये जायेंगे। इन सम्बन्धों को प्रारम्भ में काफी सावधानी व सतर्कता से समझ लेना चाहिए ताकि उच्चस्तरीय अध्ययन में अनेक प्रकार की कठिनाइयों से बचा जा सके। मामूली प्रयास से ये परिणाम भली भाँति समझ में आ सकते हैं और भावी अध्ययन के लिए अत्यन्त सरल व उपयोगी आधार प्रदान करते हैं।

अर्थशास्त्र में बिन्दु लोच के माप के लिए माँग फलन के दिये हुए होने पर चलन कलन (Differential Calculus) का उपयोग अत्यावश्यक होता है लेकिन उसका अध्ययन बहुधा स्नातकोत्तर स्तर पर ही किया जाता है। इसलिए यहाँ सरल ज्यामितीय माप पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है।

फलन, वक्र, ढाल व लोच के इस प्रारम्भिक परिचय के बाद हम अर्थशास्त्र की कुछ चलराशियों जैसे उपयोगिता उत्पत्ति लागत व आगम (revenue) के सबध में कुल औसत व सीमान्त की अवधारणाओं का सरल परिचय देते हैं ताकि आगे चलकर व्यष्टि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त भली भाँति समझ में आ सकें।

हम पहले चित्र 6 (अ) में माँग वक्र तथा चित्र 6 (आ) में पूर्ति वक्र के ढाल को स्पष्ट कर चुके हैं। माँग वक्र का ढाल ऋणात्मक (negative) होता है क्योंकि कीमत व माँग की मात्रा में विपरीत सम्बन्ध पाया जाता है जबकि पूर्ति वक्र का ढाल धनात्मक (positive) है क्योंकि कीमत व पूर्ति की मात्रा में सम्बन्ध एक ही दिशा में पाया जाता है। कीमत के बढ़ने से पूर्ति की मात्रा बढती है और कीमत के घटने से पूर्ति की मात्रा घटती है।

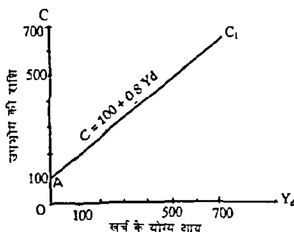
अब हम उपभोग फलन (consumption function) व उत्पादन फलन (production function) को स्पष्ट करते हैं।

1 उपभोग फलन—इसका विवेचन समष्टि अर्थशास्त्र में आता है। उपभोग फलन उपभोग और इसको प्रभावित करने वाली चलराशियों के बीच सम्बन्ध बतलाता है। लेकिन सरलतम सिद्धान्त में, उपभोग चालू खर्च के योग्य आय का फलन होता है अर्थात् उपभोग खर्च के योग्य आय पर निर्भर करता है।

मान लीजिए $C = 100 + 0.5 Y_d$ है जहाँ C = उपभोग व Y_d = खर्च के लायक आय के सूचक हैं। इस सम्बन्ध को ग्राफ पर अंकित करने के लिए निम्न तालिका बनायी जाती है—

1 D Salvatore *Microeconomics* first ed, 1991 pp 137 13)

खर्च के योग्य आय (disposable income)	उपभोग (रुपयों में) (consumption)	उपभोग की सीमान्त (MPC) प्रवृत्ति = $\Delta C/\Delta Y_d$
0	100	0.8
100	180	0.8
200	260	0.8
500	500	0.8
600	580	0.8
700	660	0.8



चित्र 8 : उपभोग-फलन का ग्राफ

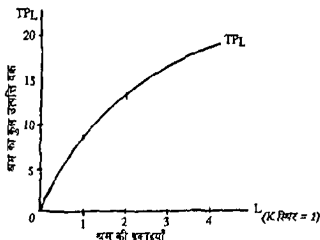
इस प्रकार खर्च के योग्य आय के 500 रुपये होने पर उपभोग भी 500 रु होता है। लेकिन इससे पूर्व उपभोग की राशि आय से अधिक होती है, अर्थात् समाज अबचत (dissaving) करता है। यहाँ क्षैतिज अक्ष पर खर्च के योग्य आय व लम्बवत् अक्ष पर उपभोग-व्यय मापा गया है। AC_1 रेखा उपभोग व आय का सम्बन्ध बतलाती है। इसका ढाल सर्वत्र 0.8 के बराबर है, इसे उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति (MPC) भी कहते हैं जो $\frac{\Delta C}{\Delta Y_d}$ के बराबर होती है। उपभोग की वृद्धि में खर्च के योग्य आय की वृद्धि का भाग देने से 0.8 प्राप्त होता है। यह तालिका में भी दर्शाया गया है।

2. उत्पादन-फलन (Production function)—एक फर्म के द्वारा प्राप्त उत्पत्ति व लगाये जाने वाले उत्पादन के साधनों की मात्राओं का परस्पर भौतिक सम्बन्ध उत्पादन-फलन कहलाता है। इसमें कीमतों का समावेश नहीं किया जाता है। इसमें टेक्नोलॉजी दी हुई मान ली जाती है। उत्पादन-फलन के कई रूप होते हैं जिनमें कॉब डगलस उत्पादन-फलन काफी लोकप्रिय माना गया है।

नीचे $Q = 10 L^{1/2} K^{1/2}$ के आधार पर श्रम का कुल उत्पत्ति-वक्र दर्शाया गया है। K, अर्थात् पूंजी को 1 मानने पर $Q = 10 L^{1/2}$ हो जाता है, जहाँ Q = उत्पत्ति व L = श्रम को अंकित करते हैं।

श्रम	कुल उत्पत्ति	सीमान्त उत्पत्ति = $\frac{\Delta Q}{\Delta L}$
(1)	(2)	(3)
0	0	—
1	10 00	10 00
2	14 14	4 14
3	17.32	3 18
4	20 00	2 68

कुल उत्पत्ति वक्र निम्न चित्र पर दर्शाया गया है—



चित्र 9 श्रम का कुल उत्पत्ति वक्र (TP_L)

चित्र 9 में क्षैतिज अक्ष पर श्रम की मात्राएँ ली गयी हैं और लम्बवत् अक्ष पर पूँजी स्थिर रखने पर, श्रम से प्राप्त कुल उत्पत्ति की मात्राएँ दर्शायी गयी हैं। TP_L वक्र श्रम के कुल उत्पत्ति वक्र को सूचित करता है। श्रम की एक इकाई पर वक्र का ढाल 10 है 2 इकाई पर 4 14 है, आदि। हम अगले अध्याय में औसत, सीमान्त व कुल की अवधारणाओं के विवेचन में कुल उत्पत्ति के ढाल का पुन उल्लेख करेंगे।

प्रश्न

1 अर्थशास्त्र में फलनीय सम्बन्ध से आपका क्या अभिप्राय है? अर्थशास्त्र से सम्बन्धित

कुछ फलनीय सम्बन्धों का विवेचन कीजिए। (Raj Iyr, 1995)

2 निम्नांकित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये—

(i) उपभोग फलन क्या है? उपयुक्त उदाहरण देकर समझाइये।

(ii) एक उत्पादनकर्ता की 'औसत लागतों' तथा 'सीमान्त लागतों' में सम्बन्ध (रेखाचित्र का प्रयोग कीजिए) (Ajmer Iyr, 1993)

3 निम्नांकित को समुचित उदाहरणों द्वारा समझाइये –

(अ) अर्थशास्त्र में फलनात्मक सम्बन्ध

(ब) कुल आगम औसत आगम तथा सीमान्त आगम के बीच सम्बन्ध। (Raj Iyr., 1997)

4 ढाल व लोच में अन्तर चित्र देकर समझाइये। क्या ये दोनों एक होते हैं?

5 व्याख्या कीजिए—

(i) धनात्मक व ऋणात्मक फलन

(ii) रेखीय व अरेखीय फलन (Raj Iyr, 1994 & 1996)

6 निम्न की व्याख्या कीजिए-

(अ) ढाल का अर्थ व माप

(ब) कीमत लोच की धारणा। (Raj Iyr., 1994)

7 वक्र का ढाल किस प्रकार ज्ञात किया जाता है? वक्र के विभिन्न बिन्दुओं पर ढाल क्यों बदल जाता है? (Ajmer Iyr 1994)

8 स्पष्ट कीजिए—

(अ) एक सरल रेखा का ढाल

(ब) उपभोग और उत्पादन फलन (Raj Iyr, 1996, non-coll.)

9 कुल लागत वक्र खींचिए तथा उसके किन्हीं दो बिन्दुओं पर सीमान्त लागत ज्ञात करके समझाइये।

10 समुचित रेखाचित्रों की सहायता से निम्नलिखित की व्याख्या कीजिए—

(अ) कुल लागत, औसत लागत व सीमान्त लागत के मध्य सम्बन्ध,

(ब) कुल आगम, औसत आगम व सीमान्त आगम के मध्य सम्बन्ध (Raj Iyr. 1996, ऐसा ही प्रश्न Raj, Iyr., 1996, non-coll.)

11 ढाल की अवधारणा को रेखीय और अरेखीय वक्र से समझाइये। (Raj Iyr, 1992)

12 निम्नांकित अवधारणाओं की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए-

(अ) फलनात्मक सम्बन्ध

(ब) रैखिक एवं गैर रैखिक फलन। (Ajmer Iyr, 1992)

13 चित्र देकर समझाइए कि माँग वक्र के एक बिन्दु पर माँग की लोच उस बिन्दु पर ढाल के विलोम (inverse of the slope) व $\frac{P}{Q}$ के गुणा के बराबर होती है, तथा यह ऋणात्मक होती है।

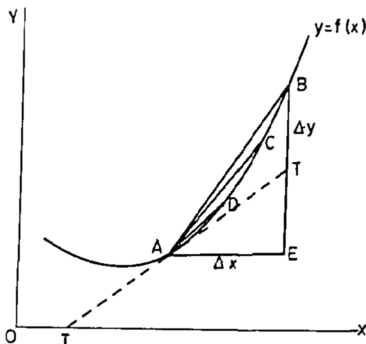
14 एक माँग वक्र पर एक बिन्दु लेकर ज्यामिति की सहायता से माँग की लोच के तीन माप समझाइए। ☐

सरल अवकलज
(Simple Derivatives)

अर्थशास्त्र में सीमान्त उत्पत्ति, सीमान्त लागत, सीमान्त आय, सीमान्त उपयोगिता व उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति, आदि सीमान्त अवधारणाओं (marginal concepts) का बहुत उपयोग होता है। इनको समझने के लिए अवकलन (differentiation) का सहारा लिया जाता है। इस अध्याय में हम देखेंगे की सीमान्त उत्पत्ति कुल उत्पत्ति का प्रथम अवकलज (first derivative) होती है। इसी प्रकार सीमान्त लागत कुल लागत का, सीमान्त आय (marginal revenue) कुल आय (total revenue) का, सीमान्त उपयोगिता कुल उपयोगिता का एवं उपभोग की सीमांत प्रवृत्ति कुल उपभोग फलन का प्रथम अवकलज (first derivative) होती है। अत अर्थशास्त्र में सीमान्त विश्लेषण (marginal analysis) को चलन कलन (differential calculus) की सहायता से भली भाँति समझा जा सकता है। इसलिए आजकल प्रारम्भिक अध्ययन में सरल अवकलजों का परिचय देना आवश्यक समझा जाता है।

यदि y, x का फलन होता है ($y = f(x)$) तो x के परिवर्तन से y में परिवर्तन होता है। हमारे लिए इस जानकारी का बडा महत्त्व होता है कि x के परिवर्तन से y में परिवर्तन की दर क्या होगी। यहाँ निम्नलिखित दो दशाओं में भेद करना आवश्यक है।

(1) परिवर्तन की औसत दर (Average Rate of Change) – यदि हम किसी फलन (function) को सूचित करने वाले वक्र के दो बिन्दुओं को लेते हैं और x के परिवर्तन को Δx (डेल्टा x) से और y के (अर्थात् फलन के) परिवर्तन को Δy (डेल्टा y) से सूचित करते हैं तो $\frac{\Delta y}{\Delta x}$ परिवर्तन की औसत दर (average rate of change) को सूचित करेगा। दूसरे शब्दों में, यह y में होने वाले उस परिवर्तन को बतलायेगा जो x में एक इकाई के परिवर्तन से उत्पन्न होगा। इसे 'डेल्टा वाई बाई डेल्टा एक्स' कहा जाता है। इस स्थिति को एक व्यावहारिक उदाहरण देकर स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए, एक हवाई जहाज किसी कॉलेज की छत के ऊपर से उड़ता हुआ पास में सरकारी अस्पताल की छत के ऊपर से जा रहा है और इन दो स्थानों के बीच की दूरी Δy है, और इस दूरी को तय करने में इसे Δx सैकिण्ड लगते हैं, तो हवाई जहाज की रफ्तार प्रति सैकिण्ड $\frac{\Delta y}{\Delta x}$ दूरी होगी। अत इसमें परिवर्तन की औसत दर का विचार शामिल किया गया है। हम आगे के चित्र पर दो बिन्दुओं को मिलाकर परिवर्तन की औसत दर के विचार को स्पष्ट करते हैं।



चित्र 1 : परिवर्तन की औसत दर $\left(\frac{\Delta y}{\Delta X}\right)$ व शीघ्र दर $\left(\frac{dy}{dx}\right)$ होती है।

उपरोक्त चित्र में A व B को मिलाने वाला कॉर्ड (Chord) AB है, जिसका ढाल चित्र में $\frac{BE}{AE} = \frac{\Delta y}{\Delta x}$ दर्शाया गया है। A से B तक जाने में x में Δx की वृद्धि होती है और y में Δy की वृद्धि होती है। इस प्रकार प्रति इकाई x के अनुसार $\frac{\Delta y}{\Delta x}$ वृद्धि की दर मानी जायगी। अत यह परिवर्तन की औसत दर होती है। वक्र $y = f(x)$ जब B बिन्दु A की ओर आता है तो कॉर्ड छोटा होता जाता है, जो AC व AD के रूप में दर्शाया गया है। AC का ढाल AB से कम होता है, और AD का AC से कम होता है। इस प्रकार कॉर्ड और छोटा होता जाता है और A के समीप पहुँचने पर यह इस बिन्दु पर एक स्पर्शरेखा (tangent) TT में बदल जाता है। A बिन्दु पर इसका ढाल TT के ढाल के बराबर होता है जो सबसे कम होता है। इसे $\frac{dy}{dx}$ से सूचित किया जाता है।

(2) परिवर्तन की तात्कालिक या शीघ्र दर (Instantaneous Rate of Change)— अत A बिन्दु पर परिवर्तन की दर $\frac{dy}{dx}$ (डी वाई बाई डी एक्स) होती है, जो $\lim_{\Delta x \to 0} \frac{\Delta y}{\Delta x}$ को सूचित करती है। इसका अर्थ यह है कि जब Δx शून्य की ओर जाता है तब $\frac{\Delta y}{\Delta x}$ की सीमा $\frac{dy}{dx}$ कहकर पुकारी जाती है। पिछले हवाई जहाज वाले दृष्टान्त में हम

इसे A बिन्दु पर (कॉलेज की छत के ऊपर) उड़ता हुआ पाते हैं और उस समय इसकी रफ्तार $\frac{dy}{dx}$ से सूचित होती है। स्मरण रहे कि $\frac{dy}{dx}$ का अर्थ dy में dx का भाग देना नहीं है। यह तो केवल A बिन्दु पर स्पर्शरिखा TT का ढाल (slope) मात्र है जो $\frac{TE}{AE}$ के बराबर होता है। इस प्रकार की $\frac{dy}{dx}$ की मात्रा परिवर्तन की तात्कालिक या शीघ्र दर का सूचक होती है

चित्र में यह भी स्पष्ट हो जाता है कि A बिन्दु पर स्पर्श रेखा TT का ढाल कॉर्ड AB या AC या AD के ढाल से कम होता है। अत $\frac{\Delta y}{\Delta x}$ परिवर्तन की औसत दर को सूचित करता है, और $\frac{dy}{dx}$ परिवर्तन की तात्कालिक दर को। $\frac{\Delta y}{\Delta x}$ में दो बिन्दुओं को मिलाकर कॉर्ड का ढाल मापा जाता है, और $\frac{dy}{dx}$ में एक बिन्दु पर स्पर्श रेखा का ढाल मापा जाता है। नीचे पुन दोनों का सम्बन्ध दोहराया गया है—

$$\frac{dy}{dx} = \lim_{\Delta x \to 0} \frac{\Delta y}{\Delta x}$$

$\frac{dy}{dx}$ की धारणा को दूसरी विधि से भी समझ सकते हैं—

मान लीजिए $y = x^2$ है। यहाँ x का मूल्य x से बढ़ाकर $x + h$ कर दिया जाता है जिससे फक्शन में परिवर्तन $\{(x + h)^2 - x^2\}$ हो जाता है। लेकिन x में परिवर्तन हुआ h के बराबर।

$$\text{परिवर्तन की औसत दर } \left(\frac{\Delta y}{\Delta x}\right) = \frac{(x+h)^2 - x^2}{h}$$

$$= \frac{x^2 + 2xh + h^2 - x^2}{h}$$

$$= \frac{2xh + h^2}{h} = 2x + h$$

$$\text{अत परिवर्तन की तात्कालिक या शीघ्र दर } \left(\frac{dy}{dx}\right) = \lim_{\Delta x \to 0} \frac{\Delta y}{\Delta x}$$

$$= \lim_{h \to 0} (2x + h) = 2x \; (\because \Delta x = h)$$

इस प्रकार $y = x^2$ होने पर x^2 में वृद्धि की दर 2x (जब हम इसे x बिन्दु पर मापते हैं) होगी। x^2 में वृद्धि की दर $x = 1$ पर 2 होगी, , $x = 2$ पर 4 होगी व $x = 4$ पर 8 होगी, आदि। $\frac{dy}{dx}$ को $f^1(x)$ अथवा y^1 आदि से भी सूचित किया जा सकता है।

ऊपर x में h की वृद्धि का उपयोग करके जो *अवकलज की विधि (Method of derivation)* बतलाई गई है उसे *विश्लेषणात्मक विधि* (analytical method) अथवा प्रथम सिद्धान्त से अवकलन (differentiation from first principle) की विधि भी कहते हैं।

प्रथम सिद्धान्त से अवकलन के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

उदाहरण 1

$$\frac{d(x^3)}{dx} = \lim_{h \to o} \frac{(x+h)^3 - x^3}{h} = \lim_{h \to 0} \frac{3hx^2 + 3h^2x + h^3}{h}$$

$$= \lim_{h - 0} (3x^2 + 3hx + h^2) = 3x^2$$

इसी के आधार पर हम एक सामान्य परिणाम निकाल सकते हैं। यह इस प्रकार होगा (पहले x की 'पावर' उतारनी होगी, फिर x की 'पावर' में से एक घटा देना होगा)।

$\frac{d(x^n)}{dx} = nx^{n-1}$ (पहले x की 'पावर' उतारनी होगी, फिर x की पावर' में से एक घटा देना होगा)।

उदाहरण 2

$$\frac{d(\sqrt{x})}{dx} = d\frac{(x^{\frac{1}{2}})}{dx}$$

$$= \frac{1}{2}x^{\frac{1}{2}-1} = \frac{1}{2}x^{-\frac{1}{2}}$$

$$\frac{1}{2x^{\frac{1}{2}}} = \frac{1}{2\sqrt{x}}$$

उदाहरण 3

$$\frac{d(5x^4)}{dx}$$

$$= 5 \times 4x^{4-1}$$

$= 20x^3$ (इसका नियम आगे दिया गया है।)

अब हम अवकलन के नियमों (Rules of Differentiation) का उल्लेख करेंगे।

नियम 1 एक स्थिर राशि का अवकलज (derivative of a constant) शून्य होता है।

यदि $y = c$,

$$\frac{dy}{dx} = 0$$

हम जानते हैं कि $y = 5$ का ग्राफ एक लम्बवत् सरल रेखा के रूप में बनता है। अत इसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। वैसे हम इसे 'पॉवर' नियम से भी सिद्ध कर सकते हैं।

$y = c$ अथवा $y = cx^0$ ($\because x^0 = 1$ होता है)

$$\frac{dy}{dx} = c \times 0 \times x^{0-1} = 0$$

उदाहरण

यदि $y = 8$,

तो $\frac{dy}{dx} = 0$ होगा।

नियम 2 एक स्थिर राशि (constant) व अवकलनीय फलन (differentiable function) के गुणा का अवकलज (derivative) उस स्थिर राशि को फलन के अवकलज से गुणा करने के बराबर होता है यदि $y = cu$ हो जहाँ $u = f(x)$ अर्थात् u, x का अवकलनीय फलन हो तो

$\frac{dy}{dx} = c\frac{du}{dx}$ होगा।

उदाहरण

$y = 5x^3 \quad \frac{dy}{dx} = 5(3)x^2 = 15x^2$

यदि $y = 5x, \quad \frac{dy}{dx} = 5(1)x^{1-1} = 5x^0 = 5$ ($\because x^0 = 1$ होता है)

यदि $y = x \quad \frac{dy}{dx} = 1(1)x^{1-1} = x^0 = 1$

यदि $y = 10x^{-2}, \quad \frac{dy}{dx} = 10(-2)x^{-2-1} = -20x^{-3} = -\frac{20}{x^3}$ होगा)

नियम 3 दो फलनों के जोड (या बाकी) का अवकलज उनके अलग अलग अवकलजों (derivatives) के जोड (या बाकी) के बराबर होता है।

यदि $y = u + v$ हो जहाँ $u = f(x)$ और $v = g(x)$ x के अवकलजीय फलन हों तो

$$\frac{dy}{dx} = \frac{du}{dx} + \frac{dv}{dx}$$

अथवा यदि $y = u - v$ हो तो

$\frac{dy}{dx} = \frac{du}{dx} - \frac{dv}{dx}$ होगा

उदाहरण 1

$$y = x^3 - 5x^2 + 4x + \frac{3}{x} - 1$$

$$\frac{dy}{dx} = 3x^2 - 10x + 4 - \frac{3}{x^2}$$

$$\left[\because \frac{d}{dx}\left(\frac{3}{x}\right) = \frac{d}{dx}(3x^{-1}) = 3(-1)x^{-1-1} = -3x^{-2} = \frac{-3}{x^2}\right]$$

उदाहरण 2

$$y = 1 + x + \frac{x^2}{\lfloor 2} + \frac{x^3}{\lfloor 3} + \frac{x^4}{\lfloor 4} + \ldots$$

(यहाँ $\lfloor 2 = 2 \times 1$, $\lfloor 3 = 3 \times 2 \times 1$ तथा $\lfloor 4 = 4 \times 3 \times 2 \times 1$ के सूचक हैं)

यहाँ $\frac{dy}{dx} = 1 + \frac{2x}{2.1} + \frac{3x^2}{3.2.1} + \frac{4x^3}{4.3.2.1} + \ldots$

$$= 1 + x + \frac{x^2}{\lfloor 2} + \frac{x^3}{\lfloor 3} +$$

[अत दिये हुए फ्रैक्शन का प्रथम अवकलज प्रारम्भिक फलन के समान ही निकल आता है।]

नियम 4. – दो फलनों के गुणा का अवकलज (derivative) बराबर होगा प्रथम फलन गुणा द्वितीय फलन का अवकलज, जोड (plus) द्वितीय फलन गुणा प्रथम फलन का अवकलज। यदि $y = uv$ हो, जहाँ $u = f(x)$ और $v = g(x)$ हो तो

$$\frac{dy}{dx} = u\frac{dv}{dx} + v\frac{du}{dx}$$

उदाहरण 1.

यदि $y = (x^2 + 7)(x + 1)$ हो तो

यहाँ $x^2 + 7 = u$ और $x + 1 = v$ मानने पर,

$$\frac{dy}{dx} = (x^2 + 7) \times (1) + (x + 1)(2x)$$

$$x^2 + 7 + 2x^2 + 2x$$

$$= 3x^2 + 2x + 7$$

उदाहरण 2.

यदि $y = (3x^2 + 1)(x^2 + x + 1)$ हो तो

$\frac{dy}{dx}$ $(3x^2 + 1)(2x + 1) + (x^2 + x + 1)(6x)$ (गुणा नियम के अनुसार)

$$= (6x^3 + 3x^2 + 2x + 1) + (6x^3 + 6x^2 + 6x)$$

$$= 12x^3 + 9x^2 + 8x + 1$$

उदाहरण 3.

यदि $y = (1 \times \sqrt{x})(1 + \sqrt{x})$

तो $\frac{dy}{dx}$ निकालिए।

इसे गुणा के नियम से करने की बजाय पहले सीधा गुणा करिए,

$$y = 1 - x$$

$$\frac{dy}{dx} = -1$$

उदाहरण 4.

$$y = (3x + 7)(x^{-2} + 8)$$

$$\frac{dy}{dx} = (3x + 7)(-2x^{-3}) + (x^{-2} + 8).3$$

$$= -6x^{-2} - 14x^{-3} + 3x^{-2} + 24$$

$$= -3x^{-2} - 14x^{-3} + 24$$

$$= \frac{-3}{x^2} - \frac{14}{x^3} + 24$$

नियम 5 दो फलनों के भागफल (quotient) का अवकलज इस प्रकार होगा हर (denominator) का फलन गुणा अश (numerator) का अवकलज बाकी (minus) अश का फलन गुणा हर के फलन का अवकलज और इस पूरी राशि में हर के वर्ग (square of the denominator) का भाग देना होगा।

यदि $y = \frac{u}{v}$ हो, जहाँ u = f (x) एव v = g (x) हो तो

$$\frac{dy}{dx} = \frac{v\frac{du}{dx} - u\frac{dv}{dx}}{v^2}$$

उदाहरण 1.

$$y = \frac{2x}{x+1}$$

$$\frac{dy}{dx} = \frac{(x+1) \times (2) - 2x \times (1)}{(x+1)^2}$$

$$= \frac{2x + 2 - 2x}{(x+1)^2}$$

$$= \frac{2}{(x+1)^2}$$

उदाहरण 2

$$y = \frac{5}{x^4}$$

(भागफल का नियम लगाने पर) $\frac{dy}{dx} = \frac{x^4(0) - 5(4x^3)}{(x^4)^2}$

$$= -\frac{20x^3}{x^8} = -\frac{20}{x^5}$$

पुन $y = \frac{5}{x^4} = 5x^{-4}$

(पॉवर का नियम लगाने पर) $\frac{dy}{dx} = 5(-4)x^{-4-1} = -\frac{20}{x^5}$

अर्थशास्त्र में अवकलज के सरल उपयोग

अर्थशास्त्र में अवकलज के कई सरल उपयोग होते हैं। कोई भी सीमान्त मूल्य (marginal value) अवकलन की विधि (process of differentiation) से प्राप्त किया जा सकता है। जैसे सीमान्त उपयोगिता कुल उपयोगिता फलन का प्रथम अवकलज (first derivative) होती है, सीमान्त आय(MR) कुल आय (TR) का, सीमान्त लागत (MC) कुल लागत (TC) का, एव सीमान्त उत्पत्ति (MP) कुल उत्पत्ति (TP) का प्रथम अवकलज होती है।

अत उपभोग, उत्पत्ति, कीमत निर्धारण आदि में व्यापक रूप से अवकलन की विधियों का प्रयोग किया जाता है। नीचे कुछ सरल दृष्टान्तों से अर्थशास्त्र में अवकलन का उपयोग समझाया गया है।

माँग की बिन्दु लोच (Point Elasticity of Demand)

माँग की बिन्दु लोच की गणना में अवकलन का उपयोग किया जाता है। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट किया जाता है—

उदाहरण (1) — मान लीजिए माँग (x) और कीमत (p) का सम्बन्ध निम्न समीकरण से सूचित किया जाता है—

$x = 250 - p$

जब कीमत 10 रुपये हो तो माँग की लोच निकालिए।

माँग की बिन्दु लोच = $\frac{p}{x} \quad \frac{dx}{dp}$ होती है। [माँग की लोच का सामान्य सूत्र—

$e = \frac{\frac{\Delta x}{x}}{\frac{\Delta p}{p}} = \frac{p}{x} \; \frac{\Delta x}{\Delta p}$ होता है। लेकिन $\lim_{\Delta p \to 0} \frac{\Delta x}{\Delta p} = \frac{dx}{dp}$ होता है।

प्रथम दृष्टान्त में $x = 250 - p$

$\frac{dx}{dp} = -1$ होगा।

समीकरण में $p = 10$ रखने पर, $x = 250 - 10 = 240$ होगा।

$e = \frac{10}{240} \times -1 = -\frac{1}{24} = -\ 042$

अत इस उदाहरण में माँग काफी बेलोच (inelastic) है।

लागत-फलन से सम्बन्धित सरल उदाहरण—

उदाहरण 1.—यदि कुल लागत फलन $C = \frac{1}{25}x^2 + 3x + 50$ हो तो इसका औसत लागत फलन व सीमान्त लागत फलन निकालिए। x की किस मात्रा पर फर्म की औसत लागत न्यूनतम होगी।

$AC = \frac{C}{x} = \frac{1}{25}x + 3 + \frac{50}{x}$ (कुल लागत में x का भाग देने पर)

$MC = \frac{2}{25}x + 3$ (कुल लागत का प्रथम अवकलज लेने पर)

प्रथम विधि :— AC के न्यूनतम होने के लिये

$\frac{d(AC)}{dx} = \frac{1}{25} - \frac{50}{x^2} = 0$ होना चाहिए।

$\frac{50}{x^2} = \frac{1}{25} \qquad x^2 = 1250$

$x = 35.36$

अत 35 इकाई पर AC न्यूनतम होगी।

द्वितीय विधि — AC के न्यूनतम बिन्दु पर MC = AC होती है।

अत $\frac{2}{25}x + 3 = \frac{1}{25}x + 3 + \frac{50}{x}$ (पूर्व परिणामों के आधार)

एव $\frac{1}{25}x = \frac{50}{x}$

$x^2 = 1250$

पुन x = 35 36 इस प्रकार 35 इकाई माल पर औसत लागत न्यूनतम होगी।

उदाहरण 2 — निम्न लागत फलन दिये होने पर उत्पत्ति का वह स्तर निकालिए जिस पर औसत लागत व सीमान्त लागत समान हो।

TC अथवा $C = Q^3 - 3Q^2 + 27Q$

$AC = Q^2 - 3Q + 27$ (कुल लागत में Q का भाग देने पर)

$MC = \frac{d(TC)}{dQ} = 3Q^{2} - 6Q + 27$

AC = MC के लिए

$Q^2\ 3Q + 27 = 3Q^2 - 6Q + 27$

अथवा $2Q^2 - 3Q = 0$ (मदों को एकत्र करने पर)

$Q(2Q - 3) = 0$

जिससे Q = 0 या 3/2 होगा। चूँकि यहाँ Q = 0 का कोई अर्थ नहीं निकलता, अत $Q = 1\frac{1}{2}$ इकाई पर औसत लागत व सीमान्त लागत समान होती है।

उदाहरण 3 — यदि कुल लागत फलन निम्नांकित हो—

$C = 5000 + 1000Q - 500Q^{2} + \frac{2}{3}Q^{3}$

$C - 5000 + 1000Q - 500Q^2$

तो (i) सीमान्त लागत ज्ञात कीजिए,

(ii) औसत लागत फलन निकालिए, तथा

(iii) वह उत्पादन की मात्रा ज्ञात कीजिये जिस पर सीमान्त लागत (MC) औसत परिवर्ती लागत (AVC) के बराबर होगी।

(i) $MC = \frac{dC}{dQ} = 1000 - 1000Q + 2Q^{2}$ (पावर का नियम लगा कर)

(ii) $AC = \frac{C}{Q} = \frac{5000}{Q} + 1000 - 500Q + \frac{2}{3}Q^{2}$

(iii) $1000 - 1000Q + 2Q^{2} = 1000 - 500Q + \frac{2}{3}Q$

(MC = AVC की शर्त के आधार पर)

अथवा $\frac{4}{3}Q^{2} - 500Q = 0$ (मदों को एकत्र करने पर)

$\therefore Q\left(\frac{4}{3}Q - 500\right) = 0$ जिससे $Q = 0$

अथवा $\frac{4}{3}Q = 500$ होगा

अत Q = 375 इकाई होगी

इस पर MC = AVC होगी।

अवकलन विधि से AC व MC का सम्बन्ध

मान लीजिए AC = C तथा उत्पत्ति = Q है तो

कुल लागत TC = CQ होगी

$\frac{d(TC)}{dQ} = MC = C\,1 + Q\,\frac{dC}{dQ}$ (गुणा के नियमानुसार)

अत $MC = C + Q\,\frac{dc}{dQ}$ होगी (1)

यहा $\frac{dC}{dQ}$, अर्थात् औसत लागत (AC) के ढाल के परिणाम का काफी प्रभाव पडेगा।

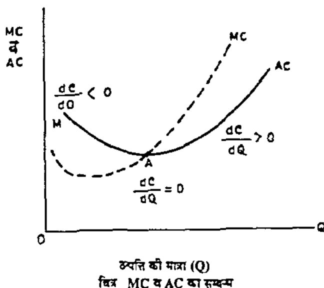
यदि $\frac{dC}{dQ} = 0$ हो तो समीकरण (1) में

MC = C = AC होगी।

इस प्रकार $\frac{dC}{dQ} = >0$ होने पर MC>AC

तथा $\frac{dC}{dQ} = <0$ होने पर MC< AC होगी

अत अवकलन की सहायता से यह सिद्ध किया जा सकता है कि AC वक्र का ढाल धनात्मक (>0) होने पर MC वक्र AC वक्र के ऊपर रहेगा, AC वक्र का ढाल शून्य होने पर, MC वक्र AC वक्र को काटेगा, अर्थात् MC = AC की स्थिति होगी, एव AC वक्र



उत्पत्ति की मात्रा (Q)

चित्र MC व AC का सम्बन्ध

का ढाल ऋणात्मक (<0 होने पर MC वक्र AC वक्र के नीचे रहेगा।

पीछे चित्र में AC व MC वक्रों की स्थिति दर्शायी गयी है।

चित्र में AC वक्र M से A तक घटता है, अर्थात् AC वक्र का ढाल ऋणात्मक रहता है। *अत इस हिस्से में MC वक्र इसके नीचे रहता है (हालाकि यह स्वय पहले घटता है, फिर* बढने लगता है, लेकिन रहता AC से नीचे)। A बिन्दु पर MC = AC, तथा A दायीं ओर MC > AC की स्थिति होती है।

अवकलजों के अर्थशास्त्र में अन्य प्रयोग (कुल आगम, व कुल उत्पत्ति के सदर्भ मे)

उदाहरण 1 यदि कुल आगम (TR) = 14x हो तो औसत आगम (AR) व सीमान्त आगम (MR) ज्ञात कीजिए।

$$TR = 14x$$

$$AR = \frac{TR}{x} = \frac{14x}{x} = 14$$

$$MR = \frac{d(TR)}{dx} = \frac{d(14x)}{dx} = 14$$

अत यहाँ AR = MR = 14 है।

उदाहरण 2

यदि कुल उत्पत्ति (TP) = $90\,K^2 - K^3$ हो तो औसत उत्पत्ति (AP) व सीमान्त उत्पत्ति (MP) ज्ञात कीजिए। यहाँ एक उत्पादन का साधन, पूँजी (K) लिया गया है, जो परिवर्तनशील है, तथा भूमि व श्रम को यथास्थिर रखा गया है।

$$TP = 90\,K^2 - K^3$$

$$AP = \frac{TP}{K} = 90\,K - K^2$$

$$MP = \frac{d(TP)}{dK} = \frac{d(90K^2 - K^3)}{dK}$$

$$= (90 \times 2\,K) - 3\,K^2$$

$$= 180\,K - 3\,K^2$$

उदाहरण 3

यदि $TR = 60x - \frac{3}{4}x^2$ हो,

जहाँ x = उत्पत्ति का मात्रा है तो AR व MR ज्ञात कीजिए।

$$TR = 60x - \frac{3}{4}x^2$$

$$\therefore AR = \frac{TR}{x} = 60 - \frac{3}{4}x$$

$$MR = \frac{d(TR)}{dx} = 60 - \frac{3}{2}x$$

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि सीमान्त विश्लेषण में अवकलन का बहुत उपयोग होता है। अर्थशात्र में सीमान्त मूल्य या इकाई का विशेष महत्व होने से आजकल अवकलन का काफी प्रयोग होने लगा है। हमने माँग की लोच सीमान्त लागत, सीमान्त

आगम एव सीमान्त उत्पत्ति को ज्ञात करने के लिए अवकलजों का उपयोग किया है।

आगे चलकर व्यष्टि अर्थशास्त्र व समष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन मे इनका कई स्थलों पर उपयोग किया जायगा।

प्रश्न

1 निम्न फलनों में अवकलज ज्ञात कीजिए

(i) $y = 9x^4$

(ii) $y = x^4 + x^3 - 2x^2 + x + 1$

(iii) $y = \sqrt{x} + 5x^3$

(iv) $y = (3x + 1)(x^2 + 1)$

(v) $y = \frac{x+1}{x-1}$

[उत्तर– (i) $\frac{dy}{dx} = 36x^3$

(ii) $\frac{dy}{dx} = 4x^3 + 3x^2 - 4x + 1$

(iii) $\frac{dy}{dx} = \frac{1}{2\sqrt{x}} + 15x^2$

(iv) $\frac{dy}{dx} = 9x^2 + 2x + 3$

(v) $\frac{dy}{dx} = -\frac{2}{(x-1)^2}$

2 यदि $TC = 3Q^2 + 6Q + 12$ हो तो AC व MC ज्ञात कीजिए।

$\left[AC = 3Q + 6 + \frac{12}{Q}\right.$, तथा $\left[MC = 6Q + 6\right]$

3 यदि $P = Q^2 + 3Q + 1$ हो तो TR व MR ज्ञात कीजिए।

($TR = PQ = Q^3 + 3Q^2 + Q$ तथा $MR = 3Q^2 + 6Q + 1$)

4 यदि $x = 20 - 5p$ हो तो $p = 2$ पर माँग की लोच ज्ञात कीजिए। यहाँ x = माँग की मात्रा तथा p = कीमत को सूचित करते हैं। $(e = -1)$

5 यदि $TP = 50K^2 - \frac{1}{3}K^3$ हो तो AP व MP निकालिए। यहाँ कुल उत्पत्ति (TP) एक इन्पुट पूँजी (K) के फलन के रूप में दर्शायी गयी है।

$\left[AP = 50K - \frac{1}{3}K^2\right.$ तथा $\left.MP = 100K - K^2\right]$

6 निम्न में से किन्हीं दो का आकलन ज्ञात कीजिये—

(i) $6x^3 - 5x^2 + 8x + 15$ $[18x^2 - 10x + 8]$

(ii) $(3x^2 + 5x)(2x \quad 7)$ $[18x^2 - 22x - 35]$

(iii) $\frac{(4x^2 + 7x)}{(2x - 5)}$ $\left[\frac{(8x^2 - 40x - 35)}{(2x-5)^2}\right]$.

(Raj, Iyr, 1997)

29

कुल, औसत व सीमान्त की अवधारणाएँ
(The Concepts of Total, Average and Marginal)

अर्थशास्त्र में कई सन्दर्भों में, जैसे उपयोगिता, लागत, (revenue) उत्पत्ति, आदि में तीन अवधारणाएँ—कुल, औसत व सीमान्त—प्रयुक्त होती हैं। इनका परस्पर काफी सम्बन्ध पाया जाता है। इनमें कुल राशि के दिये होने पर हम औसत और सीमान्त निकाल सकते हैं। इसी प्रकार 'औसत' राशि के दिये होने पर 'कुल' राशि निकाल सकते हैं। उच्चतर अध्ययन में 'सीमान्त' से 'कुल' पर जाने के लिए समाकलन की विधि (integration) का प्रयोग किया जाता है, जबकि कुल से सीमान्त पर जाने के लिए अवकलन की विधि (differentiation) का उपयोग किया जाता है, जिसका प्रारम्भिक विवेचन पिछले अध्याय में दिया जा चुका है।

व्यष्टि अर्थशास्त्र में सीमान्त की अवधारणा का बड़ा महत्त्व होता है क्योंकि यह सन्तुलन की स्थिति को निर्धारित करने में मदद देती है। हम आगे चलकर देखेंगे कि अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए सीमान्त लागत = सीमान्त आगम या सीमान्त आय (MC = MR) की शर्त आवश्यक होती है। इसलिए प्रारम्भ में कुल, औसत व सीमान्त के परस्पर संबध को समझना चाहिए। सीमान्त विश्लेषण का समुचित अध्ययन चलन कलन (Differential Calculus) की सहायता से ही हो सकता है।

औसत की अवधारणा—कुल चलराशि के मूल्य में समस्त इकाइयों का भाग देने से औसत मूल्य ज्ञात होता है। जैसे कुल उपयोगिता में उपभोग की गई वस्तु की कुल इकाइयों का भाग देने से औसत उपयोगिता, कुल आय या आगम (total revenue) में बेची गई वस्तु की समस्त इकाइयों का भाग देने से औसत आगम (average revenue)(AR), (जिसे कीमत भी कहते हैं), कुल उत्पत्ति में परिवर्तनशील साधन (जैसे श्रम) की कुल इकाइयों का भाग देने से श्रम की औसत उत्पत्ति (average Product)(AP) एव कुल लागत में उत्पत्ति की मात्राओं का भाग देने से औसत लागत (average cost)(AC) प्राप्त होती है। सूत्र के रूप में, हम इस प्रकार लिख सकते हैं जैसे $AP = \frac{TP}{L}$, यहाँ TP = कुल उत्पत्ति और L श्रम की मात्रा होती है (पूँजी आदि स्थिर रखने पर)। इसी प्रकार $AC = \frac{TC}{Q}$, यहाँ TC = कुल लागत और Q कुल उत्पत्ति की मात्रा को सूचित करती है। इसी तरह $AR = \frac{TR}{Q}$, यहाँ TR कुल आगम या आय है और Q विक्रय की गई वस्तु की मात्रा है।

सीमान्त की अवधारणा

(i) सीमान्त उत्पत्ति—परिवर्तनशील साधन में एक इकाई (जैसे एक श्रमिक) की वृद्धि से कुल उत्पत्ति में जो वृद्धि होती है उसे सीमान्त उत्पत्ति (MP) कहा जाता है। अत $MP = \frac{\Delta TP}{\Delta L}$ होती है, जहाँ ΔTP कुल उत्पत्ति की वृद्धि है और ΔL श्रम की वृद्धि है।

(ii) सीमान्त लागत—एक इकाई उत्पत्ति की वृद्धि से कुल लागत में जो वृद्धि होती है उसे सीमान्त लागत (MC) कहते हैं। अत $MC = \frac{\Delta TC}{\Delta Q}$, जहाँ ΔTC कुल लागत की वृद्धि और ΔQ कुल उत्पत्ति की वृद्धि की सूचक है।

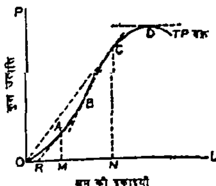
(iii) इसी प्रकार सीमान्त आगम, $MR = \frac{\Delta TR}{\Delta Q}$ होती है। यहाँ ΔTR कुल आगम की वृद्धि को तथा ΔQ कुल बिक्री की वृद्धि को सूचित करती है।

(iv) सीमान्त उपयोगिता—एक अतिरिक्त इकाई के उपभोग से कुल उपयोगिता में जो वृद्धि होती है उसे सीमान्त उपयोगिता कहते हैं। अत $MU = \frac{\Delta TU}{\Delta X}$ अत होती है। यहाँ ΔX उपभोग की इकाइयों की वृद्धि को सूचित करती है।

ढाल का अवधारणा (concept of slope)

स्मरण रहे कि कुल वक्र के किसी बिन्दु पर सीमान्त मूल्य निकालने का अर्थशास्त्र में ***बहुत उपयोग होता है। यह सबधित कुल वक्र के उस बिन्दु पर स्पर्श-रेखा के ढाल (slope*** **of the tangent) के बराबर होता है।**

अत आगे विवेचन में हम केवल एक ही बात पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे कि किस प्रकार कुल उत्पत्ति TP वक्र के किसी भी बिन्दु पर सीमान्त उत्पत्ति (MP) ज्ञात की जा सकती है, तथा किस प्रकार कुल लागत (TC) वक्र के किसी भी बिन्दु पर सीमान्त लागत ज्ञात की जा सकती है और कुल आगम TR वक्र के किसी बिन्दु पर सीमान्त आगम ज्ञात की जा सकती है। ऐसा करते समय हम औसत उत्पत्ति (AP), औसत लागत (AC) व



चित्र 1 . कुल उत्पत्ति से सीमान्त उत्पत्ति व औसत उत्पत्ति ज्ञात करना

औसत आगम (AR) का भी उल्लेख करेंगे, लेकिन हमारे विवेचन का मुख्य केन्द्र स्पर्श रेखा के ढाल *(slope of the tangent)* की सहायता से सीमान्त मूल्य (marginal value) ज्ञात करना ही होगा। स्मरण रहे कि सीमान्त उत्पत्ति, सीमान्त लागत व सीमान्त आगम का विस्तृत अध्ययन व्यष्टि अर्थशास्त्र के पाठ्यक्रम में किया जाता है। यहाँ तो उनके सम्बन्ध में प्रारम्भिक जानकारी ज्यामिति की सहायता से दी जा रही है।

(i) कुल उत्पत्ति वक्र से सीमान्त उत्पत्ति व औसत उत्पत्ति का आकलन या माप—चित्र 1 में क्षैतिज अक्ष पर श्रम की इकाइयाँ व लम्बवत् अक्ष पर कुल उत्पत्ति की मात्राएँ दिखायी गयी हैं और TP वक्र कुल उत्पत्ति वक्र है, जो मूल बिन्दु 0 से प्रारम्भ होकर ऊपर की ओर जाता है।

इसके A, B, C व D बिन्दुओं पर सीमान्त उत्पत्ति का माप किया गया है।

A बिन्दु पर सीमान्त उत्पत्ति ज्ञात करने के लिए एक स्पर्श रेखा डाली जाती है, जो क्षैतिज अक्ष को R पर काटती है। अत इस बिन्दु पर सीमान्त उत्पत्ति $\frac{AM}{RM}$ के बराबर होती है। स्मरण रहे कि इसी बिन्दु पर औसत उत्पत्ति $\frac{AM}{OM} = \frac{\text{कुल उत्पत्ति}}{\text{श्रम की कुल इकाइयाँ}}$ होगी।

इस प्रकार यहाँ सीमान्त उत्पत्ति व औसत उत्पत्ति भिन्न भिन्न होती है। B बिन्दु पर भी सीमान्त उत्पत्ति ज्ञात करने के लिए एक स्पर्श रेखा डालकर उसका ढाल ज्ञात करना होगा, जो A की तुलना में चित्र से ही ज्यादा प्रतीत होता है (क्योंकि यह अधिक ढालू है)।

B पर वक्र का ढाल सर्वाधिक होने से यहाँ सीमान्त उत्पत्ति (MP) अपने अधिकतम बिन्दु पर पहुँच जाती है। अत यहाँ MP सर्वाधिक होती है।

C बिन्दु बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि केवल इसी बिन्दु पर AP = MP होती है, अर्थात् AP अधिकतम होती है, और MP को काटती हुई आगे घटने लगती है।

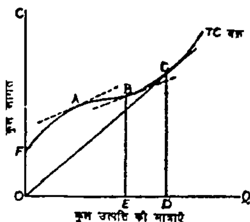
स्मरण रहे कि C बिन्दु पर स्पर्श रेखा मूल बिन्दु से गुजरती है। अत यहाँ सीमान्त उत्पत्ति (MP) $= \frac{CN}{ON}$ होती है, और इसी पर औसत उत्पत्ति $= \frac{\text{कुल उत्पत्ति}}{\text{श्रम की मात्रा}} = \frac{CN}{ON}$ होती है। इस प्रकार C बिन्दु पर AP = MP होती है। हम व्यष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन के समय देखेंगे कि यहीं से उत्पादन की द्वितीय अवस्था (Second Stage of Production) प्रारम्भ होती है।

कुल उत्पत्ति के D बिन्दु पर स्पर्श रेखा का ढाल शून्य हो जाता है, क्योंकि यह क्षैतिज (horizontal) हो जाती है, अर्थात् OL-अक्ष के समानान्तर हो जाती है। इसलिए इस पर MP = 0 (शून्य) होती है। यहाँ पर उत्पादन की द्वितीय अवस्था समाप्त हो जाती है और यहाँ से तृतीय अवस्था प्रारम्भ होती है, जिसमें MP ऋणात्मक (negative) होती है क्योंकि कुल उत्पत्ति घटने लगती है।

अत कुल उत्पत्ति (TP) वक्र से किसी भी बिन्दु पर सीमान्त उत्पत्ति ज्ञात करने के लिए उस पर एक स्पर्श रेखा (tangent) डाली जाती है, और उस स्पर्श रेखा को पीछे की ओर खिसकाकर क्षैतिज अक्ष को काट कर उसका ढाल ज्ञात किया जाता है, जो सीमान्त उत्पत्ति का माप होता है। स्पर्श रेखा को नीचे खिसकाने पर यह क्षैतिज अक्ष को दूसरे खण्ड (quadrant) में भी काट सकती है (क्षैतिज अक्ष के मूल बिन्दु के बायी तरफ रेखा पर)।

क्षैतिज अक्ष पर उस दूरी को माप लिया जाता है जो वक्र के किसी बिन्दु से इस पर डाले गये लम्ब के कटान बिन्दु और स्पर्श-रेखा को बायीं ओर खिसकाने पर उसके द्वारा काटे गये क्षैतिज अक्ष के बीच में पायी जाती है। इसलिए TP से MP निकालने का अभ्यास बहुत सुगम होता है, और इसके लिए केवल स्पर्श-रेखा के ढाल (slope of the tangent) की अवधारणा का ही प्रयोग पर्याप्त होता है।

(ii) कुल लागत से सीमान्त लागत व औसत लागत ज्ञात करना



चित्र 2 : कुल लागत से औसत लागत व सीमान्त लागत ज्ञात करना

चित्र 2 में OQ-अक्ष पर कुल उत्पत्ति की मात्राएँ तथा OC-अक्ष पर कुल लागत (मौद्रिक) मापी गई हैं। TC-वक्र लम्बवत् अक्ष पर F से आरम्भ होता है, अत: OF कुल स्थिर लागत (total fixed cost) है, जो शून्य उत्पत्ति पर भी लगती है। अत: यह O से प्रारम्भ न होकर F से प्रारम्भ होती है।

TC-वक्र पर A, B व C बिन्दुओं पर विचार करें। A बिन्दु पर सीमान्त लागत निकालने के लिए एक स्पर्श-रेखा डालें और उसका ढाल पूर्व विधि से ज्ञात करें जो MC का माप होगा। इसी प्रकार B बिन्दु पर स्पर्श-रेखा का ढाल उस बिन्दु पर MC का माप होगा। स्मरण रहे कि B बिन्दु पर औसत लागत (AC) $= \frac{\text{कुल लागत}}{\text{कुल उत्पत्ति}} = \frac{BE}{OE}$ के बराबर होगी। चित्र को सरल रखने के लिए A व B बिन्दुओं पर स्पर्श-रेखाओं को बायीं तरफ बढाकर क्षैतिज अक्ष से नहीं काटा गया है। लेकिन A व B पर स्पर्श-रेखाओं का ढाल ज्ञात करने के लिए वैसा करना आवश्यक होगा।

C बिन्दु पर स्पर्श-रेखा, मूल-बिन्दु से गुजरती है। अत यहाँ औसत लागत (AC) = सीमान्त लागत = (MC) $= \frac{CD}{OD}$ होती है।

हम आगे चलकर देखेंगे कि औसत लागत व सीमान्त लागत के परस्पर बराबर होने के बिन्दु पर औसत लागत न्यूनतम हुआ करती है, और सीमान्त लागत बढती हुई होती है। पुन स्पर्श-रेखा के ढाल का प्रयोग करते हुए C से आगे TC वक्र पर यह स्पष्ट किया जा सकता है कि MC बढती हुई होगी।

यहाँ स्थिर लागत व परिवर्तनशील लागत (fixed cost and variable cost) का भी अंतर जानना लाभकारी होगा। कुल स्थिर लागत (TFC) वह लागत होती है जो शून्य उत्पत्ति से लेकर अधिकतम उत्पत्ति तक एक सी रहती है जैसे मशीनरी में लगी पूँजी का ब्याज, फैक्ट्री का किराया उच्च कोटि के प्रबंधकों का वेतन आदि। औसत स्थिर लागत (AFC) उत्पत्ति के बढने के साथ साथ घटती जाती है। इसका रूप एक आयताकार अधीन्द्र (rectangular hyperbola) का होता है। इसका अर्थ यह है कि AFC के प्रत्येक बिन्दु पर TFC समान रहती है।

कुल परिवर्तनशील लागत (TVC) उत्पत्ति की मात्रा के साथ बदलती जाती है। जैसे कच्चे माल की लागत, श्रमिकों की मजदूरी पावर का व्यय, आदि। औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) कुल परिवर्तनशील लागत में उत्पत्ति की मात्रा का भाग देने से प्राप्त होती है। अत $AVC = \frac{TVC}{Q}$ होती है। कुल लागत (TC) = TFC + TVC होती है। अत AC = AFC + AVC होती है। सीमान्त लागत उत्पत्ति में एक इकाई की वृद्धि से कुल लागत की वृद्धि को सूचित करती है।

इन सभी की गणना निम्न तालिका में दर्शायी गयी है—

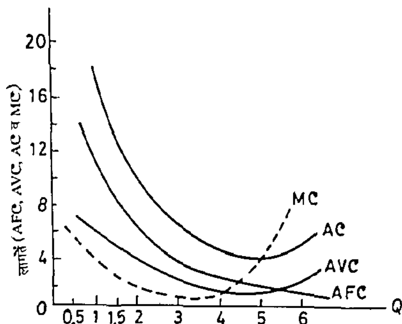
रुपयों में

Q उत्पत्ति	कुल स्थिर लागत (TFC)	कुल परिव॰ लागत (TVC)	कुल लागत (TC)	औसत स्थिर लागत (AFC)	औसत परिवर्ती लागत (AVC)	औसत लागत (AC)	सीमान्त लागत (MC)
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)	(8)
0	12	0	12				
1	12	6	18	12	6	18	6
2	12	8	20	6	4	10	2
3	12	9	21	4	3	7	1
4	12	10.5	22.5	3	2.625	5.625	1.5
5	12	14	26	2.4	2.8	5.2	3.5
6	12	21	33	2	3.5	5.5	7

AFC, AVC, AC व MC को आगे एक चित्र पर दर्शाया गया है।

चित्र से स्पष्ट होता है कि MC वक्र AVC व AC वक्रों को उनके न्यूनतम बिन्दुओं पर काटते हुए आगे बढ़ता है। जब तक AC वक्र घटता है तब तक MC वक्र उसके नीचे बना रहता है। लेकिन MC वक्र पहले घटता है, फिर बढ़ने लगता है। लेकिन जब तक AC वक्र घटता जाता है, तब तक MC वक्र उसके नीचे ही बना रहेगा। AFC वक्र सदैव घटता जाता है। इस प्रकार AFC, AVC व MC में परस्पर गहरा सम्बन्ध पाया जाता है।

नोट — MC अंकित करते समय OQ अक्ष पर 0.5, 1.5, 2.5, 3.5, 4.5, व 5.5 के ऊपर क्रमश 6, 2, 1, 1.5, 3.5 व 7 मात्राएँ अंकित करनी होंगी।



चित्र 3 : उत्पत्ति की मात्राएं

(iii) कुल आगम से सीमान्त आगम और औसत आगम को ज्ञात करना

(अ) पूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक फर्म के लिए औसत आगम या कीमत (AR) दी हुई होती है। यह सीमान्त आगम के बराबर होती है और फर्म की कुल आगम एक सरल रेखा होती है।

मान लीजिए—

p = AR = 3 रुपये है

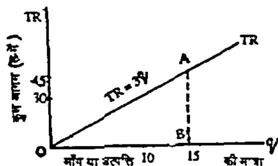
∴ TR = p × q = 3q होगी (q माल की मात्रा है)

सारणी

माल की मात्रा (q)	कुल आगम (TR)
0	0
10	30
13	39
15	45

आगे चित्र 4 में TR रेखा ऊपर की ओर जाती है। इसके A बिन्दु पर ढाल

$= \frac{AB}{OB} = \frac{45}{15} = 3$ होगा जो औसत आगम (AR) = सीमान्त आगम (MR) होता है क्योंकि यहाँ TR रेखा मूल बिन्दु में से गुजर रही है।



चित्र 4 पूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक फर्म के लिए कुल आगम रेखा (TR)

(आ) यदि $TR = 15q - \frac{1}{2}q^2$ हो

निम्न सारणी को ग्राफ पर अंकित करना होगा—

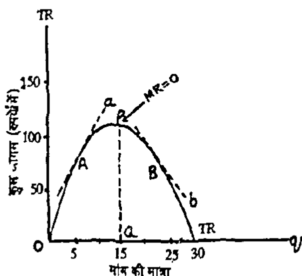
q	TR (रुपयों में)
0	0
5	62.5
10	100
15	112.5
20	100
25	62.5
30	0

$TR = 15q - \frac{1}{2}q^2$

$AR = 15 - \frac{1}{2}q$ (q का भाग देने पर)

[$MR = 15 - q$ होगा जो चलन-कलन के अध्ययन से समझ में आ सकेगा]

स्पष्टीकरण—चित्र 4 में उपर्युक्त सारणी के बिन्दुओं को अंकित करने पर TR वक्र बनता है। इसके P बिन्दु पर औसत आगम (AR) $= \frac{\text{कुल लागत}}{\text{मांग की मात्रा}} = \frac{PQ}{OQ}$ होगा और P बिन्दु पर स्पर्श-रेखा का ढाल शून्य होगा अर्थात् सीमान्त आगम (MR) = 0 होगा। इसी प्रकार A व B बिन्दुओं पर भी MR निकाला जा सकता है।



चित्र 5 कुल आगम वक्र से सीमान्त आगम व औसत आगम ज्ञात करना

(iv) कुल उपयोगिता से सीमान्त उपयोगिता निकालना

उपभोक्ता द्वारा एक वस्तु की अतिरिक्त इकाई से उसकी कुल उपयोगिता में जो वृद्धि होती है उसे सीमान्त उपयोगिता कह कर पुकारते हैं।

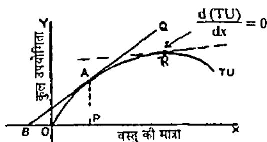
निम्न तालिका में एक वस्तु की कुल उपयोगिता व सीमान्त उपयोगिता दर्शायी गयी है।

वस्तु की मात्राएँ	कुल उपयोगिता	सीमान्त उपयोगिता
1	9	–
2	17	8
3	23	6
4	27	4
5	29	2
6	29	0
7	27	–2

तालिका में कुल उपयोगिता घटती हुई दर से बढ़ रही है। यहाँ सीमान्त उपयोगिता शुरू से ही घट रही है। वस्तु की 6 इकाइयों पर यह शून्य हो जाती है, जहाँ कुल उपयोगिता अधिकतम होती है। उसके बाद जब कुल उपयोगिता घटती है तो सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक (negative) हो जाती है।

गणितीय दृष्टि से उपभोग की किसी भी मात्रा पर सीमान्त उपयोगिता उस बिन्दु पर कुल उपयोगिता वक्र के ढाल (slope) के बराबर होती है। इसे आगे दिये गये चित्र की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।

मान लीजिए हमें A बिन्दु पर सीमान्त उपयोगिता का पता लगाना है। हम A बिन्दु पर BO एक स्पर्श रेखा (tangent) डालते हैं जो X अक्ष को बायीं तरफ बढ़ाने पर B बिन्दु

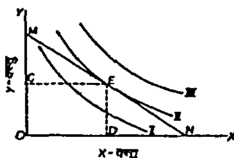


चित्र 6 कुल उपयोगिता वक्र के एक बिन्दु पर सीमान्त उपयोगिता का माप

पर काटती है। इस स्पर्श रेखा का ढाल PA/PB है, जो वस्तु की OP मात्रा पर इसकी सीमान्त उपयोगिता का माप है। आधुनिक अर्थशास्त्र में इस तरह के अध्ययन का बड़ा महत्व होता है। पाठक कुल उपयोगिता के अन्य बिन्दुओं पर सीमान्त उपयोगिता निकाल सकते हैं। जिस बिन्दु पर TU वक्र अधिकतम होता है उस पर स्पर्श रेखा (tangent) X अक्ष के समानान्तर (parallel) हो जायेगी जिसका अर्थ होगा कि उस बिन्दु पर स्पर्श रेखा का ढाल शून्य है अर्थात् सीमान्त उपयोगिता भी शून्य है। चित्र में यह R बिन्दु पर दर्शाया गया है।

हमने उपर्युक्त विवेचन में एक विशेष बात यह देखी कि एक वक्र के किसी भी बिन्दु पर स्पर्श रेखा का ढाल बहुत अर्थ रखता है। अत हम ढाल की अवधारणा (concept of slope) के प्रयोग को नीचे तटस्थता वक्रों समोत्पत्ति वक्रों तथा उत्पादन सम्भावना वक्रों के सन्दर्भ में भी प्रस्तुत करते हैं ताकि आगे चलकर इनका विवेचन समझने में आसानी रहे।*

1 तटस्थता वक्र का ढाल व उपभोक्ता का सन्तुलन बिन्दु-चित्र 7 में उपभोक्ता के तीन तटस्थता वक्र दिखलाये गये हैं। प्रत्येक तटस्थता वक्र पर विभिन्न बिन्दु समान सन्तोष की स्थिति को दर्शाते हैं। MN कीमत रेखा या बजट रेखा है। यदि उपभोक्ता अपनी समस्त आय x वस्तु पर व्यय करता है तो उसे x की ON इकाई मिलती और समस्त आय को y पर



चित्र 7 · तटस्थता वक्रों की सहायता से उपभोक्ता सन्तुलन

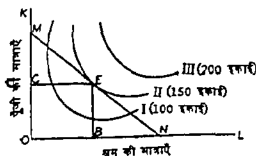
---

* इन्हें प्रारम्भिक अध्ययन में छोड़ा जा सकता है।

व्यय करने से उसकी OM मात्रा मिलती। अत $ON = \frac{\text{आमदनी}}{\text{x की कीमत}} = \frac{Y}{P_x}$ है तथा $OM = \frac{\text{आमदनी}}{\text{y की कीमत}} = \frac{Y}{P_y}$ है। अत E बिन्दु पर तटस्थता वक्र II का ढाल $\frac{OM}{ON}$ होता है, अर्थात् $\frac{Y}{P_y} \div \frac{Y}{P_x} = \frac{P_x}{P_y}$ होता है जो इस बिन्दु पर कीमत रेखा का भी ढाल होता है। E बिन्दु पर प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (marginal rate of substitution) $(MRS_{xy}) = \frac{P_x}{P_y}$ होती है। यह ऋणात्मक भी होती है।

इसका विस्तृत विवरण व्यष्टि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आता है।

2. समोत्पत्ति-वक्र व उत्पादक का सन्तुलन-बिन्दु–चित्र 8 में तीन समोत्पत्ति वक्र (isoquants or iso-product curves) दर्शाये गये हैं, जो उत्पादन की विभिन्न मात्राओं के लिए श्रम व पूँजी के विभिन्न सयोगों को दर्शाते हैं। एक समोत्पत्ति वक्र जैसे I पर 100 इकाई उत्पत्ति के लिए श्रम व पूँजी के विभिन्न सयोग दर्शाये जाते हैं। इसी प्रकार वक्र II पर 150 इकाई माल तथा वक्र III पर 200 इकाई के लिए श्रम व पूँजी के विभिन्न सयोग दर्शाये जाते हैं।



चित्र 8 : उत्पादक का सन्तुलन (समोत्पत्ति-वक्रों की सहायता से)

यहाँ MN समलागत रेखा (isocost line) है जो एक तरफ कुल व्यय में मजदूरी का भाग देने तथा दूसरी तरफ कुल व्यय में पूँजी की कीमत का भाग देने से प्राप्त होती है।

अत $ON = \frac{\text{कुल व्यय}}{\text{मजदूरी की दर}}$ तथा $OM = \frac{\text{कुल व्यय}}{\text{पूँजी की कीमत}}$ होती है

इसलिए $ON = \frac{Y}{P_L}$ है तथा $OM = \frac{Y}{P_K}$ है।

इसलिए यहाँ भी E सन्तुलन बिन्दु पर समोत्पत्ति वक्र का ढाल $\frac{OM}{ON}$ होता है,

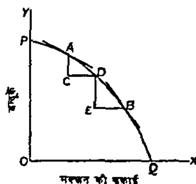
अथवा $\frac{Y}{P_K} \div \frac{Y}{P_L} = \frac{P_L}{P_K}$ होता है

जो पूँजी के लिए श्रम के तकनीकी प्रतिस्थापन की दर (rate of technical

substitution of labour for capital) के बराबर होती है। इस पर विस्तार से व्यष्टि अर्थशास्त्र के पाठ्यक्रम में अध्ययन किया जाता है। चूँकि यह ढाल ऋणात्मक होता है, अत यहाँ सन्तुलन की शर्त समलागत रेखा के ढाल के बराबर होती है, अर्थात् $\frac{P_L}{P_K}$ होती है, जिस पर ठीक से *ध्यान केन्द्रित किया जाना चाहिए।*

अत सन्तुलन में $MRTS_{LK} = \frac{P_L}{P_K}$ होती है, जो ऋणात्मक भी होती है।

3. उत्पादन सम्भावना वक्र का ढाल व उसका अर्थ (Slope of *Production-Possibility-Curve and its meaning*) — *उत्पादन सम्भावना वक्र* दो वस्तुओं के उन विभिन्न सयोगों को दर्शाता है जो साधनों का पूर्ण उपयोग तथा पूरी *कार्यकुशलता से उपयोग करने पर प्राप्त किये जा सकते हैं। यदि चित्र 9 के अनुसार* एक देश अपने समस्त साधन मक्खन के उत्पादन में लगा देता है तो वह OQ इकाई मक्खन उत्पादित कर सकता है।



चित्र 9 : उत्पादन-सम्भावना-वक्र का ढाल

इसी प्रकार यदि वह अपने समस्त साधन बन्दूकों के उत्पादन में लगाता है तो OP बन्दूकें बना सकता है। PQ उत्पादन सम्भावना वक्र है, जो मक्खन व बन्दूकों के विभिन्न सयोगों को दर्शाता है जो साधनों का सर्वोत्तम उपयोग करने से प्राप्त किये जा सकते हैं।

स्मरण रहे कि इस वक्र का आकार प्राय नतोदर (concave) होता है, जबकि तटस्थता-वक्र का आकार उन्नतोदर (convex) (मूल-बिन्दु के) होता है। चित्र पर A व B दो बिन्दुओं पर वक्र के ढाल पर विचार कीजिए। स्पष्ट है कि P से Q की तरफ जाने पर वक्र का ढाल बढता जाता है, जैसे B पर स्पर्श रेखा का ढाल A पर स्पर्श रेखा के ढाल से अधिक है, जो चित्र को देखने से ही स्पष्ट हो जाता है।

उत्पादन सम्भावना वक्र के पीछे वर्द्धमान लागत का नियम (law of increasing cost) लागू होता है, जिसे चित्र पर आसानी से स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे CD मक्खन की अधिक मात्रा लेने के लिए AC इकाई बन्दूकों का त्याग करना होता है। पुन मक्खन की BE मात्रा अधिक लेने के लिए (जो बराबर है CD के) बन्दूकों की DE मात्रा का त्याग करना होगा। लेकिन DE की मात्रा AC से अधिक होती है। अत मक्खन की समान

अतिरिक्त इकाई लेने के लिए उत्तरोतर अधिक बन्दूकों का त्याग करना होगा। इस प्रकार मक्खन की लागत बन्दूकों में निरन्तर बढती जाती है। ऐसा कृषि में उत्पत्ति ह्रास नियम के लागू होने के कारण होता है।

पाठकों को पुन A व B बिन्दुओं पर स्पर्श रेखाओं के ढाल पर ही अपना सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। विवेचन में फेर बदल करके यह भी देख सकते हैं कि बन्दूकों की समान मात्रा बढाने के लिए मक्खन की उत्तरोत्तर अधिक इकाइयों का त्याग करना होगा।

इस प्रकार इस अध्याय में हमने उत्पत्ति लागत आगम व उपयोगिता आदि के सम्बन्ध में कुल, औसत व सीमान्त अवधारणाओं का प्रारम्भिक विवेचन प्रस्तुत किया है। स्मरण रहे कि इसका उद्देश्य विभिन्न प्रकार के वक्रों का सम्पूर्ण विवरण देना नहीं है बल्कि मूल बातों पर ही ध्यान केन्द्रित करना है। इससे आगे चलकर व्यष्टि अर्थशास्त्र व समष्टि अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को समझने में आसानी होगी।

प्रश्न

1 कुल, औसत व सीमान्त की अवधारणाएँ क्या हैं? कुल उत्पत्ति वक्र के दिये हुए होने पर सीमान्त उत्पत्ति व औसत उत्पत्ति का माप कीजिए। कुल उत्पत्ति वक्र पर वह बिन्दु बताइये, जब

(अ) सीमान्त उत्पादन अधिकतम हो, तथा

(आ) सीमान्त उत्पादन शून्य हो। (Raj Iyr 1993)

2 निम्नलिखित में चित्र देकर सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए—

(अ) AC व MC का सम्बन्ध

(आ) AVC, AC व MC का सम्बन्ध

(इ) AFC व AVC का चित्र द्वारा निरूपण।

3 एक चित्र पर कुल उपयोगिता वक्र खींचिए और उसके किसी भी बिन्दु पर सीमान्त उपयोगिता का माप दर्शाइए।

4 कुल लागत वक्र खींचिए तथा उसके किन्हीं दो बिन्दुओं पर सीमान्त लागत ज्ञात करके समझाइये।

5 कुल आगम वक्र बनाइये जो शुरू में बढता है, फिर एक सर्वोच्च बिन्दु पर पहुँचकर घटने लगता है। इसके दायें व बायें किन्हीं दो बिन्दुओं पर सीमान्त आगम (MR) ज्ञात करें। कुल आगम वक्र के सर्वोच्च बिन्दु पर सीमान्त आगम शून्य क्यों हो जाता है?

6 निम्न सूचना के आधार पर TC, AFC, AVC, AC व MC, कॉलम तैयार करिए

Q	TFC	TVC
1	60	30
2	60	40
3	60	45
4	60	55
5	60	75
6	60	120

उत्तर— TC = 90, 100, 105, 115, 135 व 180

AFC = 60, 30, 20, 15, 12 व 10

AVC = 30, 20, 15, 13 75, 15 व 20

AC = 90, 50, 35, 28 75, 27 व 30

MC = — 10, 5, 10, 20 व 45

नोट—स्मरण रहे कि MC को चित्र पर दिखाने के लिए OQ पर 1.5, 2.5, 3 5, 4.5, 5.5 के ऊपर लागत अक्ष पर क्रमश 10, 5, 10, 20 व 45 अंकित करके उनको मिलाकर वक्र खीचना होगा।

7 निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(i) औसत लागतें एव सीमान्त लागतें। (Raj I yr 1995)

8 कुल, औसत व सीमान्त राशियों के सम्बन्धों को लागत अथवा उत्पत्ति के सदर्भ में चित्र देकर समझाइए।

9 कुल लागत फलन दिया हुआ हो—

$TC = Q^3 - 6Q^2 + 60Q$

ज्ञात कीजिये—

(i) औसत लागत फलन और सीमान्त लागत फलन

(ii) वह उत्पादन स्तर जहाँ पर औसत लागत तथा सीमान्त लागत समान हों। (Raj Iyr, 1997)

[(i) $AC = Q^2 - 6Q + 60$

$MC = 3Q^2 - 12Q + 60$

(ii) Q = 3 पर AC = MC होगी।]



30

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा

प्रत्येक भारतीय के लिए यह अत्यंत गर्व और गौरव का विषय है कि आज से लगभग अढाई हजार वर्ष पूर्व भारत मे धर्म दर्शन, काव्य, राजनीति, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र आयुर्वेद, दण्डनीति, ज्योतिषशास्त्र, स्थापत्य कला, नाटक शास्त्र, काम शास्त्र आदि का ज्ञान काफी विकसित अवस्था में था, और इन पर कई सुप्रसिद्ध ग्रन्थ रचे जा चुके थे। प्राचीन भारत का हिन्दू-समाज कला व विज्ञान दानों मे काफी समृद्ध माना गया है, और पाश्चात्य विद्वानों व विचारकों ने तत्कालीन भारतीय संस्कृति की महानता को स्वीकार किया है। हमारे वेद, पुराण, उपनिषद्, ब्राह्मण, महाकाव्य नीतिशास्त्र, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भगवद्गीता आदि गूढ व व्यावहारिक ज्ञान से ओत-प्रोत माने गये हैं, और उनके अध्ययन से हमें वर्तमान काल की राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक समस्याओं को हल करने में भी आवश्यक दिशा-निर्देश मिलते हैं। इस प्रकार हमारे महर्षियों व मनीषियों ने जो विचार दिये हैं उनकी महत्ता न केवल प्राचीनकाल मे रही है, बल्कि उनको वर्तमान में अपनाकर तथा भविष्य मे कार्यान्वित करके भी हम लाभ उठा सकते हैं। इसके लिए हमें विभिन्न क्षेत्रों मे प्राप्त ज्ञान-विज्ञान की विरासत को भलीभाँति समझना होगा, और वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उसका सही ढंग से उपयोग करना होगा।

भारत में अर्थशास्त्र की प्राचीन परम्परा व प्रमुख आर्थिक विचारक[1]

भारत मे अर्थशास्त्र की परम्परा बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद मे अर्थशास्त्र के विचार मिलते हैं। शौनक ने अपनी रचना-चरणव्यूह में अर्थशास्त्र को अथर्ववेद का उपवेद माना है। स्मृतियो व पुराणों मे राजनीति को दण्डनीति कहा गया है और दण्डनीति तथा अर्थव्यवस्था

1 जयकुमार जैन कौटिलीय अर्थशास्त्र, द्वितीय सस्करण 1986 पृ 1 11, तथा K T Shah Ancient Foundations of Economics in India, First Edition 1954 pp 16 21

का विषय एक समान माना गया है। बौद्ध जातकों के ग्रन्थों का रचनाकाल लगभग 500 ई पू माना गया है। उनमें भी अर्थशास्त्र को एक प्रमुख विज्ञान स्वीकार किया गया है। कौटिल्य (चाणक्य या विष्णुगुप्त) के अर्थशास्त्र की रचना का समय लगभग 300 ई पू माना गया है। कौटिल्य चन्द्रगुप्त मौर्य का महामंत्री था। चन्द्रगुप्त मौर्य का समय 325 273 ई पू माना गया है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक बहुचर्चित व लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है। लेकिन इससे पूर्व भी अर्थशास्त्र विषय के कुछ प्रमुख आचार्य हुए हैं जिनकी रचनाओं व विचारों का प्रभाव कौटिल्य के अर्थशास्त्र में देखा जा सकता है। कौटिल्य से पूर्व लगभग 18 19 आर्थिक विचारक माने गये हैं जिन्हें निम्न चार वर्गों में विभाजित किया गया है।[1]

प्रथम वर्ग
1 मनु
2 बृहस्पति
3 उशनस् (शुक्र)

द्वितीय वर्ग
4 भारद्वाज (द्रोण)
5 विशालाक्ष
6 पराशर
7 पिशुन (नारद)
8 कौण पदन्त (भीष्म)
9 वातव्याधि (उद्धव)
10 बाहुदन्ती पुत्र

तृतीय वर्ग
11 कात्यायन
12 कणिक भारद्वाज
13 चारायण
14 घोटमुख
15 किंजल्क
16 पिशुन पुत्र
17 आम्भ या आम्भीयम

चतुर्थ वर्ग
18 अज्ञात नाम आर्थिक विचारक
19 कौटिल्य

इस प्रकार मनु से कौटिल्य तक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में प्रमुख विचारकों की कुल संख्या 19 हो जाती है। लेकिन भारद्वाज (द्रोण) को ही कणिक भारद्वाज स्वीकार करने पर इनकी संख्या 18 रह जाती है। नीचे कौटिल्य से पूर्व के कुछ प्रमुख आर्थिक विचारकों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

(1) मनु (मानव) कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मनु के अनुयायियों का कई स्थानों पर वर्णन आया है। मन्त्रियों की संख्या, कर्मचारियों के अपराध करने पर दण्ड, बलात्कार, डाका आदि के लिए दण्ड के सम्बन्ध में मनु के अनुयायियों का वर्णन किया गया है। मनु के दो ग्रन्थ मनुस्मृति व मानव सूत्र उपलब्ध हैं। मनुस्मृति धर्मशास्त्र में सर्वाधिक सम्मान प्राप्त ग्रन्थ माना गया है।

(2) बृहस्पति-बृहस्पति एक महान ऋषि, राजनीति के प्रकाण्ड विद्वान व देवताओं के गुरु माने गये हैं। उन्हें अर्थशास्त्र का प्रणेता भी माना गया है। कौटिल्य ने बृहस्पति के अनुयायियों का उल्लेख कर्मचारियों के अपराधों के दण्ड के सम्बन्ध में गवाहों की विरोधी गवाहियों पर दण्ड के विषय में व अन्य कई स्थानों पर किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में बृहस्पति के विचारों को आधार बनाया गया है। कौटिल्य का **अर्थशास्त्र शुक्र व बृहस्पति को नमस्कार करते हुए प्रारम्भ होता है (ॐ नमः शुक्र बृहस्पतिभ्याम्)। कौटिल्य के विचारों के अनुसार परम्परा हमें बतलाती है कि शुक्र व**

---

1 मधुसूदन त्रिपाठी कौटिल्य का आर्थिक चिन्तन 1994 पृ 5 से उद्धृत।

बृहस्पति शासन की कला व विज्ञान के दो विख्यात गुरु माने गये हैं और शासन में अर्थशास्त्र तो शामिल है ही।[1]

(3) उशनस् (शुक्र) कौटिल्य ने आन्वीक्षिकी (दर्शन), त्रयी (ऋग्वेद, सामवेद व यजुर्वेद), वार्ता (अर्थशास्त्र का विज्ञान) एवं दण्डनीति विद्याओं के विवेचन में उशनस् नामक आचार्य के अनुयायियों के विचारों की चर्चा की है। उशनस् के अर्थशास्त्र का उल्लेख महाभारत के शान्तिपर्व में भी आया है। **पुराणों में असुरों के गुरु शुक्राचार्य को ही अशनस् (उशना) कहा गया है।** कुछ विद्वानों का मत है कि शुक्राचार्य ने बृहस्पति के तीन हजार अध्याय वाले विशाल अर्थशास्त्र को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया था जो आज शुक्रनीतिसार नामक ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध है। शुक्रनीति में पाँच अध्याय हैं जिनमें राजपुत्रों के कर्त्तव्यों, प्रमुख राजपुत्र (crown prince) व अन्य राजकीय अफसरों के कार्यों, नैतिकता के सामान्य नियमों, सामाजिक प्रथाओं व संस्थाओं तथा अन्य विविध विषयों का उल्लेख किया गया है। उशनस् भृगु नामक आचार्य के पुत्र थे। कहीं कहीं इन्हें कवि का पुत्र और भृगु का पौत्र भी कहा गया है। जैसा कि पहले बतलाया गया है कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में शुक्राचार्य एवं बृहस्पति को नमस्कार किया है।

(4) भारद्वाज (द्रोण)-कौटिल्य ने साधारण मंत्री (अमात्य) (ordinary minister) की नियुक्ति के प्रसंग में भारद्वाज (द्रोण) के मत की चर्चा की है। राजा को अपने विश्वासपात्र व्यक्तियों को ही अमात्य बनाना चाहिए क्योंकि वह उनके हृदय की पवित्रता व कार्यकुशलता से भली भाँति परिचित होता है। उनके मतों का अनेक कार्यों में उपयोग किया जाता है। महाभारत में भी भारद्वाज के अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचन आया है। वे एक महान् आर्थिक विचारक थे। लेकिन उनके ग्रन्थ के विषय में अन्य प्रमाण नहीं मिलते हैं। पहले बतलाया गया है कि कुछ विद्वान भारद्वाज (द्रोण) को ही कणिक भारद्वाज मानते हैं।

(5) पराशर-आचार्य पराशर का उल्लेख भी कौटिल्य ने सर्वप्रथम साधारण मंत्रियों (अमात्यों) की नियुक्ति के सम्बन्ध में किया है। इसके बाद अन्य प्रसंगों जैसे कर्मचारियों के अपराध करने पर दण्ड की व्यवस्था, राजपुत्रों से राजा की रक्षा आदि के सम्बन्ध में भी पराशर के अनुयायियों का उल्लेख आया है। पराशर का उल्लेख काव्यपुरुष के अठारह शिष्यों के अंतर्गत भी आया है। पुराणों में अनेक स्थलों पर इनका उल्लेख आया है। इनकी **पराशरस्मृति** प्रसिद्ध मानी गयी है। ये वसिष्ठ के पौत्र थे।

(6) विशालाक्ष-साधारण मंत्रियों (अमात्यों) की नियुक्ति के प्रसंग में आचार्य विशालाक्ष का भी नाम आया है। इनका कहना था कि राजा को गुप्त कार्यों में साथ देने वाले व्यक्तियों को ही मन्त्री बनाना चाहिए। कहा जाता है कि इन्होंने पाँच हजार श्लोकों में अर्थशास्त्र की रचना की थी। महाभारत के शान्ति पर्व में इस बात का उल्लेख मिला है।

(7) पिशुन (नारद) पिशुन के सिद्धान्तों का कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कई बार उल्लेख आया है। राजा की राजपुत्रों से रक्षा, दुर्ग और कोष की विपत्ति तथा काम से उत्पन्न

---

1 The Artha Shastra of Kautilya, Chanakya or Vishnugupta by whatever name you call him —begins "**Bow to Shukra and Brihaspati** who tradition tells us were two renowned teachers of the Art and Science of Government which naturally included economics —K T Shah Ancient foundations of Economics In India 1954 p 18

दोषा के विवेचन के समय आचार्य पिशुन के सिद्धान्ता का विवेचन किया गया है । इन्हीं का दूसरा नाम नारद था। रामायण व महाभारत मे अनेक स्थलो पर इनका उल्लेख किया गया है ।

(8) कौणपदन्त (भीष्म) इनका मत भी साधारण मत्रियो (अमात्यो) की नियुक्ति के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया गया है । इनका कहना था कि वशपरम्परागत साधारण मत्रियो के पुत्रो को ही अमात्य नियुक्त करना ठीक रहेगा । राजपुत्रो से राजा की रक्षा करने कोश व सेना पर आई आपत्ति जुआव्यसन आदि के विवेचन मे इनके विचारो का उपयोग किया गया है । *महाभारतकालीन अर्थशास्त्रो में कौणपदन्त का अर्थशास्त्र प्रमुख रहा था ।* त्रिकाण्ड कोश में इन्हीं का दूसरा नाम भीष्म बतलाया गया है ।

(9) वातव्याधि (उद्धव) अमात्यो की नियुक्ति के प्रसग में आचार्य वातव्याधि के मत का उल्लेख किया गया है । इसके अलावा राजा को राजपुत्रो से रक्षा सेना व मित्र पर पडी एक साथ विपत्ति तथा मद्यपान के व्यसन आदि के विवेचन में वातव्याधि का उल्लेख आया है । *मत्स्यपुराण में इनके अनेक सूत्रो का उल्लेख हुआ है । इनका दूसरा नाम उद्धव* था । इनके विषय में अन्य जानकारी नहीं मिलती है ।

(10) बाहुदन्तीपुत्र कौटिल्य ने अमात्यो (साधारण मत्रियो) की नियुक्ति में इनके मत का भी उल्लेख किया है । इन्द्र बाहुदन्ती का पुत्र था । कहा जाता है कि इन्द्र ने आचार्य विशालाक्ष द्वारा रचित पाँच हजार श्लोको के अर्थशास्त्र का सक्षेपीकरण किया था । *महाभारत के शान्तिपर्व में इसका उल्लेख आया है । बाहुदन्तीपुत्र के नाम से यहाँ इन्द्र के मत* की ही चर्चा की गई है ।

(11) आम्भ इनके बारे में विशेष जानकारी नहीं मिलती । लेकिन कौटिल्य ने गुप्तचरों के विवेचन में आम्भ नामक आचार्य के मतो का उल्लेख किया है ।

कौटिल्य से पूर्व आर्थिक विचारको की एक लम्बी परम्परा को देखने से पता चलता है कि भारत में वैदिक काल में अर्थशास्त्र व अर्थशास्त्रियो की भूमिका काफी सुदृढ थी । मनु बृहस्पति उशनस् (शुक्र) भारद्वाज (द्रोण) पराशर विशालाक्ष पिशुन कौणपदन्त वातव्याधि बाहुदन्ती पुत्र व आम्भ का उल्लेख कौटिल्य ने अपने *अर्थशास्त्र* में विभिन्न स्थलो पर किया है । इनके अलावा महाभारत में आर्थिक विचारक अगिरा का भी उल्लेख आता है । प्राचीन ग्रन्थो में दीर्घनारायण नामक अर्थशास्त्री का भी नाम आता है ।

कौटिल्य के बाद भी अर्थशास्त्र की परम्परा निरतर जारी रही । 400 ईस्वी के आसपास कामन्दक (Kamandaka) का नीतिसार नामक ग्रन्थ काफी महत्त्वपूर्ण *माना गया है । कामन्दक राजा कनिष्क के समय मे हुआ था । उसने कौटिल्य के* अर्थशास्त्र की भूरि भूरि प्रशसा की थी ।

बाद में कादम्बरी के रचयिता तथा श्रीहर्षवर्धन की जीवनी के लेखक बाणभट्ट ने ईसा के बाद सातवीं शताब्दी के मध्य में कौटिल्य के आर्थिक विचारो की कटु आलोचना व भर्त्सना की । उसके मतानुसार कौटिल्य की विचारधारा काफी अनुदार व निर्दयी किस्म की थी । उस समय के गुरु पुजारी पुरोहित होते थे जो कठोर हृदय के थे व जादू टोना में विश्वास करते थे । सलाहकार मत्री अन्य को धोखा देने वाले होते थे । ये धन की देवी के उपासक होते थे हजारो राजा धन का पहले आनद लेते और फिर उसका परित्याग कर देते थे । ये विनाशकारी विज्ञानो के उपासक थे जो अपने प्रिय भ्राताओ की हत्या को भी उचित ठहराया करते थे ।

लेकिन 'दस कुमार चरित' (The Tale of Ten princes) के प्रसिद्ध लेखक दण्डी ने चाणक्य या कौटिल्य की बहुमुखी प्रतिभा का काफी गुणगान किया है। कालीदास के "मुद्राराक्षस" नामक प्रसिद्ध नाटक में इसी परम्परा के दर्शन होते हैं। इस प्रकार यह कहना उचित होगा कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक ऐसे व्यक्ति की कृति है जो सत व विद्वान था तथा एक मंत्री के पद का काफी अनुभव प्राप्त कर चुका था। शुक्र, कामन्दक व विदुर की रचनाएँ ज्यादा स्पष्ट है, लेकिन रचनाएँ इतनी विस्तृत, गहन व अधिकृत किस्म की नहीं बन पायी है, जितना कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र बन पाया है।

बाद के वर्षों में दसवीं शताब्दी में रचित सामदेवसूरिकृत नीतियाक्यामृत अर्थशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना गया है। यह कौटिल्य के अर्थशास्त्र के बाद का सर्वाधिक वैज्ञानिक राजनीतिक ग्रन्थ माना गया है। बारहवीं शताब्दी की जैनाचार्य हेमचन्द्र की अर्थशास्त्र व धर्मशास्त्र पर लिखी गई रचना भी काफी महत्त्वपूर्ण मानी गयी है। बाद के वर्षों में नीति पर लिखे गये अन्य कई ग्रन्थ भी प्रामाणिक माने गये हैं। चौदहवीं से अठारहवीं शताब्दी के अंतराल में चन्द्रशेखर कृत राजनीति रत्नाकर, मित्र मिश्रकृत परिमित्रोदय तथा नीलकण्ठकृत राजनीतिमयूख काफी महत्त्वपूर्ण माने गये हैं। इसके पश्चात् अर्थशास्त्र का अध्ययन अनेक शाखाओं व उपशाखाओं के रूप में किया जाने लगा।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा पर उपलब्ध प्रमुख संदर्भ ग्रन्थ

प्राचीन भारत में अर्थशास्त्र शब्द का प्रयोग काफी व्यापक अर्थ में किया जाता था। इसमे मूलत. राजनीति शास्त्र का तथा साथ मे धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कानून, नीतिशास्त्र, आदि का भी अध्ययन किया जाता था। इसलिए उस समय कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं रचा गया जो सम्पूर्ण रूप से आर्थिक विषयो की चर्चा तक ही सीमित रहे। प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा को जानने व समझने के लिए हमें उस समय के उपलब्ध विभिन्न प्रकार के ग्रन्थो व साहित्य का उपयोग करना होगा। इसके लिए स्वदेशी व विदेशी दोनो प्रकार के स्रोतों को काम में लिया जा सकता है। इनका सक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

(अ) मौलिक स्रोत (Original sources)—वेद, उपनिषद् व ब्राह्मण
प्राचीन भारतीय विचारधारा का अध्ययन करने के लिए स्वदेशी सामग्री कम नहीं है, हालांकि इसका बड़ा अंश आज या तो अनुपलब्ध है अथवा कालान्तर में खो गया है। फिर भी हम वेद, उपनिषद् व ब्राह्मण तथा श्रीमद्‌भगवद्‌गीता एवं श्री मद्‌भागवत (पुराण) जैसे ग्रन्थों के अध्ययन से प्रारम्भ कर सकते हैं। वेद चार होते हैं-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद। इनमें से प्रथम तीन को 'त्रयी' कहा गया है। और अथर्ववेद तो इन तीनों का एक परिशिष्ट मात्र है। प्रो संतोष कुमार दास ने अपनी पुस्तक-Economic History of Ancient India में ऋग्वेद या अथर्ववेद में पाये जाने वाले सन्दर्भों की एक विस्तृत सूची दी है जिसमें आर्थिक तत्त्वों, पद्धतियों व संस्थाओं का उल्लेख किया गया है। वैदिक मन्त्रों में तत्कालीन विचारों व सस्थाओं का वर्णन पाया जाता है। बाद के वर्षों में इनका उत्तरोत्तर विकास होता गया और ये अधिक स्पष्ट होते गये। वेदों के जिस अंश का पाठ किया जाता है उसे 'मन्त्र' कहते हैं और जो अंश किया जाता है (the portion that is done) उसे ब्राह्मण कहते हैं उपनिषदो में मन्त्र होते हैं। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में श्लोक हैं जो साक्षात भगवान के श्री मुख से निकली दिव्य वाणी है।

(आ) महाकाव्य (Epics)—रामायण व महाभारत में दैनिक उपयोग के कई नियम पाये जाते हैं और इनमें उदाहरणों लघु कथाओं आदि के माध्यम से अनेक प्रकार की बातों का सरल रूप में समझाया गया है। इससे उस समय के आर्थिक विचारों को समझने में मदद मिलती है।

(इ) धर्मशास्त्र व नीतिशास्त्र मनु, नारद, याज्ञवल्क्य शुक्र, विदुर व **कामन्दक आदि ने अपने-अपने ढंग से अर्थशास्त्र के सूत्रों की व्याख्या की है।** 'शुक्र नीति सार' में कई स्थानों पर आर्थिक विषयों का उल्लेख किया गया है। जैसा कि पहले बतलाया गया है इसमें कुल 5 खण्ड हैं। इसमें कुल 2567 दोहे (couplets) हैं जिनमें राजा के कर्तव्यों मन्त्रियों की योग्यताओं शासक व शासित के हितों आर्थिक प्रशासन के सामान्य नियमों तथा अन्य विविध प्रकार के सामान्य कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है।

(ई) कौटिल्य का अर्थशास्त्र अर्थशास्त्र पर कौटिल्य या चाणक्य या विष्णुगुप्त की रचना सर्वाधिक लोकप्रिय मानी गयी है। यह ईसा पूर्व चौथी शताब्दी की रचना मानी गया है। यह पन्द्रह अधिकरणों (15 Books) में विभक्त हैं जिनमें क्रमश विनयाधिकारिक (शासक के कर्तव्य निभाने हेतु आवश्यक उपकरणों जैसे शिक्षा आदि) अध्यक्ष न्याय कण्टकशोधन योग वृत्त प्रकृतियों छ गुणों व्यसनों आक्रमण संग्राम संवृत्त आवलायस (दुर्बल राजा के बचाव) दुर्गप्राप्ति औपनिषदिक (शत्रु के सर्वनाश के लिए गुप्त चर्चा) तथा तन्त्रयुक्ति का विवेचन किया गया है। स्पष्ट है कि इनमें राजनीति व **अर्थशास्त्र का व्यापक सम्मिश्रण पाया जाता है।**

(उ) जैसा कि पहले कहा जा चुका है कौटिल्य के बाद **कामन्दकीय नीति सार'** नामक ग्रन्थ में आर्थिक विचार पाये जाते हैं। बाणभट्ट ने अपनी रचना कादम्बरी व श्री **हर्षवर्धन के जीवन-चरित** में ईसा के बाद सातवीं शताब्दी के मध्य में आर्थिक विषयों पर कुछ विचार प्रस्तुत किये। दण्डी ने दस कुमार चरित' (The Tale of Ten Princes) में चाणक्य के ज्ञान की सराहना की है। कालीदास रचित सुप्रसिद्ध नाटक मुद्राराक्षस में भी अर्थशास्त्रीय विवेचन पाया जाता है। गौतम व शालाहोत्र की रचना Agriculture s Economics तथा विदेहराजा की रचना Commerce भी उल्लेखनीय हैं।

(ऊ) आधुनिक स्रोत-1909 में श्री शाम शास्त्री ने अंग्रेजी में कौटिल्य के अर्थशास्त्र को प्रकाशित किया था। यूरोप के विद्वानों में डा जॉली डा स्मिट व डा विन्टरनिज (Dr Jolly Dr Schmidt & Dr Winternitz) ने भी कौटिल्य के अर्थशास्त्र की चर्चा की है।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा को जानने के लिए निम्न आधुनिक ग्रन्थों का उपयोग भी लाभकारी हो सकता है-

(i) K.P Jayaswal The ancient Hindu Polity

(ii) N C Bandyopadhyaya, Kautilya 1927

(iii) Narendra Nath Studies in Indian History and Culture.

(iv) O Stein—Meghathenes and Kautilya, 1921

(v) K V Rangaswami Aiyangar Aspects of Ancient Indian Economic Thought 1934

(vi) K.T Shah Ancient Foundations of Economics in India (three lectures at Baroda in Feb 1951) 1954

(vii) Dr B L Gupta Value and Distribution System in Ancient India, 1992

(viii) डा मधुसूदन त्रिपाठी कौटिल्य का आर्थिक चिंतन, 1994

अब हम प्राचीन भारतीय विचारकों के द्वारा प्रस्तुत की गई विभिन्न आर्थिक अवधारणाओं पर प्रकाश डालेंगे ताकि हमें उनकी मूलभूत मान्यताओं आर्थिक ढाँचे मानवीय आवश्यकताओं उपभोग के स्वरूप धन आदि के सम्बन्ध में उनकी सोच की पर्याप्त जानकारी हो सके।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा के अनुसार अर्थशास्त्र की परिभाषा व क्षेत्र

जैसा कि पहले बतलाया गया है प्राचीनकाल में अर्थशास्त्र का व्यापक अर्थ लगाया जाता था। इसके दायरे में प्रमुखतया राजनीति शास्त्र तथा प्रासंगिक रूप में धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र व कानून आदि आते थे।

कौटिल्य के अनुसार अर्थशास्त्र में मनुष्यों की आजीविका तथा जिस भूमि पर मनुष्य निवास करते हैं उसकी प्राप्ति व उसकी रक्षा के उपायों का वर्णन रहता है। यह परिभाषा कौटिलीय अर्थशास्त्र के अधिकरण 15 के अध्याय 1 में दी गई है। इसमें कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के अन्तर्गत लोगों के जीविकोपार्जन तथा भूमि की प्राप्ति व उसकी रक्षा के उपायों को शामिल किया है।

एक दूसरे स्थान पर कौटिल्य ने चार प्रकार की विद्याओं का उल्लेख किया है-आन्वीक्षिकी (दर्शन), त्रयी (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद) वार्ता (कृषि, पशु-पालन व व्यापार) तथा दण्डनीति (राजनीति या सरकार का विज्ञान)। अतः कौटिल्य के अनुसार अर्थशास्त्र का दूसरा नाम वार्ता है जिसके अन्तगत कृषि, पशु-पालन व व्यापार से सम्बन्धित विद्या आती है। कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ के प्रथम अधिकरण (first book) को निम्न श्लोक से प्रारम्भ किया है

"आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्या"

अतः इसके अनुसार चार प्रकार की प्रमुख विद्याओं में वार्ता अर्थात् अर्थशास्त्र का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्हीं चारों विद्याओं के अध्ययन से धर्म (कर्त्तव्य) व अर्थ (धन) के बारे में ज्ञान प्राप्त हो सकता है। मनु ने भी इन्हीं विद्याओं पर काफी जोर दिया है। महाभारत में भी वार्ता अथवा अर्थशास्त्र का महत्त्व निम्न शब्दों में व्यक्त किया गया है "इस ससार की जड वार्ता ही है। इसी से ससार कायम रहता है। जब तक राजा 'वार्ता' का समर्थन करता रहता है, तब तक सब काम ठीक से चलता रहता है।"[1]

प्राचीन विचारधारा के अनुसार अर्थशास्त्र का क्षेत्र-प्राचीन विचारधारा के अनुसार अर्थशास्त्र का क्षेत्र काफी व्यापक है। (1) सर्वप्रथम, इसमें यह माना गया है कि लोगों में परस्पर सहयोग (cooperation) की भावना होती है। मानव-समाज प्रतिस्पर्धा की बजाय सहकारिता पर आधारित होता है। मनुष्य सदैव केवल अपने ही कल्याण की बात नहीं सोचता बल्कि साथ में सामाजिक कल्याण की बात भी सोचता है।

1 K T Shah Ancient Foundations of Economics in India, 1954 p 28 footnote 2

अत अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है । यह मानव के दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखता है और इसके अस्तित्व को बनाये रखने के लिए सगठन व सहयोग आवश्यक माने गये हैं ।

(2) प्राचीन विचारधारा म सभी सामाजिक विज्ञानो मे परस्पर निर्भरता स्वीकार की गई है । इसका आशय यह है कि राजनीति नीतिशास्त्र अर्थशास्त्र आदि म परस्पर गहरा सम्बन्ध पाया जाता है । इनको एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता ।

पश्चिम के क्लासिकल अर्थशास्त्रियो ने अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान मानकर गलती की थी जिसके कारण उन्हें रस्किन व कार्लाइल की आलोचना का शिकार होना पडा । भारतीय विचारधारा के अनुसार उत्पादन केवल विनिमय (exchange) के लिए नहीं होता बल्कि वह उपयोग (use) के लिए होता है । अत भारतीय क्लासिकल अर्थशास्त्री सबसे अधिक योग्य व्यक्ति के जीने के सघर्ष में रुचि लेने की बजाय सबसे कमजोर व्यक्ति के जीने के सघर्ष में अधिक रुचि दर्शाते हैं । इस प्रकार प्राचीन विचारधारा के अनुसार अर्थशास्त्र एक घृणित विज्ञान नहीं है बल्कि एक सामाजिक विज्ञान है । इसमें व्यक्तिगत हित की बजाय सामाजिक हित तथा सबसे अधिक योग्य व्यक्ति की बजाय सबसे कमजोर व्यक्ति की आवश्यकताओ पर बल दिया गया है और अर्थशास्त्र को राजनीति धर्म दर्शन नीतिशास्त्र आदि के साथ जोडकर देखने का प्रयास किया गया है । इन सभी बातो से अर्थशास्त्र मानव कल्याण में अभिवृद्धि करने का साधन बन सकता है । इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में अर्थशास्त्र को चार प्रमुख विद्याओ में गिना जाता है और इसे आदरपूर्वक ऊँचा स्थान दिया गया था । प्राचीन समय में भारतीय विचारक राजनीति दर्शन अर्थशास्त्र व नीतिशास्त्र को एकीकृत रूप मे देखने के आदि थे । इसीलिए उस युग मे इनको एक दूसरे से अलग करने का सवाल ही नहीं था । उस समय राजनीति व अर्थनीति के परस्पर सगम के कारण राजनीतिक अर्थव्यवस्था का वातावरण ज्यादा अनुकूल था ।

प्राचीन आर्थिक विचारधारा की मूलभूत मान्यताएँ एकीकृत या समन्वित मानव की अवधारणा

(Concept of Integrated Man)[1]

चार पुरुषार्थ—प्राचीन भारतीय विचारधारा के अनुसार मानव जीवन के चार उद्देश्य या प्रयोजन माने गये हैं धर्म अर्थ काम और मोक्ष । इन्हे चार पुरुषार्थ (four Purusharthas) कहा गया है । **धर्म का अर्थ कर्त्तव्य (duty) से लिया जाता है, न कि प्रचलित शब्द मजहब (religion) से ।** कौटिल्य के समय भारतीय समाज को चार वर्णों (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र) तथा मनुष्य के जीवन को चार चरणो या आश्रमो (ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ व सन्यास) में विभाजित करके इनके अलग अलग कर्त्तव्य (duties) बतलाये गये हैं । चारो वर्णों में प्रत्येक व्यक्ति के अलग अलग कर्त्तव्य इस प्रकार निर्धारित किये गये जैसे ब्राह्मण का कर्त्तव्य पढना पढाना यज्ञ करना करवाना तथा दान देना लेना माना गया । क्षत्रिय का कर्त्तव्य अध्ययन करना यज्ञ करना दान देना सैनिक कार्य करना व जीवन की रक्षा करना बतलाया गया । वैश्य का कर्त्तव्य अध्ययन करना यज्ञ करना

---

1 B L Gupta Value And Distribution System In Ancient India 1992 pp 255 256 and pp 313 317
& K T Shah Ancient foundations of Economics in India 1954 pp 22 23

दान देना तथा कृषि पशु पालन व व्यापार करना माना गया एवं शूद्र का कर्त्तव्य द्विजाति (twice born) अर्थात् ब्राह्मण की सेवा करना कृषि पशु पालन व व्यापार करना (वार्ता), कारीगरों का कर्त्तव्य धंधा करना व श्रमिक वर्ग के कार्य करना बतलाया गया है। स्मरण रहे कि यह वर्गीकरण जन्म-जात जाति व्यवस्था के आधार पर न होकर केवल किये जाने वाले कर्त्तव्य के आधार पर माना गया था। विभिन्न वर्णों के बीच दरवाजे बंद नहीं रखे गये, बल्कि कर्त्तव्य के आधार पर एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण का काम करने को स्वतंत्र था, लेकिन कालान्तर मे जाति व्यवस्था में कठोरता आने से इसमें विकृतियाँ आने लगीं। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न वर्णों के कर्त्तव्य (धर्म) स्पष्ट किये गये थे।

इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन चिंतन के अनुसार समाज के आर्थिक ढाँचे (economic structure) का आधार धर्म (विभिन्न वर्णों के अपने-अपने कर्त्तव्य) रखा गया था।

इसी प्रकार मानव-जीवन की चार अवस्थाओं या आश्रमों के कर्त्तव्यों (duties) को परिभाषित किया गया, जैसे- ब्रह्मचारी अथवा विद्यार्थी का कर्त्तव्य वेदों का अध्ययन करना, अग्नि-पूजा करना, भिक्षा पर जीना तथा गुरुकुल में रहना (गुरु अथवा गुरु-पुत्र अथवा अपने से बड़े सहपाठी के साथ)। **गृहस्थ-जीवन** का कर्त्तव्य अपना व्यवसाय करके जीविकोपार्जन करना, अपने समान लेकिन भिन्न पूर्वज ऋषि के कुटुम्ब (गौत्र) में शादी करके गृहस्थ-जीवन बिताना तथा देवताओं, पूर्वजों, अतिथियों व नौकर-चाकरों को खिलाकर शेष भोजन को स्वयं ग्रहण करना, बतलाया गया। **वानप्रस्थ आश्रम** में व्यक्ति के कर्त्तव्यों में ब्रह्मचर्य का पालन करना (chastity) जमीन पर सोना, जटा धारण करना, हिरण की खाल पहनना, अग्नि-पूजा करना, देवताओं, पूर्वजों व अतिथियों की पूजा करना तथा वनों से प्राप्त खाद्य-पदार्थों पर अपना जीवन-निर्वाह करना जैसे कर्त्तव्य बतलाये गये हैं। एक **सन्यासी** (परिव्राजक) जो संसार का त्याग कर चुका है, उसे अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण करना चाहिए, सभी प्रकार का काम-काज छोड़ देना चाहिए, मुद्रा का त्याग करना चाहिए, समाज से दूर रहना चाहिए, कई स्थानों से भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, वन में रहना चाहिए तथा आन्तरिक व बाह्य पवित्रता पर पूरा ध्यान देना चाहिए।

इस प्रकार चार पुरुषार्थों में प्रथम पुरुषार्थ-**धर्म**-माना गया है, और जैसा कि हमने ऊपर बतलाया **चार वर्णों तथा चार आश्रमों के धर्म** स्पष्टतया अलग-अलग परिभाषित किये गये हैं। प्राचीन भारतीय परम्परा में वर्ण-व्यवस्था व आश्रम-व्यवस्था के अनुसार निर्धारित कर्त्तव्यों का पालन करना ही परम धर्म माना गया है। इसलिए 'धर्म' पर सर्वाधिक बल दिया गया है।

धर्म के बाद दूसरे पुरुषार्थ के रूप में **अर्थ** का स्थान माना गया है। इसका तात्पर्य **है भौतिक उपलब्धि या लाभ** (material gain) मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भौतिक साधनों की जरूरत होती है। **स्मरण रहे कि प्राचीन भारतीय परम्परा में अर्थ को न केवल धर्म, काम व मोक्ष के जितना महत्त्व दिया गया है, बल्कि इसे धर्म (कर्त्तव्य) के बराबर का दर्जा दिया गया है। तीसरे पुरुषार्थ-काम का आशय है इच्छाओं को संतुष्ट करना और चौथे पुरुषार्थ-मोक्ष का अर्थ है कर्म या जीवन के श्रम से अन्तिम मुक्ति प्राप्त करना।**

इस प्रकार हमारे संत-महात्माओं ने चार पुरुषार्थों-धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की स्पष्ट व्याख्या की है, और समाज के चारों वर्णों व जीवन के चारों आश्रमों के अलग-अलग

धर्मों (कर्त्तव्यों) का निरूपण किया है । प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण व अपने आश्रम के अनुसार अपने धर्म का पालन करना चाहिए । स्मरण रहे कि चारों पुरुषार्थों में व्यक्ति को किसी को भी नहीं भुलाना चाहिए । **लेकिन धर्म स्वयं अर्थ पर निर्भर करता है, इसलिए अर्थ को प्रमुख चालक (prime mover) या जड़ या सार (root or essence)** *मानना गलत नहीं होगा । इस दृष्टि से अर्थ का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है । लेकिन अर्थ की* प्राप्ति धर्म का पालन करके होनी चाहिए न कि इसका उल्लंघन करके ।

एकीकृत मानव (Integrated Man) की अवधारणा–

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि मानव–जीवन के चार आयाम **(four dimensions) है–धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष, अतः 'अर्थ' इनमें से केवल एक है, एक-मात्र नहीं । चूँकि मानव को जीवन के इन चारों उद्देश्यों की प्राप्ति करनी चाहिए, इसलिए प्राचीन भारतीय परम्परा में 'एकीकृत मानव' (integrated man) की अवधारणा पाई जाती है ।** यदि मानव जीवन का उद्देश्य केवल अर्थोपार्जन करना होता तो 'एकांगी मानव अर्थात्, (आर्थिक मानव) (economic man) की *अवधारणा* होती । इसी प्रकार केवल 'धर्म' पर जोर दिया जाता तो भी 'एकांगी मानव' की अवधारणा विकसित होती । **लेकिन चारों पुरुषार्थों को समान रूप से महत्त्व देने के कारण 'समग्रीकृत मानव' की अवधारणा अधिक सार्थक, अधिक व्यापक व अधिक उपयोगी मानी गई है ।** मनुष्य को अपने धर्म (कर्त्तव्य) का पालन करते हुए अर्थोपार्जन करके अपनी इच्छाओं की पूर्ति करते हुए अंत में सनातन सुख या 'चिरंतन सुख' अथवा 'मोक्ष' की प्राप्ति करनी चाहिए । एडम स्मिथ ने अर्थशास्त्र को केवल 'धन का विज्ञान' मानकर केवल एक पक्ष पर जोर दिया था । लेकिन प्राचीन भारतीय विचारधारा में धर्म अर्थ काम व मोक्ष चारों पक्षों पर एक साथ जोर देने के कारण 'एकीकृत मानव' की अवधारणा अधिक वैज्ञानिक व अधिक उपयोगी मानी गयी है । यदि कभी अर्थ व धर्म में विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाए और इनमें से किसी एक को चुनना पड़े तो भारतीय परम्परा धर्म को चुनने के पक्ष में रही है । हमें शास्त्रों में वर्णित नैतिक व कानूनी नियमों का पालन करते हुए अपना व्यवसाय करना चाहिए किसी को हानि पहुँचाकर अपना जीविकोपार्जन नहीं करना चाहिए तथा अपने स्वास्थ्य की बलि देकर धनोपार्जन नहीं करना चाहिए । ऐसा करने पर ही समाज शोषण व संघर्ष से मुक्त हो सकेगा । धर्म का पालन नहीं करने से अन्याय व अनैतिकता के फैलाव से समाज का पतन होगा ।

प्राचीन भारतीय विचारकों की एकीकृत विवेकशीलता (Integrated Rationality) की अवधारणा–प्राचीन भारतीय विचारकों ने जिस प्रकार 'एकीकृत मानव' (Integrated Man) की अवधारणा में चार पुरुषार्थों-धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष का प्रयोग किया उसी प्रकार उन्होंने एकीकृत विवेकशीलता के आधार पर एक समन्वित व संतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत किया । उनका मत था कि मनुष्य केवल एक जैविक प्राणी ही नहीं है, बल्कि उसके दैनिक जीवन पर आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, प्रशासनिक, *धार्मिक, जैविक, पर्यावरणीय आदि तत्त्वों का मिला-जुला या संयुक्त प्रभाव निरन्तर पड़ता* रहता है । इसलिए मनुष्य का अध्ययन केवल आर्थिक विवेकशीलता (economic rationality) के *आधार पर नहीं किया जा सकता बल्कि इसके लिए अन्य तत्त्वों पर भी ध्यान* देना होगा जो मानवीय व्यवहार को सदैव दिशा निर्देश देते हैं तथा उसको नियमित भी करते हैं ।

इसलिए हम मानवीय आचरण का अध्ययन मानव के सभी पहलुओं को ध्यान में रखकर करना होगा तभी हमारे निष्कर्ष उपयोगी व सार्थक माने जाएँगे। यदि हम मानवीय व्यवहार या आचरण का अध्ययन केवल आर्थिक विवेकशीलता (economic rationality) के आधार पर करते हैं तो हम आर्थिक मानव (economic man) की अवधारणा तक सीमित हो जाते हैं। यह दृष्टिकोण बहुत सीमित व संकुचित होता है और मानवीय दृष्टिकोण का एक पक्ष (आर्थिक पक्ष) ही प्रस्तुत करता है। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक मनुष्य की कल्पना की थी जो काफी स्वार्थी किस्म का होता है। वह सस्ते बाजार में माल खरीदता है और महँगे बाजार में अपना माल बेचता है। इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था में स्वतन्त्र व पूर्ण प्रतिस्पर्धा पाई जाती है। विश्वास किया जाता है कि इस व्यवस्था में सामाजिक कल्याण अधिकतम होता है। लेकिन विश्व का आर्थिक अनुभव यह बतलाता है कि मात्र आर्थिक विवेकशीलता के आधार पर संचालित अर्थव्यवस्था आर्थिक समस्याओं को कम करने की बजाय उनको बढ़ाती है। निजी व स्वतन्त्र उद्यम वाली अर्थव्यवस्थाओं में शोषण, संघर्ष, असमानता, अन्याय व निर्धनता की समस्याएँ पाई जाती हैं क्योंकि उनमें निर्णय का आधार मात्र आर्थिक विवेकशीलता को बना लिया जाता है। इसी प्रकार साम्यवादी या समाजवादी अर्थव्यवस्थाएँ केन्द्रीय नियन्त्रण के दोष से ग्रसित होती हैं और उनमें राज्यवाद (statism) का बोलबाला होता है और साथ में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता व राजनीतिक लोकतन्त्र का अभाव पाया जाता है। इस प्रकार निरंकुश पूँजीवाद व विशुद्ध साम्यवाद दोनों में एकीकृत व समन्वित दृष्टिकोण का अभाव पाया जाता है जिससे ये व्यवस्थाएँ सामाजिक समस्याओं का पूर्ण समाधान नहीं कर पातीं। ऐसी स्थिति में प्राचीन भारतीय विचारधारा का एकीकृत दृष्टिकोण ज्यादा सही व ज्यादा स्वीकार्य प्रतीत होता है जिसमें एक साथ आर्थिक, नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक, कानूनी आदि पहलुओं में उचित तालमेल स्थापित करके मानवीय समस्याओं को हल करने का प्रयास किया जाता है। एकीकृत विवेकशीलता के दृष्टिकोण में एक समन्वित व संतुलित किस्म की नीति अपनाई जाती है जो एक सन्तुष्ट समाज को न केवल जन्म देती है, बल्कि उसको स्थायित्व भी प्रदान करता है। इसमें मानव को प्रभावित करने वाले अनेक तत्त्वों जैसे सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, कानूनी, नैतिक आदि सभी में उचित समन्वय स्थापित किया जाता है। इसीलिए इसमें वर्तमान व भविष्य, भौतिक विकास व पर्यावरणीय सुरक्षा, उत्पादन व वितरण, भौतिकवाद व अध्यात्मवाद, व्यक्तिगत हित व सार्वजनिक हित, व्यष्टि व समष्टि, वैयक्तिक स्वतन्त्रता व राजकीय नियन्त्रण, संग्रह व त्याग, आदि विरोधी तत्त्वों में परस्पर समन्वय व संतुलन स्थापित करने का पर्याप्त अवसर मिल जाता है। प्राचीन भारतीय विचारधारा की यह सबसे बड़ी विशेषता रही है कि इसने 'आर्थिक मानव' की जगह 'एकीकृत मानव' की अवधारणा पर बल दिया और इसी प्रकार इसने 'आर्थिक विवेकशीलता' की जगह 'एकीकृत विवेकशीलता' की अवधारणा को अपनाया। इससे विरोधी तत्त्वों में परस्पर ताल-मेल, समरसता स्थापित हो सकी और न्याय के साथ विकास' की ओर अग्रसर होना सम्भव हो सका जिसकी आधुनिक युग में चर्चा तो बहुत होती है, लेकिन जिसे व्यवहार में प्राप्त करना काफी कठिन प्रतीत होता है।

प्राचीन भारतीय विचारधारा में मानवीय आवश्यकताओं व उपभोग के सम्बन्ध में दृष्टिकोण—हम पहले देख चुके हैं कि चार पुरुषार्थों में तीसरा पुरुषार्थ काम माना

सामूहिक उपभोग या सह-उपभाग (Collective Consumption or Co-consumption)—

प्राचीन भारतीय विचारधारा म सामूहिक उपभाग अथवा एक साथ उपभाग की प्रथा काफी प्रचलित थी। इसके लिए यज्ञ का माध्यम काफी उपयोगी माना गया था। यज्ञ पाँच प्रकार के हाते थे देव यज्ञ ब्रह्म यज्ञ पित्र यन भूत यज्ञ तथा अतिथि यज्ञ। जैसाकि इनके नामा से पता चलता है ये पच महायन क्रमश देवताआ ब्राह्मणा (साधु सता) पित्रा (पूर्वजा व माता पिताआ) भूता (विभिन्न जाव जन्तुआ) व अतिथिया के निमित्त माने गय हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्राचीन भारताय विचारधारा में इस बात पर बल दिया गया था कि प्रत्येक व्यक्ति का चाहिए कि वह स्वय उपभाग करने से पूर्व देवताआ ब्राह्मणा पित्रा जीव जन्तुआ या पशु पक्षिया तथा अतिथिया का खिलाए तभी मनुष्य सुखा हा सकेगा।[1] यज्ञ के पाछे भी सामूहिक उपभाग की ही अवधारणा मानी गया है क्योंकि यज्ञ के बाद सब मिलकर भाजन करते ह। यज्ञ के साथ दान दक्षिणा का विचार जुडा हुआ है। श्राद्ध विवाह यज्ञ आदि अवसरा पर दक्षिणा देने की परम्परा रही ह। लेकिन दान में सात्विक प्रवृत्ति का पालन करना चाहिए दान देने के बदले में कुछ भी लेने की भावना नहीं हानी चाहिए। अत दान में अन्य को कुछ भी साधन देने की भावना के कारण भारत में एक 'न्यायपूर्ण वितरण के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि पाया जाता है। इसके द्वारा लाग अपना अतिरिक्त धन सामाजिक लाभ में लगा सकते हैं। प्राचान भारत में मन्दिर कुए तालाब धर्मशाला आदि का निर्माण करने के लिए लाग दान किया करते हैं जा परम्परा आज भी विद्यमान है। इस प्रकार भारतीय विचारधारा म समाज के अन्य सदस्या के साथ बाँटकर वस्तुआ के उपभाग पर बल दिया गया है जा हमारे समाज की विशेषता मानी गयी है।

सह उपभोग (Co consumption) की भावना मानव को देव स्वरूप बनाती है। असुर या दानव ता केवल स्वय ही उपभोग करते हैं, जबकि देवता अपन उपभोग में दूसरा को भी शरीक करते हैं। इसलिए यदि प्रत्येक मनुष्य देवी देवताओ साधु-सता परिवार मे बडे बूढा अतिथिया असहाय व्यक्तिया अपाहिजा निर्धना पशु पक्षिया आदि का खिलाकर स्वय खाने की बात साचे तो सामाजिक ढाचे का स्वरूप ही बदल जाएगा। यद्यपि आधुनिक युग में साधना के अभाव में सभी व्यक्ति ऐसा करने में समर्थ नहीं हो पाते लेकिन इसके पीछे जो दार्शनिक विचार छिपा हुआ है उसका महत्त्व समझने की आवश्यकता है। सच पूछा जाए ता प्राचीन भारतीय विचारधारा में सबसे अधिक योग्य व्यक्ति का जीने का अधिकार देने की बजाए सबस अधिक कमजार व्यक्ति का जीने का अधिकार देने की बात पर अधिक बल दिया गया है। गाँधीजी का अन्त्यादय का सिद्धान्त भी इसी विचारधारा के अनुकूल है।

आधुनिक युग में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राफेसर स्व जे के मेहता ने अर्थ-

1 शुक्राचार्य ने भी अपनी रचना शुक्रनीति में कहा है कि जो लोग मूर्खतावश केवल अपने लिए ह भोजन पकाते हैं व नरक के भागी हात हैं। इसलिए व्यक्ति को देवताओं पूर्वजो व अतिथिया को दिये बिना कभी स्वय भोजन नहीं करना चाहिए।

'One should never eat food without giving it to the gods, ancestors and guests The man who cooks for himself only through foolishness lives only to go to hell"

—The Sukraniti translated by Prof Benoy Kumar Sarkar p 113

प्रो. रंगास्वामी आयंगर ने अपनी पुस्तक **Aspects of Ancient Indian Economic Thought** में धन के चार लक्षणों का उल्लेख किया है जो क्लासिकल युग में भारतीय अर्थशास्त्रियों ने माने थे। ये हैं पदार्थ रूप, उपभोग के लायक, विनियोजन के लायक तथा हस्तान्तरणीय। इस प्रकार धन भौतिक रूप (material) में होता है। हम इसका प्रयोग उपभोग में कर सकते हैं (consumable)। इसका प्रयोग अधिक धन उत्पन्न करने के लिए विनियोजन के रूप में किया जा सकता है (appropriate)। यह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरणीय (transferable) होता है।

धनार्जन का उद्देश्य या महत्त्व—प्राचीन भारतीय विचारधारा के अनुसार भौतिक धन (material wealth) स्वयं में कोई साध्य (end) नहीं होता है बल्कि यह जीवन के पुरुषार्थों धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष को प्राप्त करने का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन (means) माना जाता है। धन के अभाव में धर्म (कर्त्तव्य) का पालन करना कठिन होता है। इसकी प्राप्ति से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था उत्पन्न होती है। इसी से इच्छाओं की सन्तुष्टि होती है और अंत में मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर पाता है अर्थात् सभी प्रकार की इच्छाओं व बंधनों से मुक्त हो पाता है। इसीलिए धन को जीवन के चार उद्देश्यों अथवा तथाकथित पुरुषार्थों को प्राप्त करने का साधन माना गया है। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन भारतीय विचारधारा में धन को गौण स्थान नहीं दिया गया है। कुछ लोग भ्रम से यह कह देते हैं कि भारतीय परम्परा आध्यात्मिक व धार्मिक है और इसमें धन के लिए कोई विशेष स्थान नहीं है। लेकिन यह धारणा सही नहीं है बल्कि प्राचीन भारतीय चिंतकों ने इसे मानवीय कल्याण में यथोचित स्थान प्रदान किया है। उस युग में भारत सोने की चिड़िया कहलाता था इसमें कृषि, पशुपालन व व्यापार विकसित अवस्था में थे और देश धनधान्यपूर्ण माना जाता था और आमतौर पर लोगों की न्यूनतम आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाया करती थी।

धनोपार्जन की विधि—प्राचीनकाल में धन का महत्त्व तो स्वीकार किया गया था लेकिन साथ में इसको प्राप्त करने की विधि पर तथा इसके उपयोग व समाज में वितरण पर भी विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया था।

शुक्राचार्य के अनुसार, "**धन कण कण (grain by grain) रूप में प्राप्त किया जाता है, जैसे विद्या प्रति क्षण प्राप्त की जाती है। जो व्यक्ति धन या ज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक होता है उसे प्रत्येक कण या क्षण को नहीं गवाना चाहिए। धन की प्राप्ति सदैव लाभदायक होती है, बशर्ते कि यह उत्तम पत्नी, पुत्र या मित्र के भरण पोषण के लिए या (दान) देने के लिए प्राप्त किया जाए। इन उद्देश्यों के अलावा धन या नौकरी का क्या उपयोग है?**"[1]

उस युग में उत्पादन का पैमाना छोटा होता था, राज्य के कर भी कई प्रकार के होते थे और कीमत निर्धारण का अपना तरीका होता था। ऐसी स्थिति में धन को कण कण करके जोड़ा जाता था। इसलिए देश में किसी भी विपरीत स्थिति का सामना करने के लिए धन को बचा कर नई पूँजी के रूप में लगाने पर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। उन दिनों अकालों का पड़ना एक आम किस्म की विपत्ति थी। इसलिए धनोत्पादन पर बहुत ध्यान दिया जाता था और साथ में बचत व नई पूँजी के निर्माण पर भी। राजा या राज्य को धन के उत्पादन व वितरण पर पूरा ध्यान देना होता था।

---

1. Shah की पुस्तक से उद्धृत पृ 39

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत मे धन का महत्त्व तो स्वीकार किया गया था लेकिन साथ में इसका अर्जन व उपयाग उचित प्रकार से करने पर भी बल दिया गया था। किसी भी व्यक्ति को अवांछित तरीके से धन संग्रह करने की इजाजत नही थी और उस समय लोग अपने कर्तव्यो का पालन करके धनोपार्जन करते थे। अवांछित तरीका का उपयोग करने पर कडी सजा का प्रावधान था जैसे चोरी जुआ आदि अवांछित व अनुचित विधियो का उपयोग करने पर सजा दी जाती थी। शासक न्याय पर बहुत जोर देते थे और उस युग में दण्डनीति का काफी बोलबाला था। इसके लिए प्रमुख ग्रन्थो में काफी सुझाव मिलते हैं।

धन का विभिन्न उपयोगो म विभाजन–प्राचीन ग्रन्थो मे धन को विभिन्न उपयोगो में बाँटने के सम्बन्ध म महत्वपूर्ण सुझाव दिए गए हैं जिनका पालन करने से समाज में सुख समृद्धि व शान्ति में वृद्धि होती है।

श्रीमद्भागवत् पुराण मे धन के पाँच अश करने पर बल दिया गया है जो इस प्रकार हैं-1

(i) एक अश दान में देना
(ii) दूसरा अश ख्याति प्राप्त करने में लगाना
(iii) तीसरा अश भावी पूँजी निर्माण में लगाना
(iv) चौथा अश स्वय के रोजगार में प्रयुक्त करना तथा
(v) पाँचवाँ अश स्वय के व्यक्तिगत के लाभ में प्रयुक्त करना।

ऐसा करने पर ही इस लाक व परलोक में सुख मिल सकता है। अत प्राचीन विचारधारा के अनुसार एक व्यक्ति को अपने धन का सारा उपयाग स्वय के लिए करने की इजाजत नहीं दी गई। बल्कि उसे अपने धन का एक अश (पाँचवाँ भाग) दान में लगाने के लिए प्रेरित किया गया। व्यक्ति को अपना धन समाज के ट्रस्टी के रूप मे रखने की इजाजत दी गई। जो धनी लोग अपने धन का उपयोग त्याग व दान धर्म मे नहीं करते उनका धन छीनकर सामाजिक कार्यों में लगाने की चर्चा भी प्राचीन ग्रन्थो मे मिलती है। **कौटिल्य ने उन भूस्वामियो से जो स्वय की भूमि नहीं जोतते है, भूमि लेकर भूमिहीन मजदूरो मे वितरित करने का समर्थन किया था। इससे ज्यादा सम्पत्ति के पुनर्वितरण का समर्थन क्या हो सकता है।** लेकिन इस प्रकार के जबरन प्रयास की आवश्यकता असामान्य परिस्थितियो में ही पडती है। आम तौर पर यह माना जाता था कि समाज में धन का हस्तान्तरण धनी वर्ग से निर्धन वर्ग की ओर होने से धन नीची सीमान्त उपयोगिता वाला से ऊँची सामान्त उपयोगिता वाला की तरफ जाता है जिससे समग्र सामाजिक उपयोगिता में अभिवृद्धि होती है। अत प्राचीन भारत में धन के उत्पादन व उपयोग (use) के सम्बन्ध में प्रमुख निर्धारक तत्त्व इस प्रकार माने गए थे

(i) धनोपार्जन कर्तव्य पालन करके उचित तरीको का उपयोग करके किया जाना चाहिए

(ii) दूसरो को हानि पहुँचा कर धनोपार्जन नही करना चाहिए। यह भारत की दैवी परम्परा के अनुकूल है जहाँ धन एक साधन है साध्य नहीं

---

1 Dr B L Gupta Value and Distribution System in Ancient India 1992 p 284

बीच प्राय युद्ध होते रहते थे जिससे जनसंख्या सीमित रखना रहता था तथा दवा व चिकित्सा की सुविधाओं के अभाव में लोग मौत के शिकार हो जाते थे

प्राचीन भारत में पुरुष श्रम व महिला श्रम दोनों का उपयोग कृषि व्यापार व उद्योगों में करने की प्रणाली पर जोर दिया गया था। कृषि में भौतिक पदार्थ प्राप्त होते हैं और बौद्धिक श्रम से सेवाएँ प्राप्त होती हैं। प्राचीन भारत में दोनों प्रकार के श्रम का महत्त्व था।

(4) गुलामी की प्रथा[1]—मेगस्थनीज व स्वयं भारतीय आचार्यों के अनुसार प्राचीन भारत में स्वतंत्र श्रम के रूप में गुलामी की व्यवस्था नहीं पाई जाती थी। लेकिन जो गुलाम या नौकर घरेलू काम के लिए रखे जाते थे उनके साथ उचित व्यवहार किया जाता था। जातकों के अनुसार गुलामों को घरेलू कार्यों के अलावा पढ़ने व दस्तकारी अपनाने के लिए प्रेरित किया जाता था। उनके साथ दुर्व्यवहार के उदाहरण नहीं मिलते। इन गुलामों के भाग जाने के दृष्टान्त भी नहीं मिलते। जो अपने गुलामों (दासों) या नौकरों पर रखे गए श्रमिकों के अधिकारों की अवहेलना करते उनको अपने कर्त्तव्य का भान कराया जाता था इस सम्बन्ध में आवश्यक नियम बने हुए थे अतः उस युग में गुलामों व नौकरों को रखने की व्यवस्था के होते हुए भी इनमें कोई क्रूरता व उत्पीड़न नहीं पाए जाते थे। दासों के अधिकारों व संरक्षण के लिए उचित नियम हुआ करते थे।

(5) ब्याज की प्रथा—प्राचीन भारत में पूँजी की उत्पादकता के कारण ब्याज को उचित ठहराया गया था। ब्याज की दर उधार लेने वाले की सामाजिक स्थिति या जाति उधार लेने के उद्देश्य आदि पर निर्भर किया करता था। चक्रवृद्धि दर से ब्याज लगाने की भी प्रथा थी। लेकिन साथ में ब्याज के नियमन व नियंत्रण का भी प्रावधान था साधारणतया ब्याज की राशि कमाए गए लाभ के आधे से ज्यादा नहीं होती थी। इसी प्रकार ब्याज (वस्तु रूप में आंका जाने पर) मूलधन के मौद्रिक मूल्य के आधे से अधिक नहीं हो सकता था। जो व्यक्ति उधार दी गई राशि का चौगुना माँगता उस पर अनुचित माँग का चौगुना जुर्माना किया जाता था। इससे ऋणियों के हितों की रक्षा की व्यवस्था हो पाती थी। संक्षेप में कहा **जा सकता है कि प्राचीन भारत में ब्याज का लेना जायज माना जाता था ब्याज की दरें ऊँची पाई जाती थीं तथा ऋणियों को उचित संरक्षण प्रदान किया जाता था।**

(6) सार्वजनिक वित्त की व्यवस्था—प्राचीन भारत में सरकारी राजस्व का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन कर माना जाता था। लेकिन सरकार कर द्वारा एकत्र राशि को लाभदायक उपयोग में लगाती थी। उसका दुरुपयोग नहीं करती थी। राजा द्वारा प्रजा की आन्तरिक व बाह्य सुरक्षा के लिए साधन जुटाने हेतु कर लगाए जाते थे। यह कहा जाता था कि राजा को इस प्रकार से कर लगाना चाहिए ताकि जनता पर उसका अधिक भार न पड़े जैसे कि मधुमक्खी पौधे को क्षति पहुँचाए बिना शहद एकत्र करती है। कर देश में बनी वस्तुओं व आयात निर्यात की वस्तुओं पर लगाए जाते थे। विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन पर कर की दर ऊँची होती थीं। कौटिल्य व शुक्राचार्य दोनों ने कर के लिए कार्यकुशल मशीनरी स्थापित करने का सुझाव दिया था। सामान्यतया कर वर्ष में एक बार और कर देय क्षमता के आधार पर लगाए जाते थे। भूमि वन सम्पत्ति आदि पर कर लगाए जाते थे। उत्पादन शुल्क व सीमा शुल्क लगाने का रिवाज था। भूमि कर भवन कर दुकान कर सड़क व गली कर फल व पेड़ कर बगीचों से भू राजस्व आदि का उल्लेख पाया जाता है

1 K T Shah पूर्वोद्धृत पृ 72 76

आयातित वस्तुओं पर मूल्यानुसार 20% कर लगाया जाता था। फल फूल सब्जी साग मछली पर 16% कर लगाया जाता था।

सरकार अपना व्यय सार्वजनिक प्रशासन मुख्यतः मन्त्रियों के वेतन आदि पर करती थी। कीमती पत्थर, जेवर व रत्न आदि खरीदने पर भी सरकारी व्यय किया जाता था। कौटिल्य का सुझाव था कि राज्य को उद्योगों में भाग लेकर भी अपनी आमदनी बढ़ानी चाहिए। इस प्रकार प्राचीन भारत में सार्वजनिक वित्त व्यवस्था काफी प्रगतिशील व लचीली किस्म की थी।

(7) राज्य की आर्थिक विकास में भूमिका—प्राचीन भारत में राज्य का सामाजिक आर्थिक महत्त्व राजा में निहित माना जाता था। जब राजा ठीक से राज्य करता तो वह श्रेष्ठ माना जाता और यदि वह प्रजा को तंग करता तो निकृष्ट माना जाता। राजा का काम केवल कर एकत्र करना ही नहीं था बल्कि सीधे उत्पादन में भाग लेना भी था। खनन व अनेक प्रकार की दस्तकारियों व उद्योगों में राज्य का योगदान एकाधिकारी-उत्पादक (monopolist producer) के रूप में भी पाया जाता था। राज्य अनेक प्रकार के उद्योगों में प्रत्यक्ष नियंत्रण, नियमन व देख रेख करता था, वह व्यापार व व्यापारियों से जुड़ी अनेक क्रियाओं-जैसे माप व तौल, मुद्रा व चलन, साख व बैंकिंग आदि पर पूरा ध्यान देता था। परिवहन, नावों, समुद्री जहाजों, सड़कों आदि की देख-रेख पर बल दिया जाता था। श्रमिकों के हितों की रक्षा की जाती थी।

पंचायती राज की संस्थाओं के माध्यम से प्रशासन में विकेन्द्रीकरण व लोकतन्त्रीकरण की व्यवस्था पाई जाती थी। राज्य लोगों की आर्थिक दशा को सुधारने, वस्तुओं में मिलावट रोकने, सूदखोरी को सीमित करने आदि पर पर्याप्त ध्यान देने के कारण 'कल्याणकारी राज्य' (welfare state) की शर्तों को पूरा करता था।

"वैदिक काल में राज्य को वृक्ष, राजा को इसकी जड़, राजा के सलाहकारों को इसकी प्रमुख शाखाएँ, कमान्डरों को छोटी शाखाएँ, सेनाओं को पुष्प, लोगों को फल तथा प्रदेशों-अर्थात् भूमि को बीज माना जाता था।"[1] इस प्रकार राज्य, राजा, मन्त्रियों व सलाहकारों, कमाण्डरों, सेनाओं तथा प्रदेशों की अपनी-अपनी भूमिका थी जिससे जनता के हितों की समुचित रक्षा हो पाती थी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत की आर्थिक विचारधारा काफी व्यापक व पारदर्शी किस्म की थी। इससे तत्कालीन भारत में हिन्दू समाज व हिन्दू संस्कृति के सुगठित होने का अनुमान लगाया जा सकता है। उस काल में राजनीति, अर्थनीति, दण्डनीति आदि सभी विषयों के नियम-उपनियम बड़ी बारीकी से और काफी विस्तार से सुनिश्चित किए गए थे, जिनकी जानकारी विभिन्न ग्रन्थों, धर्मशास्त्रों आदि के विस्तृत अध्ययन से हो सकती है।

---

1 "The State is a tree of which the king is the root, and the counsellors, the main branches, the commanders are the (lesser) branches, the armies are the blossoms and flowers, the people are the fruits and the regions—the land—is the seed."
—K T Shah op cit, pp 50 51

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा तथा पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा की तुलना[1]–उपर्युक्त विवरण से हमे भारत की प्राचीन आर्थिक विचारधारा के विविध पक्षों की जानकारी हो सकी है। यह देखकर सचमुच आश्चर्य होता है कि वैदिक काल में भारतीय चिंतन कितना व्यापक, गहन, वैज्ञानिक व सुव्यवस्थित था। उस चिंतन से भारतवासी व विदेशी अपनी वर्तमान समस्याओं को हल करने में काफी लाभ उठा सकते हैं। हम यहाँ प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा की तुलना पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा से करने के बाद प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा का मूल्यांकन प्रस्तुत करेंगे।

पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा के प्रमुख लक्षण क्या हैं ?–सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा के प्रमुख लक्षण क्या हैं ताकि उनके आधार पर प्राचीन भारत में पाई जाने वाली आर्थिक विचारधारा से उसकी तुलना की जा सके। चूँकि हमने ऊपर प्राचीन भारत की आर्थिक विचारधारा का विवेचन किया है, इसलिए पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों की विचारधारा के लिए हमे एडम स्मिथ, रिकार्डो आदि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों तथा बाद में प्रस्तुत किए गए कार्ल मार्क्स के विचारों को जानना होगा। पाश्चात्य क्लासिकल आर्थिक विचारधारा की मान्यताएँ व प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं

(1) मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था की मान्यता–एडम स्मिथ व रिकार्डो ने स्वतंत्र बाजार की अर्थव्यवस्था को अपने विश्लेषण का आधार बनाया था। इसमें सरकार का हस्तक्षेप नहीं होता और बाजार में माँग व पूर्ति की शक्तियाँ वस्तुओं व साधनों की कीमतें निर्धारित करती हैं। एडम स्मिथ के अनुसार इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में एक अदृश्य शक्ति (invisible hand) काम करती है और वह अदृश्य शक्ति व्यक्तिगत हितों से संचालित बाजार संयंत्र की शक्ति होती है। बाजार में माँग ज्यादा होने से कीमत बढ़ जाती है और माँग कम होने से कीमत घट जाती है। इस प्रकार बाजार एक स्वचालित यंत्र की भाँति काम करता रहता है तथा उत्पादक और उपभोक्ता अपने-अपने हितों को ध्यान में रखते हुए निर्णय लेते रहते हैं। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की मान्यता थी कि इससे देश में पूर्ण रोजगार की दशा उत्पन्न हो जाती है और साधनों का सर्वोत्तम उपयोग सुनिश्चित हो जाता है।

(2) आर्थिक मानव (economic man) की मान्यता–क्लासिकल विचारधारा में 'आर्थिक मानव' की कल्पना की गई थी जिसका आशय यह था कि व्यक्ति *अपने स्व-हित में काम करता है जो उसे निर्णय लेने के लिए आवश्यक प्रेरणा देता है।* अर्थव्यवस्था में प्राकृतिक स्वतंत्रता व प्राकृतिक व्यवस्था पाई जाती है। लोग अपने आर्थिक हितों को ध्यान में रखकर निर्णय लेते हैं। **इस विचारधारा में यह मान्यता थी कि जब लोग अपने व्यक्तिगत हितों को ध्यान में रखकर निर्णय लेते हैं तो अपने आप सामाजिक हित भी प्रतियोगिता के माध्यम से प्राप्त हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए काम करता हुआ परोक्ष रूप में अन्य व्यक्तियों के लिए भी काम कर पाता है।** ऐसा आर्थिक पुरुष अपने हितों पर बल देता है, वह बुद्धिमान होता है और उसे अपने हित संवर्धन के लिए आवश्यक जानकारी होती है। वह वस्तुओं व सेवाओं को बाजार में सबसे कम भावों पर खरीदता है और सबसे ऊँचे भावों पर बेचने का प्रयास करता है। इस प्रकार

1 देवदत्त शास्त्री, कौटिलीय अर्थशास्त्र, 1957, भूमिका 'भारतीय अर्थशास्त्र की व्यापक भाव भूमि', पृ 10

उत्पादक उपभोक्ता निवेशकर्ता श्रमिक आदि सभी अपने अपने हितवर्धन मे सलग्न रहते हैं और प्रतियोगिता के वातावरण में निर्णय लेते हैं।

(3) 'आर्थिक विवेकशीलता (economic rationality) की मान्यता—ऐसा प्रतीत होता है कि पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा म निर्णय की प्रक्रिया मूलतया व अधिकाश मात्रा म आर्थिक तर्क या आर्थिक युक्ति से ही प्रभावित होता है। इस पर अन्य विज्ञानो का प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव नहीं माना जाता। इसी कारण पाश्चात्य क्लासिकल परम्परा म अर्थशास्त्र की पुस्तको में आर्थिक विश्लेषण ही प्रधान होता है। उसमें आर्थिक निर्णयो पर राजनीति नीतिशास्त्र कानून धर्म आदि का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं देखा जाता। इसका यह अर्थ नहीं कि उस विचारधारा म अनैतिक व अधार्मिक प्रवृत्तियो को उचित ठहराया गया हो। लेकिन इतना अवश्य है कि पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा में बाजार सयत्र प्रतियोगिता स्व हित प्राकृतिक स्वतत्रता व प्राकृतिक व्यवस्था पर जोर देने के कारण वह नैतिक मूल्य आधारित नहीं माना जा सकता।

(4) मार्क्स की साम्यवादी व्यवस्था म राज्यवाद का बोलबाला—क्लासिकल विचारको ने निजी उद्यम वाली अर्थव्यवस्था पर जोर दिया था जिसके विपरीत कार्ल मार्क्स ने उत्पादन के साधनो के सार्वजनिक स्वामित्व पर बल देकर राज्य की सम्प्रभुता बढा दी आर्थिक नियोजन को सर्वोपरि बना दिया और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सीमित कर दिया। इसमें केन्द्रीय प्राधिकरण का महत्त्व बढ गया। हालाकि मार्क्स की विचारधारा म राजनीति का प्रभाव बढ गया फिर भी उसमें आर्थिक हितो के सघर्ष (पूँजीपतियो व श्रमिको के बीच) की प्रधानता होने से उसम भी आर्थिक विवेकशीलता' का ही विशेष प्रभाव देखने को मिला।

(5) पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा उद्योगवाद या औद्योगिकता (industrialism) की उपज थी—जब योरोपीय देशो मे उद्योगवाद का उदय हुआ कारखानो मे मशीनो का उपयोग बढा उनमें बडी सख्या म मजदूरो की भरती की जाने लगी श्रमिको के लिए आवास की असुविधाएँ बढने लगीं एव अन्य औद्योगिक समस्याएँ उत्पन्न होने लगीं तो मालिक मजदूर के सम्बन्धो के प्रश्न उभर कर सामने आए और उन पर आर्थिक दृष्टि से चितन किया जाने लगा। इस प्रकार पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा पर उद्योगवाद का व्यापक प्रभाव माना गया है।

इस प्रकार पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा जिसका उद्गम लगभग 220 वर्ष पूर्व 1776 मे एडम स्मिथ की **'Wealth of Nations'** नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ से माना जा सकता है औद्योगीकरण से काफी प्रभावित हुई है।

स्मरण रहे कि हम यहाँ आज से लगभग 2300 वर्ष पूर्व भारत म पाई जाने वाली आर्थिक विचारधारा तथा साथ में लगभग 200 वर्ष पूर्व योरोप म पाई जाने वाली आर्थिक विचारधारा की परस्पर तुलना कर रहे हैं। समय के इस अन्तराल को ध्यान में रखने की आवश्यकता है तभी तुलना सार्थक हो सकती है।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा व पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा म अन्तर—हमने इस अध्याय में दोनो विचारधाराओ के लक्षणो व विशेषताओ का स्पष्टीकरण किया है। अब हम इनका अन्तर आसानी से समझ सकते हैं। **ये अन्तर इस प्रकार हैं**—

(1) प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा उस युग से सम्बन्ध रखती है जब जनसंख्या सीमित थी सामाजिक व आर्थिक विकास प्रारम्भिक अवस्था में था आधुनिक विज्ञान के आविष्कार नहीं हुए थे राजतंत्र में सामंती व्यवस्था (feudalism) पाया जाता थी और लोगों की आवश्यकताएँ सीमित थी। पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा उस युग में पनपी है जब बड़े पैमाने का उत्पादन यंत्रीकरण परिवहन व संचार के क्षेत्र में क्रान्ति लोकतंत्र आदि का प्रादुर्भाव हो गया है। *इसलिए दोनों की आर्थिक राजनीतिक व सामाजिक परिस्थितियों* **में भारी अन्तर है। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि यह तुलना प्राचीन व आधुनिक परिस्थितियों के बीच है जो एक तरह से इसकी सीमा को सूचित करता है।**

(2) प्राचीन भारत की विचारधारा में एकाकृत मानव (integrated man) की अवधारणा पाई जाती है जिसका अर्थ है कि मानव जीवन के चार उद्देश्यों धर्म अर्थ काम व मोक्ष को प्राप्त करना चाहता है जबकि पाश्चात्य क्लासिकल विचारधारा में 'आर्थिक मानव' (economic man) की परिकल्पना निहित है। इस कारण से उसका दृष्टिकोण एकांगी व संकुचित रह जाता है। भारतीय विचारधारा में क्रमशः कर्तव्य धन इच्छाओं की पूर्ति व इच्छाओं से मुक्ति चारों के समावेश से जीवन के प्रति दृष्टिकोण व्यापक व लचीला हो जाता है जबकि पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार यह संकुचित व सीमित रह जाता है। भारतीय विचारधारा में धन मनुष्य के वश में रहता है जबकि पाश्चात्य विचारधारा में मनुष्य धन के वश में हो जाता है।

(3) प्राचीन भारतीय चिंतन में एकाकृत विवेकशीलता (integrated rationality) का दृष्टिकोण पाया जाता है क्योंकि इसमें राजनीति अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र नीतिशास्त्र आदि के बीच परस्पर कड़ी पायी जाती है। इसलिए इसमें संतुलित दृष्टिकोण पाया जाता है। इसके विपरीत पाश्चात्य विचारधारा में आर्थिक विवेकशीलता व्यक्ति का स्व हित व निजी उद्यम की व्यवस्था की प्रधानता होने से इसमें एकांगी व संकुचित दृष्टिकोण पाया जाता है।

प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक व लाभकारी है—*हमने देखा* कि अधिक व्यापक व अधिक संतुलित होने के कारण भारतीय दृष्टिकोण पाश्चात्य दृष्टिकोण से ज्यादा ग्राह्य व ज्यादा उपयोगी माना जा सकता है। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण दृष्टिकोण मानवता व मानवीय मूल्यों पर टिका हुआ है। *इसकी व्यापकता व व्यावहारिकता* के कारण ही यह पाश्चात्य देशों को भी प्रभावित करने लगा है।

पाश्चात्य देशों के कुछ आधुनिक अर्थशास्त्री व विचारक भी प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा के मूलभूत दृष्टिकोण अर्थात् अधिक राजनीतिक समाजशास्त्रीय धार्मिक व मनोविज्ञान परक तत्वों पर एक साथ ध्यान देने की बात को स्वीकार करने लगे हैं। इनमें 'एशियन ड्रामा' के सुप्रसिद्ध लेखक प्रो. गुन्नार मिर्डल का नाम लिया जा सकता है। भारत के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री स्व. डा. वी के आर वी. राव ने भी मनुष्य को केवल मस्तिष्क व वस्तु रूप ही नहीं माना था बल्कि आत्मा व अन्तरात्मा (not only mind and matter but also soul and conscience) माना था।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्राचीन भारतीय विचारधारा अधिक व्यापक अधिक संतुलित व अधिक लाभकारी है। इसमें अनेक प्रकार के विरोधी तत्वों में परस्पर *तालमेल बैठाया गया है जैसे भौतिकवाद* व अध्यात्मवाद में व्यक्तिगत कल्याण व सामाजिक कल्याण में वर्तमान आवश्यकताओं व भावी आवश्यकताओं में व्यष्टि व समष्टि

में, व्यक्तिगत स्वतंत्रता व नियोजन में, आदि-आदि । यह धर्मनिरपेक्षता सहिष्णुता, सहृदयता, सरलता व सादगी जैसे मानवीय गुणों पर आधारित है । यह नैतिक मूल्यों को सर्वोच्च स्थान देती है । इसके अन्तर्गत सबसे दुर्बल व्यक्ति के हितों की भी रक्षा हो सकती है ।

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा का मूल्यांकन (Evaluation)—देवदत्त शास्त्री के मतानुसार **"प्रत्येक दृष्टि से भारतीय अर्थशास्त्र आधुनिक अर्थशास्त्र की अपेक्षा अधिक व्यापक और वैज्ञानिक है क्योंकि वह जीवन की प्रत्येक समस्या का सभी दृष्टियों से समाधान उपस्थित करता है । किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्र जीवन के एकांगी पहलू (आर्थिक) को ही लेकर चलता है और उसके समाधान प्रस्तुत करने में अन्य शास्त्रों की उपेक्षा करता है । वस्तुतः आज का अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने के लिए उसे अन्य शास्त्रों से अलग रखकर उसका अध्ययन करना चाहता है । इससे उसकी व्यापकता सीमित होती जा रही है । इसके विपरीत भारतीय अर्थशास्त्री-अर्थशास्त्र के साथ ही अन्य शास्त्रों को भी लेकर उसकी महत्ता सिद्ध करता है । फलतः प्रत्येक शास्त्र का ज्ञान अर्थशास्त्र की समस्याओं का समाधान उपस्थित करने का साधन बन उसकी सीमा का विस्तार करता है । अतः आज के युग में भारतीय अर्थशास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन और अनुशीलन की नितान्त आवश्यकता है ।[1]**

प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा के सम्बन्ध में प्रायः दो भ्रान्त धारणाएँ पाई जाती हैं : एक तो यह कि उस समय भारतीय समाज में व्यक्ति की स्थिति उसके जन्म से निर्धारित होती थी, न कि उसके कर्म से और दूसरी यह है कि तत्कालीन भारतीय समाज स्थिर व गतिहीन था, न कि प्रावैगिक व परिवर्तनशील ।

पहले बतलाया जा चुका है कि भारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने-अपने कर्मों से बनते थे, न कि जन्म से । *इसलिए एक वर्ण से दूसरे वर्ण में योग्यता व कार्य* के अनुसार जाना वर्जित नहीं था । भारतीय वर्ण-व्यवस्था कर्म पर आधारित होने के कारण लचीली मानी गई है । यह कठोर नहीं मानी जा सकती ।

यह कहना भी सही नहीं जान पड़ता कि प्राचीन हिन्दू समाज गतिहीन था क्योंकि इसमें निरन्तर विकास व परिवर्तन पर बल दिया जाता रहा है । यह बात अवश्य है कि प्राचीन भारतीय विचारधारा अपने मूल आदर्शों, जैसे नैतिक मूल्यों से कोई समझौता नहीं कर सकती । लेकिन इन्हीं मूल्यों के सहारे भारत जगद्गुरु कहलाया है ।

प्रत्येक भारतवासी अपनी दैनिक प्रार्थना में कहता है कि **"सभी प्राणी सुखी रहें, सभी स्वस्थ रहें, सभी को जीवन की उत्तम वस्तुएँ मिलें, एक भी प्राणी को किसी भी प्रकार का दुःख न हो ।[2]** इससे ज्यादा ऊँची सहृदयता, उदारता व विशालता और क्या हो सकती है । अतः हमें प्राचीन आदर्शों को अपने जीवन में उतार कर अपना, समाज का, देश का तथा विश्व का कल्याण करने के पुनीत कार्य में जुट जाना चाहिए । आज इसकी सर्वाधिक आवश्यकता है ।

---

1 देवदत्त शास्त्री, पूर्वोद्धृत, पृ 10

2 "सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु ख माप्नुयात् ॥

प्रश्न

1. प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारकों में कुछ प्रमुख व्यक्तियों के नाम लिखिए।
   उत्तर [शुक्राचार्य, कौटिल्य कामन्दक आदि]
2. प्राचीन भारतीय आर्थिक चिंतन पर कुछ महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थों के नाम बताइए।
   उत्तर [(i) वेद उपनिषद् व ब्राह्मण तथा गीता (श्रीमद्भगवद्)
   (ii) महाकाव्य रामायण व महाभारत
   (iii) शुक्रनीतिसार
   (iv) कौटिल्य का अर्थशास्त्र]
3. निम्नलिखित शब्दों का अर्थ स्पष्ट कीजिए
   (i) चार पुरुषार्थ धर्म अर्थ काम व मोक्ष
   (ii) चार वर्ण व उनके कर्त्तव्य
   (iii) जीवन के चार आश्रम व उनके लिए निर्धारित कर्त्तव्य
   (iv) वार्ता
   (v) एकीकृत या समन्वित मानव की अवधारणा
   (vi) एकीकृत विवेकशीलता (integrated rationality) की अवधारणा।
4. निम्न को स्पष्ट कीजिए-
   (i) नियन्त्रित उपभोग का विचार
   (ii) सह-उपभोग या सामूहिक उपभोग की अवधारणा
   (iii) धन का अर्थ, महत्त्व व धनोपार्जन की विधि
5. प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा पर एक परिचयात्मक निबन्ध लिखिए।
6. प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा की तुलना पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा से कीजिए। पहली विचारधारा दूसरी विचारधारा से अधिक व्यापक क्यों मानी गई है ?
7. प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा की दो प्रमुख विशेषताएँ बतलाएँगे।
8. "प्राचीन भारतीय हिन्दू समाज जातिगत बंधनों में जकड़ा हुआ तथा गतिहीन किस्म का था।" क्या आप इस मत से सहमत हैं ?
9. पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा को संकुचित व सीमित किस्म की क्यों कहा जाता है ?
10. क्या कारण है कि प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा के इतना अधिक व्यापक व वैज्ञानिक होते हुए भी आज भारत अल्प विकसित देशों की श्रेणी में आता है जब कि पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा के एकांगी व संकीर्ण होते हुए भी कई योरोपीय देश काफी विकसित अवस्था में पहुँच गए हैं ? कारण समझाइए।
    [इसका उत्तर चुने हुए प्रश्नों के खण्ड में देखिए]

□□□

प्रमाप विचलन*
(Standard Deviation)

केवल औसत की जानकारी से हमें किसी सिरीज की बनावट की पूरी जानकारी नहीं होती। उदाहरण के लिए, नीचे तीन सिरीज दिये जाते हैं जिनमें प्रत्येक का औसत = 2 है, लेकिन उनकी बनावट में काफी अंतर है जैसे सिरीज (i) में 1, 2 व 3 संख्याएँ हो सकती हैं जिनका X = 2 है। सिरीज (ii) में 0, 0 व 6 संख्याओं का औसत या माध्य X भी 2 के बराबर है। इसी प्रकार सिरीज (iii) में संख्याएँ 2, 2, व 2 हो सकती हैं। इसमें भी X = 2 है। इसलिए इन तीनों में X = 2 होते हुए भी, *इनकी बनावट में काफी अंतर है। सिरीज की* बनावट के इन अंतरों की जानकारी विचलन के मापों (measures of dispersion or deviation) के माध्यम से होती है। विचलन के मापों में प्रायः चतुर्थक-विचलन (quartile deviation), माध्य विचलन (mean deviation) तथा प्रमाप विचलन (standard deviation) का विवेचन किया जाता है। इनका विभिन्न परिस्थितियों में विचलन के अध्ययन में उपयोग किया जाता है, लेकिन जिस प्रकार औसतों में माध्य (mean or arithmetic average) श्रेष्ठ माना जाता है, उसी प्रकार विचलन के मापों में प्रमाप विचलन अपनी गणितीय विशेषताओं के कारण श्रेष्ठ माना जाता है। इसका स्पष्टीकरण आगे चलकर किया जायगा।

प्रमाप-विचलन का अर्थ

यह गणितीय माध्य से किसी सिरीज के मूल्यों के विचलनों के वर्ग के औसत का वर्गमूल होता है **(it is the square root of the average of the squared deviations from the arithmetic mean)। इसे ग्रीक अक्षर σ (छोटे सिगमा) से** ***सूचित किया जाता है।***

प्रमाप विचलन की इस परिभाषा में निम्न बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिए

(i) सर्वप्रथम हम सिरीज का वास्तविक गणितीय औसत अर्थात् वास्तविक माध्य निकालते हैं।

(ii) उसके बाद सिरीज में दिये हुए मूल्यों से वास्तविक माध्य का अंतर लिया जाता है, जैसे यदि सिरीज में दिया हुआ मूल्य 5 है और वास्तविक माध्य का मूल्य (value of actual mean) 8 है, तो इनका अंतर (5–8) = – 3 लिया जायेगा। इसी प्रकार सारे मूल्यों का वास्तविक माध्य से अंतर लिया जायेगा।

* *पाठ्यक्रम के अनुसार प्रयुक्त करें। इसमें पूर्व अध्यायों के प्रश्नों के शेष अंशों के हल भी दिये गये हैं।*

(iii) इसके बाद सारे अतरों या विचलनों के वर्ग बनाये जायेंगे।

(iv) फिर उनमें N का भाग देकर औसत लिया जायेगा। वैयक्तिक मदों की स्थिति में इसे $\frac{\Sigma d^2}{N}$ से सूचित किया जा सकता है, जहाँ Σd^2 वैयक्तिक मदों व वास्तविक माध्य के अतर के वर्गों का जोड होता है। इसमें N अर्थात् आवृति की सख्या का भाग दिया जाता है।

(v) अत में वर्गमूल लिया जाता है जो प्रमाप विचलन को सूचित करता है।

यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा।

[1] (i) वैयक्तिक मदो (Individual observations) मे प्रमाप विचलन की प्रत्यक्ष विधि (direct method) से गणना–

प्रश्न वैयक्तिक मदों के 1, 2, 3, 4 व 5 होने पर प्रत्यक्ष विधि से प्रमाप विचलन ज्ञात कीजिए।

X	वास्तविक माध्य = 3 से विचलन (x) = $(X - \bar{X})$	x^2
1	–2	4
2	–1	1
3	0	0
4	1	1
5	2	4
		$\Sigma x^2 = 10$

$$\text{प्रमाप विचलन } \sigma = \sqrt{\frac{\Sigma x^2}{N}} = \sqrt{\frac{10}{5}} = \sqrt{2} = 1\ 41$$

(ii) लघु-विधि (short method) से गणना

X	कल्पित माध्य = 2 से विचलन = d = (X–A)	d^2
1	–1	1
2	0	0
3	1	1
4	2	4
5	3	9
	$\Sigma d = 5$	$\Sigma d^2 = 15$

$$\sigma = \sqrt{\frac{\Sigma d^2}{N} - \left(\frac{\Sigma d}{5}\right)^2}$$

$$= \sqrt{\frac{15}{5} - \left(\frac{5}{5}\right)^2} = \sqrt{3-1} = \sqrt{2} = 1\ 41$$

स्मरण रहे कि कल्पित माध्य 2 की जगह और कुछ भी लिया जा सकता है। यहाँ $d = X-A$ लिया जाता है और A कल्पित माध्य का सूचक होता है। फिर सूत्र में Σd^2 Σd व N के मूल्य रख कर प्रमाप विचलन ज्ञात किया जाता है। व्यवहार में कल्पित माध्य की विधि प्रयुक्त करना सुगम होता है। वैयक्तिक मदों का वास्तविक माध्य से विचलन जितना ज्यादा होगा प्रमाप विचलन का मूल्य उतना ही ऊँचा होगा और वैयक्तिक मदों का वास्तविक माध्य से विचलन जितना कम होगा प्रमाप विचलन उतना ही कम होगा। प्रमाप विचलन एक निरपेक्ष माप (absolute measure) होता है जैसे- यदि हम परीक्षा में प्राप्त अंकों का प्रमाप विचलन लेते हैं तो परिणाम अंकों में आयगा जैसे कि वास्तविक माध्य में आता है। यदि दिये हुए मूल्य आमदनी के हैं तो परिणाम मुद्रा में आवेगा यदि ये वर्षों में हैं तो परिणाम वर्ष में व्यक्त किया जायगा आदि आदि।

लेकिन दो भिन्न भिन्न सिरीज की विचलनों की तुलना करने में हमें प्रमाप विचलन के स्थान पर प्रमाप विचलन के गुणांक (coefficient of standard deviation) का प्रयोग करना होगा जिसके लिए प्रमाप विचलन में वास्तविक माध्य का भाग दिया जाता है। अत प्रमाप विचलन का गुणांक $= \frac{\sigma}{\overline{X}}$ होता है। स्वाभाविक है यह एक सापेक्ष माप (relative measure) होने के कारण केवल अनुपात के रूप में व्यक्त किया जाता है। इसके साथ कोई इकाई जैसे टन, रुपया, वर्ष आदि नहीं लिखे जाते हैं।

प्रमाप विचलन के गुणांक को 100 से गुणा करने पर विचरण गुणांक (*coefficient of* Variation) (*C V*) प्राप्त होता है जो $= \frac{\sigma}{\overline{X}} \times 100$ होता है। यह तुलना में मदद देता है।

(2) खण्डित सिरीज (discrete series) में प्रमाप-विचलन की गणना

यहाँ हम प्रत्यक्ष व लघु दोनों विधियों का प्रयोग दर्शाते हैं।

(i) प्रत्यक्ष विधि

(मूल्य) X	(आवृत्ति) f	वास्तविक माध्य $\overline{X} = 3$ से विचलन $x = X - \overline{X}$	x^2	fx^2
1	2	−2	4	8
2	4	−1	1	4
3	8	0	0	0
4	4	1	1	4
5	2	2	4	8
	$\Sigma f = N = 20$			$\Sigma fx^2 = 24$

$$\sigma = \sqrt{\frac{\Sigma fx^2}{N}} = \sqrt{\frac{24}{20}}$$ (यहाँ $N =$ कुल आवृत्ति अथवा Σf है)

$$= \sqrt{1\,2} = 1\,095$$

यहाँ हमें पहले वास्तविक माध्य निकालना होगा। इसके लिए माध्य का सूत्र लगाकर गणना करनी होगी। फिर $x = X - \overline{X}$ ज्ञात करना होगा। उसके बाद x^2 का कॉलम और अत में सम्बन्धित आवृत्ति (frequency) से गुणा करके fx^2 ज्ञात करना होगा। उसके बाद $\sigma = \sqrt{\frac{\Sigma f x^2}{N}}$ सूत्र लागू करके प्रमाप विचलन ज्ञात किया जायेगा।

(ii) लघु-विधि (short method)

(मूल्य) X	(आवृत्ति) f	(कल्पित माध्य) = 2 = A से विचलन d = (X–A)	d^2	fd	fd^2
1	2	–1	1	–2	2
2	4	0	0	0	0
3	8	1	1	8	8
4	4	2	4	8	16
5	2	3	9	6	18
	$\Sigma f = N = 20$			$\Sigma fd = 20$	$\Sigma fd^2 = 44$

$$\sigma = \sqrt{\frac{\Sigma fd^2}{N} - \left(\frac{\Sigma fd}{N}\right)^2} = \sqrt{\frac{44}{20} - \left(\frac{20}{20}\right)^2} = \sqrt{2 2 - 1}$$

$$= \sqrt{1 2}$$

$$= 1 095$$

कल्पित माध्य 2 के अलावा और कुछ भी लिया जा सकता है। इस विधि में वास्तविक माध्य ज्ञात करने की आवश्यकता नहीं होती।

(3) संतत सिरीज (Continuous series) मे प्रमाप-विचलन की गणना

यहाँ लघु विधि (short method) का उपयोग करना ज्यादा आसान होगा।

सतत सिरीज में प्राय पद विचलन (step deviation) लिये जाते हैं जिसके लिए कॉमन फैक्टर का प्रयोग किया जाता है।

इसके विभिन्न चरण नीचे दिये जाते हैं—

(i) पहले मध्य बिन्दु लीजिए,

(ii) कल्पित माध्य से विचलन ज्ञात कीजिए (X–A) = d

(iii) कॉमन फैक्टर लगाकर d' ज्ञात कीजिए।

(iv) फिर fd' व fd'^2 के कॉलम बनाइये

(v) अत में $\sigma = \sqrt{\frac{\Sigma fd'^2}{N} - \left(\frac{\Sigma fd'}{N}\right)^2} \times i$ लगाकर प्रमाप विचलन निकाला जा सकता है। यहाँ i = कॉमन फैक्टर का सूचक होता है।

प्रश्न 1 पहले समान्तर माध्य के अध्याय में दिया गया प्रश्न यहाँ हल किया गया है।
निम्नलिखित में प्रमाप विचलन व इसका गुणाक निकालिए

वर्गान्तर	1 5	6 10	11 15	16 20	21 25	26 30	31 35
आवृत्ति	5	7	18	25	20	4	1

(Raj Final yr 1988)

हल—

वर्ग	f	मध्य बिंदु (x)	कल्पित माध्य = 18 = A से विचलन (X – A) = d	d i = 5 लेने पर	fd	fd² = fd × d
1 5	5	3	–15	–3	–15	45
6-10	7	8	–10	–2	–14	28
11 15	18	13	–5	–1	–18	18
16-20	25	18	0	0	0	0
21 25	20	23	5	1	20	20
26-30	4	28	10	2	8	16
31 35	1	33	15	3	3	9
	N = 80				Σ fd = –47 + 31 = –16	Σfd² = 136

$$\sigma = \sqrt{\frac{\Sigma fd^2}{N} - \left(\frac{\Sigma fd}{N}\right)^2} \times i$$

$$\sigma = \sqrt{\frac{136}{80} - \left(\frac{-16}{80}\right)^2} \times 5$$

$$= \sqrt{\frac{17}{10} - \left(\frac{1}{25}\right)} \times 5$$

$$= \sqrt{1\ 70 - 0\ 04} \times 5$$

$$= \sqrt{1\ 66} \times 5$$

$$= 1.29 \times 5$$

$\sigma = 6\ 45$ तथा प्रमाप विचलन का गुणाक $= \frac{\sigma}{\overline{X}} = \frac{6\ 45}{17} = 0.379$ ($\overline{X} = 17$ पहले माध्य के अध्याय से लिया गया है)

प्रश्न 2 निम्न आकड़ों की सहायता से प्रमाप विचलन तथा उसका गुणाक निकालिए

अक (से अधिक)	0	10	20	30	40	50	60	70	80	90
विद्यार्थियों की सख्या	100	90	78	55	36	25	12	6	3	1

(Ajmer Final yr II paper 1988)

हल—

वर्ग	f	मध्य-बिंदु (x)	कल्पित माध्य A = 50 से विचलन d = (X–A)	पद विचलन i = 5 मानकर d	fd	fd ^{2}
0-10	10	5	–45	–9	–90	810
10-20	12	15	–35	–7	–84	588
20-30	23	25	–25	–5	–115	575
30-40	19	35	–15	–3	–57	171
40-50	11	45	–5	–1	–11	11
50-60	13	55	5	1	13	13
60-70	6	65	15	3	18	54
70-80	3	75	25	5	15	75
80-90	2	85	35	7	14	98
90-100	1	95	45	9	9	81
	N = 100				Σfd = –357 + 69–288	Σfd ^{2} = 2476

$$\sigma = \sqrt{\frac{\Sigma fd'^2}{N} - \left(\frac{\Sigma fd}{N}\right)^2} \times i$$

$$= \sqrt{\frac{2476}{100} - \left(\frac{-288}{100}\right)^2} \times 5$$

$= \sqrt{24\ 76 - 8.29} \times 5 = \sqrt{16\ 47} \times 5 = 4\ 058 \times 5 = 20.29$ अक

माध्य के अध्याय से निकाला गया $\overline{X} = 35\ 6$ अक

∴ प्रमाप विचलन का गुणाक $= \frac{\sigma}{\overline{X}} = \frac{20.29}{35\ 6} = 0.57$

प्रश्न 3. निम्न आँकडों से माध्य व प्रमाप विचलन ज्ञात कीजिए—

वर्ग	आवृत्ति
9.5-14.5	1
14.5-19.5	7
19.5-24.5	5
24.5-29.5	5
29.5-34.5	2

हल—

वर्ग	f	मध्य बिन्दु (X)	कल्पित माध्य A = 22 से विचलन d = X–A	i = 5 लेकर विचलन d	fd	Σfd ^{2}
9 5 14 5	1	12	–10	–2	2	4
14 5 19 5	7	17	–5	–1	–7	7
19 5 24 5	5	22	0	0	0	0
24 5 29 5	5	27	5	1	5	5
29 5 34 5	2	32	10	2	4	8
	N = 20				fd = –9 + 9 = 0	fd ^{2}=24

$$\overline{X} = A + \frac{\Sigma fd}{N} \times \iota = 22 + \frac{0}{20} \times 5 = 22$$

$$\sigma = \sqrt{\frac{\Sigma fd^2}{N} - \left(\frac{\Sigma fd}{N}\right)^2} \times \iota$$

$$= \sqrt{\frac{24}{20} - \left(\frac{0}{20}\right)^2} \times 5$$

$$= \sqrt{1 2} \times 5 = 1 095 \times 5 = 5 48$$

प्रश्न 4 निम्नलिखित स प्रमाप विचलन ज्ञात करें–

मद का आकार	6	7	8	9	10	11	12
आवृति	3	6	9	13	8	5	4

हल

X	f	कल्पित माध्य A = 9 से विचलन d = (X–A)	fd	fd^2 = fd× d
6	3	–3	–9	27
7	6	–2	–12	24
8	9	–1	–9	9
9	13	0	0	0
10	8	1	8	8
11	5	2	10	20
12	4	3	12	36
	N = 48		Σfd = –30 + 30 = 0	Σfd^2 = 124

$$\sigma = \sqrt{\frac{\Sigma fd'}{N} - \left(\frac{\Sigma fd}{N}\right)^2}$$

$$= \sqrt{\frac{124}{48} - \left(\frac{0}{48}\right)^2} = \sqrt{\frac{31}{12}} = \sqrt{2\,583} = 1\,61$$

दो या अधिक सिरीज के माध्य व प्रमाप विचलन दिये होने पर हम उनका सयुक्त माध्य व सयुक्त प्रमाप विचलन निकाल सकते हैं।

इनके सूत्र नीचे दिये जाते हैं– X_1 व X_2 दो सिरीज के अलग अलग माध्य हैं तथा σ_1 व σ_2 उनके प्रमाप विचलन हैं। N_1 व N_2 उनकी मदों की सख्याएँ हैं।

सयुक्त माध्य का सूत्र–

$$X_{12} = \frac{N_1 \overline{X}_1 + N_2 \overline{X}_2}{N_1 + N_2}$$

$$\sigma_{12} = \sqrt{\frac{N_1(\sigma_1^2 + d_1) + N(\sigma_2 + d')}{N_1 + N_2}}$$

यहाँ d_1 = पहले सिरीज के माध्य व सयुक्त माध्य का अतर है

तथा d_2 दूसरे सिरीज के माध्य व सयुक्त माध्य का अतर है।

उदाहरण

प्रश्न 5 दो सिरीज के माध्य क्रमश 50 व 40 हैं उनके प्रमाप विचलन 5 व 6 हैं तथा उनकी सख्याएँ 100 व 150 हैं। सयुक्त माध्य व सयुक्त प्रमाप विचलन ज्ञात करें।

हल $\overline{X}_{12} = \frac{N_1 \overline{X}_1 + N_2 \overline{X}_2}{N_1 + N_2} = \frac{(100 \times 50) + (150 \times 40)}{100 + 150}$

सयुक्त माध्य $= \frac{5000 + 6000}{250} = \frac{11000}{250} = 44$

यहाँ $d_1 = 50 - 44 = 6$

तथा $d_2 = 40 - 44 = -4$

सयुक्त प्रमाप विचलन $\sigma_1 = \sqrt{\frac{N_1(\sigma_1 + d_1^2) + N(\sigma_2 + d^2)}{N_1 + N_2}}$

$$= \sqrt{\frac{100\,(25 + 36) + 150\,(36 + 16)}{100 + 150}}$$

$$= \sqrt{\frac{6100 + 7800}{250}} = \sqrt{\frac{13900}{250}} = \sqrt{55\,6} = 7\,46$$

अत सयुक्त माध्य = 44

तथा सयुक्त प्रमाप विचलन = 7 46 होगा।

माध्य व प्रमाप विचलन का एक सिरीज की मदों की सीमाएँ निर्धारित करने में काफी उपयोग होता है।

$\overline{X} \pm \sigma$ के अन्तर्गत एक सिरीज की 68 27% मदें आती हैं

$\overline{X} \pm 2\sigma$ के अन्तर्गत 95 45% मदें आती हैं तथा

$\overline{X} \pm 3\sigma$ के अन्तर्गत 99 73% मदें आती हैं।

उदाहरण मान लीजिए किसी परीक्षा में माध्य अक = 52 प्राप्त हुए और अकों का प्रमाप विचलन 5 रहा, तो यह माना जा सकता है कि 99 73% विद्यार्थियों को अक $\overline{X} \pm 3\sigma = 52 \pm 15$ अर्थात् 37 से 67 के बीच में अक प्राप्त हुए। उत्पादकों को इस प्रकार की जानकारी से अपने माल का आकार निर्धारित करने में काफी मदद मिलती है।

प्रमाप-विचलन की गणितीय विशेषताएँ (Mathematical Properties of S D)

माध्य की भाँति प्रमाप विचलन की भी अपनी गणितीय विशेषताएँ होती हैं जिसके कारण इसे विचरणों के माप में काफी ऊँचा स्थान प्राप्त है। ये विशेषताएँ निम्नांकित होती हैं।

(1) हम पहले देख चुके हैं जिस प्रकार दो या अधिक सिरीज के अलग अलग माध्यों से हम सयुक्त माध्य निकाल सकते हैं, उसी प्रकार दो या अधिक सिरीज के प्रमाप विचलन दिये होने पर हम उनका सयुक्त प्रमाप विचलन (Combined S D) ज्ञात कर सकते हैं।

यह विशेषता विचरण के अन्य मापों, जैसे चतुर्थक विचलन (Q D) व माध्य विचलन (M D) में नहीं पायी जाती।

(2) क्रमवार धनात्मक अकों (natural numbers) जैसे 1, 2, 3, 4, 5 का प्रमाप विचलन निम्न सूत्र की सहायता से ज्ञात किया जा सकता है—

$\sigma = \sqrt{\frac{1}{12}(N^2 - 1)}$ जैसे 1 से 10 तक की क्रमवार संख्याओं का प्रमाप विचलन $= \sqrt{\frac{1}{12} \times 99} = \sqrt{8\ 25} = 2\ 87$ होगा।

(3) वास्तविक गणितीय औसत या माध्य (actual mean) से किसी सिरीज की वैयक्तिक मदों के विचलनों का वर्ग जोडने पर न्यूनतम योग देता है, अर्थात् $\Sigma x^2 = \Sigma (X - \overline{X})^2$ न्यूनतम होता है।

(4) जैसा कि ऊपर दर्शाया गया है $\overline{X} \pm \sigma$, $\overline{X} \pm 2\sigma$, तथा $\overline{X} \pm 3\sigma$ एक सिरीज की मदों की क्रमश 68 27%, 95 45% तथा 99 73% सीमाओं को बतला सकते हैं।

इस प्रकार प्रमाप विचलन की उपर्युक्त गणितीय विशेषताओं के कारण इसका व्यापक रूप में प्रयोग किया जाता है। यह विचरणों में सर्वश्रेष्ठ माप माना गया है। विचरण गुणाक (coefficient of variation) $= \frac{\sigma}{\overline{X}} \times 100$ ज्ञात करके दो या अधिक सिरीज के विचरणों की परस्पर तुलना भी की जा सकती है।

इसके अन्य गुण इस प्रकार होते हैं—

(1) यह माध्य की भाँति, एक सिरीज के सभी मूल्यों पर आधारित होता है। इसमें कोई भी मूल्य छोडा नहीं जाता है।

(2) इसमें विचलनों का वर्ग लेने से ऋणात्मक विचलन भी धनात्मक बन जाते हैं। इससे गणना में सहूलियत बढ जाती है।

(3) एक विषय के अलग अलग सेम्पलों के प्रमाप–विचलनों में अतर प्राय कम पाया जाता है, जिससे इसमें सेम्पलिंग स्थिरता का गुण होता है। यही गुण माध्य में भी पाया जाता है।

(4) इसका उपयोग अन्य साख्यिकीय मापों जैसे सह-सम्बन्ध (correlation), प्रसरण (variance), आदि में भी किया जाता है।

दोष–(1) माध्य की भाँति इस पर भी चरम मूल्यों (बहुत ऊँचे व बहुत नीचे मूल्यों) का प्रभाव अधिक पडता है।

(2) वास्तविक माध्य व दिये हुए मूल्यों के अतर का वर्ग लेना गणितीय दृष्टि से सही नहीं माना गया है, हालाकि आगे चल कर इसका वर्गमूल लेने से यह दोष कुछ सीमा तक कम हो जाता है। कुछ दशाओं में विचरण के अन्य माप भी प्रयुक्त किये जाते हैं जैसे सीमा (range), माध्य विचलन (M D) आदि।

अत हम यह कह सकते है कि जिस प्रकार केन्द्रीय प्रवृत्ति के मापो मे गणितीय माध्य सर्वश्रेष्ठ माना गया है उसी प्रकार इस पर आधारित प्रमाप-विचलन अपकिरण के मापो मे सर्वश्रेष्ठ व एक आदर्श माप माना गया है।

प्रश्न

1 प्रमाप विचलन का अर्थ व इसकी गणितीय विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

2. निम्न में प्रमाप-विचलन ज्ञात कीजिए

10 विद्यार्थियों के एक परीक्षा में प्राप्ताक

14, 15, 23, 20, 10, 30, 19, 18, 16, 25 [σ = 5.53 अक]

3 निम्न तालिका में 100 विद्यार्थियों के परीक्षा के अक दिये हुए हैं। उनके आधार पर माध्य व प्रमाप विचलन ज्ञात कीजिए।

अक	विद्यार्थियों की सख्या
10-20	19
20-30	3
30-40	2
40-50	49
50-60	24
60-70	2
70-80	0
80-90	1
	100

[$\overline{X}$ = 41 7 अक]

[σ = 14 9 अक]

7 नीचे 10 व्यक्तियों के साप्ताहिक वेतन दिये हुए हैं

120, 110, 115, 122, 126, 140, 125, 121, 110 व 131

इनके वेतन का प्रमाप विचलन ज्ञात कीजिए।

[σ = 7.89]

8 निम्न आँकडों की सहायता से माध्य व प्रमाप विचलन ज्ञात कीजिए।

X	10	11	12	13	14
f	3	12	18	12	3

[$\bar{X}$ = 12, σ = 1]

9 निम्न आकडों की सहायता से माध्य व प्रमाप विचलन ज्ञात करें—

X	6	9	12	15	18
आवृति	7	12	19	10	2

[$\bar{X}$ = 11 28, σ = 3 15]

10 नीचे वार्शिग मशीनों के दो मॉडल A व B दिये हुए हैं तथा उनका कार्यकाल (वर्षों में) दिया हुआ है। आप कौन सी वार्शिग मशीन खरीदना पसद करेंगे?

कार्यकाल (वर्षों में)	वार्शिग मशीनों की सख्या	
	मॉडल A	मॉडल B
0 2	5	3
2-4	16	7
4-6	13	12
6-8	7	19
8 10	5	9
10-12	4	0
	50	50

[मॉडल B की वार्शिग मशीन पसद की जायगी क्योंकि उसमें C V = 37 62% है तथा मॉडल A में यह 54 92% ज्यादा है। अत मॉडल B में एकरूपता ज्यादा है अथवा विचरण कम है। इसलिए इसे पसद किया जायेगा।]

11 सक्षिप्त टिप्पणी लिखिए

(i) प्रमाप विचलन की गणितीय विशेषताएँ

(ii) प्रमाप विचलन के गुण,

(iii) प्रमाप विचलन व माध्य की सहायता से सिरीज की मदों की सीमाओं का निर्धारण,

(iv) प्रमाप विचलन विचलनों के मापों में श्रेष्ठ क्यों माना जाता है?



सूचनांकों की अवधारणा
(The Concept of Index Numbers)

आजकल आर्थिक चर्चाओं में सूचनाकों अथवा सूचकाकों या निर्देशाकों की भरमार पायी जाती है। उत्पादन की चर्चा में उत्पादन-सूचनाकों का तथा कीमतों की चर्चा में कीमत-सूचनाकों का प्रयोग एक आम बात हो गई है। भारत सरकार द्वारा प्रकाशित वार्षिक आर्थिक सर्वेक्षण में कई प्रकार के सूचनाक देखने को मिल सकते हैं। यह कहना गलत न होगा कि हम वस्तुत सूचनाकों के युग में रह रहे हैं। इसलिए प्रारम्भिक विवेचन में इनसे परिचित होना आवश्यक है।

सूचनाक का अर्थ—आमतौर पर यह देखा जा सकता है कि सूचनाक एक अक होता है जो किसी भी चलराशि की तुलना किसी आधार वर्ष की स्थिति से करता है। जैसे मान लीजिए, दिल्ली शहर में 1984 में 140 सडक-दुर्घटनाएँ हुई और 1994 में इनकी 350 सख्या हो गई। इसी तथ्य को सूचनाकों की भाषा में इस प्रकार कहेंगे कि यदि 1984 की दिल्ली की सडक-दुर्घटनाओं को 100 के बराबर मान लिया जाए, तो 1994 में इनका सूचनाक $\frac{350}{140} \times 100 = 250$ होगा, जिससे तुलना में सहूलियत हो जायेगी। इससे स्पष्ट होता है कि 1994 में 1984 की तुलना में दिल्ली में सडक-दुर्घटनाओं में (250–100) = 150 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस प्रकार सूचनाकों में (i) एक आधार वर्ष की स्थिति को 100 के बराबर मान लिया जाता है, और (ii) किसी अन्य वर्ष के वास्तविक अक को सूचनाक में बदल लेते हैं, ताकि उसकी तुलना आधार वर्ष से सुगमतापूर्वक की जा सके।

भारत के आर्थिक सर्वेक्षण 1994-95 में यह दिया गया है कि 1950-51 में भारत की प्रतिव्यक्ति आय (1980-81 के भावों पर) 1126.9 रुपये से बढकर 1993-94 में (पुन = 1980-81 के ही भावों पर) 2282.3 रुपये हो गयी। इसी को सूचनाकों के रूप में व्यक्त करने पर कहते कि भारत की प्रतिव्यक्ति आय 1950-51 में 100 से बढ़कर 1993-94 में $\frac{2282.3}{1126.9} \times 100 = 202.5$ हो गई। इससे तुरन्त तुलना की जा सकती है। 1993-94 में भारत की प्रतिव्यक्ति आय 1950-51 की तुलना में (स्थिर भावों पर) (202.5–100) = 102.5% बढ गई। इस प्रकार सूचनाक वे अक होते हैं जो तुलना के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं। क्रोक्स्टन, काउडेन व क्लाइन के अनुसार **"सूचनांक वे साधन होते हैं जो परस्पर सम्बद्ध चलराशियों के समूह की मात्रा के अतरों को मापने के काम आते हैं।"**[1] ये अतर

1 "Index numbers are devices for measuring differences in the magnitude of a group of related variables"—Croxton, Cowden and Klein, Applied General Statistics, Third Edition, 1967, p 343

वस्तुओं की कीमतों के बारे में हो सकते हैं माल के उत्पादन की मात्रा के बारे में हो सकते हैं अथवा बुद्धिमता' सुन्दरता अथवा कार्यकुशलता के बारे में हो सकते हैं। इनके विषय में तुलना दो अवधियों के लिए की जा सकती है अथवा दो स्थानों के बीच की जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचन में हमें सूचनाक के वास्तविक स्वरूप का कुछ परिचय मिलता है। हम कीमत स्तर (*price level*) को प्रत्यक्ष रूप से नहीं माप सकते। हम अमुक वस्तुओं की कीमतों को तो जान सकते हैं लेकिन विभिन्न वस्तुओं की कीमतों पर आधारित कीमत स्तर को जानने के लिए हमें कीमत सूचनांकों का सहारा लेना पड़ता है। भारत में आजकल थोक मूल्यों के सूचनांक 1981 82 के आधार वर्ष पर तैयार करके प्रति सप्ताह उद्योग मंत्रालय में आर्थिक सलाहकार के कार्यालय द्वारा प्रकाशित किये जाते हैं। पहले इसका आधार वर्ष 1970 71 हुआ करता था। 1981 82 के नये सिरीज में 447 अलग अलग मदें शामिल की गई हैं जबकि 1970 71 के सिरीज में 360 मदें ही थीं। कीमतों के सम्बन्ध में अखिल भारतीय उपभोक्ता मूल्य सूचनांक भी बनाये जाते हैं जिनका भी आधार वर्ष 1960 से बदलकर अब 1982 हो गया है। नये सिरीज में 70 केन्द्र शामिल किये गये हैं जबकि पहले वाले सिरीज में 50 केन्द्र थे। इस प्रकार कीमत सूचनांकों के बारे में दो महत्वपूर्ण सिरीज चल रहे हैं एक का सम्बन्ध थोक मूल्य सूचनांकों से है तथा दूसरे का उपभोक्ता मूल्य सूचनांकों से है।

इसी प्रकार हम उत्पादन-कृषिगत या औद्योगिक-को प्रत्यक्ष रूप से नहीं माप सकते हैं (हालांकि इनमें हम व्यक्तिगत फसलों की पैदावार या व्यक्तिगत उद्योगों के उत्पादन को माप सकते हैं) । लेकिन कृषिगत उत्पादन में कई प्रकार की फसलों का उत्पादन शामिल होता है और औद्योगिक उत्पादन में भी कई प्रकार की औद्योगिक वस्तुओं का उत्पादन शामिल होता है। इन सबको जानने का तरीका कृषिगत उत्पादन के सूचनांक बनाना तथा औद्योगिक उत्पादन के सूचनांक बनाना है।

भारत में कृषिगत उत्पादन के सूचनांक अभी तक 1969 70 तक के त्रिवर्षीय औसत के आधार पर तैयार किये जाते रहे हैं। अब इन्हें 1981-82 को समाप्त होने वाले त्रिवर्षीय औसत के आधार पर प्रकाशित किया जाने लगा है। इसी प्रकार अब औद्योगिक उत्पादन के सूचनांकों का नया आधार वर्ष 1980 81 = 100 हो गया है जबकि यह पहले 1970 = 100 हुआ करता था।

कहने का आशय यह है कि सूचनांकों के माध्यम से 'कीमत-स्तर' अथवा 'उत्पादन स्तर' जैसी चलराशियों के कार्यक्षेत्र का परिचय मिल जाता है।

सूचनांकों के निर्माण से सम्बन्धित प्रश्न–

1 सूचनांक का उद्देश्य स्पष्टतया परिभाषित करना
2 आधार वर्ष का चुनाव करना व एक अवधि के बाद उसमें परिवर्तन करना
3 इसमें शामिल की जाने वाली मदों का चुनाव करना
4 आँकड़ों के स्रोतों का चुनाव करना
5 आँकड़े एकत्र करना
6 भार देने की विधि निश्चित करना अथवा भार का प्रारूप या चित्र (Weighting diagram) तैयार करना तथा

7 सूचनाक बनाने की विधि निश्चित करना। इन पर सक्षेप में नीचे प्रकाश डाला जाता है।

1. सूचनाक का उद्देश्य स्पष्टतया परिभाषित करना

किसी भी सूचनाक के बनाने का उद्देश्य पूर्णतया स्पष्ट होना चाहिए। इसी पर अन्य बातों के निर्णय भी निर्भर करेंगे। जैसे भरत में थोक मूल्य सूचनाक (Wholesale Price Index) (नया आधार वर्ष 1981-82 = 100) थोक मूल्यों का उपयोग करता है और इसमें पूंजीगत वस्तुएँ भी शामिल की जाती हैं, क्योंकि इसका उद्देश्य देश में मुद्रास्फीति की दर (rate of inflation) ज्ञात करना होता है। यह दो तरह से निकाली जाती है, प्रथम, एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक (अर्थात् एक वर्ष के किसी सप्ताह के अत में पाये जाने वाले अक की तुलना किसी दूसरे वर्ष के उसी के समीप क सप्ताह के अत से की जा सकती है), अथवा एक वर्ष के 52 सप्ताहों के औसत के सूचनाक की तुलना किसी दूसरे वर्ष के 52 सप्ताहों के औसत से की जा सकती है। इस प्रकार थोक मूल्य सूचनाक का उद्देश्य मुद्रास्फीति की वार्षिक दर ज्ञात करना होता है। इसलिए इसमें काफी वस्तुओं के थोक भाव शामिल किये जाते है।

इसके विपरीत उपभोक्ता मूल्य सूचनाक (Consumer Price Index) का उद्देश्य जीवन-व्यय (Cost of living) में होने वाले परिवर्तनों की जाँच करना होता है ताकि उनके अनुरूप श्रमिकों का महगाई भत्ता बढ़ाकर कीमत-वृद्धि से होने वाली क्षति की पूर्ति की जा सके। इसलिए इसमे सेवाओं को भी शामिल किया जाता है और इसमें खुदरा भावो (retail prices) का उपयोग होता है। ये अलग अलग स्थानो के श्रमिको के लिए अलग-अलग बनाये जाते है, क्योंकि उनका उपयोग एक-सा नही होता। इसी वजह से आजकल हमारे देश में कई प्रकार के उपभोक्ता मूल्य सूचनाक पाये जाते हैं। इनमें से प्रमुख के नाम इस प्रकार है–

(i) औद्योगिक श्रमिको के लिए उपभोक्ता-मूल्य-सूचनाक (अखिल भारतीय स्तर पर) (नया आधार वर्ष 1982 = 100, पुराना 1960 = 100)

(ii) शहरी गैर-शारीरिक कर्मचारियो (urban non-manual employees) के लिए उपभोक्ता मूल्य सूचनाक (आधार वर्ष 1984-85 = 100)

(iii) खेतिहर मजदूरों के लिए उपभोक्ता मूल्य सूचनाक (आधार-वर्ष जुलाई 1960 से जून 1961 = 100)

इन सूचनाकों का उपयोग अलग अलग वर्ग के श्रमिकों के लिए किया जाता है। एक *वर्ग के सूचनाक का उपयोग दूसरे वर्ग के लिए नहीं किया जा सकता क्योंकि इनके उपभोग* के प्रारूप (consumption pattern) एक से नहीं होते।

अत सूचनाक बनाने से पहले यह तय करना आवश्यक है कि उसका उद्देश्य क्या है। बाकी के फैसले आगे चलकर उसी के अनुरूप किये जायेंगे।

2. आधार-वर्ष का चुनाव व एक अवधि के बाद उसमे परिवर्तन

सूचनाकों के सम्बन्ध में दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न आधार वर्ष (base year) के चुनाव का होता है। यह एक सामान्य वर्ष होना चाहिए, न बहुत अच्छा और न बहुत बुरा, ताकि आगे तुलना करना सार्थक हो सके। यदि कोई एक वर्ष सामान्य बनता न दिखे तो कुछ वर्षों के

औसत को आधार-वर्ष बनाया जा सकता है, जैसे हमारे देश में अब तक कृषिगत उत्पादन के सूचनांकों के सम्बन्ध में 1969 70 को समाप्त होने वाले तीन वर्षों के औसत को आधार वर्ष लिया गया था, बाद में बदल कर इसे 1981-82 को समाप्त होने वाले तीन वर्षों के औसत को 100 के बराबर किया गया है।

आधार वर्ष आगे चलकर बदलना भी पड़ता है ताकि उसमें नई परिस्थितियों को शामिल किया जा सके, जैसे उत्पादन सूचनाक में नई वस्तुओं के उत्पादन को शामिल करना जरूरी हो जाता है और जो वस्तुएँ अब उत्पादित नहीं की जातीं उनको हटाना भी जरूरी हो जाता है। अत एक विशेष अवधि के बाद सूचनांकों का नया सिरीज चालू किया जाता है जैसे थोक मूल्यों का सूचनाक पहले 1970 71 के आधार वर्ष पर था, जो अब 1981-82 पर लाया गया है। आधार वर्ष बदलने का कार्य विशेषज्ञ समिति की राय से किया जाता है।

उपभोक्ता मूल्य सूचनांकों में आधार वर्ष बदलना ज्यादा कठिन होता है, क्योंकि उसमें श्रमिकों के पारिवारिक बजटों का अध्ययन करके नये सिरे से भार निकालने होते हैं जो एक जटिल व लम्बी प्रक्रिया होती है।

3 किसी भी सूचनाक के उद्देश्य व क्षेत्र के अनुसार उसमें शामिल की जाने वाली मदें चुननी होती हैं। आर्थिक विकास के साथ साथ उन मदों में विस्तार व परिवर्तन करना जरूरी होता है। यही कारण है कि प्राय थोक मूल्यों के सूचनांकों में हर बार नई मदें शामिल की जाती हैं, ताकि उसमें नये परिवर्तनों को शामिल किया जा सके और सूचनाक सही स्थिति बतला सके।

4. आकड़ो के स्रोतों का चुनाव—सूचनाक की प्रकृति के बाद सही आँकडे एकत्र करने के स्रोत चुने जाते हैं जैसे उपभोक्ता मूल्य सूचनांकों के लिए खुदरा भाव उन स्थानों से एकत्र किये जाते हैं जहाँ से अमुक श्रेणी के श्रमिक अपनी खरीद किया करते हैं।

5 आँकड़े एकत्र करना—आँकडे एकत्र करने के लिए आवश्यक एजेन्सी व सगठन तैयार करना होता है। कर्मचारियों को प्रशिक्षण दिया जाता है। उपभोक्ता मूल्य सूचनांकों के लिए निश्चित दुकानों से निश्चित दिनों में खुदरा भाव ज्ञात किये जाते हैं ताकि उपभोक्ता के जीवन व्यय में होने वाले परिवर्तनों का सही अनुमान लगाया जा सके। इसमें किसी प्रकार की लापरवाही नहीं बरती जानी चाहिए।

6 भार देने की विधि निर्धारित करना या भार का प्रारूप (Weighting diagram) तैयार करना—आजकल प्राय भारित सूचनाक (weighted index numbers) ही बनाये जाते हैं। सूचनांकों की प्रामाणिकता व शुद्धता उचित किस्म के भारों पर निर्भर करती है। इसलिए किसी भी सूचनाक के लिए भार पूरी सावधानी से चुने जाने चाहिए। भार का अर्थ है कि प्रत्येक मद को उस सूचनाक में कितना वजन दिया जाता है। जैसे उपभोक्ता मूल्य सूचनांकों मे प्रत्येक मद का भार आधार-वर्ष मे उस मद पर औसत पारिवारिक बजट मे किये गये प्रतिशत व्यय के आधार पर निर्धारित होना है। जैसे मान लीजिए, कुल मासिक व्यय मे दूध पर कुल व्यय का 10% व्यय होता है और कपड़ा धोने को साबुन पर 2% तथा खाद्य तेल पर 5% होता है, तो दूध, साबुन व खाद्य-तेल की मदों का भार क्रमशः 10, 2 व 5 माना जायगा (कुल भार 100 लेने पर)।

प्रत्येक सूचनांक का अपना-अपना भारित स्वरूप (Weighting pattern) होता है जिसका बड़ा महत्त्व होता है। भारत में थोक मूल्य-सूचनांकों व उपभोक्ता मूल्य सूचनांकों के भार अलग-अलग होते है। थोक मूल्य-सूचनांकों के भार अर्थव्यवस्था में सम्पूर्ण थोक लेन-देनों के मूल्य पर आधारित होते है, जिनमें (i) कृषिगत पदार्थों के सम्बन्ध में बिक्री किये गये या बिक्री योग्य अतिरिक्त माल का मूल्य शामिल होता है, तथा (ii) बिक्री के लिए गैर-कृषिगत पदार्थों का मूल्य शामिल होता है, जिसमें उत्पादन-शुल्क व आयातित वस्तुओं का कुल मूल्य (आयात शुल्कों सहित) शामिल किया जाता है। थोक मूल्यों के सूचनांकों (WPI) में खाद्य-समूह (Food-group) का कुल भार 27.5% (1981-82 के सिरीज में) है, जबकि उपभोक्ता मूल्य सूचनांकों (CPI) में यह 57% है (1982 के सिरीज में)। इस प्रकार भारों के निर्धारण का प्रश्न सूचनांकों के निर्माण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। भारत में WPI व CPI की प्रवृत्तियों में अन्तरों की तुलना करते समय भारों (Weights) के प्रश्न सामने आते हैं। अतः भारों के निर्धारण को समझना आवश्यक माना जाता है।

7. **सूचनांक बनाने की विधि**–सूचनांक बनाने की विधियों का आगे चलकर विवेचन किया गया है। उपभोक्ता-मूल्य-सूचनांक (1982) के निर्माण में लास्पेयर का सूत्र $\frac{\Sigma P_1 q_0}{\Sigma P_0 q_0} \times 100$ काम में लिया जाता है। सूचनांकों के निर्माण में ज्यामितीय माध्य ज्यादा वैज्ञानिक माना जाता है। लेकिन सरलता की दृष्टि से समान्तर माध्य का भी उपयोग किया जाता है। सूचनांक स्थिर आधार विधि (fixed base method) व शृंखला-आधार विधि (Chain base method) पर तैयार किये जाते हैं। प्रथम में मूल्य-अनुपात (price relatives) बनाये जाते हैं, और दूसरे में लिंक-अनुपात (link relatives) बनाये जाते हैं। शृंखला-आधार विधि का उपयोग नई वस्तुओं को सूचनांक में शामिल करने व पुरानी वस्तुओं को सूचनांक से हटाने में मदद देता है। इन सबका स्पष्टीकरण संख्यात्मक उदाहरणों में आगे चलकर यथास्थान किया जायगा।

अब हम सूचनांक बनाने की विधियों का विवेचन करेंगे।

इस सम्बन्ध में निम्न दो विधियों पर ध्यान दिया जाना चाहिए–

(i) समग्र व्यय–विधि या भारित समग्र विधि (Aggregative Expenditure Method or weighted Aggregative Method)

(ii) पारिवारिक बजट विधि या भारित अनुपातों के औसत की विधि (Family Budget Method or Weighted Average of Relatives Method) इसे भारित मूल्यानुपात-विधि भी कहा जाता है।

(I) **भारित समग्र-विधि (Weighted Aggregative Method) का वर्णन**–इसे भारित समूह विधि भी कह सकते हैं। इसका सूत्र निम्नांकित होता है

वर्तमान वर्ष का सूचनांक $\frac{\Sigma P_1 q_0}{\Sigma P_0 q_0} \times 100$ होता है। इस प्रकार वर्तमान मूल्य को आधार वर्ष की मात्रा से गुणा करके कुल योग में आधार-वर्ष की कीमत को आधार-वर्ष की मात्रा से गुणा करके प्राप्त योग से विभाजित किया जाता है। यह क्रम तालिका में स्पष्ट किया गया है–

उदाहरण

मद	आधार-वर्ष की मात्रा q_0	आधार-वर्ष की कीमत p_0 (1984)	चालू वर्ष की कीमत p_1 (1994)	आधार वर्ष का कुल व्यय $p_0 q_0$	चालू वर्ष का कुल व्यय $p_1 q_0$
A	10	2	3	20	30
B	20	3	6	60	120
C	5	1	0.50	5	2.50
				$\Sigma p_0 q_0 = 85$	$\Sigma p_1 q_0 = 152.50$

सूत्र के अनुसार वर्तमान वर्ष (1994) का सूचनाक $\frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0} \times 100$

$= \frac{152.50}{85} \times 100 = 179.4$

इस प्रकार वर्तमान वर्ष में कीमत स्तर आधार वर्ष की तुलना में 79.4% बढा है।

(2) पारिवारिक बजट की विधि या भारित अनुपातों के औसत की विधि (Weighted average of relatives method)–

इसका सूत्र $\frac{\Sigma IV}{\Sigma V}$ होता है,

जहाँ $I = \frac{p_1}{p_0} \times 100$ (वर्तमान वर्ष के लिए कीमत-सापेक्ष)

V = मूल्य भार (Value-Weight) = $p_0 q_0$

पूर्व तालिका के आँकडों के अनुसार–

मद	आधार-वर्ष की मात्रा q_0	आधार-वर्ष की कीमत p_0 (1984)	वर्तमान वर्ष की कीमत p_1 (1994)	1994 के लिए कीमत-अनुपात (price-relatives) $\frac{p_1}{p_0} \times 100 = I$	मूल्य-भार $p_0 q_0 = V$	IV = (4)×(5)
	(1)	(2)	(3)	(4)	(5)=(1) × (2)	(6)
A	10	2	3	$\frac{3}{2} \times 100 = 150$	20	3000
B	20	3	6	200	60	12000
C	5	1	0.50	50	5	250
					$\Sigma V = 85$	$\Sigma IV = 15250$

$\therefore$ 19˚4 के लिए सूचनाक $\frac{\Sigma IV}{\Sigma V} = \frac{15250}{85} = 179.4$ जो पिछले उत्तर के समान है।

उपर्युक्त दोनों विधियों में या लून चाऊ (Ya Lun Chou) के अनुसार दूसरी विधि,

अर्थात् भारित अनुपातो के आसत या पारिवारिक बजट की विधि ज्यादा उपयोगी मानी गयी है। इसके निम्न कारण हैं-

1 इसमें विभिन्न मदों के कीमत अनुपातों (price-relatives) के होने से उनके बारे में उपयोगी सूचना मिल जाती है। जैसे, ऊपर की तालिका में कॉलम (4) में 150 इस बात का सूचक है कि 1994 में A मद में 1984 की तुलना में कीमत में 50% की वृद्धि हुई। इसी प्रकार की जानकारी B व C के लिए मिल जाती है।

2 इस विधि से बन विभिन्न सूचनाकों को मिलाकर सयुक्त सूचनाक बनाया जा सकता है।

3 जब कोई नई वस्तु पुरानी के बदले शामिल की जाती है तो नई मद का अनुपात (relative) पुरानी के अनुपात से जोडा जा सकता है और इसके लिए पुराने मूल्य भार प्रयुक्त किये जा सकते हैं।

नीचे सूचनांकों के निर्माण स सम्बन्धित कुछ प्रश्न हल किये जाते हैं-

प्रश्न 1 निम्नलिखित वर्ग सूचकाकों से वर्ष 1992, 1993 व 1994 के लिए उपभोक्ता मूल्य सूचकाकों की रचना कीजिए-

वर्ग-सूचकाक (Group Indices)

वर्ग	भार	वर्ष 1992	1993	1994
भोजन	48	250	275	305
वस्त्र	18	135	150	325
ईंधन	7	200	250	300
किराया	13	325	400	600
अन्य	14	300	320	350

हल- उपभोक्ता मूल्य सूचकाकों का निर्माण-

वर्ग	भार	1992 के सूचकाक	1992 के भारित अनुपात	1993 के सूचकाक	1993 के भारित अनुपात	1994 के सूचकाक	1994 के भारित अनुपात
	V	I	IV	I	IV	I	IV
भोजन	48	250	12000	275	13200	305	14640
वस्त्र	18	135	2430	150	2700	325	5850
ईंधन	7	200	1400	250	1750	300	2100
किराया	13	325	4225	400	5200	600	7800
अन्य	14	300	4200	320	4480	350	4900
कुल	100		24255		27330		35290

$$1992 \text{ के लिए उपभोक्ता मूल्य सूचकाक} = \frac{\Sigma IV}{\Sigma V} = \frac{24255}{100} = 242.55$$

$$1993 \text{ के लिए उपभोक्ता मूल्य सूचकाक} = \frac{27330}{100} = 273.30$$

1994 के लिए उपभोक्ता मूल्य सूचकांक $= \frac{35290}{100} = 352.90$ उत्तर

प्रश्न 2 निम्नलिखित समंकों से 1993 को आधार मान कर 1994 के लिए पारिवारिक बजट रीति से जीवन निर्वाह सूचकांक बनाइये–

वस्तुएँ	उपभोग की मात्रा 1993	इकाई	1993 कीमत (रु. में)	1994 कीमत (रु. में)
गेहूँ	5 क्विं	प्रति क्विं	100	120
बाजरा	2 क्विं	प्रति क्विं	50	75
ज्वार	1 क्विं	प्रति क्विं	60	90
मूंग	1 क्विं	प्रति क्विं	100	140
घी	10 किलोग्राम	प्रति क्विं	500	650
गुड़	40 किलोग्राम	प्रति क्विं	80	160
चीनी	50 किलोग्राम	प्रति क्विं	200	340
नमक	10 किलोग्राम	प्रति क्विं	5	6
ईंधन	5 क्विंटल	प्रति क्विं	10	16
मकान भाड़ा	—	प्रति मकान	50	80

हल– पारिवारिक बजट रीति से जीवन-निर्वाह सूचकांक का निर्माण

वस्तुएँ	उपभोग की मात्रा 1993	इकाई प्रति क्विं	1993 कीमत (रु.) P_0	1994 कीमत (रु.)	कीमत अनुपात $I = \frac{P_1}{P_0} \times 100$	मूल्य भार p_0q_0 = V	IV
गेहूँ	5 क्विं	प्रति क्विं	100	120	120	500	60 000
बाजरा	2 क्विं	प्रति क्विं	50	75	150	100	15 000
ज्वार	1 क्विं	प्रति क्विं	60	90	150	60	9 000
मूंग	1 क्विं	प्रति क्विं	100	140	140	100	14 000
घी	10 क्विं	प्रति क्विं	500	650	130	50	6,500
गुड़	40 कि.ग्रा.	प्रति क्विं	80	160	200	32	6 400
चीनी	50 कि.ग्रा.	प्रति क्विं	200	340	170	100	17 000
नमक	10 कि.ग्रा.	प्रति क्विं	5	6	120	0.50	60
ईंधन	5 क्विं	प्रति क्विं	10	16	160	50	8 000
मकान-भाड़ा	—	प्रति मकान	50	80	160	50	8 000
						ΣV = 1042.50	ΣIV = 1,43,96[illegible]

जीवन निर्वाह सूचकांक $= \frac{\Sigma IV}{\Sigma V} = \frac{143960}{1042.50} = 138.09$

स्थिर-आधार व शृखला-आधार पर सूचनाक
(Index Number on Fixed base method and Chain-base method)

सूचनाक स्थिर आधार विधि से बनाये जा सकते हैं अथवा शृखला आधार विधि स बनाये जा सकते हैं। इनका उदाहरण सहित विवरण नीचे दिया जाता है–

1 स्थिर-आधार विधि पर सूचनाक–

इसमें आधार वर्ष स्थिर रखा जाता है। पहले प्रत्येक वर्ष की कीमतों को आधार वर्ष की कीमतों से तुलना करके कीमत अनुपात (price relatives) तैयार किये जाते हैं। फिर उनका औसत (साधारणतया माध्य) लिया जाता है जिससे विभिन्न वर्षों क सूचनाक प्राप्त हो जाते हैं। यह विधि सरल होती है। इसमें आधार वर्ष सामान्य हाना चाहिए। यदि वह सामान्य वर्ष नहो है तो कुछ वर्षों के औसत को 100 के बराबर मानकर आधार के रूप में लिया जा सकता है। उदाहरण–निम्न समकों का उपयोग करके सूचनाक बनाइए (i) स्थिर आधार विधि का उपयोग करके तथा (ii) शृखला आधार विधि का उपयोग करके।

वर्ष	कीमत (रु.)	कीमत (रु.)	कीमत (रु.)
	वस्तु A	वस्तु B	वस्तु C
1984	8	6	4
1989	10	12	8
1994	18	18	12

हल–

(i) 1984 को आधार-वर्ष मानकर सूचनाक बनाना–

वस्तु	कीमत	1989	1994	कीमत अनुपात	(price relatives)	
	1984 p_0	p_1	p_2	1984	1989	1994
A	8	10	18	100	$\frac{p_1}{p_0} \times 100 = 125$	$\frac{p_2}{p_0} \times 100 = 225$
B	6	12	18	100	200	300
C	4	8	12	100	200	300
			कुल	300	525	825
		औसत (कीमत-अनुपातों का)		100	175	275

अत स्थिर आधार विधि के सूचकाक इस प्रकार होंगे

1984	*100*
1989	175
1994	275

(ii) शृखला-आधार विधि (Chain-base method)–

इस विधि में प्रत्येक वर्ष की कीमत को उससे पिछले वर्ष की कीमत से तुलना करके लिंक-अनुपात या शृखला मूल्यानुपात (link relatives) बनाये जाते हैं। फिर उनका औसत

लिया जाता है। इसके बाद उनको एक प्रारम्भ के स्थिर वर्ष से आधार वर्ष के रूप में जोडा जाता है (Chained to a fixed base) जिससे शृखला आधार पर सूचनाक बन जाते हैं।

लाभ–

(i) व्यापारी को शृखला आधार पर तैयार किये गये सूचनाक ज्यादा रुचिप्रद लगते हैं क्योंकि इनमें लिंक अनुपातों (link relatives) को देखकर एक वर्ष की स्थिति की तुलना उसमे ठीक पिछले वाले वर्ष से की जा सकती है। इसका भी अपना महत्त्व होता है।

(ii) इसमें नई मदें को जोडना व पुरानी मदों को घटाना आसान होता है। आज की बदलती दुनिया में इसका काफी उपयोग होने लगा है। लेकिन इस विधि से बहुत लम्बी अवधि में तुलना करने में कठिनाई होती है।

स्मरण रहे कि शृखला आधार विधि भी एक प्रकार से स्थिर आधार पर ही सूचनाक बनाने की विधि होती है। लेकिन इसकी प्रक्रिया प्रथम विधि से काफी भिन्न होती है। इसमे लिंक अनुपातों को आपस में किसी स्थिर वर्ष पर जोड़ कर सूचनाक बनाये जाते हैं। *इसलिए हम लिंक-अनुपातों से शृखला आधार वाले सूचनाकों पर जा सकते है, अथवा* शृखला आधार वाले सूचनाको से वापस लिंक-अनुपातो पर आ सकते है (From link relatives to Chain base index numbers, or from chain base index numbers to link relatives)। पुस्तको मे व कभी कभी परीक्षाओं मे जो प्रश्न स्थिर-आधार के सूचनाको से शृखला आधार के सूचनाको (from fixed base index *numbers to chain base index*) में परिवर्तित करने के लिए पूछे जाते है, उनका कोई औचित्य नही होता। अत इस सम्बन्ध मे कोई भ्रम नही रहना चाहिए। इसका अधिक स्पष्टीकरण निम्न उदाहरण से हो जायगा–

(ii) शृखला आधार पर सूचनाक बनाना–(पिछली तालिका का उपयोग करके)

वस्तु	कीमत			लिंक अनुपातों की राशियाँ (link relatives)		
	1984	1989	1994	1984	1989	1994
	p_0	p_1	p_2			
A	8	10	18	100	$\frac{p_1}{p_0} \times 100$ = 125	$\frac{p_2}{p_1} \times 100$ = 180
B	6	12	18	100	200	150
C	4	8	12	100	200	150
लिंक-अनुपातों का योग				300	525	480
लिंक-अनुपातों का औसत (Average of link relatives)				100	175	160
(Chain base Indices) शृखला आधार पर सूचनाक				100	175	$\frac{160}{100} \times 175 =$ 280

इस प्रकार शृखला आधार के सूचनांक इस प्रकार होंगे

1984	100
1989	175
1994	280

आवश्यक स्पष्टीकरण-

लिंक अनुपातों से शृखला आधार के सूचनांकों पर जाने के लिए प्रथम दो वर्षों के परिणाम यथावत रहेंगे। तीसरे वर्ष के लिंक अनुपातों में हम 100 का भाग देकर दूसरे वर्ष के शृखला सूचनांक से गुणा करके तीसरे वर्ष का शृखला आधार वाला सूचनांक प्राप्त कर पायेंगे जैसा कि ऊपर तालिका में तीसरे वर्ष 1994 के लिए $\left(\frac{160}{100} \times 175\right) = 280$ के रूप में प्राप्त किया गया है। इसी प्रकार चौथे वर्ष के लिंक अनुपातों में (यदि वह दिया हुआ हो) तो 100 का भाग देकर तीसरे वर्ष के शृखला सूचनांक 280 से गुणा करके चौथे वर्ष का शृखला आधार का सूचनांक प्राप्त किया जायगा, और यही क्रम आगे के वर्षों के लिए भी जारी रखा जायेगा। यह एक बार जटिल लगता है, लेकिन कुछ प्रश्नों पर अभ्यास करने के बाद बहुत आसान हो जायगा। हम एक बार फिर स्मरण दिलाना चाहेंगे कि यदि कभी कोई परिवर्तन करना हो तो वह लिंक-अनुपातों से शृखला-आधार के सूचनांकों में होता है, अथवा वापस शृखला-आधार के सूचनांकों से लिंक-अनुपातों की तरफ होता है। इसके कुछ प्रश्न नीचे दिये जाते हैं-

प्रश्न—निम्न औसत शृखला मूल्यानुपातों (average link Relatives) से शृखला सूचकांक तैयार कीजिए-

वर्ष	1982	1983	1984	1985	1986
औसत	100	105	95	115	102

शृखला मूल्यानुपात

हल-

वर्ष	औसत शृखला-मूल्यानुपात (link-relatives)	शृखला-सूचनांक (Chain Index Nos)
1982	100	100
1983	105	105
1984	95	$\frac{95}{100} \times 105 = 99\ 75$
1985	115	$\frac{115}{100} \times 99\ 75 = 114\ 71$
1986	102	$\frac{102}{100} \times 114\ 71 = 117\ 0$

अत शृखला सूचनांक क्रमश 100, 105, 99 75, 114 71 व 117 0 होंगे। ये सभी अक 1982 = 100 से जुड गये हैं।

इसीलिए शृखला-सूचनांक भी अपने ढग का स्थिर आधार वाला सूचनांक माना गया है।

प्रश्न—निम्न शृंखला सूचनाकों को लिंक अनुपातों (link relatives) में बदलिये और दोनों का अर्थ समझाइए—

वर्ष	1982	1983	1984	1985	1986
शृंखला-सूचनांक	100	105	99 75	114 71	117 0

हल—

वर्ष	शृंखला सूचनांक	शृंखला-मूल्यानुपात या लिंक-अनुपात
1982	100	100
1983	105	105
1984	99 75	$\frac{99\ 75}{105} \times 100 = 95$
1985	114 71	$\frac{114\ 71}{99\ 75} \times 100 = 115$
1986	117 0	$\frac{117\ 0}{114\ 71} \times 100 = 102$

इस प्रकार लिंक अनुपात क्रमश = 100, 105 95, 115 व 102 आते हैं।

(1) *शृंखला-सूचनाको का अर्थ*-प्रश्न मे दी गई सूचना के अनुसार 1986 में कीमत स्तर 1982 की तुलना में 17 प्रतिशत अधिक रहा, 1985 में यह 1982 की तुलना में 14 71 प्रतिशत अधिक रहा, आदि, आदि।

इसमे प्रत्येक वर्ष के स्तर की तुलना स्थिर वर्ष 1982 से की जाती है।

(2) लिंकअनुपातो का अर्थ-1983 में कीमत स्तर 1982 की तुलना में 5 प्रतिशत ऊँचा रहा, 1984 में 1983 की तुलना में 5 प्रतिशत नीचा रहा, 1985 में 1984 की तुलना में 15 प्रतिशत ऊँचा रहा, एव 1986 में 1985 की तुलना में 2 प्रतिशत ऊँचा रहा। इसमें एक वर्ष के स्तर की तुलना उसी के पिछले वर्ष के स्तर से की जाती है।

सूचनाको से सम्बन्धित अन्य प्रश्न—

आधार-वर्ष को परिवर्तित करना व दो आधार-वर्ष वाले सूचनाकों को एक आधार-वर्ष पर लाना

(i) आधार-वर्ष परिवर्तित करना **(Base shifting)**—

कभी कभी कुछ कारणों से सूचनाकों का आधार वर्ष बदलना जरूरी हो जाता है। एक कारण तो यह हो सकता है कि पहले का आधार वर्ष पुराना पड गया है, और कोई हाल का वर्ष आधार वर्ष के रूप में लेना आवश्यक हो गया है। सूचनाकों के दो सिरीज की तुलना करने के लिए उन्हें एक कॉमन आधार वर्ष पर लाना आवश्यक हो सकता है। आधार वर्ष बदलने की प्रक्रिया बहुत आसान होती है। यह निम्न उदाहरण से समझाया गया है। निम्न सिरीज को 1995 के आधार वर्ष पर बदलिए—

सूचनांक (1990 = 100)

1990	1991	1992	1993	1994	1995
100	120	140	150	165	200

हल

वर्ष	सूचनांक (1990 = 100)	नया (1995 = 100) आधार-वर्ष
1990	100	50
1991	120	60
1992	140	70
1993	150	75
1994	165	$\frac{165}{200} \times 100 = 82.5$
1995	200	100

1995 के लिए पूर्व सूचनांक 200 था, जिसे अब 100 बनाना है। 100 अंक 200 अंक का $\frac{1}{2}$ है अत सभी सूचनांक पहले से आधे कर दिये गये हैं।

सूचनांकों के दो सिरीज को जोड़ना (Splicing of index numbers)

किसी भी आर्थिक क्षेत्र में जब दो सिरीज साथ साथ चलते हैं तो तुलना के लिए उनको परस्पर जोड़ना आवश्यक हो जाता है। इसके लिए लिंक-अनुपात ज्ञात कर लेते हैं। यह निम्न उदाहरण में स्पष्ट किया गया है।

उदाहरण-निम्न तालिका अखिल भारतीय उपभोक्ता मूल्य सूचनांकों के आँकड़े आधार-वर्ष 1960 = 100 व 1982 = 100 पर दिये हुए हैं। उन्हें 1960 के आधार वर्ष पर जोड़कर एक पूरा सिरीज तैयार करिए[1] उसका परिणाम भी बताइए।

(महीनों का औसत)

आधार 1960 = 100		आधार 1982 = 100
1983-84	547	111
1984-85		118
1985-86		126
1986-87		137
1987-88		149
1988-89		163
1989 90		173
1990-91		193
1991 92		219
1992-93		240
1993-94		258
1994-95		279
1995 96		313

हल—यहाँ लिंकिंग फैक्टर (linking factor) $\frac{547}{111} = 4\,928$ आता है। अत 1984-85 व

1 Economic Survey 1996-97, p S.66 से प्राप्त। ये वास्तविक आंकड़े हैं।

बाद में आधार 1982 = 100 के सभी सूचनाकों को 4 928 गुणा करके उन वर्षों के लिए आधार 1960 = 100 पर सूचनाक प्राप्त हो जायेंगे। 1960 के आधार वर्ष पर जोडने से पूरा सिरीज नीचे दिखाया गया है।

आधार (1960 = 100) (सामान्य सूचनाक)

1983 84	547
1984-85	118 × 4 928 = 581 5
1985 86	126 × 4 928 = 620 9
1986 87	137 × 4 928 = 675 1
1987 88	149 × 4 928 = 734 3
1988-89	163 × 4 928 = 803 3
1989 90	173 × 4 928 = 852 5
1990 91	193 × 4 928 = 951 1
1991 92	219 × 4 928 = 1079 2
1992 93	240 × 4 928 = 1182 7
1993 94	258 × 4 928 = 1271 4
1994 95	279 × 4 928 = 1374 9
1995 96	313 × 4 928 = 1542 5

इन आँकडों की सहायता से यह स्पष्ट हो जाता है कि 1995 96 में उपभोक्ता मूल्य सूचकाक (1960 = 100 मानने पर) लगभग 1543 हो गया। इसका अर्थ यह है कि 1960 में 100 रुपयों में जो वस्तुएँ व सेवाएँ आती थी उनको प्राप्त करने के लिए 1994 95 में लगभग 1543 की आवश्यकता हुई। इस प्रकार 1995 96 में रुपये का मूल्य घटकर 1960 की तुलना में 6.5 पैसे मात्र रह गया।

सूचनाको की सहायता से 'डिफ्लेट' करने की प्रक्रिया–

सूचनाको का प्रयोग कुछ चलराशियो को प्रचलित मूल्यो से किसी विशेष वर्ष के स्थिर मूल्यो पर लाने के लिए बहुत प्रचलित हो गया है। उत्पादन की प्रगति के अध्ययन में हमें उत्पत्ति के मूल्य को, अथवा जोडे गये मूल्य को (Value added) को प्रचलित मूल्यों से स्थिर मूल्यों पर लाना होता है, तभी तुलना सार्थक होती है। इसी प्रकार स्थिर पूँजी (fixed capital) विनियोग, मजदूरी, उपभोग व्यय आदि के आँकडों को भी किसी विशेष वर्ष के आधार पर समायोजित (adjust) करना पडता है। यह कार्य आवश्यक सूचनाकों की सहायता से किया जाता है। उदाहरण के लिए हम मौद्रिक रूप में प्राप्त मजदूरी को उपभोक्ता मूल्य सूचनाकों से 'डिफ्लेट' या समायोजित करके वास्तविक मजदूरी की जानकारी कर सकते हैं।

यह निम्न उदाहरण की सहायता से समझाया गया है। –

उदाहरण–निम्न तालिका में सार्वजनिक क्षेत्र के कर्मचारियो की प्रति व्यक्ति आमदनी के वार्षिक आँकडे दिये गये हैं। साथ में 1960 = 100 के आधार पर इन्ही वर्षों के लिए अखिल भारतीय उपभोक्ता मूल्य सूचनाक भी दिये गये हैं। इनसे प्रति व्यक्ति आमदनी को डिफ्लेट' करके 1960 के आधार पर वास्तविक प्रति व्यक्ति आमदनी ज्ञात कीजिए–

वर्ष	प्रति व्यक्ति मौद्रिक आमदनी (रु. में)	उपभोक्ता-मूल्य सूचनाक का औसत (1960 = 100)
1989-90	43665	855
1990 91	49179	951
1991 92	56508	1079
1992-93	64983	1185
1993-94	72043	1272
1994-95	84429	1402

(स्रोत —Economic Survey 1996-97 p S-54)

हल—

वर्ष	प्रति व्यक्ति मौद्रिक आमदनी	उपभोक्ता मूल्य सूचनाक	प्रति व्यक्ति वास्तविक आमदनी (real income)
1989-90	43665	855	5107 0
1990-91	49179	951	5171.3
1991-92	56508	1079	5237 1
1992-93	64983	1185	5483.8
1993-94	72043	1272	5663.8
1994-95	84429	1402	6022

प्रति व्यक्ति वास्तविक आमदनी (1960 के आधार पर) ज्ञात करने की प्रक्रिया बहुत सरल होती है, जैसे 1989-90 की प्रति व्यक्ति वास्तविक आमदनी $\frac{43665}{855} = 5107.0$ रुपये होगी। इसी प्रकार अन्य वर्षों के लिए भी प्रति व्यक्ति वास्तविक आमदनी प्रति व्यक्ति मौद्रिक आमदनी की तुलना में बहुत कम है, जो महगाई के प्रभाव को सूचित करती है। इस क्षति की पूर्ति के लिए सरकार महगाई भत्ता देती है जिससे कुछ सीमा तक कर्मचारियों को राहत मिल पाती है।

एच.एल. चंधोक (H.L. Chandhok) (1978 व 1990) ने डिफ्लेशन में प्रयुक्त करने के लिए आवश्यक थोक मूल्य सूचनाक उपलब्ध किये हैं, जो रिसर्च करने वालों के लिए बहुत उपयोगी होते हैं।

फिशर का "आदर्श" सूचनाक

प्रोफेसर इरविंग फिशर ने 134 सूचनाकों के सूत्रों की व्यापक जाच के बाद सूचनांक बनाने का अपना सूत्र दिया है, जो काफी लोकप्रिय रहा है। •

यह सूत्र नीचे दिया जाता है—

$$P_{01} = \sqrt{\frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0} \times \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_1}} \times 100$$

यह लास्पेयर(Laspeyres) के सूत्र

$P_{01} = \frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0}$ (जिसमें आधार वर्ष की मात्राओं को भार के रूप में प्रयुक्त किया जाता है) तथा

पाशे (Paasche) के सूत्र

$P_{01} = \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_1}$ (जिसमें वर्तमान वर्ष की मात्राओं को भार के रूप में प्रयुक्त किया जाता है) का ज्यामितीय माध्य (Geometric mean) है।

फिशर ने अपने सूत्र की विशेषताओं में बतलाया है कि यह दो जाँचों को पूरा करता है, इसलिए यह एक आदर्श सूत्र है। ये दो तरह के परीक्षण (tests) निम्नांकित हैं–

(i) समय-उत्क्राम्यता या परिवर्तन-परीक्षण (Time Reversal Test)—इसका अर्थ यह है कि आगे की दिशा में जो सूचनाक बनाया जाता है, वह पिछली दिशा में बनाये गये सूचनाक का उल्टा (reciprocal) होता है, अर्थात् निम्न समीकरण को पूरा करता है।

$P_{01} \times P_{10} = 1$

सरल शब्दों में इसे हम यों भी कह सकते हैं कि यदि 1980 से 1990 के बीच कीमत सूचनाक दुगुना (आधार वर्ष 1980 = 100) हो गया तो यह 1980 में 1990 को आधार वर्ष मानने पर आधा हो जायगा। इसका प्रमाण नीचे दिया जाता है–

$$P_{01} = \sqrt{\frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0} \times \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_1}} \text{ (मूल सूत्र के अनुसार)}$$

अब 0 की जगह 1 व 1 की जगह 0 रखने पर

$$P_{10} = \sqrt{\frac{\Sigma p_0 q_1}{\Sigma p_1 q_1} \times \frac{\Sigma p_0 q_0}{\Sigma p_1 q_0}} \text{ होगा,}$$

$$\text{जिससे } P_{01} \times P_{10} = \sqrt{\frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0} \times \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_1} \times \frac{\Sigma p_0 q_1}{\Sigma p_1 q_1} \times \frac{\Sigma p_0 q_0}{\Sigma p_1 q_0}} = 1 \text{ होगा।}$$

(हल करने के बाद)

(ii) तत्त्व-उत्क्राम्यता या परिवर्तन-परीक्षण (Factor Reversal Test)–

फिशर के सूत्र में समय तत्त्व व मात्रा तत्त्व पाये जाते हैं। फिशर का कहना है कि इनको आपस में बदल दिया जाय तो भी परिणाम सगत (Consistent) ही निकलेंगे। दूसरे शब्दों में, कीमतों व मात्राओं को परस्पर बदलकर इनको गुणा करने से असली मूल्य अनुपात आ जायगा

$$\text{अर्थात् } P_{01} \times Q_{01} = V_{01} = \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_0} \text{ होगा।}$$

$$\text{पुन } P_{01} = \sqrt{\frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0} \times \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_1}}$$

$$\text{तथा } Q_{01} = \sqrt{\frac{\Sigma q_1 p_0}{\Sigma q_0 p_0} \times \frac{\Sigma q_1 p_1}{\Sigma q_0 p_1}} \text{ (} p \text{ की जगह } q \text{ व } q \text{ की जगह } p \text{ रखने पर)}$$

जिससे $P_{01} \times Q_{0_1} = \sqrt{\frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0} \times \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_1} \times \frac{\Sigma q_1 p_0}{\Sigma q_0 p_0} \times \frac{\Sigma q_1 p_1}{\Sigma q_0 p_1}}$

$= \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_0}$ (चूँकि ऊपर $\Sigma p_1 q_1$ दो बार आया है और नीचे $\Sigma p_0 q_0$ दो बार आया है)

इस प्रकार फिशर का सूत्र तत्त्व परिवर्तन के परीक्षण को भी सन्तुष्ट करता है। अब हम फिशर के आदर्श सूत्र से सम्बन्धित प्रश्न को हल करते हैं—

प्रश्न- नीचे दिये समकों से फिशर का आदर्श निर्देशांक ज्ञात कीजिये तथा यह भी बताइये कि समय उत्क्राम्यता परीक्षण तथा तत्त्व उत्क्राम्यता परीक्षण को यह किस प्रकार सन्तुष्ट करता है—

वस्तु	आधार वर्ष कीमत	आधार वर्ष मात्रा	चालू वर्ष कीमत	चालू वर्ष मात्रा
A	6	50	10	56
B	2	100	2	120
C	4	60	6	60
D	10	30	12	24
E	8	40	12	36

हल—

वस्तु	आधार वर्ष कीमत p_0	आधार वर्ष मात्रा q_0	चालू वर्ष कीमत p_1	चालू वर्ष मात्रा q_1	$p_0 q_0$	$p_1 q_0$	$p_1 q_1$	$p_0 q_1$
A	6	50	10	56	300	500	560	336
B	2	100	2	120	200	200	240	240
C	4	60	6	60	240	360	360	240
D	10	30	12	24	300	360	288	240
E	8	40	12	36	320	480	432	288
				योग	1360	1900	1880	1344
					$\Sigma p_0 q_0$	$\Sigma p_1 q_0$	$\Sigma p_1 q_1$	$\Sigma p_0 q_1$

फिशर का आदर्श सूचनांक

$$P_{01} = \sqrt{\frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0} \times \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_1}} \times 100$$

$$= \sqrt{\frac{1900}{1360} \times \frac{1880}{1344}} \times 100$$

$$= \sqrt{\frac{22325}{11424}} \times 100$$

$= \sqrt{1.9542} \times 100$

$= 1.398 \times 100 = 139.8$

(i) समय-उत्क्राम्यता परीक्षण की पुष्टि के लिए—

$P_{01} \times P_{10} = 1$, अर्थात् $\sqrt{\frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0} \times \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_1} \times \frac{\Sigma p_0 q_1}{\Sigma p_1 q_1} \times \frac{\Sigma p_0 q_0}{\Sigma p_1 q_0}} = 1$

या $\sqrt{\frac{1900}{1360} \times \frac{1880}{1344} \times \frac{1344}{1880} \times \frac{1360}{1900}} = \sqrt{1} = 1$ (प्रमाणित)

(ii) तत्व-उत्क्राम्यता-परीक्षण की पुष्टि के लिए—

$P_{01} \times Q_{01} = V_{01} = \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_0}$ होना चाहिए,

$= \sqrt{\frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0} \times \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_1} \times \frac{\Sigma q_1 p_0}{\Sigma q_0 p_0} \times \frac{\Sigma q_1 p_1}{\Sigma q_0 p_1}}$

$= \sqrt{\frac{1900}{1360} \times \frac{1880}{1344} \times \frac{1344}{1360} \times \frac{1880}{1900}}$

$= \sqrt{\frac{1880}{1360} \times \frac{1880}{1360}} = \frac{1880}{1360} = \frac{\Sigma p_1 q_1}{\Sigma p_0 q_0}$ दायीं तरफ (प्रमाणित)

उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए अब हम सूचनाकों के महत्त्व व उपयोगों को स्पष्ट करते हैं, तथा साथ में इनकी सीमाएं भी बतलाते हैं।

1. सूचनाकों का महत्त्व व उपयोग—

हमने देखा कि आजकल आर्थिक समस्याओं के विश्लेषण व विवेचन में सूचनाकों की भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण हो गई है। *विशेषतया उत्पादन व कीमतों के सूचनाक बहुत ज्यादा* प्रयुक्त होने लगे हैं। सूचनाकों से हमें निम्न लाभ प्राप्त होते हैं—

(i) आर्थिक नीतियाँ निर्धारित करने में योगदान—

मुद्रास्फीति की वार्षिक दर थोक मूल्यों के सूचनाकों व उपभोक्ता मूल्यों के सूचनाकों पर निर्भर करती है। इनके आधार पर देश की मौद्रिक नीति व राजकोषीय नीति निर्धारित की जाती है। कृषिगत उत्पादन व औद्योगिक उत्पादन सूचनाकों का उपयोग देश की कृषिगत नीति व औद्योगिक नीति के निर्धारण में किया जाता है।

(ii) *आर्थिक प्रगति व प्रवृत्तियों को जानने में सूचनाक सहायक होते हैं। ये व्यापार की* दशाओं को स्पष्ट करते हैं।

(iii) भावी आर्थिक क्रिया के अनुमान लगाने में सूचनाकों का प्रयोग किया जाता है। ये दीर्घकालीन परिवर्तनों व अल्पकालीन उच्चावचनों के अध्ययन में मदद देते हैं।

(iv) ये चालू मूल्यो से स्थिर मूल्यों मे 'डिफ्लेट' करने मे महत्त्वपूर्ण योगदान देते है। उत्पत्ति के मूल्य, जोडे गये मूल्य (Value added), स्थिर पूँजी (fixed capital), मौद्रिक मजदूरी, आदि को स्थिर मूल्यों पर डिफ्लेट करके वास्तविक स्थिति की जानकारी की जाती है। आजकल अर्थशास्त्र में रिसर्च में ये 'डिफ्लेटर्स' बहुत काम आते हैं और इनका निर्माण सूचनाकों के आधार पर ही किया जाता है।

(v) सूचनाक तुलना के साधन होते है—ज्यादातर तुलना करने में सूचनाकों का प्रयोग बहुत प्रचलित है। जिन तत्वों को हम प्रत्यक्ष रूप से नही माप सकते, जैसे व्यापार की दशा, कीमत-स्तर, उत्पादन का स्तर, आदि उनका अध्ययन तो बिना सूचनाकों के सम्भव ही नहीं है।

इस प्रकार सूचनाकों की अनिवार्यता स्पष्ट हो जाती है।

2. सूचनाकों की सीमाएँ (Limitations) –

(i) ये सेम्पल सूचना पर आधारित होते है, जैसे जीवन निर्वाह सूचनाकों में पारिवारिक बजटों के आधार पर भार निर्धारित होते हैं, लेकिन इसके लिए केवल सेम्पल-परिवारों से सूचना एकत्र की जाती है। अत इनके परिणाम सेम्पल सर्वेक्षण की गुणवत्ता व कार्यकुशलता पर निर्भर करते हैं और यह काम काफी जटिल किस्म का होता है जिसे विशेषज्ञ ही कर सकते हैं।

(ii) वस्तुओं की गुणवत्ता (क्वालिटी) में काफी परिवर्तन होता रहता है, इसलिए उन सबका पूरा ध्यान रखना कठिन होता है जिससे सूचनाक कम निश्चित हो जाते हैं।

(iii) सूचनाक बनाने के सूत्र पूर्ण नही होते। किसी में ऊँचा अक आने की सम्भावना होती है तो किसी में नीचा अक आने की। फिशर का सूत्र 'आदर्श' तो है, लेकिन व्यवहार में चालू वर्ष की मात्राओं के आसानी से उपलब्ध न होने से प्रयुक्त नहीं हो पाता। भारत में थोक मूल्य सूचनाक व उपभोक्ता मूल्य सूचनाक बनाने में लास्पेयर का सूत्र $\frac{\Sigma p_1 q_0}{\Sigma p_0 q_0} \times 100$ प्रयुक्त होता है।

(iv) प्राय सूचनाक बनाने के लिए **पर्याप्त आँकड़े ठीक समय पर नही मिलते।**

(v) सूचनाक का प्रयोग अलग-अलग लोग अपने तर्क को सिद्ध करने के लिए किया करते हैं जिससे इनके दुरुपयोग की सम्भावनाएँ बढ जाती है। ऊँचा व नीचा आधार-वर्ष लेकर वर्तमान स्थिति के बारे में कोई भी निष्कर्ष प्रस्तुत किया जा सकता है। अत हम कह सकते हैं कि सूचनाक तीखे औजार की भाँति हैं जिनका प्रयोग बडी सावधानी, सतर्कता व दक्षता के साथ करने से ही उत्तम परिणाम निकल सकते हैं। ये एक प्रकार के औसत हैं जो तुलना में भारी मदद पहुँचाते हैं, और इनका निर्माण व प्रयोग नियमों का पूरी तरह पालन करके ही किया जाना चाहिए, अन्यथा ये घातक सिद्ध हो सकते हैं।

प्रश्न

1. सूचकाकों पर एक लेख लिखिए (Ajmer Iyr., 1996)

2 निम्नलिखित का अर्थ स्पष्ट कीजिए-

(i) साधारण सूचकाक निर्माण के लिए आधार वर्ष का चुनाव (Ajmer Iyr 1993)

(ii) आधार वर्ष का परिवर्तन व दो सूचकाकों के सिरीज को आपस में जोडना (Splicing)

(iii) सूचकाकों में भार (Weights) का उपयोग,

(iv) लिंक अनुपात (link relatives) व कीमत अनुपात (price-relatives) में अतर,

3 लॉरेंज वक्र अथवा सूचकाक की अवधारणा पर एक नोट लिखिये। (Raj, Iyr 1992)

4 निम्नलिखित का उत्तर दीजिए -

(अ) रुपये के मूल्य में परिवर्तनों का अध्ययन करने के लिए कौन से सूचनाक प्रयुक्त किये जायेंगे और क्यों ?

(ब) यदि ब्यावर में वस्त्र-श्रमिकों के लिये उपभोक्ता मूल्य सूचनाक 1985 से 1995 की अवधि में 100 से 200 हो जाते हैं तथा अजमेर में वस्त्र-श्रमिकों के लिए इसी अवधि में 100 से 250 हो जाते हैं, तो क्या अजमेर शहर ब्यावर से अधिक महगा माना जायेगा ?

[(अ) थोक मूल्य सूचनाक, क्योंकि ये अधिक व्यापक होते हैं तथा ज्यादा वस्तुओं के मूल्यों पर आधारित होते हैं।

(ब) यह आवश्यक नही कि इन आँकडों के आधार पर अजमेर शहर ब्यावर से अधिक महगा हो, क्योंकि दोनों शहरों के वस्त्र-श्रमिकों में भार का प्रारूप भिन्न हो सकता है अर्थात् वस्तुओं व सेवाओं का समूह दोनों के लिए भिन्न भिन्न हो सकता है।]

5 निम्नलिखित समकों से वर्ष 1992 को आधार वर्ष मानकर 1993 और 1994 के लिए उपभोक्ता मूल्य सूचनाकों की रचना कीजिए—

		कीमत (रु. में)		
वस्तुएँ	भार	1992	1993	1994
A	4	20 00	21 00	24 00
B	3	1.25	1 00	1.50
C	2	5 00	8 00	8.00
D	1	2.00	2.12	2.25

पहले 1993 और 1994 के लिए मूल्य अनुपात ज्ञात कीजिए। [1992 = 100
1993 = 108 6
1994 = 127.25]

6 फिशर के आदर्श सूत्र की सहायता से निम्नलिखित आँकडों के आधार पर चालू वर्ष के लिए सूचक अक की गणना कीजिए—

वस्तु	आधार-वर्ष की कीमत	आधार वर्ष की मात्रा	चालू वर्ष की कीमत	चालू वर्ष की मात्रा
A	8	50	12	60
B	3	20	4	40
C	10	24	15	30
D	5	100	4	200

[P_{01} = 115.9]

[Σp_1q_0 = 1440, Σp_0q_0 = 1200, Σp_1q_1 = 2130 तथा Σp_0q_1 = 1900]

7 निम्न समंकों से फिशर की विधि से मूल्य सूचनांक ज्ञात कीजिए—

मद	1980 मात्रा (q_0)	1992 कुल व्यय (p_0q_0)	कीमत (p_1)	कुल व्यय (p_1q_1)
A	8	16	4	24
B	10	50	6	30
C	14	56	5	50
D	19	38	2	26

क्या यह समय उत्क्राम्यता जाँच को सन्तुष्ट करता है ?

(Raj., I yr 1993)

[Σp_1q_0 = 200, Σp_0q_0 = 160, Σp_1q_1 = 130 तथा Σp_0q_1 = 103 तथा सूचकांक = 125.9 अथवा लगभग 126] उत्तर

(संकेत—पहले 1980 के लिए p_0 ज्ञात करें तथा 1992 के लिए q_1 ज्ञात करें।)

8 निम्न शृंखला आधार सूचनांकों से लिंक-अनुपात (link relatives) ज्ञात कीजिए—

वर्ष	1990	1991	1992	1993	1994
शृंखला—आधार पर सूचनांक	90	105	102	95	99

[लिंक अनुपात = 90, 116.6, 97.1, 93.1, 104.2]

9 निम्न आँकड़ों से विभिन्न वर्षों के लिए एक व्यक्ति की वास्तविक आय ज्ञात कीजिए। इसके लिए मौद्रिक आय को उपभोक्ता-कीमत सूचनांकों से 'डिफ्लेट' कीजिए।

वर्ष	1989	1990	1991	1992	1993	1994
मौद्रिक आय (रु.) (हजारों में)	36	42	50	55	60	64
उपभोक्ता-कीमत-सूचनांक	100	104	115	160	280	290

[वास्तविक आय (हजारों में) 36, 40.4, 43.5, 34.4, 21.4, 22.1]

(प्रत्येक वर्ष की मौद्रिक आय में उसी वर्ष के उपभोक्ता कीमत-सूचनांक का भाग देने पर)

10 उपर्युक्त प्रश्न में उस व्यक्ति के वास्तविक आय के सूचनांक ज्ञात कीजिए।
[वास्तविक आय के सूचनांक 100 112 2 120 8 95 5 59 4 61 4]
11 चार विभिन्न वस्तुओं के 1984 व 1994 के मूल्य नीचे दिये गये हैं।

(i) भारित समग्र विधि (Weighted aggregative method) व
(ii) पारिवारिक बजट विधि या भारित अनुपातों (मूल्यानुपातों) के औसत की विधि (Weighted average of the relatives method) अपना कर 1994 का सूचनांक ज्ञात कीजिए

समूह	भार	1984	1994
A	5	2.00	4 50
B	7	2.50	3 20
C	6	3 00	4.50
D	2	1 00	1 80

[संकेत – ΣIV 3281 तथा ΣV 20 सूचनांक = $\frac{3281}{20}$ = 164 05]

12 सूचनांकों से सम्बन्धित प्रमुख प्रश्नों का निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत स्पष्ट कीजिए

(i) सूचनांक का उद्देश्य
(ii) आधार वर्ष का चुनाव
(iii) वस्तुओं का चुनाव



परिशिष्ट

200 वस्तुनिष्ठ व लघु प्रश्नों के उत्तर-संकेत सहित

(200 Objective and Short Questions with Hints for Answers)

यहाँ पुस्तक में वर्णित विभिन्न विषयों से सम्बन्धित चुने हुए प्रश्न व उनके उत्तर-संकेत दिये जाते हैं ताकि उनको दोहराने में मदद मिले और परीक्षा में प्रश्नों के उत्तर सही ढग से दिये जा सकें। इस परिशिष्ट के अध्ययन से पाठक विभिन्न प्रकार की भूलों व त्रुटियों से बच सकेंगे। इससे सम्पूर्ण पाठ्यक्रम को एक साथ दोहराने का अवसर मिलेगा और विभिन्न अवधारणाओं (concepts) की जानकारी अधिक स्पष्ट हो सकेगी।

इकाई I

1 जे एन केन्स के अनुसार अर्थशास्त्र के क्षेत्र में किन बातों का समावेश होता है?

उत्तर- (i) अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री (ii) अर्थशास्त्र की प्रकृति, अर्थात् अर्थशास्त्र विज्ञान है या कला अथवा दोनों तथा (iii) अर्थशास्त्र का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध।

2 रिचर्ड जी लिप्से द्वारा अर्थशास्त्र की परिभाषा में किन बातों पर बल दिया गया है?

उत्तर- (i) साधनों का वैकल्पिक उपयोगों में आवटन व उत्पत्ति का वितरण,

(ii) उत्पत्ति व वितरण में परिवर्तन के तरीके तथा

(iii) अर्थव्यवस्था की कार्यकुशलताएँ व अकार्यकुशलताएँ।

3 आर्थिक समस्याएँ कब उत्पन्न होती हैं ?

(अ) आवश्यकताएँ असीमित होती हैं,

(ब) साधन सीमित होते हैं,

(स) सीमित साधनों के वैकल्पिक उपयोग होते हैं,

(द) ऊपर की सभी दशाओं के पाये जाने पर (द)

4 निम्नांकित में से एक अर्थव्यवस्था की कौन-सी समस्या मूलभूत आर्थिक समस्या नहीं है?

(अ) क्या उत्पन्न किया जाय?

(ब) कैसे उत्पन्न किया जाय?

(स) किसके लिए उत्पन्न किया जाय?

(द) निजी मुनाफा कैसे अधिकतम किया जाय? (द)

5 निम्न में से कौन सी समस्याएँ समष्टि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में शामिल होती हैं?

(अ) वस्तुओं का वितरण समाज के सदस्यों में कैसे किया जाय ?
(ब) साधनों का उपयोग उत्पादन व वितरण में कितनी कार्यकुशलता से होता है ?
(स) क्या अर्थव्यवस्था में कुछ साधन बेकार पड़े हैं ?
(द) क्या अर्थव्यवस्था में उत्पादन क्षमता बढ़ रही है ? (स तथा द)

6 उत्पादन सम्भावना वक्र में कौन सी मान्यता नहीं होती ?
(अ) साधनों का अपूर्ण उपयोग
(ब) साधनों का पूर्ण उपयोग
(स) स्थिर टेक्नोलोजी
(द) साधनों का पूर्ण कार्यकुशलता से उपयोग (अ)

7 उत्पादन सम्भावना वक्र सर्वाधिक तेज गति से ऊपर कब जाता है ?
(अ) जब राष्ट्र में बचत की दर बढ़ती है,
(ब) जब टेक्नोलोजी उन्नत होती है,
(स) जब ऊँचा पूँजी निर्माण होता है और साथ में तीव्र गति से आविष्कार होते हैं
(द) सभी दशाओं में। (स)

8 आर्थिक विश्लेषण की मूलभूत मान्यताएँ लिखिए—

उत्तर–(i) किस प्रकार के बाजार को मान कर चल रहे हैं पूर्ण प्रतिस्पर्धा एकाधिकार आदि।

(ii) उपभोक्ता व उत्पादक की विवेकशीलता– उपभोक्ता उपयोगिता अधिकतमकरण करना चाहता है तथा उत्पादक लाभ अधिकतमकरण करना चाहता है।

(iii) टेक्नोलोजी अपरिवर्तित रहती है, अर्थात् दी हुई होती है।

(iv) प्राय निजी उद्यम या स्वतंत्र उद्यमवाली अर्थव्यवस्था को विवेचन का आधार बनाया जाता है।

9 'अन्य बातों के समान रहने' की मान्यता का अर्थ लिखिए।

उत्तर– अर्थशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों या नियमों की अपनी अपनी मान्यताएँ होती हैं, जिन्हें 'सिटरस पेरीबस' (ceteris paribus) अथवा 'अन्य बातों के समान रहने' की मान्यता कहा जाता है। जैसे माँग के नियम में एक वस्तु की कीमत के घटने से उसकी माँग की मात्रा बढ़ती है, और इसके विपरीत भी लागू होता है। लेकिन इसके लिए 'अन्य बातें यथास्थिर' मान ली जाती हैं जैसे उपभोक्ता की आमदनी, उसकी रुचि अरुचि, अन्य वस्तुओं की कीमतें, आदि। इसी प्रकार अन्य आर्थिक नियम अलग अलग मान्यताओं पर आधारित होते हैं।

10 आर्थिक नियमों की विशेषताएँ लिखिए—

उत्तर–(i) ये काल्पनिक (hypothetical) होते हैं, अर्थात् कई प्रकार की मान्यताओं पर आधारित होते हैं।

(ii) ये सापेक्ष किस्म (relative) के होते हैं। प्राय कुछ परिस्थितियों में ही लागू होते हैं।

(स) पूँजी की मात्रा
(द) विनियोग
(ए) निर्यात की राशि
(ऐ) बेरोजगारों की संख्या। [स्टॉक अ, ब स तथा ऐ, प्रवाह द, ए]

18 निम्नांकित में किस चलराशि का किस चलराशि से अनुपात होता है?
(अ) ऋण सेवा राशि का चालू प्राप्तियों (current receipts) से अनुपात,
(ब) मुद्रा की औसत आय लोच (average income elasticity of demand for money)
(स) विदेशी कर्ज की बकाया राशि सकल घरेलू उत्पत्ति के अनुपात के रूप में
(द) निर्यात की राशि आयात की राशि के अनुपात के रूप में

$$\left[(\text{अ})\ \frac{\text{प्रवाह}}{\text{प्रवाह}}\ (\text{ब})\ \frac{\text{प्रवाह}}{\text{स्टॉक}} = \frac{\text{सकल घरेलू उत्पाद (GDP)}}{M_1 \text{ या } M_3}\ (\text{स})\ \frac{\text{स्टॉक}}{\text{प्रवाह}}\ (\text{द})\ \frac{\text{प्रवाह}}{\text{प्रवाह}}\right].$$

19 समय के किसी बिन्दु पर कौन सी चलराशि होती है?
(अ) स्वतन्त्र चलराशि (ब) आश्रित चलराशि
(स) प्रवाह चलराशि (द) स्टॉक चलराशि (द)

20 कीमत, बचत व बचतों की चलराशियों के रूप में प्रकृति बतलाइए।

उत्तर- कीमत न तो स्टॉक है और न प्रवाह। यह दो प्रवाहों का अनुपात (ratio between flows) मात्र है। यह नकद प्रवाह व वस्तु प्रवाह का अनुपात होता है। ऊपर व नीचे 'समय की इकाई' के परस्पर कट जाने से यह मात्र 'अनुपात' रह जाता है।
'बचत' एक प्रवाह होती है और बचतें स्टॉक होती है।

इकाई II

21 बाजार मूल्यों पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP at market prices) से साधन मूल्यों पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (NNP at factor cost) या राष्ट्रीय आय तक पहुँचने की विधि दर्शाइए।

उत्तर- बाजार मूल्यों पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद में से मूल्य ह्रास (depreciation) की राशि घटाएँ। इससे बाजार भावों पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद प्राप्त होगा। इसमें से परोक्ष कर घटाने व सब्सिडी की राशि जोड़ने से साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद, अथवा राष्ट्रीय आय प्राप्त होगी।

22 विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन आय का अर्थ समझाइए।

उत्तर- इसके लिए विदेशों में लगी भारतीय पूँजी व विदेशों में कार्यरत भारतीय कर्मचारियों की सेवाओं के बदले में प्राप्त आय में से भारत में लगी विदेशी पूँजी व भारत में कार्यरत विदेशी कर्मचारियों को दी जाने वाली मुद्राराशि घटायी जाती है। शेष राशि विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन आय कहलाती है। यह देनदारी के लेनदारी से ज्यादा होने पर ऋणात्मक हो सकती है जैसा कि भारत की परिस्थिति में पाया जाता है।

23 निम्न आँकड़ों से शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद (NNP) व शुद्ध घरेलू उत्पाद (NDP) ज्ञात कीजिए।

(i) सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) = 1000 करोड़ रु,

(ii) मूल्य ह्रास = 5 करोड़ रु,

(iii) विदेशों से प्राप्त साधन आय = 15 करोड़ रु,

(iv) विदेशों को दी जाने वाली साधन भुगतान की राशि = 17 करोड़ रु,

[शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद = 995 करोड़ रु
शुद्ध घरेलू उत्पाद = 997 करोड़ रु]

24 सकल घरेलू उत्पाद (GDP) व सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) में मुख्य अंतर बतलाइए।

उत्तर- सकल राष्ट्रीय उत्पाद में सकल घरेलू उत्पाद के अलावा मूल्य ह्रास व विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन आय की राशियाँ भी शामिल होती हैं।

25 सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) व शुद्ध आर्थिक कल्याण (NEW) का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।

उत्तर- सकल राष्ट्रीय उत्पाद में कुछ मदों को जोड़कर तथा कुछ मदों को घटाकर शुद्ध आर्थिक कल्याण का माप निकाला जा सकता है। जोड़ी जाने वाली मदों में अवकाश, घर की देखभाल में लगाई गयी सेवाएँ व सार्वजनिक पूँजी जैसे सड़कों, अस्पतालों, आदि से प्राप्त सेवाएँ आती हैं। घटायी जाने वाली मदों में सुरक्षा-व्यय, व विभिन्न प्रकार के पर्यावरण प्रदूषण से उत्पन्न असुविधाएँ आती हैं।

26 राष्ट्रीय आय के अलावा आर्थिक कल्याण पर निम्न में से किनका प्रभाव पड़ता है?

(अ) आय का वितरण

(ब) काम के घंटे व काम का वातावरण

(स) उत्पादित वस्तुओं में उपभोक्ता वस्तुओं का अनुपात

(द) नागरिक व सुरक्षा वस्तुओं का परस्पर अनुपात

(ए) उपभोक्ता माल में मजदूरी माल (Wage goods) का अनुपात

(ऐ) सभी का (ऐ)

27 शुद्ध आर्थिक कल्याण (NEW) की अवधारणा पर किसने बल दिया?

(अ) मार्शल (ब) रोबिन्स

(स) आर्थर ओकुन (द) सेमुअल्सन

(ए) टोबिन (स, द तथा ए ने)

28 पूँजीवाद की प्रमुख विशेषता छाँटिए—

(अ) पूँजी का अधिक उपयोग (ब) श्रम का कम उपयोग

(स) प्रतिस्पर्धा का पाया जाना (द) उत्पादन में निजी लाभ का उद्देश्य (द)

29 वर्तमान समय में विश्व के विभिन्न देश पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की ओर क्यों आकर्षित हो रहे हैं?

(अ) तेजी से उत्पादन बढ़ाने के लिए

(ब) उत्पादन की कार्यकुशलता बढाने के लिए

(स) अर्थव्यवस्थाओं के विश्वीकरण को बढावा देने के लिए

(द) आधुनिकीकरण को प्रोत्साहन देने के लिए

(ए) सभी के लिए (ए)

30 निम्न में से समाजवाद का आवश्यक लक्षण कौन सा नहीं है ?

(अ) उत्पादन के साधनों का सामाजिक स्वामित्व

(ब) उद्यम की स्वतत्रता

(स) केन्द्रीय नियोजन

(द) नौकरशाही का बोलबाला (ब)

31 मिश्रित अर्थव्यवस्था में किसका मिश्रण प्रमुख माना जाता है ?

(अ) आधुनिक व परम्परागत उद्योगों का

(ब) स्वदेशी व विदेशी विनियोगों का

(स) सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों का

(द) घरेलू व्यापार व विदेशी व्यापार का

(ए) पुरानी व नई टेक्नोलोजी का (स)

32 वर्तमान भारतीय अर्थव्यवस्था पर कौन सा कथन लागू होगा ?

(अ) यह समाजवाद से पूँजीवाद की ओर जा रही है

(ब) यह समाजवाद से मिश्रित अर्थव्यवस्था की ओर जा रही है

(स) यह नियत्रित मिश्रित अर्थव्यवस्था से उदार मिश्रित अर्थव्यवस्था की ओर जा रही है

(द) यह नियोजित अर्थव्यवस्था से निजी उद्यमवाली अर्थव्यवस्था की ओर जा रही है। (स)

33 किस अर्थव्यवस्था में सर्वाधिक रोजगार के अवसर उत्पन्न होते हैं ?

(अ) पूँजीवाद में (ब) समाजवाद में

(स) साम्यवाद में (द) मिश्रित अर्थव्यवस्था में

(ए) विनियोग को सर्वाधिक मात्रा में प्रोत्साहन देने वाली अर्थव्यवस्था में (ए)

34 अर्थव्यवस्था को निम्न में से किस लक्ष्य की प्राप्ति की नीतियाँ अपनानी चाहिए ?

(अ) उत्पादन वृद्धि की सर्वोच्च दर को न्यूनतम करना

(ब) आय की असमानता को न्यूनतम करना

(स) क्षेत्रीय आर्थिक असमानता घटाना

(द) पूर्ण रोजगार प्राप्त करना

(ए) कार्यकुशलता व समानता (ए)

35 बाजार अर्थव्यवस्था किसे कहते हैं ?

(अ) इसमें आर्थिक निर्णय बाजार में माँग व पूर्ति की शक्तियों के माध्यम से लिये जाते है,

(ब) प्रतिस्पर्धा पायी जाती है
(स) निजी उद्यम की स्वतंत्रता होती है
(द) निजी लाभ उत्पादन का उद्देश्य होता है (अ)

36 विश्व के विभिन्न देशों की अर्थव्यवस्थाएँ किस ओर उन्मुख हैं ?
(अ) आर्थिक उदारीकरण की ओर
(ब) स्वतंत्र उद्यम की ओर
(स) नियोजित अर्थव्यवस्था की ओर
(द) मिश्रित अर्थव्यवस्था की ओर (अ)

37 समाजवाद या साम्यवाद में फिलहाल मोहभंग होने का प्रमुख कारण छाँटिए—
(अ) आर्थिक समस्याओं का समाधान नहीं निकल पाया
(ब) सार्वजनिक उपक्रमों में घाटा होता गया
(स) मुद्रास्फीति नहीं रोकी जा सकी
(द) लोगों का जीवन स्तर ऊँचा नहीं हो पाया
(ए) आर्थिक साधनों का उत्पादन में सर्वोत्तम आवंटन नहीं हो पाया। (ए)

38 आधुनिक चीन के लिए निम्न में से कौन-सा कथन लागू होगा—
(i) यह साम्यवाद से मिश्रित अर्थव्यवस्था की ओर जा रहा है
(ii) यह साम्यवाद में निजी उद्यम को बढ़ावा दे रहा है
(iii) यह आर्थिक उदारीकरण की ओर बढ़ रहा है
(iv) यह नियोजित अर्थव्यवस्था से निजी अर्थव्यवस्था की ओर जा रहा है (iii)

39 जी 7 समूह के देशों के नाम लिखिए।

उत्तर- अमेरिका, यू के., जापान, जर्मनी, फ्रांस, इटली व कनाडा।

40 विश्व की चार नई औद्योगिक अर्थव्यवस्थाओं (newly industrialising economies) के नाम लिखिए

उत्तर- (i) हांगकांग
(ii) रिपब्लिक ऑफ कोरिया
(iii) सिंगापुर तथा (iv) ताइपे (Taipei तैवान)

इकाई III

41 निम्न में से मुद्रा का कौन सा कार्य नहीं है ?
(अ) विनिमय का माध्यम (ब) हिसाब की इकाई
(स) स्थगित भुगतानों का आधार (द) मूल्य-स्तर को स्थिर करना (द)

42 "मुद्रा वह है जो मुद्रा का काम करे" मुद्रा की यह परिभाषा किसने दी ?
(अ) अल्फ्रेड मार्शल (ब) एफ ए. वाकर
(स) हार्टले विदर्स (द) रोबर्टसन
(ए) क्राउथर (ब)

43 निम्नांकित में से आदेशाश्रित या फियेट मुद्रा (fiat money) कौन सी होती है ?

(अ) वैध मुद्रा

(ब) साख मुद्रा

(स) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा जारी स्पेशल ड्राइंग राइट्स (SDRs),

(द) सोने के सिक्के (अ)

44 'मुद्रा के समीप' की मुद्रा छाँटिए—

(अ) अवधि जमाएँ (ब) चैक

(स) सिक्के (द) बैंक नोट

(ए) माँग-जमाएँ (अ)

45 मुद्रास्फीति का सही अर्थ छाँटिए—

(अ) कीमत-स्तर में निरन्तर वृद्धि का होना

(ब) कीमत स्तर में काफी वृद्धि का होना

(स) कीमत स्तर में निरन्तर व काफी वृद्धि का होना

(द) कुछ कीमतों का बढ़ना, कुछ का स्थिर रहना और कुछ का घटना। (स)

46 हाइपर मुद्रास्फीति किसे कहते हैं?

उत्तर- जब कीमतें अनिवार्य बेकाबू ढंग से बढ़ने लगती हैं, जैसे 1989 में अर्जेन्टीना में मुद्रास्फीति की दर 3080% रही थी। लोग टोकरों में पैसा ले जाते और जेबों में खाद्य पदार्थ लाते।

47 मुद्रास्फीति को नियन्त्रित करने के लिए राजकोषीय नीति (fiscal policy) कैसे काम में ली जाती है?

उत्तर- सरकार प्रत्यक्ष करों में वृद्धि करके तथा सरकारी खर्च में कमी करके बजट घाटों को कम कर सकती है। जनता से उधार ले सकती है, जिससे अर्थव्यवस्था में माँग के दबाव कम हो जाते हैं।

48 लागतजन्य मुद्रास्फीति (cost push inflation) निम्न परिस्थितियों में उत्पन्न होती है—

(अ) जब मजदूरी बढ़ती है,

(ब) जब कच्चे माल व अन्य इन्पुटों के भाव बढ़ते हैं

(स) जब उद्यमकर्ता अधिक सामान्य मुनाफा लेने का प्रयास करते हैं

(द) जब परोक्ष कर बढ़ाये जाते हैं

(ए) सभी (ए)

49 हाल के कुछ वर्षों में भारत में मुद्रास्फीति को किस तत्त्व ने अधिक बढ़ावा दिया है?

(अ) मुद्रा की पूर्ति की वृद्धि ने

(ब) विदेशी करेंसी के अन्तर्गमन (inflow) से रिजर्व मुद्रा को बढ़ाने से

(स) आयातित माल की कीमत बढ़ने से

(द) घाटे के बजटों ने (ब)

50 फिलिप्स वक्र में किसका सम्बन्ध किससे दर्शाया जाता है?

(अ) मुद्रास्फीति की दर का नकद मजदूरी की वार्षिक वृद्धि दर से

(ब) मुद्रास्फीति की दर का बेरोजगारी की दर से

(स) मुद्रास्फीति की दर का मुद्रा की पूर्ति की वृद्धि-दर से

(द) मुद्रास्फीति की दर का श्रम शक्ति की वृद्धि-दर से (ब)

51 बेरोजगारी की स्वाभाविक दर का अर्थ लिखिए।

उत्तर- इसमें मुद्रास्फीति व मजदूरी को बढाने वाली व घटाने वाली शक्तियाँ सतुलन में होती हैं। इस प्रकार मुद्रास्फीति सतुलन में होती है—न तो बढने की प्रवृत्ति दर्शाती है और न घटने की प्रवृत्ति। यह देश में उत्पादन क्षमता का पूरा उपयोग करने के बिन्दु पर अधिकतम रोजगार की मात्रा को सूचित करती है। इस पर वास्तविक मुद्रास्फीति = प्रत्याशित मुद्रास्फीति हो जाती है।

52 अवस्फीति (deflation) व विस्फीति (disinflation) में भेद करिए।

उत्तर- अवस्फीति में राष्ट्रीय उत्पत्ति में कमी व सामान्य कीमत-स्तर में गिरावट आने की दशा पायी जाती है। इसमें फर्मों को घाटा होने लगता है तथा बेरोजगारी बढती है। यह मुद्रास्फीति के विपरीत होती है। विस्फीति में मुद्रास्फीति को नियन्त्रित करने के उपाय शामिल किये जाते हैं, जैसे कर-बढाना, सरकारी व्यय कम करना, उत्पादन बढाना, आयात बढाना, आदि।

53 M_3 में क्या शामिल किया जाता है?

उत्तर- जनता के पास करेंसी + माँग जमाएँ + भारतीय रिजर्व बैंक के पास अन्य जमाएँ, [तीनों मिलकर (M_1)] + अवधि-जमाएँ (time-deposits)

54 सकीर्ण मुद्रा व व्यापक मुद्रा का अतर करिए।

उत्तर- सकीर्ण मुद्रा को M_1 व व्यापक मुद्रा को M_3 कहते हैं।

55 यदि अवधि-जमाएँ न हों तथा अतिरिक्त रिजर्व न रखे जाएँ (no excess reserves) तो c के करेन्सी का माँग-जमा से अनुपात होने पर तथा r के माँग-जमाओं का कानूनी-रिजर्व अनुपात (legal reserve ratio) होने पर मुद्रा-गुणक का सूत्र दीजिए।

[मुद्रा गुणक $= m_1 = \frac{1 + c}{c + r}$ होगा।

56 यदि अवधि जमाएँ न हों तथा अतिरिक्त रिजर्व रखे जाएँ और c करेंसी का माँग-जमा से अनुपात दर्शाएँ, r बैंक-रिजर्व (कानूनी रिजर्व + अतिरिक्त रिजर्व) का कुल जमाओं (अवधि-जमा + माँग-जमा) से अनुपात दर्शाएँ तथा t अवधि-जमाओं का माँग-जमाओं से अनुपात दशाए, तो मुद्रा गुणक का सूत्र क्या होगा?

$\left[m_1 = \frac{1 + c}{c + r(1 + t)}\right.$ होगा]

57 यदि अवधि जमाएँ भी हों, अतिरिक्त रिजर्व हों, c करेंसी का माँग जमा से अनुपात दर्शाए, r बैंक-रिजर्व का कुल जमाओं से अनुपात दर्शाए और t अवधि-जमाओं का माँग-जमाओं से अनुपात हो तो व्यापक मुद्रा M_3 का गुणक निकालिए।

$\left[m_3 = \frac{1 + c + t}{c + r(1 + t)}\right.$ होगा]

58 मुद्रा की पूर्ति, मुद्रा-गुणक व रिजर्व-मुद्रा का सम्बन्ध लिखिए।

उत्तर- $M_1 = m_1 H$ - - -(1) यहाँ M_1 सकीर्ण मुद्रा की पूर्ति का सूचक

m_1 संकीर्ण मुद्रा का गुणक है तथा

H = रिजर्व मुद्रा या उच्च शक्ति प्राप्त मुद्रा है।

एव $M_3 = m_3 H$ (2) होगा जहाँ M_3 व्यापक मुद्रा का सूचक है और m_3 व्यापक मुद्रा का गुणक है।

इसे हम $m_1 = \frac{M_1}{H} = \frac{M_1}{RM}$

तथा $m_3 = \frac{M_3}{H} = \frac{M_3}{RM}$ भी लिख सकते हैं।

59 केम्ब्रिज समीकरण किसने दिया था?

(अ) मार्शल (ब) पीगू

(स) रोबर्टसन (द) शुरू में स्वय केन्स ने

(ए) सभी ने (ए)

60 पीगू के निम्न नकद बकाया समीकरण

$P = \frac{M}{KR}$ को समझाइए।

उत्तर- यहाँ P = कीमत स्तर का सूचक है

M = मुद्रा का कुल स्टॉक है

R = किसी विशिष्ट वस्तु के रूप में समाज की कुल वास्तविक आय (total real income) है तथा

K = कुल वास्तविक आय का वह भाग है जिसे जनता नकद बकाया के रूप में अपने पास रखना चाहती है।

61 इरविंग फिशर के मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में मुद्रा के प्रचलन वेग (velocity of circulation of money) से क्या तात्पर्य है?

(अ यह इस बात को सूचित करता है कि सौदों के लेन देन में मुद्रा वर्ष में औसतन कितने हाथों में से गुजरती है

(ब) यह मुद्रा का आय प्रचलन वेग (income velocity of money) होती है अर्थात् $\frac{\text{सकल घरेलू उत्पाद}}{\text{मुद्रा का स्टाक}}$ होती है

(स) उपर्युक्त दोनों में से कोई भी अर्थ सही नहीं

(द) शुरू के दोनों अर्थ सही (अ)

[यह वस्तुत मुद्रा के सौदों के प्रचलन वेग (*transaction velocity of money*) को सूचित करता है।]

62 इरविंग फिशर के समीकरण में किन तत्वों को स्थिर माना गया है?

उत्तर- समीकरण $P = \frac{MV + M^1V^1}{T}$ में VV^1 की मात्राएँ M व M^1 का अनुपात व T को स्थिर माना गया है।

63 आजकल कीमत स्तर पर मुद्रा की पूर्ति के अलावा किन तत्वों का प्रभाव माना जाता है ?

(अ) राष्ट्रीय उत्पादन या वास्तविक राष्ट्रीय आय के परिवर्तन का

(ब) आयातित वस्तुओं के मूल्यों का

(स) सरकार द्वारा प्रशासित कीमतों की वृद्धि का,

(द) परोक्ष करों की वृद्धि का (ए) जनसख्या की वृद्धि का

(ऐ) सभी का (ऐ)

इकाई IV

64 साख सृजन सर्वाधिक कब होता है ?

उत्तर- (i) जब जनता के पास करेंसी न रहे (सारी करेंसी बैंकों के पास रहे)

(ii) बैंक अपने पास अतिरिक्त रिजर्व न रखें और जल्दी से उधार देते जाएँ।

65 भारतीय बैंकिंग की नई दिशाओं में किनका विवेचन किया जायगा ?

उत्तर- (i) म्यूच्युअल फण्ड की व्यवस्था का,

(ii) मर्चेन्ट बैंकिंग का

(iii) लीजिंग का

(iv) जोखिम पूँजी (venture capital) का,

(v) फैक्टरिंग का,

(vi) राष्ट्रीय आवास बैंक का

(vii सेवा क्षेत्र दृष्टिकोण (SAA) का

(viii) भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक (SIDBI) का, तथा

(ix) बैंकों द्वारा रोजगार सवर्धन व निर्धनता निवारण के कार्यक्रमों में योगदान आदि।

66 वर्तमान में बैंक-दर, नकद रिजर्व अनुपात (CRR) व वैधानिक तरलता अनुपात (SLR) बताइए।

उत्तर (i) बैंक दर 9 अक्टूबर 1991 से 12%

(ii) नकद रिजर्व अनुपात 11 मई 1996 से 13%

(iii) वैधानिक-तरलता अनुपात 30 सितम्बर, 1994 को बकाया शुद्ध माँग व अवधि देनदारियों (NDTL) पर 31.5%, औसत प्रभावी SLR मार्च 1995 में 29.5% से घटाकर सितम्बर 1995 में 28.7% किया गया।

67 भारत में आजकल साख नियत्रण के किस उपाय का अधिक उपयोग होने लगा है ?

(अ) बैंक दर

(ब) साख नियत्रण के गुणात्मक या चयनित उपाय,

(स) नकद रिजर्व अनुपात

(द) खुले बाजार की क्रियाएँ

(ए) नैतिक दबाव। (द)

68 सितम्बर 1994 में भारत सरकार के वित्त मंत्रालय व भारतीय रिजर्व बैंक के बीच क्या समझौता हुआ था ?

उत्तर– इसके तहत वर्ष 1997-98 से तदर्थ ट्रेजरी बिलों की बिक्री से केन्द्रीय सरकार अपने बजट घाटे की पूर्ति नहीं कर सकेगी। उसे सीधे बाजार से चालू ब्याज की दर पर कर्ज लेकर अपना घाटा पूरा करना होगा। इससे रिजर्व बैंक को मौद्रिक नीति लागू करने में अधिक सफलता मिल सकेगी।

69 'हॉट मनी' किसे कहते हैं ?

उत्तर– जो मुद्रा अधिक मुनाफे या ऊँचे ब्याज की दर के लिए अथवा अधिक सुरक्षा की तलाश में, एक देश से दूसरे देश को जाती है उसे हॉट मनी या भ्रमणशील मुद्रा कहते हैं।

70 भारत में प्रादेशिक ग्रामीण बैंकों के सम्बन्ध में कौन सा कथन सही माना जायगा ?

(अ) इनका विस्तार किया जाना चाहिए

(ब) इनका व्यापारिक बैंकों के साथ विलय कर देना चाहिए

(स) इनकी कार्यप्रणाली में सुधार किया जाना चाहिए

(द) इन्हें धीरे धीरे समाप्त या बंद कर देना चाहिए। (स)

71 "सांख्यिकी को संख्यात्मक आँकडों के संग्रहण, प्रस्तुतीकरण, विश्लेषण और निर्वचन (अर्थ लगाने) के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।" यह परिभाषा किसने दी है ?

(अ) यूल व केण्डाल (ब) क्राक्सटन, काउडेन व क्लाइन

(स) या लुन चाऊ, (द) बाउले (ब)

72 सांख्यिकी का अर्थशास्त्र में किस प्रकार उपयोग किया जाता है ?

(i) आर्थिक नियमों के निर्माण में

(ii) आर्थिक नियोजन के निर्माण व मूल्यांकन में

(iii) राष्ट्रीय आय के अध्ययन में तथा

(iv) आर्थिक समस्याओं के हल में।

73 सांख्यिकी की चार सीमाएँ लिखिए—

उत्तर– (i) इसके परिणाम औसत रूप से ही सही होते हैं

(ii) यह गुणात्मक विषयों के अध्ययन में सफल नहीं हो पाती

(iii) इनके द्वारा कारण परिणाम का सम्बन्ध स्थापित करना सुगम नहीं होता

(iv) सांख्यिकी का वैयक्तिक आँकड़ों से सरोकार नहीं होता।

74 ओजाइव का प्रयोग किसको ज्ञात करने के लिए किया जाता है ?

(अ) माध्य (ब) मध्यका

(स) बहुलक (ब)

75 आय की असमानता को जानने के लिए किस वक्र का प्रयोग किया जाता है ?

(अ) ओजाइव (ब) लॉरेन्ज वक्र

(स) हिस्टोग्राम (ब)

76 भारत में सगणना विधि के प्रयोग के तीन उदाहरण दीजिए

उत्तर–(1) देश में दसवर्षीय जनगणना

(2) राज्यों में पचवर्षीय पशु सगणना (livestock census)

(3) देश में पचवर्षीय कृषिगत सगणना (agricultural census) (कार्यशील जोतों) (operational holdings) के अध्ययन के लिए

77 भारत में सेम्पलिंग विधि के प्रयोग के तीन उदाहरण दीजिए

(1) राष्ट्रीय सेम्पल सर्वेक्षण सगठन द्वारा हर पाँच वर्ष में उपभोग व्यय का अध्ययन,

(2) फसलों की प्रति हैक्टेयर उपज के अध्ययन के लिए फसल कटाई प्रयोग

(3) उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण (ASI) में सेम्पल-अश का अध्ययन (सगणना का अश अलग होता है)

78 प्रोफेसर आर ए फिशर ने सेम्पलिंग के चार गुण कौन से बतलाये हैं ?

उत्तर (1) अनुकूलन (2) गति (3) मितव्ययिता या किफायत और

(4) परिशुद्धता (precision)

79 भारत में फसल कटाई-प्रयोग किस सेम्पल विधि पर आधारित है ?

(अ) स्तरित प्रतिचयन (stratified sampling)

(ब) व्यवस्थित सेम्पलिंग (systematic sampling)

(स) निर्णय पर आधारित सेम्पलिंग

(द) स्तरित बहुस्तरीय सेम्पलिंग (stratified multi-stage sampling) (द)

80 सेम्पलिंग की कमियाँ लिखिए।

उत्तर–(i) इसमें सेम्पलिंग सम्बन्धी त्रुटियाँ (sampling errors) हो सकती हैं, जिनसे परिणामों की शुद्धता पर विपरीत असर पडता है।

(ii) यदि सेम्पल समग्र की मूल इकाइयों का सही प्रतिनिधित्व नहीं करता तो परिणाम दोषपूर्ण हो सकते हैं।

(iii) इसके लिए विशेष सावधानी व तकनीकी दक्षता की आवश्यकता होती है।

इकाई V

81 निम्नांकित के अध्ययन में कौन से औसत माप का प्रयोग अधिक उपयुक्त माना जायगा ?

(अ) एक हॉस्टल में विद्यार्थियों के औसत मासिक व्यय का अध्ययन करने में

(ब) गाँव में खेत के औसत आकार की जानकारी के लिए

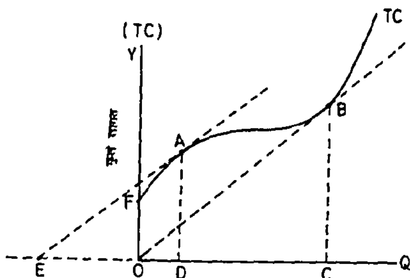
(स) परीक्षा में औसत अक ज्ञात करने के लिए।

[(अ) माध्य या गणितीय औसत (ब) बहुलक (ज्यादा खेत किस आकार के हैं ?), (स) माध्य या मध्यका]

82 माध्य, मध्यका व बहुलक का सम्बन्ध एक साधारणतया समरूप वितरण की दशा में बताइए। दो बहुलक की स्थिति में किस सूत्र का प्रयोग उचित होगा।

उत्तर– बहुलक = 3 मध्यका − 2 माध्य

83 AC व MC का सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।



होगा। इस पर औसत लागत AC= $\frac{AD}{OD}$ होगी। वक्र के B बिन्दु की स्पर्श रेखा मूल बिन्दु (O) से गुजरती है। B से OQ-अक्ष पर डाला गया लम्ब इसे C पर काटता है अतः सीमान्त लागत (B पर ढाल का माप) = $\frac{BC}{OC}$ होती है, जो यहाँ पर औसत लागत (AC) के भी बराबर है क्योंकि औसत लागत = $\frac{BC}{OC}$ है।

90 एक माँग-वक्र के किसी बिन्दु पर माँग की लोच व उस बिन्दु पर ढाल के बीच सम्बन्ध दर्शाइए।

उत्तर- माँग की लोच या $e_d = \frac{\Delta Q}{\Delta P} \cdot \frac{P}{Q}$ होती है, यहाँ P प्रारम्भिक कीमत, Q प्रारम्भिक माँग की मात्रा, ΔP कीमत के परिवर्तन व ΔQ माँग की मात्रा के परिवर्तन को सूचित करते हैं।

पुस्तक के सम्बन्धित अध्याय में दर्शाया गया था कि $\frac{\Delta Q}{\Delta P}$ ढाल का विलोम होता है (inverse of the slope) होता है, क्योंकि ढाल = $\frac{\Delta P}{\Delta Q}$ होता है।

अतः माँग की लोच = सम्बन्धित बिन्दु पर ढाल (slope) का विलोम × $\frac{P}{Q}$ होगा। पुस्तक से इसकी आगे की क्रिया भी देखी जा सकती है।

विविध प्रश्न

91 भारतीय रुपये की डालर में विनिमय दर कब घटेगी ?

उत्तर (i) जब भारत में मुद्रास्फीति की दर अमेरिका में मुद्रास्फीति की दर से अधिक होगी अर्थात् व्यापारिक साझेदार देशों में मुद्रास्फीति में अंतर (*inflation differential*) पाया जाय।

(ii) भारत के विदेशी विनिमय बाजार में अमेरिका से आयात बढने के कारण *आयातकर्ताओं द्वारा डालर की माँग में वृद्धि हो जाय।*

(iii) भारत के निर्यातक अपनी निर्यातों से प्राप्त डालर आय को रोक लें और इस विनिमय बाजार में नहीं दें।

(iv) डालर की माँग सट्टेबाजों (speculator) द्वारा बढा दी जाय

(v) विदेशों से भारत में डालर की आवक (विदेशी) प्रत्यक्ष विनियोगकर्ताओं (FDIs) द्वारा तथा विदेशी संस्थागत विनियोगकर्ताओं (FIIs) द्वारा कम हो जाय।

92 मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मुद्रा की मात्रा व निम्नांकित में से किसमें सम्बन्ध स्थापित करता है—

(अ) रोजगार की मात्रा में (ब) राष्ट्रीय आय में

(स) सामान्य कीमत स्तर में तथा (द) विनियोग की मात्रा में (स)

93 मुद्रा का सौदों का प्रचलन वेग (transactions velocity) व आय प्रचलन वेग (income velocity) को जानने की विधियाँ बताइए।

उत्तर-

(i) सौदों का प्रचलन वेग $= \frac{\text{वर्ष में सौदों की कुल राशि}}{\text{मुद्रा का स्टाक } (M_1 \text{ या } M_3)}$

(ii) आय प्रचलन वेग $= \frac{\text{वर्ष में सकल घरेलू उत्पाद (प्रचलित भावों पर)}}{\text{मुद्रा का स्टाक } (M_1 \text{ या } M_3)}$

[व्यवहार में (i) की राशि (ii) से अधिक ही पायी जाती है। (ii) में केवल अन्तिम वस्तु का मूल्य ही लिया जाता है मध्यवर्ती सौदों का मूल्य शामिल नहीं होता।]

94 स्टेगफ्लेशन का अर्थ लिखिए।

उत्तर- इसमें मुद्रास्फीति व बेरोजगारी साथ साथ पाये जाते हैं।

95 निम्न में से केन्द्रीय बैंक का कौन सा कार्य नहीं होता है ?

(अ) नोट चलाने का एकाधिकार (ब) विदेशी विनिमय कोषों का संरक्षक

(स) अन्तिम ऋणदाता (द) राजकोषीय नीति का चालक (द)

96 कौन सा कथन सही है ?

(अ) व्यष्टि अर्थशास्त्र में सापेक्ष कीमतों का तथा समष्टि अर्थशास्त्र में सामान्य कीमत स्तर का अध्ययन किया जाता है।

(ब) व्यष्टि अर्थशास्त्र में एक उद्योग में उत्पत्ति की मात्रा का तथा समष्टि अर्थशास्त्र में राष्ट्रीय उत्पत्ति का अध्ययन किया जाता है।

(स) व्यष्टि अर्थशास्त्र में एक उद्योग में रोजगार की मात्रा का तथा समष्टि अर्थशास्त्र में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में रोजगार की दशा पर विचार किया जाता है।

(द) सभी (द)

97 मुद्रा के आधुनिक सिद्धान्त (modern theory of money) के प्रणेता कौन माने जाते हैं?

(अ) मिल्टन फ्रीडमैन (ब) ज एम केन्स

(स) ए एच हेन्सन (द) डॉन पैटिनकिन (ब)

98 मुद्रास्फीति को नियन्त्रित करने के लिए क्या किया जाना चाहिए?

(अ) मुद्रा की पूर्ति को वास्तविक राष्ट्रीय आय की वृद्धि के अनुरूप बढाया जाना चाहिए

(ब) सरकारी खर्च को अनुत्पादक कार्यों में नहीं लगाया जाना चाहिए

(स) राष्ट्रव्यापी सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुदृढ किया जाना चाहिए

(द) प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादकता को बढाया जाना चाहिए

(ए) सभी (ए)

99 अवस्फीति (deflation) को मुद्रास्फीति (inflation) से ज्यादा बुरा क्यों बतलाया गया है?

उत्तर– *क्योंकि अवस्फीति में बेरोजगारी बढ जाती है जो श्रमिकों के लिए काफी हानिकारक सिद्ध होती है।*

100 मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के लिए आज की दशाओं में कौन सा कथन अधिक सही माना जायगा?

(अ) मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त दीर्घकाल में अवश्य लागू होता है,

(ब) यह सिद्धान्त इरविंग फिशर द्वारा वर्णित आनुपातिक रूप में लागू नहीं होता,

(स) मुद्रास्फीति मूलत एक मौद्रिक तत्त्व है, लेकिन इस पर साथ में अन्य तत्त्वों का भी प्रभाव पडता रहता है

(द) मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त निरर्थक है।

(ए) यह विकासशील देशों में पूर्णतया लागू होता है। (स)

आर.ए.एस., अर्थशास्त्र प्रश्न पत्र (10 दिसम्बर, 1995) से कुछ चुने हुए प्रश्नों के उत्तर

101 GDP और NDP के मध्य अतर का कारण है

(1) मूल्य ह्रास (2) अप्रत्यक्ष कर

(3) अनुदान (4) प्रत्यक्ष कर (1)

102 साधन लागत पर NDP बराबर है—

(1) साधन लागत पर NNP + विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन आय

(2) राष्ट्रीय आय—विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन आय

(3) राष्ट्रीय आय—मूल्य ह्रास

(4) राष्ट्रीय आय + अप्रत्यक्ष कर – अनुदान (2)

103 बाजार मूल्यों पर GNP शामिल नहीं करती है—

(1) अनुदान (2) अप्रत्यक्ष कर

(3) मूल्य ह्रास (4) वेतन व मजदूरी (1)

104 निम्न में से कौन सा दोहरी गणना का उदाहरण है—

(1) एक परिवार द्वारा विद्युत का उपभोग

(2) सीमेंट उद्योग द्वारा विद्युत का उपभोग

(3) एक उपभोक्ता को सब्जी का विक्रय

(4) एक वकील द्वारा अपने मुवक्किल से फीस लेना। (2)

105 निम्न में से कौनसा हस्तान्तरित भुगतान नहीं है—

(1) बच्चों को दिया जाने वाला जेब खर्च

(2) सार्वजनिक ऋण पर ब्याज

(3) घरेलू नौकर को दिया गया भुगतान

(4) एक गृहिणी को दिया गया भुगतान (3)

106 बाजार भावों पर GNP बराबर है—

(1) साधन लागत पर GNP + अप्रत्यक्ष कर − अनुदान

(2) साधन लागत पर GNP − अप्रत्यक्ष कर + अनुदान

(3) साधन लागत पर GNP − अप्रत्यक्ष कर − अनुदान

(4) साधन लागत पर GNP + मूल्य ह्रास (1)

107 राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं है—

(1) खाद पर अनुदान (2) मूल्य ह्रास

(3) घरेलू सेवा के लिए भुगतान (4) एक मुख्य मंत्री का वेतन (2)

108 सार्वजनिक ऋण पर ब्याज—

(1) NNP का अंश परन्तु NI का अंश नहीं

(2) NI का अंश परन्तु PI का अंश नहीं

(3) NI का अंश नहीं परन्तु PI में शामिल

(4) अन्य किसी प्रकार की ब्याज आय के समान ही मानी जाती है। (3)

109 दोहरी गणना को परिभाषित किया जाता है—

(1) एक उत्पाद की एक से ज्यादा बार गणना करना

(2) एक उत्पाद की उसकी उत्पादन क्रिया की अन्तिम अवस्था में गणना करना

(3) उत्पाद व साधन भुगतान दोनों तरह से गणना करना

(4) वास्तविक वस्तु व मौद्रिक प्रवाह दोनों रूपों में गणना करना (3)

110 कौनसा वक्र U आकार का वक्र नहीं है—

(1) AVC (2) AC

(3) AFC (4) MC (3)

111. मूलबिन्दु से गुजरती हुई सीधी रेखा जहाँ कुल परिवर्तनशील लागत वक्र को स्पर्श करती है वहाँ—

(1) MC बराबर है AC के (2) MC बराबर है AFC के
(3) MC बराबर है AVC के (4) AC न्यूनतम है (3)

112 जैसे जैसे उत्पादन बढता है, यह घटता है—
(1) AFC (2) AVC
(3) TVC (4) TC (1)

113 एक वस्तु विनिमय अर्थव्यवस्था में, 10 वस्तुओं के लिए जरूरत होगी—
(1) 90 भावों की (2) 100 भावों की
(3) 45 भावों की (4) 60 भावों की (3)

114 एक आदेशाश्रित मुद्रा होती है—
(1) विश्वासाश्रित मुद्रा (fiduciary money)
(2) वैध मुद्रा (legal money)
(3) अवैध मुद्रा (illegal money)
(4) पूर्णकालिक मुद्रा (full bodied money) (2)

115 मुद्रा की पूर्ति है—
(1) एक स्टॉक विचार (2) एक प्रवाह विचार
(3) दोनों—स्टॉक एव प्रवाह विचार (4) दोनों—स्टॉक या प्रवाह विचार नहीं (1)

116 निम्न में से कौन मुद्रा की पूर्ति को विस्तृत रूप से मापता है—
(1) M_1 (2) M_2
(3) M_3 (4) M_4 (2)

117 M_3 को परिभाषित किया जा सकता है—
(1) M_1 + बैंकों के पास माँग जमा
(2) M_1 + पोस्ट ऑफिस सेविंग्स-बैंक की जमा
(3) M_2 + बैंकों के पास समय जमा
(4) M_1 + बैंकों के पास समय जमा (4)

118 मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के कैम्ब्रिज दृष्टिकोण के अन्तर्गत मुद्रा के कार्य को महत्व दिया जाता है—
(1) मूल्य सग्रह का (2) विनिमय का माध्यम
(3) लेखे की इकाई (4) विलम्बित भुगतान का आधार (1)

119 अपस्फीति (deflation) लाभ पहुँचाती है—
(1) ऋणी को (2) इक्विटीधारी को
(3) पेंशन प्राप्त करने वाले को (4) उत्पादनकर्ता को (3)

120 GNP और GDP के मध्य अतर बराबर है
(1) सकल विदेशी विनियोग (2) विशुद्ध विदेशी विनियोग
(3) विदेशों से विशुद्ध साधन आय (4) विशुद्ध निर्यात (3)



आर ए एस अर्थशास्त्र प्रश्न पत्र (27 अक्टूबर 1996) से कुछ चुने हुए प्रश्नो के उत्तर

121 उत्पादन के साधनों द्वारा एक वर्ष विशेष में अर्जित आय का माप है—

(1) प्राप्य आय (2) व्यक्तिगत आय

(3) सकल राष्ट्रीय उत्पाद (4) राष्ट्रीय आय (4)

122 राष्ट्रीय आय की गणना करते समय निम्न में से किसको सम्मिलित नही करना चाहिए—

(1) अध्यापकों का वेतन (2) कम्पनी से प्राप्त लाभांश

(3) सरकारी बाण्ड पर प्राप्त ब्याज (4) विक्रय प्रतिनिधि को दिया गया कमीशन (3)

123 अवस्फीतक (deflator) वह तकनीक है

(1) जो वस्तुओं में परिवर्तन को समायोजित करती है

(2) GNP में वृद्धि का लेखा जोखा करती है

(3) GNP में कमी का लेखा जोखा करती है

(4) कीमत परिवर्तन का समायोजन करती है (4)

124 साधन लागत पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद बराबर है बाजार कीमत पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद

(1) (+) आर्थिक सहायता (2) ( ) परोक्ष कर

(3) (+) परोक्ष कर ( ) आर्थिक सहायता

(4) ( ) परोक्ष कर (+) आर्थिक सहायता (4)

125 बाजार कीमत पर GNP 300 रु है। विदेश से प्राप्त शुद्ध आय 30 रु है। परोक्ष कर 30 रु व उत्पादन सहायता 10 रु है। साधन लागत पर GDP है—

(1) 250 (2) 270 (3) 310 (4) 330 (1)

126 आय गणना के आधार पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद की गणना करने में सम्मिलित नहीं है

(1) मजदूरी (2) कर (3) लगान (4) लाभ (2)

127 हस्तान्तरण भुगतान राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं होते हैं क्योंकि

(1) इनको सम्मिलित करने का अर्थ है दोहरी गणना

(2) जिनको हस्तान्तरण भुगतान मिलता है उनका वर्तमान उत्पादन में कोई योगदान नहीं होता

(3) इससे केवल आय का एक जेब से दूसरी जेब में हस्तान्तरण होता है

(4) उपरोक्त सभी प्रासंगिक हैं। (2)

128 उत्पादन विधि से राष्ट्रीय आय की गणना करने में निम्न में से कौन सा सम्मिलित नहीं किया जाता

(1) पुन स्थापना मूल्य (2) मध्य वस्तुओं का मूल्य

(3) स्थायी पूँजी का ह्रास (4) अन्तिम परिष्कृत माल का मूल्य (2)

129 एक उपभोक्ता बाजार में जो कीमत देता है वह है
- (1) उस वस्तु से प्राप्त उपयोगिता के बराबर
  (2) वह कीमत जो माँग व पूर्ति के द्वारा तय होता है
  (3) उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता के बराबर
  (4) सरकार द्वारा निर्धारित की गई कीमत के बराबर (2)

130 आय वितरण मापा जाता है निम्न वक्र की सहायता से
(1) फिलिप्स वक्र (2) लारेन्स वक्र
(3) मार्शल वक्र (4) लेफर वक्र (2)

131 एक फर्म का मूल स्थिर लागत 1800 रु है। यदि उत्पादन के किसी स्तर पर औसत कुल व्यय प्रति इकाई 15 रु है एवं परिवर्तनशील औसत व्यय प्रति इकाई 9 रु है तो उत्पादन का स्तर होगा
(1) 300 (2) 600 (3) 200 (4) 900 (1) [1800/15 9]

132 मौद्रिक गुणक अनुपात है
(1) अर्थव्यवस्था में मुद्रा की मात्रा एवं आधार मुद्रा का
(2) मुद्रा की मात्रा एवं कुल जमा का
(3) मुद्रा की मात्रा एवं प्रारम्भिक जमा का
(4) मुद्रा की मात्रा एवं बैंक कोष का (1)

133 कुल उत्पाद अधिकतम तब होगा जब
(1) सीमान्त उत्पाद अधिकतम हो
(2) सीमान्त और औसत उत्पाद बराबर हों
(3) सीमान्त उत्पाद शून्य हो
(4) सीमान्त उत्पाद गिरना शुरू हो। (3)

134 आधार मुद्रा (Base Money) में सम्मिलित हैं
(1) $C + DD + TD$ (2) $C + R + OD$
(3) DD + TD + OD (4) C + DD + OD (2)

135 अर्थशास्त्र के अध्ययन का प्रारम्भिक बिन्दु है
(1) उत्पादन (2) उपभोग
(3) सीमितता (4) वितरण (3)

136 मुद्रा परिमाण सिद्धान्त के सबसे सरल कथन की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति है—
(1) मुद्रा की मात्रा में वृद्धि कीमत स्तर की अपेक्षा उत्पादन को अधिक प्रभावित कर सकती है
(2) मुद्रा स्टॉक की मात्रा ही सटीक कीमत स्तर का निर्धारण करता है
(3) मुद्रा स्टॉक की मात्रा एवं GNP के स्तर में महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है
(4) मुद्रा का चलन वेग बहुत अस्थिर है एवं इसका प्रभाव मुद्रा के स्टॉक पर पड़ता है (2)

137 निम्न मे से कौन सा कथन सत्य है ? मुद्रा की पूर्ति
(1) पूर्णतया ब्याज दर से निर्धारित होती है
(2) कीमत स्तर के साथ प्रत्यक्षत परिवर्तित है
(3) पूर्णतया केन्द्रीय बैंक द्वारा नियमित होती है
(4) सिक्के, नोट एव माग जमा सम्मिलित है। (3)

138 अवमूल्यन का अर्थ है
(1) मुद्रा की क्रय शक्ति म कमी
(2) मुद्रा के मूल्य म विदेशी मुद्रा म सन्दर्भ में कमी
(3) सामान्य कीमत स्तर म वृद्धि
(4) वस्तुओं के मुकाबले मुद्रा की मात्रा का अधिक होना (2)

139 किसी भी अर्थव्यवस्था म मुद्रा की पूर्ति
(1) मुद्रा गुणक व उच्च शक्ति मुद्रा का गुणनफल है
(2) पूर्ण रूप से केन्द्रीय बैंक द्वारा नियन्त्रित होती है
(3) यह जनता एव बैंकिग सस्थाओ के पास उपलब्ध है
(4) उपरोक्त सभी (1)

140 फिलिप्स वक्र के अनुसार ट्रेड ऑफ पाया जाता है
(1) मुद्रा प्रसार एव बेरोजगारी के बीच
(2) ब्याज दर एव निवेश के बीच
(3) आर्थिक वृद्धि एव बेरोजगारी के बीच
(4) कर की दर व आय के बीच (1)

विविध प्रकार के अन्य प्रश्न

141 केन्द्रीय बैंक द्वारा खुले बाजार में प्रतिभूतियों के विक्रय से प्रेरित होगी
(1) मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि (2) मुद्रा की पूर्ति में कमी
(3) उत्पाद बाजार में मुद्रास्फीति (4) कारक बाजार में मुद्रास्फीति (2)

142 फिलिप्स वक्र के रेखचित्र मे, शीर्ष और क्षैतिज अक्षों पर क्रमश निम्नलिखित को मापा गया है—
(1) $\frac{W}{P}$ और रोजगार (2) $\frac{\Delta P}{P}$ और बेरोजगार
(3) $\frac{\Delta P}{P}$ और रोजगार (4) $\frac{\Delta W}{W}$ और बेरोजगारी (2)

143 माध्य (3 मध्यका — बहुलक) के फार्मूले में आवश्यक सख्या है—
(1) $\frac{1}{3}$ (2) $\frac{1}{2}$ (3) 2 (4) $\frac{2}{3}$ (2)

144 पूँजीवाद व साम्यवाद के सम्बन्ध में कौन सा कथन सही है ?
(1) ये एक दूसरे के समीप आ रहे है

(2) ये एक दूसरे से दूर जा रहे हैं
(3) ये एक दूसरे को समाप्त करने की तरफ जा रहे हैं
(4) ये दोनों सदैव पूर्णतया विपरीत दिशा में रत्न है (1)

145 विश्व में साम्यवादी अर्थव्यवस्था में मोहभंग होने का कारण है
(1) आर्थिक साधनों का सर्वोत्तम उपयोग न हो पाना
(2) सार्वजनिक उपक्रमों की अकार्यकुशलता
(3) मुद्रास्फीति पर नियन्त्रण न कर पाना
(4) बेरोजगारी दूर न कर पाना (1)

146 आर्थिक उदारीकरण का मुख्य तत्व है
(1) बाजार व्यवस्था को अपनाना
(2) अनावश्यक आर्थिक नियन्त्रणों व नियमनों को हटाना
(3) अन्तर्राष्ट्रीयकरण एक देश की अर्थव्यवस्था का विश्व की अर्थव्यवस्था से एकीकरण करना
(4) सभी (4)

147 मुद्रा के आन्तरिक मूल्य का अर्थ है
(1) मुद्रास्फीति (2) मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि
(3) मुद्रा की क्रयशक्ति (4) जीवन-स्तर में वृद्धि (3)

148 केन्स के अनुसार मुद्रा की माँग का कौन सा प्रयोजन ब्याज की दर पर निर्भर करता है ?
(1) सौदों का या लेन देन का उद्देश्य (2) सतर्कता का उद्देश्य
(3) सट्टे का उद्देश्य (4) कोई नहीं (3)

149 भारत में वर्तमान में किस स्तर पर हैं ?
(1) बैंक दर (2) नकद रिजर्व अनुपात (CRR)
(3) वैधानिक तरलता अनुपात (SLR)

उत्तर- (1) बैंक दर 25 जून 1997 की घोषणा के अनुसार 11% से घटा कर 10% (प्रभावी 26 जून, 1997 से)
(2) 18 जनवरी 1997 से CRR = 10%
(3) 30 सितम्बर 1994 से SLR = 31.5% तथा मार्च 1996 के अंत में प्रभावी SLR = 28%

150 सरल अवकलजों का क्या प्रयोग होता है ?
(1) औसत राशि से कुल राशि ज्ञात करना
(2) कुल राशि से औसत राशि ज्ञात करना
(3) सीमान्त राशि से कुल राशि ज्ञात करना
(4) कुल राशि से सीमान्त राशि ज्ञात करना (4)

151 पूँजीवाद व साम्यवाद में भेद स्पष्ट कीजिए। (लगभग 100 शब्दों में)

उत्तर– (i) पूँजीवाद मे उत्पादन के साधन पर निजी स्वामित्व होता है जबकि साम्यवाद मे राज्य का स्वामित्व होता है।

(ii) पूँजीवाद में व्यक्तिगत लाभ को अधिकतम करने पर जोर दिया जाता है जबकि साम्यवाद में सामाजिक लाभ को अधिकतम करने का प्रयास किया जाता है।

(iii) पूँजीवाद मे बाजार यन्त्र के माध्यम से निर्णय लिए जाते है जबकि साम्यवाद में व्यापक नियोजन के माध्यम से योजनाधिकारी निर्णय में अपनी भूमिका निभाते है।

(iv) पूँजीवाद मे व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा की जाती है तथा लोकतंत्र पाया जाता है जबकि साम्यवाद में राज्य का प्रभुत्व होने से अधिनायकशाही पनपती है।

(v) पूँजीवाद में मजदूरी माँग व पूर्ति से तय होती है जबकि साम्यवाद में श्रमिको की आवश्यकता के अनुसार प्रतिफल देने का प्रयास किया जाता है अर्थात् सामाजिक पक्ष को ध्यान में रखा जाता है।

152 व्यष्टि व समष्टि अर्थशास्त्र में अंतर समझाइए। (लगभग 100 शब्दो में)

उत्तर– (i) व्यष्टि अर्थशास्त्र में छोटी इकाई का अध्ययन किया जाता है जैसे एक उपभोक्ता एक फर्म एक उद्योग आदि का जबकि समष्टि अर्थशास्त्र में बड़ी इकाई अथवा सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की समस्याओं का अध्ययन किया जाता है जैसे कीमत स्तर (मुद्रास्फीति) रोजगार राष्ट्रीय बचत राष्ट्रीय विनियोग आदि।

(ii) व्यष्टि अर्थशास्त्र में कीमत–सिद्धान्त आता है जबकि समष्टि अर्थशास्त्र में आर्थिक नियोजन आता है।

(iii) व्यष्टि अर्थशास्त्र का लक्ष्य 'वैयक्तिक कीमतें' होती हैं जबकि समष्टि अर्थशास्त्र का लक्ष्य 'राष्ट्रीय आय' मानी जाती है।

(iv) व्यष्टि अर्थशास्त्र मे संतुलन की स्थिति प्रमुख मानी जाती है जबकि समष्टि अर्थशास्त्र में असंतुलन की स्थिति प्रमुख मानी जाती है। व्यष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन का समष्टि अर्थशास्त्र में उपयोग किया जाता है।

153 आर्थिक नियमों के लक्षण लिखिए

उत्तर– (i) ये परिकल्पनाओं पर आधारित होते हैं (कुछ शर्तों को मानकर चलते हैं)

(ii) अधिकांश आर्थिक नियम सापेक्ष प्रकृति के होते हैं (कुछ दशाओं में ही लागू होते हैं जैसे विशेष देशों में विशेष समय में विशेष संस्थागत दशाओं में आदि।

(iii) आर्थिक नियम कम निश्चित होते हैं।

154 जिस विश्लेषण का सम्बन्ध दिए हुए माँग व पूर्ति–वक्रो से होता है उसे कहते हैं

(1) व्यष्टिगत विश्लेषण (2) स्थानिक विश्लेषण
(3) तुलनात्मक स्थैतिकी (4) प्रावैगिक विश्लेषण (2)

155 निम्न में स्टॉक की राशियाँ छाँटिए
(1) बचत
(2) मुद्रा की पूर्ति
(3) विदेशी मुद्रा का भण्डार
(4) वर्ष के अंत में विदेशों के प्रति बकाया राशि [2, 3 व 4]

156 कुछ प्रवाह की राशियों के नाम लिखिए
उत्तर– (1) सकल घरेलू उत्पाद (Gross Domestic Product)
(2) वार्षिक बचत की राशि
(3) वार्षिक विनियोग की राशि
(4) वार्षिक रोजगार में वृद्धि की मात्रा
(5) बेरोजगारों की संख्या में वृद्धि की मात्रा

157 कर्ज–सेवा राशि के चालू प्राप्तियों से अनुपात का रूप छाँटिए
(1) $\frac{\text{स्टॉक}}{\text{स्टॉक}}$ (2) $\frac{\text{स्टॉक}}{\text{प्रवाह}}$
(3) $\frac{\text{प्रवाह}}{\text{स्टॉक}}$ (4) $\frac{\text{प्रवाह}}{\text{प्रवाह}}$ (4)

158 मुद्रा के औसत आय–प्रचलन वेग में स्टॉक व प्रवाह चिन्हित करिए
उत्तर– यह $\frac{\text{प्रवाह}}{\text{स्टॉक}}$ की स्थिति है क्योंकि यह $\frac{\text{राष्ट्रीय आय}}{\text{मुद्रा की मात्रा}}$ को सूचित करती है, जहाँ ऊपर प्रवाह है (राष्ट्रीय आय) और नीचे स्टॉक है (मुद्रा की मात्रा)

159 निम्न में से समष्टि अर्थशास्त्र की पुस्तक छाँटिए
(1) Principles of Economics by Alfred Marshall
(2) Economics of Welfare by A C Pigou
(3) Value and Capital by Hicks
(4) General Theory of Employment Interest & Money by J M Keynes (4)

160 एक अर्थव्यवस्था में सभी आर्थिक इकाइयों की परस्पर निर्भरता किसमें दर्शायी जाती है
(1) समष्टि अर्थशास्त्र में (2) व्यष्टि अर्थशास्त्र में
(3) प्रावैगिक आर्थिक विश्लेषण में (4) सामान्य सन्तुलन नामक विश्लेषण में (4)

161 निम्न में से किसका बाजार भावों पर सकल घरेलू उत्पाद (GNP) में समावेश नहीं होता ?
(1) सार्वजनिक ऋणों पर चुकाया गया ब्याज

(2) अध्यापक का वेतन
(3) विदेशों से प्राप्त साधनों की शुद्ध आय
(4) परोक्ष कर (1)

162 यदि बाजार भावों पर सकल घरेलू उत्पाद 4000 करोड़ रु परोक्ष कर 300 करोड़ रु सब्सिडी की राशि 200 करोड़ रु तथा मूल्य-ह्रास 400 करोड़ रु हो तो साधन-लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद ज्ञात कीजिए।

उत्तर– [3500 करोड़ रु]

163 भारत में कृषिगत क्षेत्र से आय ज्ञात करने के लिए किस विधि का प्रयोग किया जाता है ?
(1) उत्पत्ति विधि का (2) व्यय विधि का
(3) प्रत्यक्ष रूप में आय विधि का (4) परोक्ष रूप में आय विधि का (1)

164 *सुरक्षा के क्षेत्र में प्राप्त आय की जानकारी के लिए प्रश्न 163 में वर्णित किस विधि का प्रयोग किया जाएगा ?* (3)

165 आर्थिक कल्याण पर मौद्रिक राष्ट्रीय आय के आकड़ों के अलावा किन तत्त्वों का प्रभाव पड़ता है ?

उत्तर– (1) आय के वितरण का प्रभाव
(2) काम के वातावरण व काम के घंटों का प्रभाव
(3) वस्तुओं व सेवाओं की किस्मों का प्रभाव
(4) उपभोग्य वस्तुओं का कुल उत्पादन में अंश
(5) पर्यावरण की दशा

166 वे मदें बतलाइए जिनको सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) में जोड़ने व घटाने से हम शुद्ध आर्थिक कल्याण (NEW) की अवधारणा पर पहुँच जाते हैं।

उत्तर– जोड़ी जाने वाली मदें
(i) अवकाश
(ii) घर की देख भाल में लगाई गई सेवाएँ
(iii) सार्वजनिक सेवाओं से प्राप्त लाभ जैसे सार्वजनिक अस्पताल सार्वजनिक स्कूल सार्वजनिक पार्क आदि से नागरिकों को प्राप्त लाभ।

घटाई जाने वाली मदें
(i) सुरक्षा व्यय (ii) पर्यावरणीय प्रदूषण।

167 *राष्ट्रीय आय के चक्राकार प्रवाह को बढ़ाने वाला तत्त्व छाँटिए*
(1) लोगों द्वारा अपने वार्षिक खर्च में कटौती
(2) देश में विदेशी माल का उपभोग बढ़ाना
(3) वैयक्तिक व कम्पनी आयकर में वृद्धि करना
(4) निर्यातों में वृद्धि (4)

168 मार्शल ने वस्तु की कीमत के निर्धारण में किस विश्लेषण का प्रयोग किया है ?

(1) आंशिक सतुलन का (2) स्थैतिक विश्लेषण का
(3) व्यष्टि अर्थशास्त्र का (4) तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण का

(4)

169 माँग के नियम (law of demand) मे किन तत्त्वो को स्थिर माना गया है ?

उत्तर– (1) अन्य वस्तुओ की कीमतो का
(2) उपभोक्ताओ की आमदनी का
(3) उपभोक्ताओं की रुचि व अरुचि को
(4) जनसख्या को,
(5) कीमतों की भावी सम्भावनाओ का ।

170 एक माँग–वक्र पर एक विन्दु से नीचे के विन्दु पर जाने तथा एक माँग–वक्र से ऊँचे के दूसरे माँग–वक्र पर जाने मे अन्तर करिए ।

उत्तर– एक माँग-वक्र पर एक विन्दु से नीचे के विन्दु पर जाने का आशय है, अन्य बातों के समान रहने पर, एक वस्तु की कीमत के घटने पर उसकी माँग की मात्रा का बढना । इसे माँग का विस्तार (extension of demand) कहते हैं ।

एक माँग-वक्र से ऊपर के माँग-वक्र पर जाने के लिए अन्य बातों के परिवर्तन का प्रभाव पड़ता है, जैसे आमदनी के बढ़ने पर पूर्व कीमत पर ही माँग का बढ़ना, वस्तु के प्रति रुचि के अनुकूल हो जाने पर पूर्व कीमत पर माँग का बढ़ना, आदि । इसे माँग की वृद्धि (increase in demand) कहते हैं ।

171 भारत में संकीर्ण मुद्रा (M_1) व व्यापक मुद्रा (M_3) मे भेद करिए । इसमें से किस अवधारणा का ज्यादा उपयोग किया जाता है और क्यों ?

उत्तर– संकीर्ण मुद्रा (M_1) = जनता के पास करेंसी + बैंकों के पास माँग-जमाएँ + रिजर्व बैंक के पास अन्य जमाएँ (विदेशी सरकारों, अन्य केन्द्रीय बैंकों, आदि की)

व्यापक मुद्रा (M_3) = M_1 + बैंकों के पास अवधि-जमाएँ (time deposits with banks)

व्यवहार में मुद्रा की पूर्ति की चर्चा में प्राय: व्यापक मुद्रा (M_3) का अधिक प्रयोग किया जाता है । मौद्रिक नीति के अन्तर्गत जब मुद्रास्फीति पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए मुद्रा की पूर्ति को नियंत्रित करने का प्रश्न उठता है, तो व्यापक मुद्रा (M_3) की वार्षिक वृद्धि को सीमित करने की बात कही जाती है जैसे भारत में इसे 15 16% के बीच नियंत्रित करने पर बल दिया गया है । अत: मौद्रिक नीति के संचालन में बहुधा व्यापक मुद्रा (M_3) का उपयोग किया जाता है ।

172 M_2 व M_4 मे अन्तर करिए ।

उत्तर– M_2 = M_1 + पोस्ट ऑफिस बचत बैंक (post office saving bank) की जमाएँ ।
M_4 = M_3 + पोस्ट ऑफिस की कुल जमाएँ (total post office deposits)
भारत में मुद्रा की पूर्ति की चार अवधारणाएँ : M_1, M_2, M_3 व M_4 प्रचलित हैं ।

173 उच्चशक्ति–प्राप्त मुद्रा (H) का अर्थ लिखिए। (लगभग 100 शब्दों में)

उत्तर– उच्च शक्ति प्राप्त मुद्रा को रिजर्व मुद्रा (Reserve Money) भी कहा जाता है। इसे आधार मुद्रा (base money) भी कहते हैं। इसके निम्न चार अंग होते हैं (i) जनता के पास करेंसी (ii) भारतीय रिजर्व बैंक के पास अन्य जमाएँ (iii) बैंकों के पास नकद राशियाँ तथा (iv) भारतीय रिजर्व बैंक के पास बैंकों की जमा राशियाँ। **रिजर्व मुद्रा का सृजन प्रमुखतया भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा सरकार को दी जाने वाली शुद्ध उधार की राशि से होता है।** लेकिन इसका सृजन रिजर्व बैंक द्वारा अन्य उधार की राशियों जैसे व्यापारिक व सहकारी बैंकों को उधार देने नाबार्ड को उधार देने व्यापारिक क्षेत्र को उधार देने आदि से भी होता है। विदेशी विनिमय कोषों के बढ़ने से भी रिजर्व मुद्रा बढ़ाना पड़ता है। एक के नोट व एक के सिक्के तथा छोटे सिक्के जारी करने से भी रिजर्व मुद्रा का विस्तार होता है। इसमें से रिजर्व बैंक के स्वयं के कोष पूँजी रिजर्व व राष्ट्रीय कोषों में इसका अंशदान तथा जनता की अनिवार्य जमा राशियाँ घटाया जाता है।

174 मुद्रा–गुणक का अर्थ व महत्त्व स्पष्ट कीजिए।

उत्तर– मुद्रा की पूर्ति ज्ञात करने के लिए मुद्रा गुणक की अवधारणा का उपयोग किया जाता है। मान लीजिए हमें M_1 (संकीर्ण मुद्रा की पूर्ति) ज्ञात करना है और कल्पना कीजिए कि संकीर्ण मुद्रा के संदर्भ में मुद्रा गुणक m से सूचित किया जाता है और रिजर्व मुद्रा अथवा उच्च शक्ति प्राप्त मुद्रा (H) से सूचित की जाती है तो $M_1 = m_1 H$ होगा।

पुस्तक में विभिन्न सूत्रों की सहायता से $m_1 = \frac{1+c}{c+r(1+t)}$ निकाला जा सकता है। यहाँ

c = करेंसी का माँग जमा से अनुपात होता है अर्थात् यह $\frac{\text{करेंसी}}{\text{माँग जमा}}$ होता है

r = बैंकों की कुल रिजर्व राशि का उनकी कुल जमा राशि से अनुपात होता है तथा

t = अवधि जमा का माँग जमा से अनुपात होता है अर्थात् $t = \frac{TD}{DD}$ होता है।

इसी प्रकार हम $M_3 = m_3 H$ में $m_3 = \frac{1+c+t}{c+r(1+t)}$ निकाल सकते हैं।

मुद्रा गुणक का उपयोग मुद्रा की पूर्ति के सन्दर्भ में किया जाता है। संकीर्ण मुद्रा गुणक $m_1 = \frac{M_1}{H}$ होता है तथा व्यापक मुद्रा गुणक $m_3 = \frac{M_3}{H}$ होता है।

175 साख–सृजन सर्वाधिक कब होगा ?

(1) जब जनता के पास करेंसी न रहे

(2) जब सारी करेंसी बैंकों में रहे

(3) बैंक अपने पास अतिरिक्त रिजर्व न रखें

(4) जब बैंक शीघ्रतापूर्वक उधार देते जाएँ

(5) सभी (5)

176 भारतीय रिजर्व बैंक ने 25 जून 1997 का व्यवसाय बंद होने से लागू करके बैंक दर 11% से घटाकर 10% किसलिए की ?

(1) देश में विनियोग बढ़े

(2) व्याप्त मंदी की स्थिति पर काबू पाया जा सके

(3) रोजगार बढ़े

(4) ब्याज की नीची दरों का वातावरण उत्पन्न हो सके

(5) साख नियंत्रण हो

(6) सभी (4)

177 आजकल भारत में साख–नियंत्रण का कौन–सा साधन ज्यादा लोकप्रिय हो रहा है ?

(1) बैंक दर (2) बैंक दर व खुले बाजार की क्रियाएँ

(3) खुले बाजार की क्रियाएँ (4) नकद रिजर्व-अनुपात

(5) सभी (3 व 4)

178 यदि रुपये की डालर में विनिमय-दर 36 रु. प्रति डालर से 40 रु. प्रति डालर हो जाए तो रुपये का डालर में अवमूल्यन कितना माना जाएगा ?

उत्तर– 10% $\left(\text{संकेत } \frac{40-36}{40}\times 100\right)$ अथवा $\left(\frac{\frac{1}{36}-\frac{1}{40}}{\frac{1}{36}}\times 100\right)$

179 रुपये के आन्तरिक मूल्य व बाह्य मूल्य में क्या अंतर है ?

उत्तर– रुपये का आन्तरिक मूल्य रुपये की क्रय शक्ति मापता है जो वस्तुओं की कीमतों के परिवर्तन से जानी जाती है । रुपये का बाह्य मूल्य रुपये की विनिमय–दर (किसी विदेशी करेंसी में) से जाना जाता है ।

180 फिशर के मुद्रा के परिमाण–सिद्धान्त में मुद्रा के किस कार्य पर बल दिया गया है ?

(1) विनिमय का माध्यम (2) मूल्य-संग्रह

(3) भावी भुगतानों का आधार (4) मूल्य का माप (1)

181 कुल वक्र के किसी बिन्दु पर स्पर्श रेखा के ढाल का माप क्या सूचित करेगा ?

(1) कुल राशि की मात्रा

(2) सीमान्त राशि

(3) औसत राशि (2)

किसी भी चल राशि के औसत मूल्य से कुल मूल्य तथा सीमान्त मूल्य से कुल मूल्य पर जाने का मार्ग बतलाइए ।

उत्तर– औसत मूल्य से कुल मूल्य पर जाने के लिए औसत को कुल मात्रा से गुणा करना होगा जैसे $TC = (AC \times x)$ होगा जहाँ TC = कुल लागत AC = औसत लागत तथा x = कुल संख्या।
सीमान्त मूल्य से कुल मूल्य पर जाने के लिए सीमान्त मूल्य के फलन का समाकलन (integration of MC function) करना होगा। यह उच्चस्तरीय अध्ययन में आता है।

183 सरल अवकलन का प्रयोग कब किया जाता है ?

उत्तर– कुल राशि से सीमान्त राशि पर जाने के लिए कुल फलन के प्रथम अवकलज लिए जाते हैं।

184 माँग की लोच का सम्बन्ध माँग–वक्र के किसी बिन्दु पर उसके ढाल से कीजिए।

उत्तर– माँग की लोच ed = ढाल का विलोम $\times \frac{P}{Q}$ जहाँ P = कीमत तथा Q = माँग की मात्रा के सूचक हैं। ढाल का विलोम जानने के लिए माँग वक्र के एक बिन्दु पर स्पर्श रेखा खींच कर उसके ढाल का उल्टा कर लेना चाहिए।

185 बहुलक क्या दर्शाता है ?

उत्तर– बहुलक उस राशि को दर्शाता है जो सबसे ज्यादा लोकप्रिय होती है जैसे एक गाँव में खेतों के औसत आकार में बहुलक ज्ञात करने का अर्थ है कि उस गाँव में ज्यादातर खेत उस आकार के हैं और कम खेत अन्य आकार के हैं।

आगे के प्रश्न एम.ए. एम. विश्वविद्यालय अजमेर के पाठ्यक्रम में यूनिट IV के नवीनतम विषय प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा से सम्बद्ध हैं। अतः अन्य विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी इन्हें छोड़ सकते हैं।

186 भारत के कुछ प्रमुख प्राचीन आर्थिक विचारकों के नाम लिखिए

उत्तर– मनु, बृहस्पति, उशनस (शुक्राचार्य), भारद्वाज (द्रोण), विशालाक्ष, पराशर, पिशुन (नारद), कौणपदन्त (भीष्म), वातव्याधि, बाहुदन्ती पुत्र, कौटिल्य, कामन्दक आदि।

187 कुछ प्राचीन पुस्तकों के नाम बताइए जिनसे भारत की आर्थिक विचारधारा के बारे में जानकारी हो सकती है।

उत्तर– वेद, उपनिषद, ब्राह्मण, श्रीमद्भगवद्गीता, श्री भागवतपुराण, महाकाव्य रामायण, महाभारत, शुक्राचार्य की रचना शुक्रनीतिसार, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कामन्दक की रचना नीतिसार, बाणभट्ट द्वारा रचित कादम्बरी व श्री हर्षवर्धन का जीवन चरित, कालीदास का मुद्राराक्षस नामक नाटक आदि।

188 प्राचीन भारतीय विचारकों के अनुसार अर्थशास्त्र की परिभाषा, व क्षेत्र क्या थे ? (लगभग 100 शब्दों में)

उत्तर– प्राचीन भारत में 'वार्ता' को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था कहा जाता है। इसमें जीविकोपार्जन विशेषतया भूमि की प्राप्ति व उसकी रक्षा के सम्बन्ध में चर्चा का

जाता थी । इसमे मुख्यतया कृषि पशुपालन व व्यापार को शामिल किया जाता था । प्राचीन भारत मे अर्थशास्त्र का पृथक् मे अध्ययन नहीं किया जाता था बल्कि राजनीति, अर्थशास्त्र नीति शास्त्र आदि विषय परस्पर एक दूसरे पर निभर माने जाते थे । **इसलिए अर्थशास्त्र का क्षेत्र काफी व्यापक माना जाता था** । यह एक स्वतंत्र विज्ञान न माना जाकर अन्य विज्ञानो मे जुडा हुआ माना जाता था । प्राचीन विचारक मनुष्य का केवल धनोपार्जन करने वाला आर्थिक व्यक्ति ही नहीं मानते थे बल्कि वे उस पर धर्म दर्शन राजनीति दण्डनीति आदि सभी का प्रभाव स्वीकार करते थे ।

189 एकीकृत मानव तथा एकीकृत विवेकशीलता की अवधारणाओ को सरल शब्दो मे समझाइए ? (लगभग 100 शब्दो मे)

उत्तर– एकीकृत मानव की अवधारणा चार पुरुषार्थों पर टिकी हुई है । ये चार पुरुषार्थ हैं- धर्म (कर्त्तव्य) अर्थ (धन), काम (इच्छाओं की पूर्ति) तथा मोक्ष (इच्छाओं व तृष्णाओ से अंतिम रूप से मुक्ति) । इसलिए प्राचीन विचारधारा के अनुसार मनुष्य को जीवन के इन चारो उद्देश्यो की प्राप्ति करनी होती है, जिससे मानव केवल 'आर्थिक मानव' (economic man) तक सीमित न होकर, व्यापक अर्थ में एक 'एकीकृत मानव' (integrated man or integral man) हो जाता है । एकीकृत विवेकशीलता (integrated rationality) का अर्थ है कि हमारे निर्णयो पर अर्थशास्त्र के अलावा धर्मशास्त्र, राजनीति, दर्शन, नीतिशास्त्र, न्याय शास्त्र मनोविज्ञान, आदि कई विषयो का प्रभाव पडता है । इसलिए हम केवल 'आर्थिक विवेकशीलता' अथवा 'आर्थिक युक्ति' (economic rationality) पर ही निर्भर नहीं कर सकते, बल्कि हमारे निर्णयो पर अन्य विषयो का भी निरन्तर व गहरा प्रभाव पडता रहता है । इस दृष्टि से भारतीय विचारधारा एक साथ अन्तर्मुखी व बहिर्मुखी दोनो प्रकार की बन जाती है ।

190 धर्माधारित आर्थिक ढाँचा किसे कहते है ?

उत्तर– **भारत मे चार वर्ण माने गए है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र** । इनके कार्य मोटेतौर पर क्रमश पढना पढाना, देश की सुरक्षा करना, खेती व व्यापार करना तथा सेवा करना माने गए हैं । लेकिन भारत की वर्ण व्यवस्था कठोर किस्म की न होकर काफी लचीली मानी गई है । इसमे वर्ण जन्म से नहीं बल्कि कर्म से माना जाता था । इसलिए अपने कार्यों के अनुसार व्यक्ति को किसी भी वर्ण को अपनाने मे कोई बाधा नहीं होती थी । लेकिन कालान्तर में वर्ण-व्यवस्था ने कठोर जाति-व्यवस्था का रूप धारण कर लिया जिससे देश को हानि पहुँचने लगी । अत भारत का आर्थिक ढाँचा व स्वरूप प्राचीन काल में अलग-अलग वर्णो के कर्त्तव्यो पर आधारित था ।

191 मानव-जीवन को किन-किन चार आश्रमो मे विभक्त किया गया है ? इसका आर्थिक जीवन पर प्रभाव बतलाइए ।

उत्तर– चार आश्रम हैं – ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास। इनके अलग अलग कर्त्तव्य बताए गए हैं जिनका पालन करने से समाज में सुख शान्ति व संतुलन बना रहता है। लेकिन आधुनिक युग में इनका महत्त्व कम होता जा रहा है और व्यवहार में इनके अनुसार आचरण करना कठिन होता है।

192 प्राचीन भारत में मानवीय आवश्यकताओं व उपभोग के सम्बन्ध में क्या दृष्टिकोण था? (लगभग 100 शब्द)

उत्तर– (i) प्राचीन भारत में आवश्यकताओं को सीमित रखने पर बल दिया गया था क्योंकि उस युग में भौतिक विकास के स्थान पर आध्यात्मिक विकास पर अधिक जोर दिया गया था जिसमें आवश्यकताओं की अभिवृद्धि बाधक मानी जाती थी।

(ii) प्रत्येक व्यक्ति के लिए न्यूनतम मूलभूत आवश्यकताओं जैसे भोजन, वस्त्र, आवास आदि की पूर्ति करना नितान्त जरूरी माना गया था। इसके लिए अतिरिक्त धन व साधन वाले व्यक्तियों के लिए त्याग करना आवश्यक माना गया था ताकि समाज में सभी की न्यूनतम मूलभूत आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें।

(iii) यज्ञ, देव यज्ञ, पितृ यज्ञ आदि पर विशेष जोर दिया गया था। इसके बाद लोग सामूहिक भोजन या एक साथ भोजन करते जिससे सह उपभोग (Co consumption) की भावना बढ़ती थी।

(iv) प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वयं भोजन करने से पूर्व देवताओं, साधु संतों, अतिथियों, गरीबों, पशु पक्षियों आदि के लिए भोजन का कुछ अंश निकालना जरूरी माना गया था। इससे उपभोग के क्षेत्र में परस्पर बाँट कर उपभोग करने पर जोर दिया गया था।

आवश्यकताओं और उपभोग की यह अवधारणा सबके लिए हितकारी व कल्याणकारी मानी गई थी।

193 प्राचीन भारत में धन का अर्थ व महत्त्व तथा धनोपार्जन की विधि पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर– के वी रंगास्वामी आयंगर के अनुसार धन के चार लक्षण बतलाए गए हैं इसका भौतिक स्वरूप, उपभोग के लायक होना, विनियोग के लायक होना तथा हस्तान्तरणीय होना। चार पुरुषार्थों में धर्म के बाद अर्थ (धन) को ही स्थान दिया गया है। धर्म (कर्त्तव्य) के पालन के लिए भी अर्थ या धन आवश्यक माना गया है, लेकिन धन उचित साधनों से अर्जित किया जाना चाहिए और इसका सही उपयोग किया जाना चाहिए। यह कण कण करके एकत्र किया जाता है। व्यक्ति को अपना धन समाज के ट्रस्टी के रूप में काम में लेना चाहिए। धन के लिए कृषि, पशु पालन व व्यापार का विकास किया जाना चाहिए।

194 प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा के चार लक्षण बतलाइए।

उत्तर– (i) यह चार पुरुषार्थों– धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष पर आधारित था।

(ii) इसमें चार वर्णों व चार आश्रमों के अलग-अलग कर्तव्य बतलाए गए थे।

(iii) इसमें अर्थशास्त्र का पृथक् से अध्ययन नहीं किया जाता था, बल्कि इसका अध्ययन राजनीति, दर्शन, नीतिशास्त्र आदि के साथ किया जाता था।

(iv) इसमें आध्यात्मिक विकास पर अधिक बल दिया गया था, जिसमें मानवीय गुणों जैसे त्याग, सन्तोष, सहिष्णुता, सहृदयता, प्रेम, दया आदि गुणों को समाज में सुखी जीवन के लिए आवश्यकता मानी गई थी।

195 पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा की प्रमुख विशेषताएँ बतलाइए। (लगभग 100 शब्दों में)

उत्तर– (i) यह क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की विचारधारा से प्रभावित थी जिसमें एडम स्मिथ व रिकार्डो का विशेष रूप से योगदान था। यह उद्योगवाद (industrialism) से उत्पन्न परिस्थितियों की उपज था। इस पर बड़े पैमाने के उत्पादन, मशीनीकरण, श्रमिक संघों, वैज्ञानिक आविष्कारों, आदि का प्रभाव पड़ा था।

(ii) इसमें निजी उद्यम वाली अर्थव्यवस्था, प्रतिस्पर्धा आदि के कारण व्यक्तिगत निर्णय की स्वतन्त्रता का समर्थन किया गया था। इसमें एडम स्मिथ के अनुसार 'अदृश्य शक्ति' (invisible hand) माँग व पूर्ति के सहारे बाजार संयत्र की सहायता से वस्तुओं व सेवाओं तथा उत्पादन के साधनों की कीमतें निर्धारित करती है। अतः यह एक तरह की स्वचालित अर्थव्यवस्था होती है, जिसमें 'प्राकृतिक स्वतन्त्रता' व 'प्राकृतिक व्यवस्था' अपना कार्य करती है।

(iii) इसमें 'आर्थिक मानव' की अवधारणा बलवती मानी गई है।

(iv) इसमें अर्थशास्त्र एक स्वतन्त्र विषय के रूप में माना जाता है। इसका अध्ययन 'आर्थिक विवेकशीलता' अथवा मात्र 'आर्थिक तर्क' के आधार पर किया जाता है।

अतः पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा संकीर्ण व संकुचित मानी जाती है। कार्ल मार्क्स ने बाजार के स्थान पर नियोजन व राज्यवाद पर जोर दिया था।

196 प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा व पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा की तुलना कीजिए। (लगभग 100 शब्दों में)

उत्तर– (i) प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा आज से लगभग 2300-2400 वर्ष पुरानी है, जबकि पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा लगभग 200 वर्ष पुरानी है। अतः इनके बीच समय का अंतराल काफी ज्यादा है।

(ii) प्राचीन भारतीय विचारधारा में मानव के व्यक्तित्व को समग्र रूप में देखा गया है (एकीकृत मानव की अवधारणा के कारण) जबकि पाश्चात्य विचारधारा में केवल 'आर्थिक मानव' की परिकल्पना प्रतीत होती है।

(iii) प्राचीन भारतीय विचारधारा में अर्थशास्त्र, राजनीति, दर्शन, नीतिशास्त्र आदि एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, जबकि पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा में अर्थशास्त्र का एक स्वतंत्र विषय के रूप में लिया जा सकता है।

(iv) प्राचीन भारतीय विचारधारा उदार, मानवीय गुणों से ओत प्रोत, अन्तर्मुखी तथा आत्मान्मुखी है, जबकि पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा बहिर्मुखी सासारिक तथा भौतिकवादी है।

197 क्या कारण है कि प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा के अधिक व्यापक व अधिक मानवीय होते हुए भी भारत आर्थिक दृष्टि से अल्पविकसित बना रहा ?

उत्तर– (i) हमने कालान्तर में अपने कर्त्तव्यों का नीति के अनुसार पालन नहीं किया जिससे काफी वर्षों तक राजनीतिक गुलामी का भार वहन करना पड़ा।

(ii) हम वैज्ञानिक आविष्कारों की दौड़ में पिछड़ गए। इस कारण से अपने आर्थिक साधनों का पूरी तरह से विदोहन नहीं कर सके।

(iii) जनसख्या की अत्यधिक वृद्धि ने अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न कर दीं।

198 प्राचीन भारतीय आर्थिक विचारधारा के अध्ययन के लिए दो आधुनिक रचनाओं के नाम लिखिए।

उत्तर– (1) K T Shah Ancient Foundations of Economics in India 1954 (Three Baroda lectures of February 1951)

(2) K V Rangaswami Aiyangar Aspects of Ancient Indian Economic Thought, 1934

199 क्या कारण है कि पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा के सकीर्ण व सकुचित होते हुए भी पश्चिम के देश आर्थिक दृष्टि से अधिक विकसित हो गए ?

उत्तर– (i) इन्होंने विज्ञान व टेक्नोलोजी का व्यापक रूप से उपयोग करके आर्थिक साधनों का अधिक तेजी से व अधिक कार्यकुशलता से विदोहन किया, जिससे उनका जीवन स्तर ऊँचा हो सका।

(ii) इन देशों में जनसख्या के नियत्रण को उच्च प्राथमिकता दी गई।

(iii) अर्थशास्त्र का 'वास्तविक विज्ञान' व 'आदर्शात्मक विज्ञान' तथा 'कला' के रूप में विकास करके ज्यादा से ज्यादा लाभ उठाया गया और आर्थिक समस्याओं का समाधान खोजा गया।

(iv) विभिन्न देशों ने अपनी अर्थव्यवस्थाओं को विश्व की अर्थव्यवस्था से जोड़ने का भरसक प्रयास किया।

200 "कौटिल्य के अर्थशास्त्र" पर अंग्रेजी में प्रामाणिक ग्रन्थ शाम शास्त्री द्वारा किस वर्ष प्रकाशित किया गया था ?

(1) 1906 (2) 1909
(3) 1919 (4) 1926 (2)

उपयोगी सदर्भ-ग्रन्थ

(Useful References)

1 Paul A Samuelson & William D Nordhaus ECONOMICS fifteenth Edition with the assistance of Michael J Mandel, 1995 Chapters 1 22 and 26 also
Appendix 1 How to read Graphs
2 Richard G Lipsey and K Alec Chrystal, **An Introduction to** Positive Economics Eight Edition 1995 Chapters 1 27 28 36 and 40
3 Suraj B Gupta Monetary Economics **Institutions, Theory and** Policy, Fourth Edition, 1997 Chapters 1 4 to 6 11 to 15 and Appendix G M_2 or M_3?
4 Edward T Dowling, **Mathematical Methods For Business and Economics**, 1993 Chapters 3 & 9 10 (Schaum Series)
5 **H L** Ahuja, Modern Economics (Micro & Macro Combined) latest edition), relevant chapters
6 S P Gupta, Statistical Methods (latest edition) (for topics related with Statistics)
7 Mehta & Madnani, **Mathematics for Economists**, (latest edition) *Chapters 2 & 4-5 also appendix on Functions and Curves in* Economiccs
8 Economic Survey 1996-1997 (of latest data on Indian Economy)
9 Report on Currency and Finance, Vol I & II for 1995 96 (for Monetary and Banking development in India) RBI
10 World Development Report (latest) World Bank (for comparative data related with foreign countries)



University of Rajasthan
B.A./B.Sc. (Part I) EXAMINATIONN, 1997

(10 + 2 + 3 pattern)

(COMMON FOR FACULTIES OF ARTS AND SCIENCE)

[Also Common with Subsidiary Paper of B.A. (Hons.)

part I Three Year Scheme of 10 + 2 + 3 Pattern]

ECONOMICS

First Paper (Economic Concepts and Method)

Time Three Hours

Maximum Marks 100 for Arts, 75 for Science

Attempt FIVE questions in all, selecting at least ONE question from each Section All questions carry equal marks

प्रत्येक खण्ड से कम से कम एक प्रश्न चुनते हुए पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिये।

सभी प्रश्नों के अंक समान हैं।

(खण्ड अ)

1 एक अर्थव्यवस्था की मूलभूत समस्याएँ क्या हैं? इन्हें एक स्वतंत्र बाजार वाली अर्थव्यवस्था में किस प्रकार हल किया जाता है? 10 + 10

2 (अ) समुचित अंकीय उदाहरणों द्वारा निम्नांकित को समझाइये— 12

(i) बाजार कीमतों पर सकल राष्ट्रीय उत्पादन

(ii) बाजार कीमतों पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन

(iii) साधन लागतों पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन

(iv) वैयक्तिक आय

(v) वैयक्तिक खर्च योग्य आय

(vi) प्रति व्यक्ति आय।

3 निम्न में से किन्हीं दो की व्याख्या कीजिये—

(i) राष्ट्रीय आय का चक्रीय प्रवाह।

(ii) पूर्ण प्रतियोगी एवं एकाधिकारी बाजार में विभेद कीजिये।

(iii) स्कन्ध और प्रवाह विचरण।

(खण्ड ब)

4 मुद्रा की माँग तथा मुद्रा की माँग को प्रभावित करने वाले कारकों से आपका क्या अभिप्राय है ? समीकरणों तथा रेखाचित्रों का प्रयोग करते हुए समझाइये। 10 + 10

5 (अ) भारत में प्रयोग में लाए जाने वाली M_1, M_2, M_3 और M_4 अवधारणाओं को परिभाषित कीजिये।
(ब) मुद्रा की पूर्ति तथा उच्च शक्ति प्राप्त मुद्रा के बीच सम्बन्ध समझाइए। 10 + 10

6 पूँजीवादी तथा समाजवादी आर्थिक प्रणालियों में अन्तर स्पष्ट कीजिये। दोनों प्रणालियों की अच्छाइयों व बुराइयों को समझाइये। 10 + 10

(खण्ड स)

7 निम्नांकित को सचित्र उदाहरणों द्वारा समझाइये—
(अ) अर्थशास्त्र में फलनात्मक सम्बन्ध
(ब) कुल आगम, औसत आगम तथा सीमान्त आगम के बीच सम्बन्ध 10 + 10

8 (अ) कुल लागत फलन दिया हुआ हो— $TC = Q^3 - 6Q^2 + 60Q$
ज्ञात कीजिये—
(i) औसत लागत फलन और सीमान्त लागत फलन
(ii) वह उत्पादन स्तर जहाँ पर औसत लागत तथा सीमान्त लागत समान हों। 5 + 5
(ब) निम्न में से किन्हीं दो का आकलन ज्ञात कीजिये—
(i) $6x^3 - 5x^2 + 8x + 15$
(ii) $(3x^2 + 5x)(2x - 7)$
(iii) $\frac{(4x^2 + 7x)}{(2x - 5)}$ 5 + 5

9 निम्न आंकड़ों की सहायता से समान्तर माध्य, मध्यका तथा बहुलक ज्ञात कीजिये— 7+7+6

अंक (X)	15-25	25-35	35-45	45-55	55-65	65-75	75-85
छात्र संख्या (f)	10	18	22	30	22	15	3

M D·S UNIVERSITY, AJMER

B.A. (Part I) Examination, 1997

ECONOMICS

Paper I

(Economic Concepts and Methods)

Time Three Hours

Maximum Marks 100

Attempt FIVE question in all,
selecting at least ONE question from
each Unit All questions carry equal marks

प्रत्येक इकाई में से कम से कम एक प्रश्न का
चयन करते हुए कुल पाच प्रश्नों के उत्तर दीजिए।
सभी प्रश्नो के अक समान है।

(इकाई I)

1. एक अर्थव्यवस्था की आधारभूत समस्याए कौनसी है? एक स्वतन्त्र उद्यम वाली अर्थव्यवस्था उनको किस प्रकार हल करती है? 15,5

2 निम्न की व्याख्या कीजिये—

(अ) स्टॉक एव प्रवाह चर 10

(ब) अर्थशास्त्र में स्थैतिक और प्रावैगिक विश्लेषण का उपयोग। 10

(इकाई II)

3 निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणिया लिखिए—

(अ) साधन लागत पर सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति एव बाजार भावों पर सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति, 5

(ब) साधन लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति एव बाजार भावों पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति, 5

(स) वैयक्तिक आय एव वैयक्तिक खर्चयोग्य आय, 5

(द) सकल राष्ट्रीय उत्पत्ति = सकल राष्ट्रीय आय = सकल राष्ट्रीय व्यय। 5

4 निम्न की व्याख्या कीजिये—

(अ) आय के वृत्ताकार प्रवाह को प्रभावित करने वाले तत्व 10

(ब) राष्ट्रीय आय एव आर्थिक कल्याण। 10

(इकाई III)

5 मुद्रा परिमाण सिद्धान्त के फिशर तथा कैम्ब्रिज दृष्टिकोणों की तुलना कीजिए। इन दोनों में से आपके विचारानुसार किसका दृष्टिकोण श्रेष्ठ है तथा क्यों? 10, 10

6 निम्न की व्याख्या कीजिये—

(अ) मुद्रा की पूर्ति के निर्धारक तत्व, 10

(ब) मुद्रास्फीति पर नियन्त्रण करने की विधियाँ। 10